अभिनव शंकर

भाग – 1

भारतीय सनातन वैदिक संस्कृति के उन्नायक श्री स्वामी करपात्री जी महाराज

अभिनव शंकर
भाग-1

संकलन
समर्थ श्री त्र्यम्बकेश्वर ब्रह्मचारी

सम्पादक
डॉ. गुण प्रकाश चैतन्य

सौजन्य से :
धर्म सम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज पब्लिक वेलफेयर ट्रस्ट
रानी बाजार, बीकानेर
मो. : 9414141941

ISBN : 978-93-92655-87-6

© धर्म सम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज पब्लिक वेलफेयर ट्रस्ट
रानी बाजार, बीकानेर

प्रकाशक :
कलासन प्रकाशन
कल्याणी भवन, मॉडर्न मार्केट, बीकानेर

मुद्रक :
कल्याणी प्रिणटर्स
अलख सागर रोड, बीकानेर

पुस्तक प्राप्ति के लिए सम्पर्क सूत्र :
श्री करपात्र धाम सेवा न्यास
पानी घाट चौराहा, परिक्रमा मार्ग,
वृन्दावन, मथुरा (उत्तर प्रदेश)
मो. : 9456442352, 9414141941

पुस्तक का पुर्न मुद्रण मूल्य :
दौ सौ पचास रुपये

Abhinav Shankar Part-1 *Re Print Print Price : 250/-*

परिचर्यात्मक प्रश्न?

(१) स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु लौकिक प्रयत्नों के साथ दैव कृपा एव भगवत्कृपा प्राप्त्यर्थ अनेकों धर्मानुष्ठान एवं महायज्ञों के द्वारा भगवदाराधना के अलौकिक आध्यात्मिक प्रयास किसने किये?

(२) अखण्ड भारत के लिए सक्रिय-सामूहिक विरोध किसने किया? १५ अगस्त सन् १९४७ ई. को सहस्त्रों देशप्रेमियों के साथ 'भारत अमर रहे' के नारे के साथ स्वतन्त्र भारत का प्रथम बन्दी बन कर जेल यात्रा किसने की?

(३) गोमाता की रक्षार्थ जन-आन्दोलन करके गोहत्या बन्दी के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन किसने समर्पित कर रखा है?

(४) भारतीय संस्कृति के मुख्य स्तम्भ-वेद, शास्त्र, धर्म, गो, मन्दिर, आदि की मर्यादा रक्षण हेतु विरोधी कानूनों का सक्रिय विरोध किसने किया?

(५) ईश्वर धर्मविहीन-नास्तिकवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि का तात्त्विक, मौलिक एवं सैद्धान्तिक खण्डन करके धर्मसापेक्ष, पक्षपातविहीन, लोकतांत्रिक अध्यात्मवाद पर आधारित 'राम-राज्य' का सांगोपांद दर्शन, प्रेस एवं प्लेटफार्म (मंच) पर किसने प्रस्तुत किया?

(६) 'धर्म के बिना राजनीति विधवा है, यह सुख-शान्ति रूपी सन्तानोत्पादन करने में सक्षम नहीं हो सकती'-यह वैदिक मन्त्र किसने फूँका?

(७) आज के उल्वण, विषाक्त एवं विपरीत वातावरण में भी परम निर्भीकता से भक्ष्याभक्ष्य, स्पृश्यास्पृश्य, धर्माधर्म की वैज्ञानिक व्याख्या किसने प्रस्तुत की?

(८) भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं इनके मूलाचार वेदादि सच्छास्त्रों के पठन-पाठनादि पर गत ५० वर्षों से कौन बल दे रहा है?

(९) वेदार्थ-पारिजात, वेदस्वरूप-विमर्श, वेद का स्वरूप और प्रामाण्य, वेद-प्रामाण्य मीमांसा आदि सद्ग्रन्थों की रचना करके, वैदिक विचारधारा की किसने आगे बढ़ाया।

(१०) भारतीय राजनीति एवं आधुनिकवाद पर शुद्ध वैदिक दृष्टिकोण से व्यापक विचार करते हुए, विशुद्ध भारतीय राजनीति के विवेचनात्मक वृहद ग्रन्थ 'विचार-पीयूष' की रचना किसने की?

(११) धर्म, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता, समाजवाद, अर्थव्यवस्था, राजनीति, आदि

के विषय में उपलब्ध पाश्चात्य विचारधाराओं तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन 'मार्क्सवाद और रामराज्य' रूपी विश्व कोष में किसने प्रस्तुत किया?

(१२) 'सर्वभूत हिते रता:', 'सर्वजन सुखाय', 'सर्वजन हिताय', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', की उदात्त भावना से, प्राणियों में सद्भावना एवं विश्वकल्याण कामना में अहर्निशा कौन जुटा रहा है?

(१३) पूँजीवाद, साम्यवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद, इत्यादि विभिन्न वादों का उत्तर (विकल्प) 'राम-राज्य' के रूप में किसने प्रस्तुत किया?

(१४) भगवान शंकराचार्य एवं गोस्वामी तुलसीदास जी के पश्चात् सनातन-वैदिक-हिन्दू धर्म को विघटन एवं बिखराव से संरक्षण देकर, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों से जनता के समक्ष प्रस्तुत करके भावात्मक एकता की प्रक्रिया में आज कौन मनीषी रत है?

(१५) सनातन धर्मियों के जनसम्पर्क स्थापित करके गली-गली, टोले-टोले, मुहल्ले-मुहल्ले, घर घर जाकर धर्म-कथाओं, धर्म-गोष्ठियों एवं सत्संग के माध्यम से उन्हें एक सूत्र में तथा एक ध्वजा के नीचे लाकर धार्मिक पुर्नजागरण के कार्य में कौन लगा है?

(१६) भोगवाद से विमुख होकर त्याग व तपस्या के मार्ग पर उन्मुख होने की आज कौन महापुरुष सक्रिय प्रेरणा दे रहा है?

सब का उत्तर - 'करपात्री'

(उन्हीं की वाणी एवं विचारों को भाषाबद्ध कर इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है।)

***

निवेदन

अनन्त श्री विभुषित यतिचक्र चूणामणि पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय विश्व-वन्दन धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज जैसी विभुतिया कई शताब्दियों के बाद अवतरित होती है।

वर्तमान पीढ़ी महाराजश्री की जीवनी विचारों लेखो तथा तत्कालीन धर्माचार्यो, शंकराचार्यो, सन्त, महन्त विदित वृन्द राजनेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं की दृष्टि में उनके स्थान से अनभिज्ञ है।

यह ग्रन्थ उन्हीं जिज्ञासुओं की पिपाशा शान्त करने का काम करेगी जो उनके विषय में जानना चाहते हैं।

ग्रन्थ दो खण्डो में प्रकाशित किया जा रहा है। इसके चार भाग है- 1. महाराजश्री की जीवनी 2. विभिन्न विषयों पर महाराज श्री के लेख विचार 3. राष्ट्रीय स्तर पर महाराजश्री के मुख्य पत्राचार 4. श्रद्धाञ्लिया।

ग्रन्थ का एक-एक पृष्ठ पठनीय है। वेदमूलक वर्णाश्रम धर्म की सम्पूर्ण जानकारी देने वाला है।

यह ग्रन्थ पूर्व में मेरठ धर्मसंघ से प्रकाशित था। उपरोक्त उद्देश्य से पुनः मुद्रण कराया जा रहा है। हम मेरठ धर्म संघ सहित पूर्व में इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिनका तन, मन, धन से सहयो रहा। उनके प्रति कृतज्ञता व आभार प्रकट करते है।

किसी भी प्रकार की त्रुटि के लिये हमारी अलपज्ञता, प्रमाद ही कारण है। पाठकगण भूल को बतलाने की महती कृपा करेंगें। ग्रन्थ को पढ़ने के बाद अन्य लोगों को पहुंचना तथा इन्ही सिद्धान्तों का प्रचार प्रसार ही महाराजश्री को सच्ची श्रद्धान्जली होगी।

समर्थ श्री त्र्यम्बकेश्वर चैतन्य ब्रह्मचारी
वि.स. २०८० चैत शुक्ला प्रतिपदा
तदनुसार - २२ मार्च २०२३

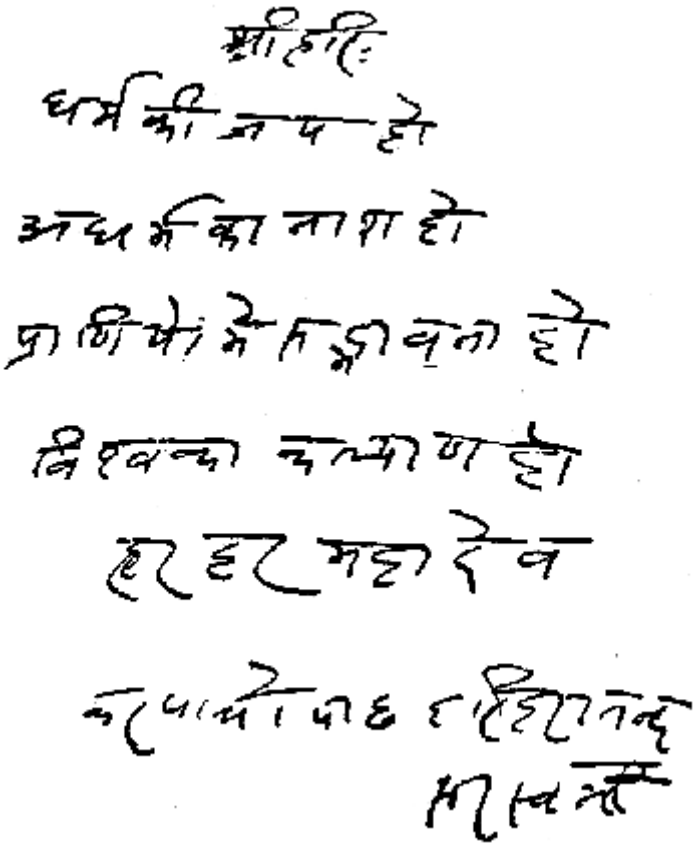
श्री हरिः
धर्म की जय हो
अधर्म का नाश हो
प्राणियों में सद्भावना हो
विश्व का कल्याण हो
हर हर महादेव

श्री हरिः

आमुख

आत्मा की अमरता सभी मतों में मान्य है फिर भी अज्ञानी देह-तादात्म्य भावना से जन्म और मरण के बन्धन में आता हैं ज्ञानी देहाध्यास का परित्याग कर इस संसार चक्र से बाहर निकल जाता है। इस कारण जीवित अवस्था में जीवन्मुक्त और देह त्यागानन्तर घटभङ्ग की अवस्था में घटाकाश के महाकाश में विलय के समान नित्य शुद्धमुक्त आत्मस्वरूप में विलीन हो जाता है इसे ब्रह्म निर्वाण कहा गया है।

हंस नीर क्षीर विवेक के समान आत्मानात्म विवेक कर चित्सदानन्द में सदा विलीन रहता है जैसे सर्प अपनी केंचुल को वाल्मीक में स्वयं छोड़कर उसे स्वयं देखता है, वैसे ही ज्ञानी इस कल्पिम पांचभौतिक स्थूल सूक्ष्म देहभाव और अनाद्यविद्या कल्पित कारण देहभाव को फेंककर ''चिदानन्दाभिख्यं रसयति रसानन्द जनवान्'' चिदानन्द रस का आस्वादन करता है।

संसारी प्राणी जिस शरीर निर्गमन यात्रा को मृत्यु समझकर भयभीत, असहाय और दुःख-ग्रस्त होता है, वहीं पर परमहंस, चिदानन्दरस के आस्वादन का रसास्वादन करता हुआ मृत्यु प्रलय का साक्षी बनकर मृत्यु को सदा के लिए समाप्त कर सदा सदानन्द, सदाचिदानन्द और सदा स्वात्मानन्द में निमग्न हो जाता है।

वृहदारण्यक की श्रुति में कहा है ''न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति आत्मैव समवलीयते'' आत्माराम परमनिष्काम आप्तकाम ब्रह्मज्ञ के प्राणों का उत्क्रमण ही नहीं होता,- सर्वोपाधिविवर्जित, सर्वपरिच्छेद शून्य हो इसी लोक में समस्त आवरणों का क्षय कर अपरिछिन्न नित्यसत्, नित्यचित् तथा नित्यानन्द में विलीन हो जाते हैं। इस कारण परमपूज्य स्वामीचरण परमहंस गति में सदा विलास कर स्वेच्छया-जित देहाध्यास का परित्यागकर अपने नित्यमुक्त शुद्धब्रह्मस्वरूप में विलीन हुए। ऐसी महाविभूति के सम्पर्क से भ्नूतधात्री वसुन्धरा पुण्यवती हुयी और जो जीव इस महाविभूति के सम्पर्क में आए उनका सम्पर्क भी अमोघ हो गया।

धर्मसम्राट् स्वामी श्री करपात्री जी का इन्हीं आदि और अन्त के दो बिन्दुओं के बीच में प्रायः ७५ वर्ष की अवधि रेखा में सम्बद्ध जीव घटाकाश महाकाश आदि के समान कभी अपने असीम महाकाश से पृथक नहीं हुआ। आद्यभगवत्पाद शंकराचार्य के समान इस व्यक्तित्व में भी गागर में सागर भरा ही रहा। जगत की विविधता को

देखते इस महापुरुष की नि:सीम शक्ति भी अनेक क्षेत्रों में फूटकर प्रसारित हुयी। उनकी सरस सरस्वती रसमय परब्रह्मा से प्रसारित प्रथम भगवतत्व के रूप में अवतीर्ण हुई, तदनन्तर अनादि निधनावाक् वेदवाणी के शाश्वत चिन्मय रूप की व्याख्या के रूप में प्रफुल्लित हुयी। श्री स्वामी जी की लेखनी से गम्भीर दुरुह तथा अखिल विश्व के उपयोगी साहित्य का सृजन हुआ। इस महापुरुष की लेखनी, वाणी, जीवन पट के सभी पटापेक्ष विश्व के सन्तप्त जीवों को सन्तापशान्ति के लोकोत्तर साधन है। इतिहास ऐसे महापुरुषों को सहस्राब्दियों के अन्तर से ही प्रकट करता है।

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वेसन्तु निरामया:।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित्, दु:खभाग्भवेत्।।

नन्दनन्दनानन्द सरस्वतो

अनुक्रम

जीवनी

मंगलाचरण	१५
जन्म से गृहत्याग तक	१६
दीक्षा ग्रहण	२१
दण्डग्रहण के पश्चात्	२७
प्रचार के आधार	३४
अन्य संस्थाएँ	३८
धर्मयुद्ध	४२
पाकिस्तान-निर्माण	४५
गोवध विरोधी आन्दोलन	४५
राजनीति में	५०
परिषद के सफल उम्मीदवार	५२
विभिन्न कार्य	५६
विश्वनाथ	६०
ब्रह्मनिर्वाण	७१
धर्मयुद्ध एवं जेल यात्रायें	८६
शास्त्रार्थ	९८
दिनचर्य्या	१०४
संन्यासी की समाज सेवा	१०७
जेल के अनुभव	११२
विभिन्न कार्यकलापम्	११९
वेदोद्धार	१२८
एक नजर में जीवनी	१३८
स्वामीजी और संस्मरण-लेखन	१४३

भक्ति और मुक्ति १५९
प्रकाशित ग्रन्थ १६४
राम जन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन के नायकों में एक थे स्वामी करपात्री जी १६७
परिपक्व वैराग्य १६९
निर्जल एकादशी-व्रत १७०
मोटरकारकी यात्रा १७१
तुलसी-प्रसादकी विशेषता १७१
नियमकी प्रतिबद्धता १७२
एकमात्र भगवान्नामका सहारा और काशीका आश्रय १७२
वृन्दावनमें सत्संग १७३
काशीमें निवासका निर्णय १७४
काशीमें शरीर-त्यागका संकल्प १७५
भावके भूखे हैं भगवान् १७७
भोगके साथ राग १७७
काशीकी महिमा १७८
पञ्चकोशी परिक्रमा १७८
ज्योतिष्मत्कल्प १७९
शास्त्र-रक्षामें तत्पर १८०
सनातनधर्म-विजय-महोत्सव १८१
आक्षेपोंके समाधानमें ग्रन्थ-रचना १८२
धर्मके प्रचार-प्रसारमें गीताप्रेसके योगदानकी चर्चा १८२
संन्यास-धर्मकी दीक्षा प्राप्त करनेके अधिकारी १८३
नामजपसे समस्याका समाधान १८४
मेरा नहीं रामका चित्र चाहिये १८४
आत्म-प्रशंसासे विमुख १८५

विदेशयात्रा प्रसंग १८५
मन्दिर-मर्यादाका संरक्षण तथा श्रीकाशी-विश्वनाथकी स्थापना १८६
साधुको स्वावलम्बी होना चाहिये १८७
स्वल्प साधुतासे भी कल्याण १८८
साधुके लिये कलंक १८८
कर्तव्य-पालनमें समयका विभाजन आवश्यक १८८
स्नेहीजनोंमें भगवद्बुद्धि भगवान्‌की पूजाका अमोघ साधन १८९
अतिथि-सत्कार मुख्य धर्म १८९
यथार्थ उद्देश्य-निर्धारणसे ही सफलता १९०
अच्छे धनकी अच्छी बरक्कत १९१
भोग्य-लक्ष्मी और दृश्य-लक्ष्मी १९२
त्याग-वैराग्य जितना अधिक हो उतना ही उत्तम १९३
योग-साधनामें संयमकी अनिवार्यता १९३
साधुका बाह्य और अन्तर्जीवन १९४
अन्तःकरणकी साधुता ही सच्ची साधुता १९५
आत्मशक्तिकी दृढ़ताने भयंकर रोगोंका बिना उपचार दूर किया १९६
भारतीय संस्कृति और सनातनधर्म एक ग्रन्थ १९७
वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति १९७
भक्तके साथ भगवान् स्वतः आ जाते हैं १९८
दम्भसे दूर १९९
व्यङ्ग्य-विनोदमें शिक्षाप्रद बातें २००
साधुमें स्वाभाविक आकर्षण २०१
पूर्ण श्रद्धावान्‌को ही साधुके निकट रहना चाहिये २०२
मौकेकी सूझ २०२
मैं अपनी दुकान समेट रहा हूँ और वे लगा रहे हैं २०३

बिना कष्ट प्रारब्धका भोग २०३
अस्वस्थतामें अन्तमुर्खी वृत्ति २०४
देखो! उस नाड़ीका क्या हाल है जिस नाड़ीमें राम-नाम चलता हो २०५
महाराजकी परमहंसी अवस्था २०५
मौनी अमावस्यापर प्रयाग-प्रवास २०७
महाराजश्रीका महाप्रयाण २०७
अनायासेन... २०८
कतिपय संस्मरण २१६

लेख

वेदों की शास्त्रता का मूल २१८
वेद पदार्थ २२०
सद्शास्त्र : सन्मार्ग : साधु २२२
सर्व कल्याणकारी वेद २२४
संस्कृति २२७
आस्तिकवाद और विश्वशान्ति २४०
क्या धर्म निष्फल है २४८
भारत और नरदेह जन्म २५१
आत्मवत् सर्वभूतेषु २५५
धर्म रक्षार्थ प्रचार कार्य आवश्यक २५९
शक्ति का स्वरूप २६३
पातिव्रत महत्व २६८
गौ २७२
गोवंश : संस्कृति का मूलाधार २७६
परमार्थ सद्वस्तु की एकता २८०
ज्ञान और आनन्द २८५

पाँच भ्रम २९१
सर्वोत्तम भजन २९३
कल्याण का मार्ग २९५
भगवत्स्मरण का माहात्म्य २९७
आर्षग्रन्थों की उपेक्षा का परिणाम २९९
धर्म और नीति ३०३
देवोपासना और अनन्यता ३०६
तात्विक स्वतन्त्रता ३१०
आदर्श शासक का स्वरूप ३१६
भारतीय राजनीतिक दर्शन एवं उनका उद्देश्य ३२०
भारतीय शासन विधान की रूपरेखा ३२२
रामराज्य की स्थापना से विश्वशान्ति ३२९
रामराज्य परिषद ३३८
महान राजनीतिज्ञ आचार्य चाणक्य ३४२
के नीतिसूत्रों में धर्म का महत्व
स्वधर्मपालन और प्रभुभक्ति ३४३
मानव जीवन की सार्थकता ३४९
जीव और ब्रह्म ३५२
आत्मचिन्तन ३५७
राजनीति और धर्म का स्थान ३६६
करपात्री-सूक्ति ३७३
धर्म ३७६
यज्ञ ३७९
पंचमहायज्ञ ३८३
सन्ध्या-गायत्री ३८६
यज्ञोपवीत (जनेऊ) : शिखा (चोटी) ३८९

मन्दिर	३९२
जाति-वर्ण	३९७
ब्राह्मण	४०१
राजनीति	४०५
दर्शन	४१०
मातृदेवोभव	४१५
भाषा तथा शिक्षा	४२१
'मातृभूमि' एवं 'राष्ट्रीयता'	४२६
इतिहास	४३२
रामराज्य	४३७
धर्म और अर्थ	४४३
धर्म और काम	४४८
पाकिस्तान	४५३
धर्म संघ	४५९
हिन्दू-कोड	४६४

***

मंगलाचरण

नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशंर च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।।

श्री शंकराचार्यमथास्य पद्म्पादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वातिककारमन्यानस्मद् गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि।।

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करूणालयम्।
नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम्।।

शंकरं शंकराचार्य केशवं वादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।

ईश्वरो गुरूरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवत् व्याप्तदेहाय दक्षिणा मूर्तये नमः।।

''नारायणसमारम्भां श्रीशुकाचार्य मध्यमाम्
शंकराचार्य पर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।।''

अद्वैताम्बुधिमन्थनोद्भवमहापीयववाग्वैभवः।
श्रीमद्भारतभूमिभूतिविभवालंकारभूंषामणिः।।
श्रीमच्छंकरदेशिकेन्द्र चरणाम्भेजद्विरेफोपमः
पूज्य श्री करपात्रदण्डि नृपतिर्नम्यो बुधेन्द्रैर्नकैः।।

जन्म से गृहत्याग तक

बपचन :-

विक्रम संवत १९६४ श्रावण शुक्ला द्वितीया रविवार सन् १९०७ ई. में जिला प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश के एक छोटे से ग्राम भटनी के एक श्रेष्ठ सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। इनके पिता का नाम पं. रामनिधि ओझा था तथा माता का श्रीमति शिवरानी। स्वाजी जी तीन भाई थे जिनमें सबसे बड़े का नाम था हरिहर प्रसाद, द्वितीय का हरिशंकर तथा स्वामीजी का बचपन का नाम था हरनारायण यह तीनों भाईयों में सबसे छोटे थे। पहले इनके पितामह स्वनामधन्य श्री पं. चण्डीप्रसाद सुपुत्र पं. अमान राम जी जिला गोरखपुर के ओझौली ग्राम पोस्ट बरहलगंज में रहा करते थे। यह स्थान सरयू के तट पर स्थित है। ओझा लोगों के इस परमपवित्र छोटे से ग्राम में बड़े-बड़े विद्वान हो गये हैं जिनके यश, कीर्ति एवं प्रतिष्ठा को सम्पूर्ण देश में अत्यन्त आदरपूर्वक स्वरण किया जाता है। इसी परम पावन स्थान में यह पवित्र कुल निवास करता था, परन्तु बाद में कानाकांकर के राजा साहब इनके पितामह जी को जिला प्रतापगढ़ के भटनी ग्राम में ले आये थे। स्वामीजी के माता-पिता विशुद्ध सनातन धर्मावलम्बी, भगवान् शंकर एवं भगवान् राम के परम भक्त थे। पिताश्री नित्य पार्थिव पूजन रूद्राभिषेक करते थे। महाराज के मध्यम भ्राता श्री हरि शंकरजी के पुत्र शिवहर्ष जी अभी भी उस परम्परा का निर्वाह कर रहे है, नित्य पार्थिवेश्वर का रूद्राभिषेक करने के उपरान्त ही जल ग्रहण करते हैं तथा इनके सुपुत्र श्री शिवराम ओझा जी आस्तिक और उत्साही नवयुवक हैं महाराज श्री की स्मृति में गाँव में आयुर्वेदिक औषधालय आदि की स्थापना के प्रयत्न में लगे हैं। ग्राम प्रधानजी ने उसके लिये विस्तुत भूमि देने का वचन भी दे दिया है। महाराज श्री की जयन्ती प्रतिवर्ष ग्राम में समारोह पूर्वक मनाते हैं इसमें सर्वाधिक सहयोग काशी निवासी श्री पं. वासुदेव शास्त्री-अतुल जी का रहता है।

पिताश्री ओझा जी प्राचीन वैदिक परम्परा एवं वर्णाश्रम मर्यादाओं में पूर्ण विश्वास रखते थे। वह परम धार्मिक विचारधारा के व्यक्ति थे। अपनी इसी आध्यात्मिक विचारधारा के कारण उन्होंने स्वाजी को संस्कृत पढ़ाने का ही निश्चय किया। बालक हरनारायण अभी पांच वर्ष के ही थे कि पिताश्री को पता चला कि इन्हें गलबन्ध (हकलापन) है, वाणी स्पष्ट उच्चारण नहीं कर पाती तो वह बड़े चिन्तित हुए और इनकी जन्मपत्री लकर एक सुयोग्य ज्योतिषी से भविष्य फल पूछन लगे 'कि पंडित जी

परम पूज्य आद्य – शंकराचार्य

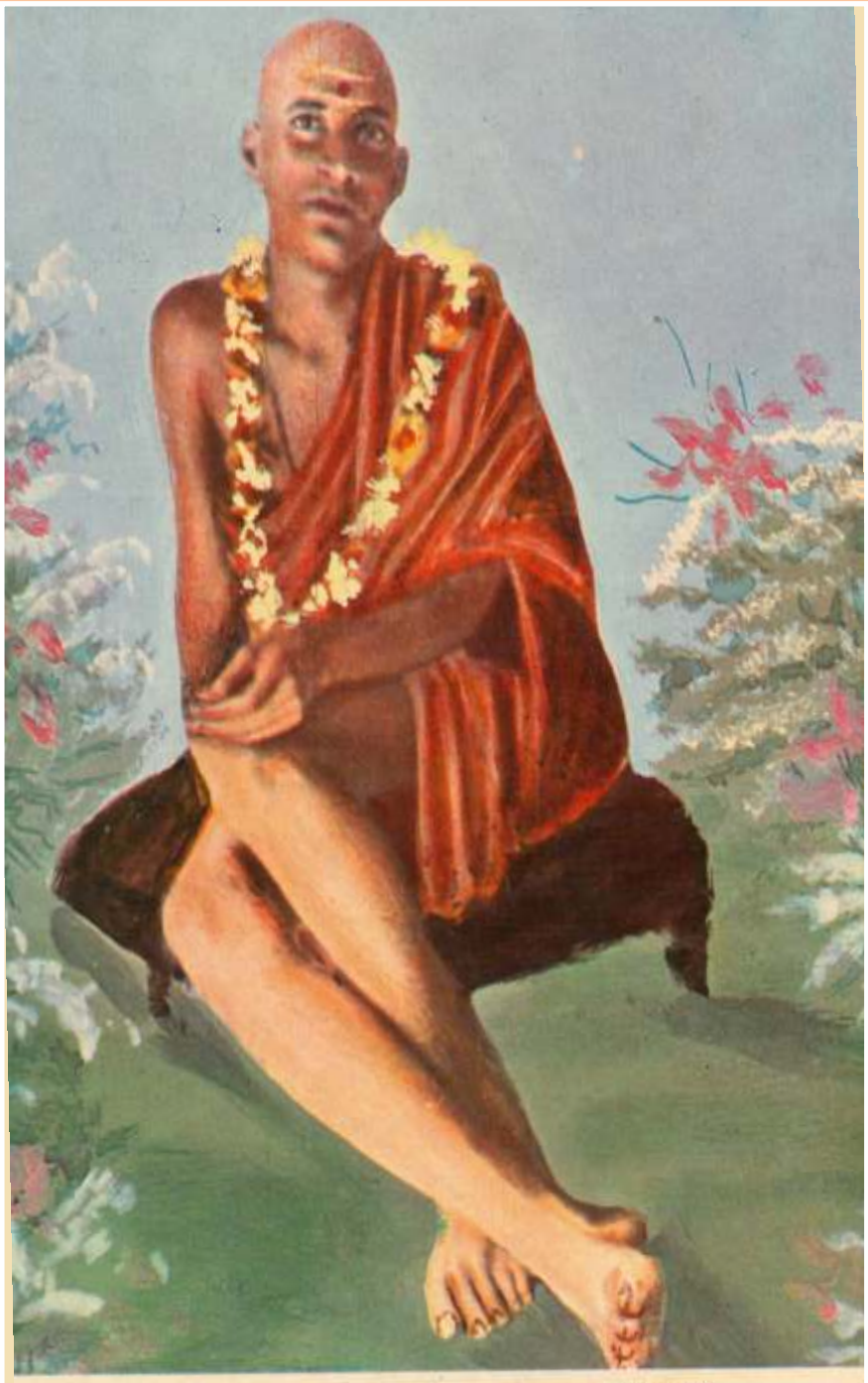

नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री हरिहर चैतन्य (सन्यास पूर्व की छवि)

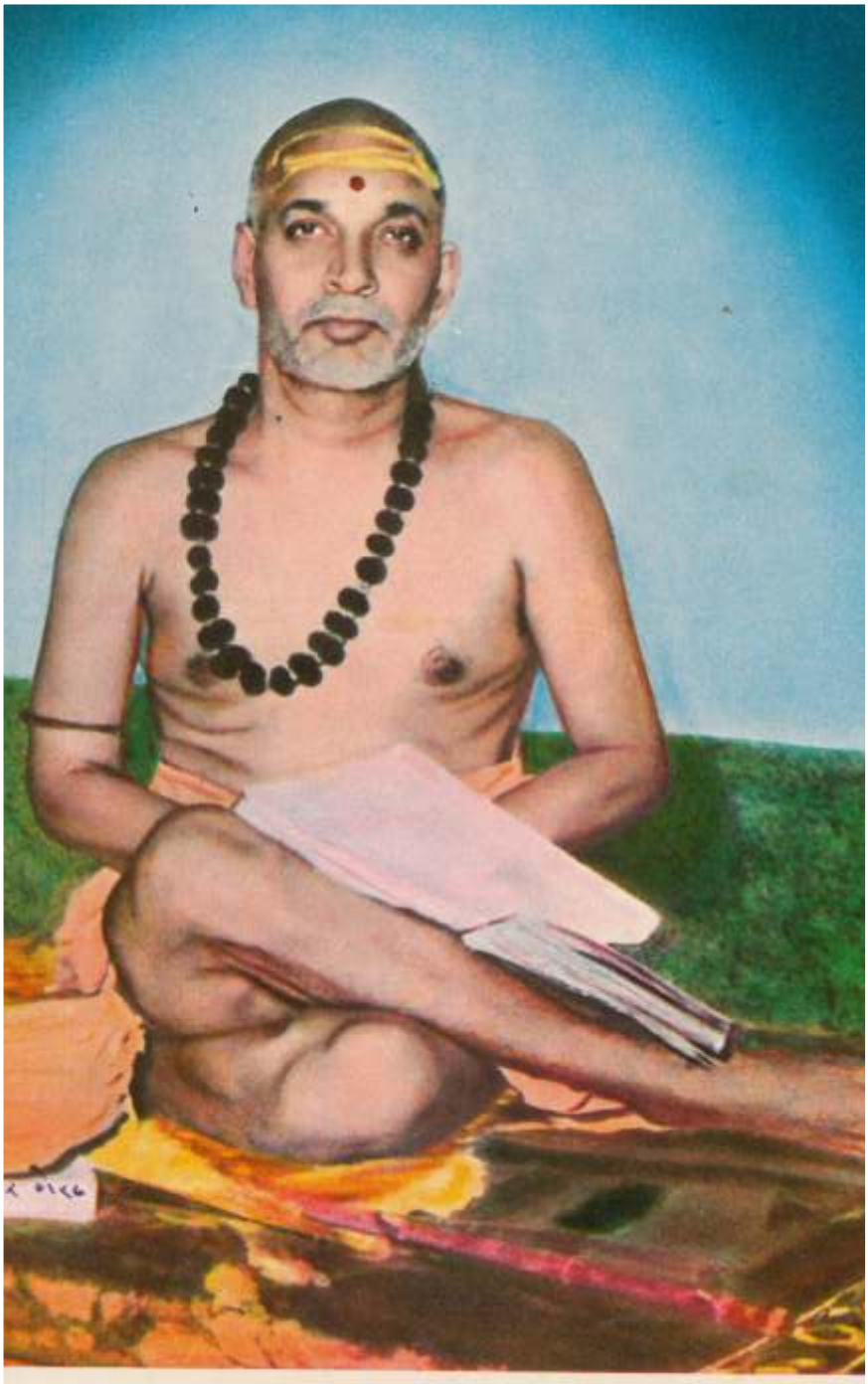

महान ग्रन्थकार श्री स्वामी करपात्री जी महाराज

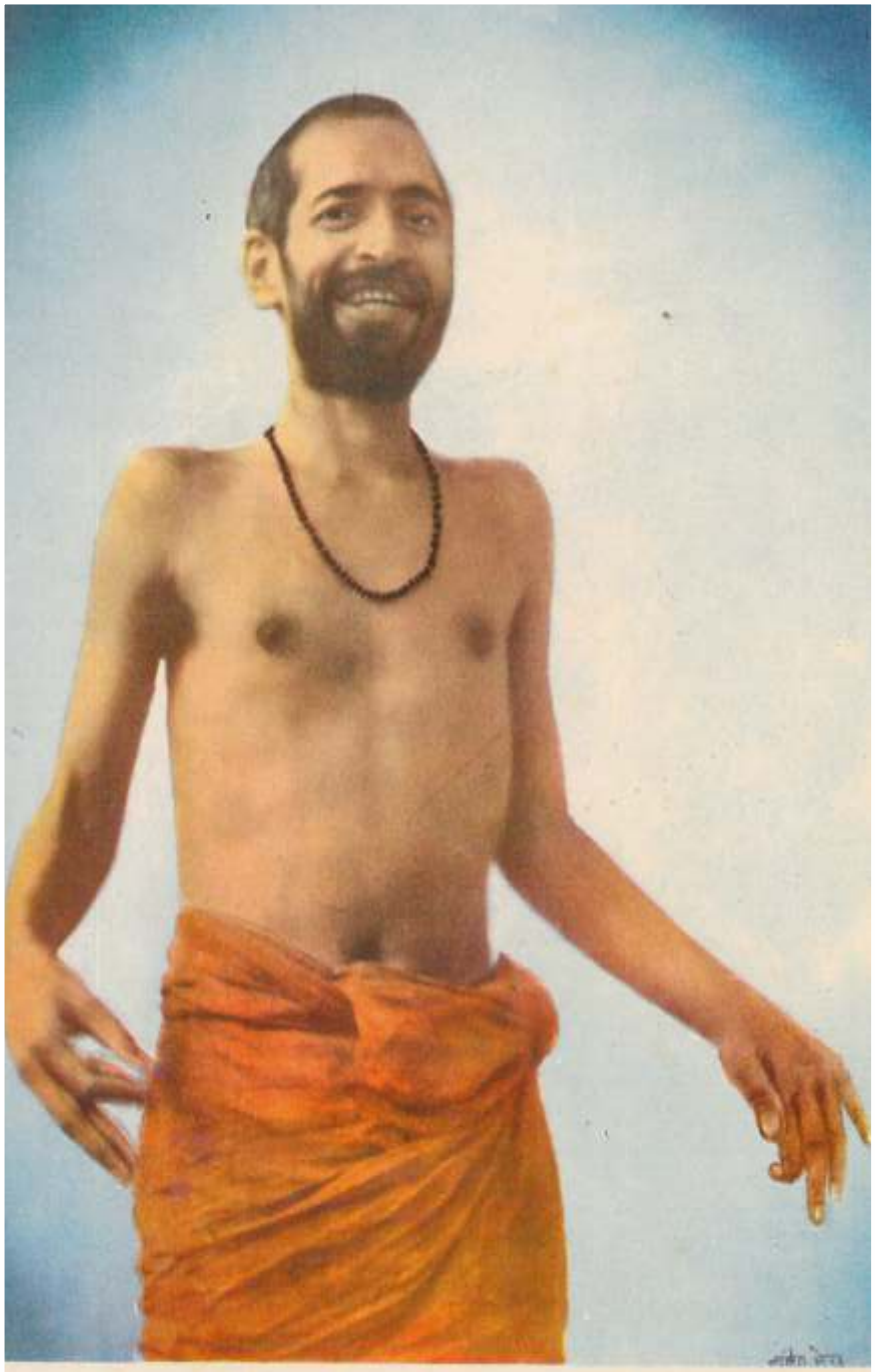

परमतपस्वी नौ दिवसीय निर्जलव्रती श्री स्वामी करपात्री जी महाराज

इसका भविष्य क्या है, यह क्या बनेगा?'। इसके पूर्व ज्योतिषी महोदय कुछ बोले बालक हरिनारायण बोला कि 'बाबा हम तो बाबा बनेगें'– और उस दिन किसे पता था कि यह छह वर्षीय होनहार भविष्यवक्ता बालक हरनारायण वास्तव में एक दिन संसार से विरक्त होकर बाबा बन जायेगा।

बालक हरनारायण की प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम भटनी में ही हुयी जहाँ सीधे तीसरी कक्षा में ४–९–१९१८ को प्रवेश लिया और ३१–५–१९१९ को चतुर्थ कक्षा में नाम लिखा गया। परन्तु इनकी रूचि केवल संस्कृत अध्ययन में ही थी और पाठशालाा की सीमाओं में इस किशोर का वैरागी मन नहीं लगता था अत: प्राय वहां से अनुपस्थित रहने लगे जिसके फलस्वरूप १३–९–१९१९ को इनका नाम प्राईमरी पाठशाला से कट गया और यह संस्कृताध्ययन के लिए निकट के कर्पूरी ग्राम में आने लगे वहाँ भिमौरा ग्राम निवासी परम विद्वान् पण्डित नागेश मिश्र जी की सेवा में रहकर संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की। पाठशाला भटनी में कुछ समय अध्ययन किया।

प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर बालक हरनारायण ने घर पर ही प्रथमा तक संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की। पूर्व–संस्कारानुसार इनका मन प्रारम्भ से ही सांसारिक पदार्थों से विरक्त सा रहता था। बाल्यावस्था से ही इनके मन में वैराग्य के भाव उठा करते। संसार की अनित्यता एवं क्षणभंगुरता की भावनाओं ने मन में वैराग्य उत्पन्न कर दिया, बपचन से ही आप विचारों में प्राय: निमग्न रहकर घण्टों एकान्त में बैठे रहते और न जाने किन विचारों में खो जाते। कभी आप भारत की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता, मर्यादाओं एवं धर्म के प्रति सर्वसाधारण की अनास्था की कल्पना करते तथा लोगों को अधर्माचरण करते देखते तो इनके निर्मल मन का बड़ा खेद होता। बड़ी–बड़ी कल्पनाएं उठा करती बालक हरिनारायण के हृदय में और इसी अवस्थ्ज्ञा में कभी घर से चल देते। सबसे छोटे होने के कारण पिताजी का इन पर बड़ा स्नेह था, अत: इस प्रकार घर से चले जाने पर माता–पिता को बड़ा दु:ख होता। वह इन्हें पकड़ कर फिर घर लाते औ आज्ञा देते कि घर में ही रहो। बालक हरनारायण पिताजी के परम भक्त एवं बड़े आज्ञाकारी थे। पिता के वचनों की अवहेलना करने का साहर इनमें नहीं था अत: यह पुन: गृह में रहने लगते। इस प्रकार कई बार घर से चले जाते परन्तु फिर पिताजी की आज्ञा पालन करने हेतु उनके आदेश से घर लौटकर आना पड़ता। परन्तु बालक के हृदय में संसार की क्षणभंगुरता अपना स्थान दृढ़ से दृढ़तर करती गयी और हरनारायण घर में रहता हुआ भी वैरागी सा ही हो गया।

उस समय उसकी अवस्था लगभग नौ वर्ष की थी।

'विवाह–गृहत्याग'

विद्वान–कुलीन–ब्राह्मणों के इस पवित्र अंचल में उत्तम कुल में लड़के बड़ी कठिनाई से मिल पाते थे; अत: पवित्र कुलों के लड़कों को पांच–पांच, सात–सात वर्ष

की आयु में ही घेर लेते थे। अतः इनके घर पर भी लड़की वालों का आना जाना प्रारम्भ हो गया था। पिता जी ने सोचा कि विवाह-बन्धन में बन्ध कर तो हरिनारायण घर-गृहस्थी में पड़ जायेगा और इसकी यह संसार के प्रति उदासीनता एवं वैराग्य की भावना अवश्य बदल जायेगी। अतः उन्होंने लगभग नौ वर्ष की आयु में बालक हरनारायण का विवाह सन् १९१६ ई. में, जिला प्रतापगढ़ के ग्राम खण्डवा, पोस्ट ढिंगवस में श्री पं. रामसुचित जी की सौभाग्यवती पुत्री कुमारी महादेवीजी से कर दिया। पिता ने सोचा था कि अब इसकी विचारधारा बदलेगी, परन्तु जिनको कुछ करना होता है; जिनके मन में देश, धर्म, सभ्यता, एवं संस्कृति के बिगड़ते हुए स्वरूप को देखकर बचपन से ही भूचाल उठा करते हैं; जिन्हें धर्म में प्रेम होता है उसके संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार के लिये कुछ कर गुजरने की प्रबल इच्छा होती है, उन्हें गृहस्थ के बन्धन नहीं रोक सकते। भगवान् को इनका कार्य-क्षेत्र केवल घर की चार दीवारी तक ही सीमित नहीं रखना था, उन्हें इनसे कुछ और ही कार्य लेना था। फलतः विवाहोपरान्त भी हरनारायण के हृदय में राग उत्पन्न नहीं हो सका। उसके विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। संसार के प्रति उसकी विरक्ति पूर्ववत् बनी रही। एक दिन लौटा डोर लेकर एकाकी वह घर से निकल पड़ा। पिताजी ने फिर जा पकड़ा और कहा कि कम से कम तेरे एक सन्तान तो जो जाय तभी तुम्हारा गृहत्याग करना उचित हो सकता है। इस प्रकार अपनी बात का औचित्य दिखाकर तथा फिर घर लौटने की पुनः आज्ञा देकर, पिताजी इन्हें फिर घर वापिस लौट आये। इच्छा न रहने पर भी हरनारायण को घर की सीमा में विवश होकर रहना पड़ा; परन्तु उनकी दिनचर्या, पूजन, भजन, मनन, सद्ग्रन्थों के पठन एवं अध्ययन में कोई प्रभाव नहीं पड़ा, कोई अन्तर नहीं आया वह उसी प्रकार चलता रहा।

अपने ग्राम में इन्होंने कई श्रीमद् भागवत् पारायण किये। पहली श्री पुखई नन्दलालजी के घर पर की। इस कथा के श्रोताओं में इनकी माता भी थी। तीसरी भागवत् ग्राम से कुछ दूर चारिहनपुरवा में श्रीमती शिवकुमारी देवी के यहां की। गंगा के किनारे एक पाकर (पिलखन) का पेड़ है जिसके नीचे बैठ कर प्रायः महाराज भजन करते थे। यह स्थान गौरी शंकर की छोइयाँ के नाम से आज प्रसिद्ध है। इस स्थान पर पहुँचने के लिये मानकपुर जाना पड़ता है।

अन्ततोगत्वा कुछ समय पश्चात् उनके घर में भगवतीस्वरूपा एक कन्या का जन्म हुआ। अब हरनारायण को घर की दीवारे, अन्य सामग्रियां फाड़ खाने को आने लगी। एक-एक क्षण युग के समान बीतने लगा। इनका मन पिंजरे में पड़े पक्षी के समान फड़फड़ाने लगा। इन्हें अपना कार्य-क्षेत्र नेत्रों के सामने स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा। पिताजी की आज्ञा का पालन हुआ जान इन्होंने निश्चित रूप से अपना मार्ग निर्धारित कर लिया और एक दिन दृढ़निश्चयी, वैरागी हरनारायण घर छोड़कर

जाने लगा उस समय इनकी आयु लगभग १९ वर्ष थी। पिताजी अपने स्वभावानुसार समझाने आये परन्तु उनको पिछली समस्त घटनाओं तथा आज्ञापालन का स्मरण दिलाया हरनारायण ने, एक सन्तानोत्पत्ति की आज्ञापालन करने की बात कही, जरा सा तत्त्वोपदेश भी बातों ही बातों में समझाने के रूप में सूत्र रूप से दे दिया परम आस्तिक राम-भक्त पिता को, उनके वैरागी किशोर हरनारायण ने। भगवान् हृदय में बैठे, पिता जी निरुत्तर हो गये, उन्होंने इनकी माता को भेजा उनको भी ज्ञान का मार्ग दर्शाकर तत्त्व का उपदेश बातों ही बातां में देकर कहा कि हे माता! तुम व्यर्थ में धर्ममार्ग में क्यों बाधक बनती हो, उन्हें भी अन्त में संतुष्ट किया। परन्तु कोने में नन्हीं सी बालिका को गोद में उठाये अश्रुपूर्ण नेत्रों को झुकाये धर्मपत्नि खड़ी थी मौन। एक दृष्टि भर डालकर नीचा शिर किये (खड़ी थी) उर्मिला की भांति वह भारतीयता की साकार मूर्ति। उसके मौन ही ने सब कुछ कह दिया। परन्तु जिनकी दृष्टि में सब कुछ भगवान् का ही अंश है जो गोस्वामी तुलसीदास जी के कथानुसार (सीयराममय सब जग जानी) समस्त संसार को भगवान् का ही रूप देखते हैं, उन्हें कैसा मोह? कैसा राग? कहां का बन्धन? जिनके हृदय में अनन्त सौन्दर्य, अनन्तानन्द एवं अपरिमित स्वतन्त्रता की प्राप्ति का अंकुर उत्पन्न हो गया हो; उस परम प्रभु ने जिसका हाथ पकड़ने के लिये अपना कर कमल प्रसार दिया हो, जिससे उस परमात्मा को, देश, धर्म सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा एवं प्रचार का कार्य लेना हो, वह अब कैसे रूक सकता था? कौन सी शक्ति उसे रोक सकने में समर्थ हो सकती थी फलतः भारत के इस होनहार युवक ने अपनी राधा-स्वरूपिणी अर्धांगिनी में मातृत्व का दर्शन किया। उनकी दृष्टि में अब माता, स्त्री इत्यादि में एक ही तत्व भास रहा था, कोई भेद नहीं रह गया था। उनकी दृष्टि समस्त संसार के नारी समाज में मातृत्व के दर्शन कर रही थी। जब इनकी स्त्री ने यह देखा-सरस्वती ने उनकी बुद्धि को प्रेरित किया-भारत की उस आदर्श नारी ने धीरे से कहा कि जब इनकी इतनी उच्च दृष्टि है, ऐसी विचित्र स्थिति है तो मैं व्यर्थ में इनके आध्यात्मिक जीवन में क्यों बाधक बनूं। अरे! भारत की उस त्यागमूर्ति ने अपने को धन्य समझा और उनके मार्ग से विनम्रतापूर्वक एक ओर हट गयी, मार्ग ने छोड़ दिया। पिताजी से कह दिया कि अब इन्हें संसार की कोई शक्ति नहीं रोक सकती, अतः जाने दो।

इस प्रकार संवत् १९८३ सन् १९२६ ई. में १९ वर्ष की अवस्था में सारे परिवार को रोता-बिलखता छोड़ माता-पिता के श्री चरणों में प्रणाम कर बालक हरनारायण सदा के लिये घर छोड़कर चल दिया, कभी भी फिर उस घर के स्वामी के रूप में वहाँ वापिस न आने के लिये।

यह स्मरणीय है कि जिस कन्या को गोद में उसकी मां खड़ी थी और जिस कन्या के भावी जीवन की किसी भी सम्भावना का बिना विचार किये पतिपरायणा

माता ने भारीतय नारी के आदर्श का निर्वाह करते हुए उन्हें धर्म पथ पर उन्मुक्त रूप से अग्रसर कर दिया था, उस कन्या को एकमात्र माता-पिता श्रीमती महादेवी जी ने इसका पालन पोषण शिक्षा-दीक्षा देकर बड़ा किया और उसका विवाह केदौरा के एक कुलीन परिवार में कर दिया। सुश्री भगवती देवी नाम्नी इस पुत्री का विवाह श्री रविरत्न तिवारी के सुपुत्र श्रीयुत महादेव तिवारी जी के साथ सम्पन्न हुआ। बाद में श्री महादेव तिवारी अपनी ननसाल खंडवा चले गये। आज दिन श्रीमती भगवती देवी सपरिवार यहीं रहती है।

***

दीक्षा ग्रहण

यह महात्मा थे श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज जो आगे चलकर ज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रम के जगद्गुरू शङ्कराचार्य हुए। इनसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ग्रहण कर हरनारायण से हरिहरचैतन्य बने। आज्ञा शिरोधार्य कर नैष्ठिक ब्रह्मचारी के वेश में हरिहर चैतन्य प्रयाग से पुण्यतोया गंगा के किनारे किनारे चल पड़ा एक लंगोटी व गाती बांधे और लगन वह धुन के पक्के युवक ने कुद दिनों में ही अपने को बुलन्दशहर जनपद में गंगातट पर स्थित नरवर साङ्गवेद विद्यालय में पाया। प्राचीन ऋषियों के गुरुकुलों जैसा शान्त सुरम्य स्थान, पवित्र वातावरण जहां तपोमूर्ति, नैष्ठिक बालब्रह्मचारी श्री पण्डित जीवनदत्त जी महाराज की अध्यक्षता में देववाणी संस्कृत का प्राचीन गुरू शिष्य परम्परानुसार अध्यापन का कार्य चल रहा था। कहीं बटुकसमुदाय सस्वर वेदपाठ कर रहे थे, कहीं व्याकरण के कठिन सूत्रों का विवेचन हो रहा था। यज्ञ-धूम की पवित्रगन्ध से आश्रम सुवासित था। गंगा तट पर एकान्त नीरवस्थान पर स्थित इस आश्रम में आते ही हरिहर चैतन्य ने अनुभव किया कि वह गन्तव्य पर पहुंच गया है उन्होंने स्नान ध्यान पुरस्सर ब्रह्मचारी जी को प्रणाम निवेदन कर विद्याध्ययन करने का अपना मनोभाव प्रकट किया। इस प्रकार संवत् १९८३ विक्रमी सन् १९२६ ई. में हरिहर चैतन्य ने नरवर साङ्गवेद विद्यालय में विधिवत् अध्ययन आरम्भ कर दिया। उस समय विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे श्री पं. रामाज्ञा जी चतुर्वेदी। इन्होंने व्याकरण सम्पूर्ण ४ वर्ष की मध्यमा इन्हीं से अध्ययन कर केवल ११ मास में उत्तीर्ण की। उस समय सहायक अध्यापक थे श्री पाठक जी। फिर १३ मास तक वेदान्त आदि दर्शन शास्त्रों का अध्ययन पूज्यपाद षड्दर्शनाधार्य दण्डी स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम जी महाराज से किया। व्याकरण अध्ययन के साथ साथ इन्होंने 'सारस्वतचन्द्रिका' का भी अध्ययन किया। इस समय के इनके एक साथी का नाम था देवकीनन्दन इन दोनों ने साथ ही मध्यमा उत्तीर्ण की थी। पूज्य स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम जी महाराज से इन्होंने वेदान्त-दर्शनशास्त्रों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत का विशेष रूप से अध्ययन किया। स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम जी महाराज षडदर्शनाचार्य कहलाते थे- इन्हीं को हरिहर चैतन्य ने अपना गुरूवरण किया। गुरू जी श्री श्री अच्युत मुनि जी के विशेष आग्रह पर नरवर से अनूपशहर की ओर सात कोस की दूरी पर स्थित (भेरिया) 'भृगुक्षेत्र' जाना पड़ा- परन्तु विद्यार्थी हरिहर चैतन्य जी गुरू जी के साथ-साथ गये और अध्ययन में तल्लीनता पूर्वक श्रीगुरू सेवा में अहर्निश लगे रहे। अच्युतमुनि जी गंगा में नाव में ही रहते थे, वहीं साथ

साथ हरिहर चैतन्य भी विधाध्ययन करते रहे और श्रीमद्भागवत पर व्याख्याक्रम भी वहीं चलता रहा। वेदान्त पठन भी साथ साथ चलता रहा। कुछ दिन पश्चात् गुरू जी श्री स्वाजी अच्युतमुनि जी के साथ पुनः नरवर लौट आये और हरिहर चैतन्य भी नरवर विद्यालय में पुनः गुरू-सेवा में लीन रहे। उस समय भगवान राम में इनकी अधिक निष्ठा थी, भजन, पूजन, ध्यान, धारणादि के साथ साथ रामायण पाठ किया करते थे पाठ करते करते इनते भावुक हो उठते थे कि जोर जोर से एकान्त में रोदन करने लगते थे। रुंधे गले से राम को पुकारा करते थे। फिर शान्त होकर श्री हनुमान जी के नाम पत्र लिखकर हनुमानगढ़ी अयोध्या के पते पर कभी डाक से और कभी गंगा भागीरथी के द्वारा भेजा करते थे।

यह पढ़ते समय साधारण परिश्रम ही करते थे। क्योंकि इनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी, स्मरण शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। जब यह पढ़ते थे इनके अन्य साथी इनके साथ नहीं लग पाते थे। इनका पाठ विशेष रूप से पृथक ही चलता था। जो वस्तु साधारण प्रतिभा के विद्यार्थी जीवन भर परिश्रम करके भी नहीं पढ़ पाते थे उन्हीं ग्रन्थों को इन्होंने अत्यन्त अल्पकाल में ही पढ़ लिया था। कहते है कि एक-एक दिन में ही पुस्तकें की पुस्तकें कंठाग्र कर लेते थे और उनका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन भी कर लते थे।

इनका रहन-सहन, दिनचर्य्या, पूजन, भजन, भोजन सब में एक आदर्शवादिता थी, विलक्षणता थी। त्याग की इनमें प्रबल भावना थी। बचपन से हीप यह निःस्पृह से रहे। यहां पाठशाला में अध्ययन काल में भी यह बाहर दूर एकान्त स्थान में एक फूंस की झोपड़ी में ही रहते थे। भोजन यह स्वयं नहीं बनाते थे अपितु नरौरा ग्राम की बस्ती से भिक्षा मांग कर लाते थे। इस प्रकार अल्पाहार एवं कठोर नियमों का पालन करते हुए अध्ययन, भागवत-प्रवचन, सद्ग्रन्थों के पठन के साथ साथ बीस वर्षीय युवक हरिहर चैतन्य कठोर साधना में लीन रहता था-

तपस्या :-

युवक हरिहर चैतन्य आश्रम के नियमों का पूर्ण पालन करते हुए एक ओर विद्याध्ययन में एकान्त भाव से अहर्निश तल्लीन था तो दूसरी ओर कठोर से कठोर व्रतों, उपवासों, योगासनों आदि द्वारा शरीर को कसते हुए इन्द्रियजय करने में लगा था। अध्ययन के समय में भी वह प्रायः अपनी उस झोपड़ी से भी दूर निर्जन स्थान पर चले जाते थे। प्रत्येक एकादशी (अथवा पूर्णिमा) को प्रायः व्रत समाप्ति पर भोजन आदि से निवृत्त होकर दूर अरण्य में गंगातट पर चले जाते। वहां ठीक बारह बजे रेणुका में एक लकड़ी गाड़ते, उसकी परछाई पर चिह्न लगा देते और एक टांग से खड़े होकर जप, तप अथवा ध्यान में लीन हो जाते। अगले दिन जब धूप ठीक उसी स्थान पर आती और लकड़ी की परछायी उसी चिह्न पर आ जाती तब तपस्या से विरत होते और आश्रम को लौटते। कभी-कभी गुरुजी भी इन्हें देखने एकान्त में

इनके पास जाया करते थे। इनका यह नियम ब्रह्मचर्याश्रम से ही चलता रहा है। धीरे-धीरे शरीर कृश होने लगा परन्तु मुख पर तेज दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। इनकी दिनचर्या को देखकर बड़े-बड़े महात्मा भी कह उठते कि 'हरिहरचैतन्य' एक दिन 'महान्-आत्मा' बनेगा। सन् १९२७ में एक दिन इसी प्रकार तपस्या से विरत होकर, वेदान्त की पूर्ण शिक्षा श्री गुरुमुख से प्राप्त करके आपके मन में घोर तपस्या का भाव आया तो गंगा तट से लौटकर आश्रम को नहीं आये और आगे को ही बढ़ते गये गंगा के किनारे किनारे। घोर जंगल में, उत्तराखण्ड की हिमाच्छादित हिमालय की तलहटियों में तरुण तपस्वी हरिहर चेतन मात्र लंगोटी लगाये कठोर साधना में लीन था। अपने शरीर की ममता त्यागकर, भूख और प्यास को हनन कर वह इन्द्रिय विजय के लिये तपस्या करने लगा। तीन वर्ष की कठोर एकान्त साधना के पश्चात् तपस्या सफल हुई। आत्मदर्शन हुआ। वहीं से इन्हें दैवी आदेश मिला कि 'इस समय तुम्हारे देश, धर्म पर आपत्ति है, संसार से भागो मत किन्तु अपने कल्याण के साथ साथ संसार का कल्याण करो; धर्म की रक्षा के लिये धर्म का प्रचार करो; अधर्म परिवर्जन के साथ-साथ प्राणियों में सद्भावना एवं विश्व कल्याण के लिये लोक में प्रवृत्त हो जाओ। वहीं से इन्होंने देश-धर्म की सेवा का व्रत लिया और यहां से आपने काशी की ओर पुनः पदाति प्रस्थान किया परन्तु काशी प्रवेश से पूर्व ही सीखर ग्राम में शिखा-सूत्र परित्यागपूर्वक विद्वत सन्यास लिया पश्चात् काशी जाकर पठन-पाठनादि में रत रहे। २३ वर्षीय युवक सन्यासी ने कठोर नियमों का पालन करते हुए पैदल यात्राएँ प्रारम्भी की। धीरे-धीरे इनकी त्याग तपस्या की चर्चा चहु ओर होने लगी।

'परमहंस' :-

सन् १९३१ में हिमालय की उपत्यका से चलकर हरिहर चैतन्य पुनः गुरुजी के समीप नरवर आश्रम में आये। सब साथियों से इन्होंने खुलकर भेंट की। सबने इन्हें 'परमहंसजी' कहकर सम्बोधित किया। उनकी उस समय बड़ी विलक्षण स्थिति थी। वे बड़े प्रसन्न दीख रहे थे, मानों कुछ मिल गया हो। मुख पर अनुपम आभा छाई हुयी थी; मस्तक तेज-पुंज से दीप्त था। उनके रोम रोम से प्रसन्नता एवं एक विशेष प्रकार की आलौकिक आभा फूट रही थी। संसार में प्राणी प्रत्येक वस्तु में अपनत्व का भान करता है। वह सांसारिक तुच्छ पदार्थो के प्रति मोह करता है, उनकी प्राप्ति पर प्रसन्न होता है। कामिनी, कांवन एवं अन्य सुन्दर सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए बड़े बड़े कठोर कर्म करता है उनकी प्राप्ति पर फूला नहीं समाता, परम प्रसन्न होता है। जब सांसारिक अनित्य, नश्वर, क्षणभंगुर तुच्छ पदार्थों की प्राप्ति पर वह इतना प्रसन्न होता है, फिर कल्पना करो- जिसे इन सबके अधिष्ठाता, अनन्त सौन्दर्यशाली परमात्मतत्व की प्राप्ति हो गयी हो उसकी प्रसन्नता की क्या सीमा हो सकती है? यही दशा आज हमारे इस धर्म प्राण जनता के कर्णधार वीतराग युवक महात्मा की हो रही थी उनका

अन्तर आनन्द रसानुभूति से सरोबार था तो बाह्य गौर सुन्दर शरीर तपस्या की अग्नि से तप्त कुन्दन की भाँति देदीप्यमान हो रहा था– वह आज अपने को वास्तव में कृतकृत्य अनुभव कर रहा था। जो भी मिला उससे खुलकर भेंट की; कोई कहता कि अब तो ब्रह्मचारी हरिहर चैतन्यजी परमहंस हो गये। कोई इनके कन्धे पर हाथ रखकर साथियों की तरह उनसे बातें करते, अपनी कहते, उनसे कुछ पूछते। इस प्रकार बातें करते–करते वह गुरुजी के समीप गये और आगे बढ़कर गुरुदेव की पूजा की जिनकी कृपा से उन्होंने आज सब कुछ पाया था, पुष्पादि लेकर उनकी पूजा अर्चा की। फिर कुछ देर अत्यन्त भक्ति व श्रद्धा के साथ तन्मय होकर स्तुति की, उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। अनन्तर कुछ दिन गुरुचरणों में रहकर श्रीमद्भागवत का रसामृत पान कराते रहे। भागवत पर ही इनके प्रवचन होते रहे।

'करपात्री' :-

इन दिनों हरिहरचैतन्य अध्यात्मपथ पर बहुत आगे बढ़ चुके थे। उनकी विचित्र दशा थीद्ध वह केवल एक कोपीन धारण करते थे, शौच जाने के लिये केवल मट्टी की एक हांडी पास में रखते पवित्र सदाचारी ब्राह्मणों के घर से शिक्षा मांगते और हाथ पर रखकर ही खाते। भोजन के सम्बन्ध में भी बड़े कठोर नियमों का पालन करते थे। जब किसी गांव में जाते तो शुद्धि का यहां तक विचार रखते थे कि पहले यह ज्ञात कर लेते कि द्विजातियों का कौनसा कूप है, अन्यथा प्यासे ही आगे बढ़ जाते ओर अनुकूल शुद्ध जल मिलने पर ही ग्रहण करते। इनके त्याग और तपस्या की ख्याति धीरे–धीरे फैलने लगी। समस्त धार्मिक जगत में इनकी विचित्र प्रतिभा एवं अद्वितीय विद्वता, वैराग्य एवं कठिनतम व्रतों की चर्चा सुनायी देने लगी। दूसरों को धर्म का उपदेश देने से पूर्व उन्होंने शास्त्रों की समस्त आज्ञाओं, नियमों को स्वयं अपने जीवन में उतारा। अपनी दिनचर्या में कठोर से कठोर शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए अपने आप को धार्मिक ढांचे में ढाला। अपना समस्त समय तपस्या एवं अध्ययन में ही व्यतीत करते, भूमि पर शयन करते, पैदल भ्रमण करते– इस प्रकार इस महायोगी, परमतपस्वी, यतिराज महात्मा ने इन्द्रियदमन पूर्वक, त्याग और वैराग्य, विद्वता और तपस्या से सन्यास आश्रम की सार्थकता दिखलाकर समाज को एक नयी प्रेरणा दी। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह से ग्रस्त समाज के जब यह देवतुल्य महापुरुष पदाति–भ्रमण पूर्वक पधारते तो जनता धन्य–धन्य हो जाती। इस पथ भ्रष्ट समाज को त्याग, तपस्या, वैराग्य, धर्म इत्यादि की शिक्षा देने के प्रयोजन से यह परम–कारुणिक संत, दैवी प्रेरणा से प्रेरित होकर जब पधारते लोगों की भीड़ उमड़ पड़ती और करों पर भोजन करने के कारण उन्हें 'करपात्री' के नाम से पुकारती। करपात्री जी महाराज की जय के तुमुल घोष के साथ उनका स्वागत करती। अब करपात्री जी की ख्याति समस्त भारत में फैलने लगी थी।

'दण्ड-ग्रहण' :-

करपात्री जी नरवर से पदातिभ्रमण करते हुए प्रयागराज आये तो यहां उन्होंने पुनः परम तपस्वी सन्यासी स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज के दर्शन किये जिनकी प्रेरणा एवं आज्ञा से लगभग सात वर्ष पूर्व 'हरनारायण' विद्याध्ययन करने के लिये नरवर गया था। आज उसे 'हरिहर चैतन्य' और 'परमहंस' बने करपात्री के रूप से देखकर वह बड़े प्रसन्न हुए।उनके पास बड़े-बड़े महात्मा आया करते थे। इन सभी का सम्पर्क करपात्री जी से हुआ तो वे इनकी अद्‌भुत विद्वत्ता, अपूर्व त्याग और तपस्या को देखकर बड़े प्रभावित हुए उन पर इनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी। २४ वर्षीय तरुण तपस्वी सन्यासी 'करपात्री' में विद्यार्थियों जैसी जिज्ञासाा एवं ज्ञान पिपासा थी। उन्होंने वहां भी गुरुजनों से अध्ययन किया, बहुतों से कुछ सीखा तथा अनेकों को पढ़ाया।

प्रयाग से अब वह धार्मिक जगत की राजधानी, भूतभावन, विश्वनाथ, भगवान शङ्कर की नगरी 'काशी' पधारते तो लोगों ने देखा कि एक गौरवर्ण पर लंगोटी लगाये, एक छोटा सा गैरिक वस्त्र धारण किये, उन्तललाट पर त्रिपुण्ड धारण किये, हाथ में मिट्टी की हांडी लिये एक तरुण गंगा किनारे किनारे बढ़ा चला आ रहा था मानो, ज्ञान वैराग्य की कोई मूर्ति चली आ रही हो। ख्याति तो कई वर्षो से फैल रही थी, दर्शनों के लिये भीड़ उमड़ पड़ी। वहां अनेक विद्वान एवं महात्माओं के सम्पर्क में आये। काशी के एक प्रसिद्ध सन्यासी दण्डी स्वामी श्री अनन्ताश्रम जी एक बड़े ही उच्च कोटि के विद्वान महात्मा थे। उनके सर्वश्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ शिष्य श्री स्वामी कमलनाभ आश्रम जी भी उन्हीं की भांति बड़े उद्‌भट विद्वान थे। वह भी इनकी विद्वता एवं वाग्मिता पर मुग्ध हो गये और कहते है कि उन्होंने भी आकर करपात्री जी से कुछ अध्ययन किया। काशी के अन्य विद्वानों एवं महात्माओं ने भी स्वामी करपात्री जी से विद्या ग्रहण की। वहाँ के मूर्धन्य पण्डित समाज पर करपात्री जी की विद्वता का प्रभाव पड़ने लगा। और फल यह हुआ कि देश भर के विद्वानों में स्वामी करपात्री जी का नाम अग्रगण्य हो गया। जब बड़े-बड़े ख्यातिलब्ध महात्मा दण्डी सन्यासी भी इनके पाण्डित्य से प्रभावित होकर स्वामी जी से विद्याध्ययन करने लगे जो इनके दण्डी न होने के कारण इन्हें उच्चासन देने मैं संकोच का अनुभव करते। अतः उन्होंने करपात्री जी से प्रार्थना की कि दण्डी सन्यासियों के लिये ही आचार्य होने का विधान है अतः आप दण्ड अवश्य ग्रहण कर लें।

उधर जब स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्ती ने देखा कि शिष्य की ख्याति बढ़ गयी है परन्तु अभी तक उसने दण्ड ग्रहण नहीं किया है जो कि आवश्यक है और फिर उन्होंने यह भी अनुभव किया कि दण्ड ग्रहण करने के कारण सन्यासियों में जो गौरव उन्हें मिलना चाहिये वह नहीं मिल रहा है। अतः उन्होंने करपात्री जी से दण्ड ग्रहण करने

के लिए कहा परन्तु स्वामी जी ने इने विनम्रता पूर्वक मना कर दिया। कुछ ऐसी अद्‌भुत अवस्था थी उनकी कि वह अपने पास कुछ भी रखना नहीं चाहते थे इसे एक बन्धन मानते थे। अनन्तर इनके विद्यागुरु पूज्यस्वामी विश्वेश्वराश्रमजी महाराज के विशेष आग्रह एवं आज्ञा पर करपात्री जी ने इस शर्त पर दण्ड ग्रहण स्वीकार कर लिया कि वह अनिवार्य रूप से स्वयं दण्ड लेकर नहीं चलेगा। अपितु कोई शिष्य उनके साथ रहेगा वही दण्ड लेकर चलेगा। इनके गुरुदेव ने एक दिन करपात्री जी से कहा कि आज दण्डी सन्यासियों से विद्वान महात्माओं की कमी होती जा रही है, अतः तुम जैसे अनुपम विद्वानों एवं त्यागी तपस्वी सन्यासी को दण्ड ग्रहण कर एक आदर्श स्थापित करना चाहिए।'

इस प्रकार आपने परमगुरुदेव षड्‌दर्शनाचार्य श्री स्वामी विश्वेश्वराश्रम जी महाराज की आज्ञा से, परम वीतराग श्रीमत् परमहंस परिब्राजकाचार्य १००८ श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज के कर कमलों द्वारा सन् १९३१-३२ में लगभग २४ वर्ष की आयु के काशी में दुर्गाकुण्ड के निकट बड़हर के महाराज की कोठी की उपत्यका में भगवान शंकर के मन्दिर के पार्श्व में आपने विधिवत् दण्ड ग्रहण किया। धार्मिक जगत् 'करपात्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती की जय' के निनाद से गूंज उठा। उसने एक 'अभिनव शङ्कराचार्य' के रूप में आपके दर्शन किये।

धर्मप्राण भारत के लिये कितना महान् दिवस था वह!

***

दण्डग्रहण के पश्चात्

'धर्मसंघ' :-

दण्डग्रहण के पश्चात् स्वामी जी सन्यासी के लिये मान्य कठिन नियमों का पालने करते हुए काशी से ऋषिकेश तक गंगातट पर आत्म-चिंतन में ही निरत रहने लगे। किन्तु परमात्मा को तो इनसे कुछ और ही कार्य लेना था, फलतः इनके मन में लोक कल्याण की आत्मप्रेरणा जागृत हुई, दैवी आदेश प्राप्त हुआ। शताब्दियों से पददलित इस देश की सनातन संस्कृति, जाति एवं धर्म की दुर्दशा इस धर्मप्राण भारत में उनसे नहीं देखी गयी। एक ओर तो भयंकर विश्वयुद्ध की ज्वालाओं में जलभुनकर समस्त विश्व की मानवता भस्मसात हुआ चाहती थी। दूसरी ओर जगद्गुरु भारत भी युद्ध की लपटों से सन्तप्त था। धर्म प्राण भारत असंख्यों अज, दिलीप, मान्धाता, रघु, राम, कृष्ण, प्रताप एवं शिवा की सन्तानों के होते हुए भी परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। प्रयत्नशील होते हुए यथेष्ट सफलता नहीं मिल रही थी। सम्पूर्ण देश आधि-व्याधि, शोक, मोह, रोग, हीनता, दीनता, दरिद्रता एवं परतन्त्रता के भयंकर बन्धनों में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। स्वतन्त्रता के लिये प्रयास तो हो रहे थे परन्तु उनमें सफलता मिल जाने पर स्थायी सुख-शान्ति की आशा नहीं थी; क्योंकि कूटनीतिज्ञ विदेशियों के रंग में रंगकर हमारे ही कुछ पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित भाई, सुधार के नाम पर, उस धर्म के ही विनाश में ही सुख-शान्ति देखने लगे थे, जिसे अनादि काल से मिटाने के प्रयत्न होते रहे हैं। परन्तु उसे मिटाने वाले स्वयं मिट गये। देश में सुबुद्धि के नाम से ऐसी दुर्बुद्धि फैली हुई थी कि लोग कुपथ्य को ही पथ्य समझ रहे थे, सहोदर जान सर्प को ही गले लगा रहे थे। देश में धार्मिक भावनाओं की कमी के कारण एकता तथा संगठन के नाम पर मुसमिल-नान मुसलिम, ब्राह्मण-अब्रह्मण, छूत-अछूत, मिलमालिक-मजदूर, स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, किसान, जमींदार, विवाद बढ़ रहे थे, जितना सुलझाने का प्रयत्न किया जाता वह उतनी ही उलझ जाती थी। सुधार के नाम पर अधार्मिक बिल पास करने की धुन सवार थी; लोग विकासवाद के नाम पर अपने पूर्वजों को मूर्ख और जंगली बताते हुए उनका स्वागत गालियों तक से करने में भी नहीं हिचकते थे। सारांश! आध्यात्मिक भारत की आत्मा रो रही थी।

स्वामीजी ने विचार किया कि भारत की उपर्युक्त दशा तथा पतन का कारण क्या है? उन्नति, सुख, शान्ति, स्वतन्त्रता इत्यादि सुख-प्राप्ति के साधन क्या है?

उन्होंने देखा कि लोग इनकी प्राप्ति के मूल सिद्धान्त से दूर हट गये थे। सर्व अनर्थों के मूलभूत अधर्म में प्रवृत्ति तथा धर्म विरोधी भावना को मिटाने के लिये और सब प्रकार की उन्नति, कल्याण एवं सुख के मूल कारनण 'धर्म की स्थापना' के लिये किसी की रूचि नहीं थी। स्वामीजी ने कहा कि 'धर्म और भगवान् के अभिमुख होना ही लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण का मूल है, परन्तु भारत आज इस शास्त्रीय योजना को अपनाने में लजाता है, इसकी अवहेलना करता है'– 'आज एक स्वर से सभी भारतीयों को परमात्मा से पुकार करनी चाहिए, कुछ जप, पाठ, पूजन प्रार्थना करनी चाहिये और यह भावना सुदृढ़ बनानी चाहिये कि सम्पूर्ण जगत् एक प्रभु का ही रूप है, जगत् का सब कुछ परमेश्वर का ही अंश है, यही अकारण करूण–करूणावरूणालय हैं, उन्हीं की शरण जाने में कल्याण हो सकता है। अनन्त शक्ति, अनन्त सत्ता, अनन्त सुख, अखण्ड शान्ति एवं अपरिमित स्वातन्त्र्य के मूल सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, परब्रह्म, परमात्मा से तारतम्य स्थापित करनेसे उसे करूण होकर पुकारने से अभीष्ट की प्राप्ति हो सकेगी।'

अत: 'धर्म–ग्लानि, अधर्माभ्युत्थान की निवृत्ति और धर्म संस्थापन हो' इस शुद्ध संकल्प से प्रभु प्रार्थना की जाने का कार्यक्रम इन्हीं महापुरुष की प्रेरणा से बनाया और लगभग दो वर्षों तक लिखलिखकर ही यह सिद्धान्त नगर नगर और ग्राम ग्राम में बाँटा जाता रहा।

संवत् १९९४ वि (सन् १९३७ ई.) में हरिद्वार महाकुम्भ के अवसर पर इस सिद्धान्त का व्यापक प्रचार हुआ। स्वामी करपात्री जी मेले से कई मील दूरी पर एक झोंपड़ी बनाकर ठहरे थे तथा रोड़ी वाला क्षेत्र में स्वामी रामदेवजी, श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज प्रभृति बड़े–बड़े सन्त भी वहीं ठहरे थे। वहीं आप नित्य प्रवचन करते रहे। स्वामीजी नित्य दश–दश घण्टे तक प्रवचन करते थे और फिर भी दश–दश हजार की भीड़ हर समय उपस्थित रहती थी इनके भाषण के सुनने के लिये। उसी मेले में वर्णाश्रम–स्वराज्य संघ का भी अधिवेशन था। वहां सायंकाल महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी के भी भाषण होते थे। उनसे जब दिन में भी भाषण देने की प्रार्थना की गयी तो बोले कि 'दिन में हमारे पढ़ने की एक पाठशाला खुली है, यदि वहाँ पढ़ने नहीं जायेंगे, तो यहाँ सायंकाल को क्या भाषण करेंगे?' भारत के उस महाविद्वान के मुख से उक्त वचन सुनकर सब अवाक् रह गये कि कौन–सी पाठशाला है वह? कौन से महापुरुष वहाँ पढ़ाते हैं, जिनसे ऐसे–ऐसे विद्वान भी पढ़ने की जिज्ञासा रखते है? तो उस महान् दार्शनिक वेदज्ञ ने बताया कि पूज्य–पाद श्री स्वामी करपात्री जी महाराज के, अजस्त्रगंगा की धारा के समान दिन भर, धर्मोपदेशों की धारा प्रवाहित होती रहती है, वही हमारी पाठशाला है। सारांश! भारत के बड़े–बड़े विद्वान भी इस प्रकार स्वामी जी ने इस संकल्प से जप, पाठ अनुष्ठानादि करने वाले आस्तिकों

का एक संघ स्थापित किया, उन्हें संघटित करने का प्रयत्न किया तथा कई वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् संवत् १९९७ विक्रमी (सन् १९४०) की विजयादशमी के पवित्र दिवस को 'धर्मसंघ' की स्थापना हुयी।

'प्रचार' :-

'धर्मसंघ' के पावन संकल्प के व्यापक प्रचार के लिये तथा धर्मसंघ के संघटन को सुदृढ़ बनाने के लिये स्वामी जी ने धर्मयात्राएं प्रारम्भ की। हरिद्वार से गंगासागर तक और वहां से पुष्कारराज तक उन्होंने पैदल यात्रा की। नगर-नगर ग्राम-ग्राम में जाकर स्वामी जी ने सनातनी वैदिक धर्म का सन्देश सुनाया, जन-सम्पर्क स्थापित कर सुप्त धार्मिक समाज में जागृति उत्पन्न की तथा 'धर्मसंघ' की शाखाएं स्थापित की। उनकी विलक्षण प्रतिभा, अद्वितीय भाषणशैली, अनुपम त्याग एवं तपस्या के कारण अल्पकाल में ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में सैंकड़ों शाखाएँ धर्म की जय हो एवं अधर्म का नाश हो' प्राणियों में सद्भावना हो एवं विश्व का कल्याण हो' 'धर्म-संघ' के इन पावन उद्घोषों के साथ धर्म ग्लानि-अधर्माभ्युत्थान की निवृत्ति पूर्वक, धर्म संस्थापन की विशुद्ध भावना से सैंकड़ों धार्मिक अनुष्ठानों में रत हो गयी। देश में एक छोर से दूसरे छोर तक टोले-टोले, मुहल्ले-मुहल्ले, ग्राम-ग्राम में जप, पाठ, पूजा, प्रार्थनाएँ एवं अनुष्ठानादि का ताँता लग गया। इन सबका एक ही उद्देश्य था, एक ही लक्ष्य था- विश्व का कल्याण।

स्वामी जी ने अब अमरनाथ की पैदल यात्रा की। समस्त पश्चिमोत्तर प्रदेश जम्मू-काश्मीर, पंजाब आदि में धर्मसंघ की शाखाएँ स्थापित की। संघ के व्यापक-उदार सिद्धान्त का प्रचार किया। जहाँ भी यह तरुण-सन्यासी एक हाथ में दण्ड धारण किये पदाति भ्रमण करते-करते पहुँचते लोग धर्म की जय जयकार के साथ इनका स्वागत करते। स्वामी जी के उपदेशों का सार था 'सब एक ही परमात्मा की सन्तान है। सब कुछ परमात्मा का ही अंश है। तुम अपने को हीन मत समझो। अनुभव करो और समझो कि तुम तो अमृत के पुत्र हो? 'अमृतस्यपुत्राः' एक पिता की सन्तान के नाते विश्वबन्धुत्व एवं विश्व कल्याण की विशुद्ध परमोदार भावना का प्रचार करो घर-घर में। जगद्गुरुभारत के 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' के सिद्धान्त को समझो और उसके अनुसार ही जीवन में आचरण करो इत्यादि।' धर्म के इन व्यापक सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए भारत के इस छोर से उस छोर तक इस तरुण-तपस्वी-मनस्वी-वीतराग सन्यासी ने न जाने कितनी धर्म यात्राएँ की।

मार्गशीर्ष विक्रम संवत् १९९५ (सन् १९३८ ई.) में इनके पूज्यपाद विद्यागुरु श्री स्वामी विश्वेश्वराश्रम जी महाराज का महानिर्वाण हुआ। इस अवसर पर एक विशेष आयोजन हुआ। पूज्य १००८ श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज, श्री उड़िया बाबा जी महाराज इत्यादि अनेक सिद्ध महात्मा एकत्रित हुए। स्वामी जी ने भी इस अपूर्व धर्मसत्र

में भाग लिया। कई दिनों तक सत्संग चलता रहा। श्री उड़िया बाबा जी सामूहिक रूप से प्रणब सहित संकीर्तन कराते थे, करपात्री जी ने इसका विरोध किया और इसी विषय पर कई दिन तक भाषण दिये। और बाद में 'संकीर्तन-मीमांसा और वर्णाश्रम मर्यादा' के नाम से एक परम प्रामाणिक पुस्तक भी लिखी। गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा भगवान् आद्य श्री शङ्कराचार्य जी के भाष्य के सम्बन्ध में कुछ भूलें कल्याण में प्रकाशित हो गयीं। स्वामी जी तुरन्त वहाँ पहुँचे। उन्हें समझाया। कल्याण सम्पादकों ने भूल स्वीकार की परन्तु संशोधन प्रकाशित करने में संकोच प्रदर्शित करने लगे। स्वामी जी ने तुरन्त 'शाङ्कर-सिद्धान्तों' पर किये गये आक्षेपों का 'समाधान' नाम से एक अत्यन्त प्रामाणिक एवं पांडित्यपूर्ण पुस्तक की रचना की। यही नहीं स्वामी जी ने जहाँ कहीं भी धर्म-मर्यादा का अतिक्रमण होते हुए देखा वही निर्भयता पूर्वक आवाज उठायी और इस प्रकार सदैव ही विरोधियों की शंकाओं का समाधान करते हुए अबाधगति से अहर्निश सारे देश में पैदल घूम-घूमकर धर्मयात्रा करते हुए धर्म का प्रचार करते रहे और इस असंगठित सुप्त सनातनी समाज को एक सुदृढ़ प्लेटफार्म तैयार कर दिया।

प्लेटफार्म के साथ ही साथ स्वामी जी प्रेस की शक्ति से भी अपरिचित नहीं थे। उन्होंने काशी से पहले संवत् १९९६ विक्रम के कार्तिक मास में मासिक 'सन्मार्ग' का प्रकाशन प्रारम्भ कराया और फिर साप्ताहिक 'सिद्धान्त' का। सिद्धान्त केवल विचार पत्र ही था। अतः शीघ्र ही समाचार प्रधान साप्ताहिक 'सन्मार्ग' का प्रकाशन भी काशी से ही स्वामी जी ने प्रारम्भ किया। इन सभी पत्रों में स्वामी जी नियमित रूप से अपने विचार प्रकट करते रहे और उस समय की भूली जनता को सचमुच ही 'सन्मार्ग' के द्वारा आवश्यक मार्गदर्शन मिलता था। इन्हीं दिनों उपर्युक्त संकीर्तनमीमांसा एवं 'समाधान' नामक दो पुस्तकों के अतिरिक्त 'श्री भगवतत्व' ग्रन्थ की रचना की जिसको पढ़कर स्वामी जी की अगाधभक्ति, प्रकाण्ड-पांडित्य तथा शास्त्रों के अपरिमित ज्ञान का अच्छा परिचय विद्वानों को प्राप्त हुआ।

विक्रमी संवत् १९९८ के माघमास में, प्रयाग-कुम्भ के अवसर पर धर्मसंघ की ओर से धर्म-प्रचार के लिये एक विशाल कैम्प की आयोजना की गयी थी, वहीं धर्म संघ को अखिल भारतीय रूप दिया गया। अ.भा. धर्म संघ का विशेषाधिवेशन हुआ जिसमें संघ के उद्देश्य, नियम, आदि बनाये गये। पदाधिकारियों का निर्वाचन किया गया, प्रान्तीय समितियाँ बनायी गयीं तथा आगे का कार्यक्रम भी निर्धारित किया गया। उस दिन से आज तक स्वामी जी की अमर स्मृति 'धर्म-संघ' धार्मिक जनता का पथ-निर्देशन कर रहा है। धर्मसंघ ने सच्चे अर्थों में सुप्त धार्मिक समाज को एक नवीन चेतना प्रदान की है और धर्मसंघ के माध्यम से किये गये धर्मप्रचार का पराधीन भारत की तत्कालीन जनता के हृदय पटल पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा उसका आकलन भी आज कठिन है।

अनन्यसहयोगी :-

धर्म संघ ने अखिल भारतीय रूप ग्रहण किया तो उसका कार्यक्रम एवं प्रचार भी बढ़ा। महामहोपाध्याय श्री पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, शास्त्रार्थ महारथी पं. माधवाचार्य शास्त्री प्रभृति अनेकों विद्वानों का पूर्ण सहयोग पूज्य स्वामी जी को प्राप्त हुआ। किन्तु धर्म प्रचार के उनके कार्य में जो उन्हें अनन्य सहयोगी के रूप में प्राप्त हुए, वह थे पूज्यपाद श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज, जिनका मिलन तो यद्यपि सन् १९३० ई. में मेरठ जनपद के गाधि नामक ग्राम की अमरायी में हुआ था। इन वीतराग, ब्रह्मनिष्ठ, तपोमूर्ति महात्मा को धर्म-संघ ने अपना स्थायी सभापति निर्वाचित किया। साक्षात् धर्मस्वरूप स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज का पूर्ण सक्रिय सहयोग प्राप्त होते ही धर्म-संघ को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। दोनों की पैदल धर्मयात्राएँ, धर्म प्रचार एवं धर्म-संघ के सिद्धान्तों के प्रसार हेतु आसेतुहिमाचल प्रारम्भ हुयीं। तब से ये दोनों-श्री स्वामी करपात्री जी महाराज एवं श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज-एक प्राण दो देह की भाँति धर्म-संघ द्वारा धर्म की सेवा में संलग्न रहे। यदि सच पूछा जाय तो आप दोनों महात्माओं की धर्म के प्रति लगन, त्याग एवं तपस्या के कारण ही धर्मसंघ की इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुयी। दोनों में परस्पर इतना प्रेम, सौहार्द एवं आत्मीयता थी कि लोग सहसा कह उठते थे कि 'इनका अद्भुतनेह एक प्राण दो देह'। स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी प्रायः सभी कार्यों की सम्पन्नता का श्रेय स्वामी श्री करपात्री जी को देते तो श्री स्वामी करपात्री जी उनके तप त्याग को ही सफलता का कारण बताते। स्वामी श्री करपात्री जी उन्हें बड़ा उच्च कोटि का महात्मा बताते तो स्वामी जी कहा करते कि करपात्री जी महाराज बड़े महात्मा हैं। यह सत्युगी महात्मा है इनके मन में इस कलिकाल में भी सत्युगी संकल्प उठा करते हैं-लोग इनकी इस निरभिमानता को देखकर गद्गद् हो जाते।

यज्ञयुग की झलक :-

धर्म संघ की शाखा सभाओं में वृद्धि हुयी तो धर्मसंघ के पावन संकल्प से होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों एवं यज्ञों की भारतवर्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक धूम मच गयी। इनमें सर्व प्रथम सोनीपत में रुद्रमहायाग हुआ, फिर गढ़मुक्तेश्वर में तत्पश्चात् मेरठ नगर में दो 'सहस्रचण्डीयज्ञ' सम्पन्न हुए। फिर राजधानी दिल्ली में 'शतमुखकोटिहोमात्मक महायज्ञ' तथा कानपुर में इसीकी पुनरावृति हुयी। पश्चात् काशी का 'सार्द्धद्वय कोटिहोमात्मक एकविंशत्युत्तरशतमुख सर्ववैदिक शास्त्रीय रुद्रमहायज्ञ' सम्पन्न हुआ। लखनऊ, उदयपुर, बम्बई में 'लक्षचण्डीमहायज्ञों' का अनुष्ठान हुआ, बीकानेर की अयुतचण्डी के अतिरिक्त देश के प्रमुख नगरों में अनेक महान यज्ञों के आयोजन, विश्व-कल्याण की कामना से इन्हीं महात्मा की प्रेरणा एवं धर्मसंघ के तत्वावधान में किये गये। विस्तार भय से इनका विशद विवरण एवं चित्रावलियाँ देना उचित नहीं है।

देहली का यज्ञ तो भारत की एक ऐतिहासिक घटना ही बन गया। इस यज्ञ के साथ ही सनातन धर्म के प्रचार का भी जितना महान् आयोजन किया गया था, सम्भवत: वैसा उससे पहले कभी सम्पन्न नहीं हुआ। इस यज्ञ में लगभग दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया। उस समय प्रकाशित होने वाले देश विदेश के समाचार पत्रों ने यज्ञ सम्बन्धी विवरण को प्रमुख स्थान देकर प्रकाशित किया। स्वामी जी ने धार्मिक भारत की वर्तमान (तत्कालीन) धार्मिकता को तोला था। उसका मूल्यांकन किया था। वेदों को ११३१ शाखाओं में से केवल न्यूनाधिक्य २०-२१ ही उस समय उपलब्ध थी। स्वामी जी ने इन सभी प्राप्त शाखाओं के विद्वानों को देहली निमन्त्रित किया, उनसे विचार-विमर्श किया और इस प्रकार चिरप्रसुप्त सनातन-वैदिक-संस्कृति को नव चेतना देने का महान् कार्य सम्पन्न किया।

देश में, इस घोर कलिकाल में यज्ञयुग की झलक दिखाने का श्रेय इन्हीं पूज्यमहात्मा को है, जिन्होंने अपनी तपस्या एवं सत्प्रयत्नों के द्वारा भगवान के भरोसे पर ही लाखों रूपयों की लागत से सम्पन्न होने वाले ऐसे ऐसे महान् ऐतिहासिक यज्ञों का अनुष्ठान कर दिखाया, जो कभी सत्युग में ही सम्भव थे। विशेषता यह रही कि इन समस्त यज्ञों एवं धार्मिक अनुष्ठानों के मूल में किसी का किसी प्रकार का स्वार्थ निहित नहीं था, अपितु यह सभी अनुष्ठान 'धर्म की जय', 'अधर्म का नाश', 'प्राणियों में सद्भावना एवं 'विश्व के कल्याण' के धर्म-संघ के परमोदार शुद्ध संकल्पानुसार ही सम्पन्न हुए थे। इस कार्य के लिये किसी को दबाकर अथवा प्रभावित करके एक भी पैसा नहीं लिया गया वरन् अपनी कमायी को पवित्र बनाने के लिये जनता ने स्वयं यज्ञस्थल पर आ आकर लाखों रूपया यज्ञ-भगवान की सेवा में समर्पित किया। कई यज्ञों में तो लाखों रूपये व्यय होकर भी लाखों रूपचा बच रहा। देहली में इसी बचे हुए धन से निगम बोध घाट पर श्री धर्म-संघ महाविद्यालय की स्थापना हुयी और उसी धन से आज भी उसका संचालन हो रहा है।

पूज्य स्वामी जी ने कैलाश से कन्याकुमारी तक एवं अमरनाथ से गंगासागर तक सम्पूर्ण अखण्ड भारत में इन महायज्ञानुष्ठानों द्वारा सनातन वैदिक संस्कृति एवं धर्म का शंखनाद फूंककर प्रसुप्त धार्मिक जगत् में वह जन जागरण एवं स्फूर्ति उत्पन्न कर दी जिसकी बड़ी आवश्यकता थी।

देव कोई मुड़ गया होगा पथ भूल कर,
भूमि पर नभ से विभूति चली आई है।
मन्त्र से पवित्र तुम तन्त्र से विचित्र तुम,
खेले जिस अंक बीच धन्य वह माई है।।

कौनसा विशेषण हो, उपमा कहां मिले,
कुछ भी न सूझ रहा भूली कविताई है।
माई बस माई है, पवित्रता में कोख वह,
वेद की ऋचा है, तुलसी की चौपाई है।

श्री हरि

धर्म की जय हो
अधर्म का नाश हो
प्राणियों में सवेंदावन हो
विश्व का कल्याण हो
हर हर महादेव
कर पाचो पाछ हरिहरानन्द

***

प्रचार के आधार

'धर्मविरोधीबिल' :-

पूज्य स्वामी जी महाराज अपने सहयोगियों के साथ भारत की जनता में व्यापक रूप से फैली धर्म के प्रति उपेक्षा को नष्ट करने उसे अकर्मण्यता एवं उदासीनता के गर्त में से निकालकर समाज में क्रियात्मक रूप से भाग लेने की ओर प्रेरित करने में जुटे हुए थे कि तत्कालीन विदेशी भारत सरकार ने अपनी नीति के अनुसार ही हिन्दुओं से छेड़छाड़ करने के उद्देश्य से 'हिन्दू लॉ कमेटी' के नाम से एक समिति का गठन किया। इस समिति को ऐसे कानून बनाने का कार्य सौंपा गया जो हिन्दू धर्मशास्त्रों को अस्त-व्यस्त करके, अंग्रेजी भाषा में, अंग्रेजियत से प्रभावित हों और ब्रिटिश भारत में रहने वाले समस्त हिन्दुओं पर ही लागू हों। इस समिति ने मुख्य रूप से दो बिलों का मसौदा बनाया। एक 'अप्रदत्तउत्तराधिकार बिल' और दूसरा 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक बिल'। स्वामी जी ने दोनों बिलों का अध्ययन किया और देखा कि उनका उद्देश्य केवल भारत की धार्मिक जनका की भावनाओं से खिलवाड़ मात्र ही है। उन्होंने कहा कि केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय किसी भी सरकार को अथवा देशी राज्यों को कभी भी ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं कि वह ऐसे कानून बना सके जो कि हिन्दुओं के निजी व्यवहार, धार्मिक संस्कार और धर्मशास्त्रों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकें। धार्मिक स्वातन्त्र्य की महारानी विक्टोरिया द्वारा की गयी सन् १८५७ ई. की घोषणा की भी जब सरकार उपेक्षा करने पर उतारू हो गयी, तब स्वामीजी से नहीं रहा गया। इन्होंने धर्म प्रचार के अपने कार्यक्रम के साथ-साथ अधार्मिक बिलों का विरोध भी अपने कार्यक्रम का मुख्य अंग बनाया। उन्होंने इन धर्मनाशक बिलों का भण्डाफोड़ करते हुए स्पष्ट घोषणाएँ की कि कुछ सुधारकों ने, जो कि सर्वथा भारतीयता से अनभिज्ञ हैं सरकार के सामने सुझाव पेश किये हैं, जिनमें सुधार के नाम पर इस प्रकार के बिल पास करने को कहा गया है। परन्तु सरकार को ऐसा अधिकार नहीं है; प्रत्येक भारतीय को इन बिलों का विरोध करना चाहिए। ब्रिटिश सरकार जो हमारी संस्कृति, सभ्यता एवं धर्म को मिटाने की ताक में रहती है उसी ने हमारे धर्म पर घातक प्रहार करने के लिये यह 'राव कमेटी' में कोई भी धर्म शास्त्र का विद्वान नहीं हैं और नही वैदिक संस्कृति का प्रेमी ही बल्कि 'राव' साहिब स्वयं ईसाई मतावलम्बी हैं-ऐसी परिस्थिति में इन बिलों से हिन्दू धर्म का नाश ही प्रत्यक्ष है। उक्त कमेटी ने जो

उत्तराधिकार सम्बन्धी बिल प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार कुटुम्ब सम्पत्ति शीघ्र ही नष्ट हो जायेगी, भाई-बहिन में कलह होगा, परस्पर प्रेम-भाव नष्ट हो जायेगा, घर की सम्पत्ति घर में ही रहे ऐसा विचार कर मुसलमानों की भांति घर में ही विवाह होने लगेंगे अथवा बहनों के विवाह शीघ्र नहीं होंगे। ऋण छोड़कर मरने वाले पिता की पुत्री से कोई विवाह न करेगा। दहेज के भय से लोग पुत्रियों एवं बहिनों का वध तक करने से न चूकेंगे। सास, श्वसुर द्वारा पुत्र के दूसरे विवाह न करने के लिए धन प्राप्ति के लालच में प्रथम बहू का वध तक करने की समाज में नौबत आ सकती है। सारांश! इसी प्रकार की अनेकों बुराइयाँ, जो कि सर्व साधारण की बुद्धि के बाहर की हैं, उन्हें स्वामी जी ने खुले रूप से जनता के समक्ष, बिल के विरोध में रखा। 'विवाह बिल' के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बुराईयों से जनता को अवगत कराया उन्होंने खुले मंचों से घोषणा की कि 'इस प्रकार के बिलों से लाभ के बदले कलह तथा अच्छृखलता को ही प्रोत्साहन मिलेगा।' सबसे बड़ा अनर्थ यह होगा कि इन बिलों के बन जाने पर धर्मशास्त्र बाधित होंगे अथवा वे मन्सूख समझे जायेंगे।

स्वामी जी ने धर्म प्रचार के साथ-साथ इन बिलों के विरोध का कार्य भी अपने हाथ में ले लिया और इनके विरोध में पुनः देशव्यापी दौरे किये। देश के नगर-नगर, ग्राम-ग्राम में इन बिलों के विरोध में प्रबल जनमत जागृत हो उठा। लाखों तार, पत्र, हस्ताक्षर कराके सरकार केा भिजवाये। जिसके परिणाम स्वरूप 'राव कमेटी' की रिपोर्ट के ही अनुसार अस्सी प्रतिशत व्यक्ति इन बिलों के विरोध में पाये गये। जहाँ जहाँ भी कमेटी गयी उसे जनता के प्रचण्ड विरोध का सामना करना पड़ा। 'राव कमेटी' को सफलता नहीं मिली उसका देशव्यापी विरोध हुआ।

स्वामीजी के अदम्य उत्साह और कार्यशीलता से ही दोनों धर्म विरोधी बिल सरकारी फाइलों के नीचे दबे हुए सिसकते ही रह गये।

गोवधबन्दी :-

गो केवल एक उपयोगी पशु ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति में वह हमारी 'माँ' कही गयी है अतः वह अवध्य है। वेद में गो को 'अवध्या' कहा है। भारत की पुण्य भूमि पर गोवध होता हो यह सचमुच ही एक दुःख की बात है। स्वामी जी ने इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया, तो उनकी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी उनसे नहीं रहा गया अतः धर्मसंघ के कार्यक्रम में उन्होंने गोरक्षा को भी सम्मिलित कर पारतन्त्र्य काल में तत्कालीन विदेशी सरकार से गोवधबन्दी की मांग प्रस्तुत की साथ ही यह दृढ़ संकल्प भी व्यक्ति किया जब तक धर्मप्राण देश भारत की पुण्य-भूमि पर गोवध का काला कलंक दूर नहीं हो जाता तब तक यदि मोक्ष भी मिले तो उसे स्वीकार नहीं करना है। उनका कथन था कि जिस भूमि पर गो का रक्त गिरता है उस भूमि पर किये गये पुण्य नष्ट हो जाते हैं। असंख्य लोगों ने इनकी प्रेरणा से कुत्ता पालन छोड़कर,

गाय पालना प्रारम्भ किया किन्तु स्वामी जी ने अनुभव किया कि जब तक सरकारी स्तर पर जारी गो हत्या बन्द नहीं होगी। इस समस्या का समाधान कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। अत: स्वामी जी ने गोवध बन्दी के लिये विशेष प्रयास किये। अपनी धर्म यात्राओं में प्रचार करते हुए स्थान-स्थान पर अपने व्याख्यानों, वक्तव्यों, लेखों तथा पत्रों द्वारा सरकार से गोवध बन्द करने का अनुरोध भी करने लगे और अन्त में एतदर्थ 'धर्मयुद्ध' भी छेड़ना पड़ा उन्हें जिसका विस्तृत विवरण अन्यत्र प्रकाशित है।

पाकिस्तान :-

आर्य भारत के मूल निवासी हैं, वह कहीं बाहर से आकर यहाँ नहीं बसे हैं, किन्तु कूटनीतिज्ञ विदेशी शासकों ने हमारे इतिहास को मनमाने ढंग से परिवर्तित किया, आर्यों को मध्य एशिया का निवासी ठहराकर उन्होंने हमें अपने ही देश में विदेशी बनाने का प्रयत्न किया और इसका भी एक कारण था; विदेशी शासक चाहता था कि भारत के हिन्दुओं में भारत के प्रति अपनत्व की भावना ही उत्पन्न न हो और वह ऐसा सब कुछ लिखकर अपने उस प्रयत्न में सफल भी हो सका। अनेक भारतीयों ने भी अंग्रेजों की हाँ में हाँ मिलाकर उनके लिखे इतिहास की पुष्टि की। इससे अंग्रेज तो प्रसन्न हुआ ही साथ मुसलमान भी प्रसन्न हो उठा। अंग्रेजों की कूटनीति का शिकार होकर, उनके द्वारा बताये गलत इतिहास पढ़कर तथा उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर भारतीय नेताओं ने एक दिन जब स्वयं ही अपने को मध्य एशिया अथवा उत्तरी ध्रुव से आया हुआ मान लिया तथा यहां की तत्कालीन जातियों पर अत्याचार करने की बात का समर्थन स्वयं करने लगे, फिर बताइये पाकिस्तान का विरोध ये कैसे कर सकते थे। जब आर्य भी विदेशी, मुसलमान भी विदेशी तब यह देश केवल हिन्दु का ही कह कर क्यों पुकारा जाये? अत: मुसलमान देश का साझी बन बैठा और साझा कभी भी टूट सकता है-इस मुसलमान ने देश के बंटवारे की आवाज उठानी प्रारम्भ कर दी। और जो व्यक्ति स्वत: अपने को भी इस भूमि पर विदेशी स्वीकार कर चुके थे वह भला पाकिस्तान की माँग का विरोध किस आधार पर करते। अत: देश के राजनीतिज्ञों की वाणी इस विषय में क्षीण होने लगी। यह देखकर इस राष्ट्र भक्त दण्डी सन्यासी श्री करपात्री स्वामी के हृदय पर चोट लगी। उनकी आत्मा चीत्कार कर उठी- 'हम भारत में विदेशी नहीं हैं' उन्होंने कहा- 'अनादि काल से, सृष्टि के प्रारम्भ से हम यहीं रहते चले आये हैं। यह भारत हमारी मातृभूमि है, पितृभूमि है, और पुण्य-भूमि है, इस पर और किसी का भी स्वामित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।' 'इस देवभूमि को खण्ड-खण्ड नहीं किया जा सकता।'- और स्वामी जी ने धर्म-संघ के प्रचार के साथ पाकिस्तान-विरोध को भी अपने कार्यक्रम का एक अंग बनाया। सैंकड़ों सभाएँ पाकिस्तान विरोध में, देश भर में आयोजित की गयीं। सहस्त्रों प्रस्ताव पास करके सरकार के पास भेजे गये। देश के कोने कोने से भारत को अखण्डता का नारा उठने

लगा। इस तरुण-सन्यासी की आवाज देश के एक छोर से दूसरे छोर तक गूंज रही थी, परन्तु जब अपने ही देशवासी भारत-विभाजन के समर्थक बन रहे थे तब विदेशी सरकार भला इस सच्चे राष्ट्र भक्त भविष्य दृष्टा तपस्वी की आवाज कैसे सुन सकती थी? स्वामी जी सन् चालीस से ही कहा करते थे कि यह वर्तमान नेता एक दिन पाकिस्तान मान लेंगे। अतः उन्होंने निरन्तर पाकिस्तान विरोध जारी रखा। पाकिस्तान बनने के इन कुपरिणामों को अपनी त्रिकालज्ञता से जानकर पहले ही जनता के सामने रक्खा परन्तु बाहरी! अभागी हिन्दुजाति ऐसे त्रिकालज्ञों का वरदहस्त प्राप्त होते हुए भी भारत माता की जय बोलने वाले तीस करोड़ माँ के लालों के होते हुए भी, दश वर्ष पहले ही पाकिस्तान स्थापना के कुपरिणामों को जानकर भी तू कुछ न कर सकी तो इसमें किसी को क्या दोष दिया जा सकता है? हाँ जिन्होंने जाना, अनुभव किया, उन्होंने यथा-शक्ति विरोध किया, सचेत किया और ठीक पाकिस्तान बनने के एक दिन पहले तक सारी शक्ति भर इसके विरूद्ध राजधानी में प्रदर्शन किया। सत्याग्रह किया, परन्तु जो होना था सो हुआ। कोई भी निष्पक्ष-ईमानदार इतिहासकार यह कहे बिना नहीं रह सकता कि पाकिस्तान स्थापना के पहले या बाद में चाहे किसी ने पाकिस्तान विरोध में कितने ही नारे क्यों न लगाये हो परन्तु यदि सक्रिय और उचित समय पर कोई विरोध करने वाला भारत में था तो वह यही सन्त 'करपात्री' था जिससे यह जघन्य कृत्य नहीं देखा गया और वह इस मातृहत्या-पातक से बचने हेतु अपने सहस्त्रों साथियों, भक्तों, महात्माओं सहित- उस समय जब विभाजन की योजना की स्वीकृति पर देश का जवाहर मुहर लगा रहा था, सहस्त्रों माँ, बहिन, बहू, बेटियाँ, बच्चे, बूढ़े, युवक असहाय दीन, हीन अवस्था में पड़े परदेशी होने वाले थे, सीकचों में बैठा था। वहीं से अपने परम कौतुकी प्रभु की विचित्र-संहार लीला को देखकर रोता हुआ भी, मुसकरा रहा था कि प्रभु यह क्या हो रहा है?

सचमुच यदि भारतीय नेताओं में सद्बुद्धि का प्रादुर्भाव, इस महात्मा के कथनानुसार उस दिन हो गया होता तो आज भारत कुछ और ही होता। बाद में विभाजन जनित कूपरिणामों को देखकर तो राजर्षि टण्डन, महात्मा गाँधी, डॉ. राम मनोहर लोहिया, सरसंघ चालक श्री माधवराव सदाशिवराज गोलवलकर, श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी, श्री स्वातन्त्र्यवीर, श्री विनायक दामोदर सावरकर लोकनायक अणे आदि विचारकों ने तो देश विभाजन को महानभूल स्वीकार कर पश्चाताप का प्रदर्शन किया-परन्तु यह सभी शक्तियाँ यदि इस विरक्त सन्यासी का उस समय साथ दे देती तो आज भारत अखण्ड भारत होता और उसके आँगन में सभी जाति, धर्म सम्प्रदायों के लोग सानन्द प्रगति पथ पर आगे बढ़ते जैसे कि शेष खण्डित भारत में सबको समान अवसर सुलभ हैं।

***

अन्य संस्थाएँ

'शिक्षामण्डल' :-

शासक प्राय: यही चाहता है कि देश की शिक्षा उसके ही हाथों में रहे क्योंकि ऐसा होने से ही वह देश के नवयुवकों को अपने इच्छित सांचे में ढाल सकने में समर्थ हो सकता है अत: हमारी शासकों ने भी यही किया। उन्होंने जो शिक्षा हमें दी उसे प्राप्त कर हम प्रतिदिन भारतीयता से दूर ही होते चले गये। सरकार के अधीन शिक्षा को देखकर तथा उसमें अधार्मिकता एवं कुशिक्षा का पूर्ण प्रवेश देखकर स्वामीजी ने इस ओर भी ध्यान दिया।

'सद्शिक्षा से सद्बुद्धि, सद्बुद्धि से सदिच्छा, सदिच्छा से सत्प्रयत्न और सत्प्रयत्न से ही सत्फल की प्राप्ति होती है एवं सुख-शांति मिलती है।' -स्वामी ने कहा- 'अत: यदि आज हमारे प्रयत्नों का सद्फल प्राप्त नहीं होता तो उसका कारण ही यह है कि हमारी शिक्षा ही सद्शिक्षा नहीं है।'

स्वामी जी ने अ.भा. धर्म-संघ के तत्वाधान में ही 'धर्म-संघ-शिक्षा-मण्डल' की स्थापना की। काशी, दिल्ली, वृन्दावन, हिसार, विठूर, मुजफ्फरपुर, चुरू आदि अनेक नगरों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक कई 'धर्मसंघ विद्यालयों' की स्थापना की। उनका स्वतन्त्र पाठ्यक्रम बनाया तथा परीक्षाओं की व्यवस्था की। इन सभी विद्यालयों में प्राचीन शैली के अनुसार गुरु-शिष्य परम्परा एवं भावना से पठन-पाठन चलता है। इन विद्यालयों में सैंकड़ों विद्यार्थी प्राचीन प्रणाली से संस्कृत की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं तथा इन विद्यालयों ने देश को बड़े-बड़े विद्वान दिये हैं। जिन्हें इन आश्रमों में जाकर इन्हें निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनका कथन है कि सादगी एवं सात्विकता से परिपूर्ण इन आश्रमों को देखकर आज भी महर्षि वाल्मीकि, वशिष्ठ इत्यादि के समय की स्मृति हो आती है। स्वामी जी का विचार है 'कि सरकार कोई भी हो अपनी या पराई, शिक्षा उसके नियन्त्रण से मुक्त ही रहनी चाहिये; क्योंकि ऐसा न होने से परतन्त्र हो जायेगी और शिक्षा की परतन्त्रता कभी भी हमारी परतन्त्रता का कारण बन सकती है।'

'धर्म-वीर-दल'

स्वामी जी के त्याग एवं तपस्या के साथ-साथ धर्मसंघ का कार्य-क्षेत्र भी विस्तृत होता गया; अत: उसके समस्त कार्यक्रमों को एक सूत्र में बांधने के लिये तथा

इन्हें संगठित कर इनमें एकरूपता लाने के उद्देश्य से अ.भा. धर्मसंघ के पंचम महाधिवेशन में जो कि ग्राम ढेबवा, जिला छपरा (बिहार) में सन् १९४५ ई. में सम्पन्न हुआ था एक अ.भा. 'धर्मवीरदल' की स्थापना स्वामी जी द्वारा की गयी। दल को सैंकड़ों शाखाएँ देश भर में कार्य कर रही है। 'धर्मज्योति' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशनभी दल के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए किया गया। देश के विभिन्न भागों में समय समय पर आयोजित धार्मिक, आध्यात्मिक उत्सवों एवं सम्मेलनों आदि केअवसर पर दल धार्मिक जगत् की सेवा निरन्तर करता आ रहा है।

'सनातनी दल'

'अभ्युदन का धारण जिससे हो वही 'धर्म' है और अभ्युदय की प्राप्ति जिससे हो वही नीति है, अत: धर्म और नीति का परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीति से ही शास्त्र और धर्म प्रतिष्ठित होते है, नीति से ही सामाजिक सुव्यवस्था होती है तथा शान्ति होने पर ही धर्म के अनुष्ठान में सुविधा होती है और धर्म की भावना फैलने से नीति भी कार्यान्वित एवं सफल होती है।' –इन्हीं विचारों को आगे रखकर पुज्य करपात्रीजी ने राजनीति में प्रवेश करने के लिए धार्मिक जनता का आव्हान किया।

सन् १९४५ ई. में नये निर्वाचन की घोषणा हो गयी। स्वामीजी ने देखा कि पाश्चात्य भावापन्न, धर्मशून्य व्यक्ति ही राजनीति के क्षेत्र पर अधिकार जमाये बैठे हैं। सरकार द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक मामलों में खुला हस्तक्षेप किया जा रहा है। राष्ट्रीय कही जाने वाली कांग्रेस द्वारा हिन्दु हितों की उपेक्षा हो रही है। ऐसेम्बली में उपस्थित हिन्दुकोड बिल पर सरकार तथा हिन्दु सदस्यों का रूख धर्म विरोधी एवं घातक है। राष्ट्रीय–संस्था–कांग्रेस का लोग के प्रति जो नरम रूख है उससे देश–विभाजन न होने देने को घोषणा सन्देहास्पद है। उससे हिन्दू–हित रक्षण सम्भव नहीं है। इधर धार्मिक समाज 'कोऊ नृप होहि हमें का हानि' का सिद्धान्त अपनाये बैठा है और उसी का यह परिणाम है कि व्यवस्थापिका परिषदों में एक के बाद दूसरा धर्म विरोधी बिल में परिणत हो रहा है।

साथ में स्वामी जी ने यह भी अनुभव किया कि अब केवल बाहर रहकर विरोध करने से काम चलने वाला नहीं है। ऐसेम्बलियों की कुर्सियों पर बैठे अपने ही, गैरों के समर्थक हो रहे हैं। अत: स्वामीजी ने धार्मिक जनता को क्रियात्मक रूप से राजनीति में प्रवेश करने का अनुरोध किया और इस कार्य के संचालन के लिए ३ सितम्बर १९४५ को उन्होंने 'अखिल भारतीय सनातनी दल' का संगठन किया। इसमें अ. भा. धर्मसंघ, भारत धर्म–महामण्डल, पण्डितसभा, सनातन धर्म सभा, श्री योगी महासभा इत्यादि अनेक संस्थाओं ने भाग लिया। अ. भा. हिन्दू महासभा से भी समझौता हो गया और यह निश्चित किया गया कि जो 'सनातनी दल' के प्रतिज्ञा पत्र हस्ताक्षर कर दे उसी को जनता को मत देना चाहिये इस प्रकार जो व्यक्ति धार्मिक

हितों की रक्षा करने, अधार्मिक बिलों के प्रस्तुत होने पर उसका विरोध करने भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील होने, पाकिस्तान का विरोध करने, गोवध रोकने व गोरक्षा कराने, किसान मजदूरों के हितों की रक्षा करने इत्यादि से युक्त सनातनी दल के प्रतिज्ञापत्र के अनुसार भारतीय संस्कृति रक्षण के लिये सतत प्रयत्नशील रहने की घोषणा करे उसे ही जनता से अपना अमूल्य मतदान प्रदान करने की प्रार्थना की गयी। स्वामीजी ने भारत की व्यापक यात्रा की। उन्होंने उक्त कार्यक्रम एवं विचार धारा को जनता के समझ रखने का पूर्ण प्रयास किया। उन्होंने बताया कि 'धर्म नीति का पति है, धर्म से विरहित होकर राजनीति विधवा है और विधवा नीति में फलोत्पादन की क्षमता नहीं रहती। धर्म-विहीन राजनीति प्रारम्भ में भले ही चमत्कारिक सफलता दिखलाये पर अन्त में वह पतन की ही ओर ले जायेगी। समस्त महाभारत इस का ज्वलंत प्रमाण है।'

धार्मिक जनता में स्थान-स्थान पर राजनैतिक चेतना आने लगी और वह अपने शत्रु-मित्र की पहिचान करने का प्रयत्न सा करने लगी। 'कोऊ नृप होई' वाली उदासीन भावना का परित्याग सुप्त भारतीय समाज के हृदय में से होने लगा। स्वामीजी ने कहा कि 'यदि धर्म को नष्ट करके स्वतन्त्रता प्राप्त भी हुई तो उससे लाभ क्या?' किसी का मस्तिक क्लोरोफार्म से विकृत कर यदि उसके हाथ पैरों की हथकड़ी-बेड़ी काट भी दी जायें तो क्या उस व्यक्ति को मुक्त कहा जायेगा? अत: हमारा मस्तिष्क भी ठीक रहे-हमारी आध्यात्मिकता और धर्म बन रहे और हें स्वतन्त्रता प्राप्त हो तभी वह स्वतन्त्रता सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता होगी। और ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की भावना स्वामीजी ने अपने सहस्त्रों व्याख्यानों द्वारा जनता में जागृत कर दी। 'स्वतन्त्रता के नाम पर जो भी व्यक्ति तुम्हारा वोट मांगने आये उससे उपर्युक्त प्रतिज्ञा करा लो कि वह तुम्हारे धर्म में कोई हस्तक्षेप करेगा। ऐसे आश्वासन के बिना किसी को भी अपना मत देना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना ही सिद्ध होगा।'-ऐसी घोषणा सनातनी दल की ओर से प्रचारित की गयी जिसके परिणामस्वरूप जनता की वोटों पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने वाले धर्म विरोधियों को सचमुच ही बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। किसी सीमा तक इस व्यापक जन चेतना उत्पन्न करने का श्रेय स्वामीजी को प्राप्त है।

***

अरण्यों में चमत्कारी विचित्र पुष्पों, पल्लवों की रचना देखकर, भिन्न भिन्न फलों के अद्‌भुत माधुर्य्य, सौन्दर्य, सौरस्य; सौगन्ध्य देखकर क्या उनके निर्माता के स्वीकार करने में भी आपत्ति हो सकती है? क्या मयूर (मोर) के अंगों, प्रत्यङ्गों तथा पिच्छों के रचना वैचित्र्य को देखकर विश्वकर्त्ता की विचित्र-ज्ञान-क्रिया शक्तियों पर सन्देह रह सकता है? शुक (तोता) का मनोरम हरितरूप एवं रक्त चंचु तथा हंस की विचित्र शुक्लिमा (श्वेतता) ही अपने रचयिता की सर्वज्ञता नहीं सिद्ध करदेती? माना कि आपके पूर्वज (?) पशुओं से शिक्षा ग्रहण करके सभ्य हुये। बहुत दिनों बाद शिल्पकला आदि का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु, इन जंगल के विविध पत्रों, पुष्पों, फलों तथा पक्षियों के निर्माता को कला-कौशल किसने सिखाया? जब समस्त निर्माण ही किसी की ज्ञान-क्रिया-शक्ति का वैभव है, तब विश्व के मूल में ही अचिन्त्य, अपरिमेय ज्ञानशक्ति एवं क्रिया-शक्ति का प्राखर्य्य सिद्ध ही है।

धर्मयुद्ध

कथित राष्ट्रीय नेताओं ने मुसलमानों की पृथक राष्ट्र की मांग के आगे घुटने टेक दिये और केन्द्र में अन्तरिम सरकार स्थापित हो गई। जिसमें प्रधानमन्त्री पं. जवाहर लाल नेहरू एवं वित्तमन्त्री नवाबजादा लियाकतअली आदि (मुसलिम लीगी) भी सम्मिलित थे। अब तो धर्म विरोधी बिलों में और भी अधिक प्रगति आई। शास्त्र एवं धर्म विरूद्ध सगोत्रविवाहबिल, तलाकबिल आदि कानून सरकार द्वारा प्रस्तुत थे। हिन्दु समाज के लिए साक्षात् कोढ़ जैसा 'हिन्दूकोड' जो एसेम्बली के सामने पहिले से था ही सब सुधारकों की इस प्रकार के बिल शीघ्रतापूर्वक कानून के रूप में परिवर्तित कराने में सरलता दीख पड़ने लगी।

अनेक वर्षों के सतत् प्रयत्नों से यद्यपि जनता में इन बिलों के प्रति प्रबल विरोधी भावनाएँ उत्पन्न हो चुकी थीं किन्तु फिर भी सरकार जनता की उन भावनाओं की ओर कोई भी ध्यान देती नहीं दीख पड़ी थी। जब सरकार ने कोई न सुनी तब अ. भा. धर्मसंघ के षष्ट् महाधिवेशन के अवसर पर बम्बई में, १९ जनवरी, १९४७ ई. को पूज्य स्वामीजी ने घोषणा की कि 'यदि आगामी अक्षय तृतीया, वैशाख शुक्ल, ३ संवत् २००४ विक्रमी तक हमारी गोवध बन्दी इत्यादि मांगें न पूर्ण हुई तो हम इस दिन से धर्मयुद्ध छेड़ देंगे।

'धर्मयुद्ध' की घोषणा के साथ स्वामीजी ने प्रचार के साथ-ही-साथ 'धर्मयुद्ध' का प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया। लोक कल्याण की इस कामना की पूर्ति के लिये स्वामीजी ने कठिन व्रत धारण किया। इस समय आप नौ दिन तक जल की एक बूंद भी ग्रहण नहीं करते थे, अन्न दुग्ध आदि का तो कहना ही क्या? नौ दिन के पश्चात् अनुष्ठान करके केवल गाय का कुछ दूध और फलादि लेकर व्रत का पारायण करते और फिर अगले नौ दिन के लिये कठोर साधना प्रारम्भ हो जाती। साथ ही दिन-रात धर्मयात्रा भी चलती रहती जिसके फलस्वरूप महाराज का शरीर कृश हो गया, जटाएँ बढ़ गयी थी।

इस प्रकार मन में धर्म और गाय की रक्षा की तड़प लिये यह तरुण सन्याी देश के कोने-कोने में अलग जगाता फिरा। सरकार के लिखा-पढ़ी, शिष्ट-मण्डलों का भेजना, प्रस्ताव भिजवाने इत्यादि का कार्यक्रम भी तीव्र गति से चालू था, किन्तु सरकार के कान पर जूं तक न रेंगी। अतः २६ अप्रैल, १९४७ ई. को स्वामीजी ने एसेम्बली के सामने 'भारत अखण्ड हो', 'गोवध बन्द हो', 'अधार्मिक बिल रद्द हों', 'मन्दिरों की

मर्यादा सुरक्षित रहे', 'विधान शास्त्रीय हो' ये पाँच माँगे उपस्थित करते हुए धर्म-युद्ध का श्रीगणेश कर दिया। धर्मयुद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व स्वामीजी ने सर्व श्री नेहरूजी, पटेलजी, राजेन्द्र प्रसादजी तथा कृपलानी जी इत्यादि बड़े-बड़े नेताओं को २४ अप्रैल १९४७ को पत्र भेजकर धर्म-युद्ध प्रारम्भ करने की सूचना दे दी थी। परन्तु इस संत की शान्तिपूर्ण माँगों पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। श्री सत्यव्रत ब्रह्मचारी के नेतृत्व में प्रदर्शन करता हुआ पहला जत्था संसद-भवन के सामने पहुँचा। सत्याग्रह का उद्घाटन करने के लिए स्वामी श्री करपात्री जी स्वयं उपस्थित हुए और तत्काल ही पुलिस द्वारा बन्दी बना लिए गये। इन्हें लाहौर जेल में भेजकर उस कोठरी में रखा गया जिसमें कभी शहीद सरदार भगत सिंह रखे गये थे। उसी कोठरी में स्वामी जी ने रूद्ध कण्ठ एवं अश्रुपूर्ण नेत्रों से उस अमर शहीर को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

हिन्दू सभा के प्रमुख नेता भाई परमानन्दजी स्वामीजी के इस कृत्य से बहुत ही प्रभावित हुए। लाहौर जेल में स्वामीजी से एक भेंट के पश्चात् आपने कहा था कि 'मुझे तो स्वामी जी के अन्दर गुरू तेग बहादुर की आत्मा का दर्शन हुआ है, जो धर्म पर विपत्ति देखकर व्याकुल हो उठी है और उसके लिए कठिन से भी कठिन यातनाएँ सहने के लिये तैयार हुई है।' यह धर्म-युद्ध लगभग ९ मास तक चलता रहा जिसमें समस्त देश भर के अनेक प्रतिष्ठित महानुभवों ने भाग लिया। लगभग ५००० धर्मवीर जेल गये अथवा जंगलों में डाले गये। गौस्वामी लक्ष्मणाचार्य, स्वामी कृष्णानन्द तथा स्वामी मुकुन्दाश्रमजी, इन महात्माओं का बलिदान भी हो गया। किन्तु सरकार टस से मस न हुई। हाँ, जनता का विरोध देखकर उसने स्वामीजी को अवश्य मुक्त कर दिया।

'नोआखाली में' :-

देश की पुकार हो या धर्म की, प्रश्न राजनैतिक हो या सामाजिक, करपात्री जी लोक कल्याण से सम्बन्धित किसी भी कार्य में पीछे नहीं रहे। अक्टूबर १९४६ में पाकिस्तानी गुण्डों के संगठित प्रयत्नों के फलस्वरूप नोआखाली में हिन्दुओं का व्यापक विनाश हुआ, बलात् धर्म परिवर्तन हुए, देवमन्दिर, तीर्थ स्थान भ्रष्ट किये गये, स्वमी जी से यह सब कुछ नहीं देखा गया। वह वहाँ पहुँचे और वहाँ के ग्राम-ग्राम में पैदल घूमे। उन्होंने कुमिल्ला, चांदना, चौमुहानी, रामगंज, त्रिपुरा, दत्तपाड़ा, सोमपाड़ा, शाहगंज, लक्ष्मीपुर, दलालगंज इत्यादि अनेकों स्थानों पर हिन्दुओं की परिस्थिति स्वयं अपने नेत्रों से देखी, सरकारी कर्मचारियों से सम्पर्क स्थापित किया, स्वयं सेवकों की नियुक्ति की और दीन-हीन दु:खी और भयभीत हिन्दुओं के मन में 'रामनाम' के उपदेश से वीरता का संचार किया। धर्मसंघ की ओर से भारी मात्रा में कम्बल, वस्त्र अन्नादि का वितरण कराया गया। मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के कैम्पों में चंडी यज्ञों का अनुष्ठान कराया, जप-पाठ कराये, जनता से पीड़ितों को सहायता देने की अपील की तथा धर्म परिवर्तितों की पुन: शुद्धि की शास्त्रीय व्यवस्था की घोषणा की।

उन्होंने कहा कि – 'बलात् धर्म परिवर्तन सर्वथा अमान्य है। जिन हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना लिया गया है उन्हें भी अपने धर्म में सुस्थिर रहना चाहिए क्योंकि जो कार्य बलात् करने पड़ते हैं उनसे वास्तविक स्थिति पर कोई असर नहीं पड़ता। स्वेच्छा, परेच्छा किसी तरह भी देह में मल लग जाने से जैसे देह प्रक्षालन कर लेना आवश्यक है। उसी प्रकार भगवन्नाम स्मरण, गंगाजल पान आदि से आत्मशोधन अनुचित नहीं है। गंगाजल का पान तथा भगवन्नाम स्मरण सभी दुष्कृत्यों का प्रशमन कर सकता है। हिन्दुओं में अनेक श्रेणियाँ हैं ही, अतः उनमें जिनके साथ बलात्कार हुआ है, मलेच्छों द्वारा गर्भाधान, सन्तानोत्पादन भी हो गया है उनका भी हिन्दू श्रेणी का संग्रह अनुचित नहीं है। सभी शास्त्रियों और आचार्यों का कहना है कि वे हिन्दू ही है और उनका पूर्ण सम्मान होना चाहिये। उन्हें गले लगाना चाहिये जैसे विपदाग्रस्त का अधिक उपचार किया जाता है वैसे ही उन्हें विपदग्रस्त समझकर उनका अधिक सम्मान होना चाहिए। उनका यथाविधि संशोधन, संस्थापन परम आवश्यक एवं शास्त्र सम्मत है।'

स्वामीजी के उक्त वक्तव्य से बंगाल के पीड़ित हिन्दुओं में भारी मात्रा आशा का संचार हुआ। स्वामीजी की प्रेरणा से बंगाल के धन कुबेरों ने धर्मसंघ की ओर से तथा व्यक्तिशः दिल खोलकर सहायता की। निष्पक्ष जानकारों का कहना था कि जैसा सहायता कार्य स्वामीजी के द्वारा संचालित सहायता केन्द्रों में हुआ वैसा सरकारी केन्द्रों में भी नहीं देखा गया। वनगाँव तथा रानाघाट से लगभग २४ मील दूरी पर एक शिविर बनाया गया जहाँ नित्य २००० पीड़ितों के लिये भोजन की व्यवस्था की गई तथा उस ओर ही ५००० बीघा जमीन मोल लेकर 'रामनगर' नाम से एक बस्ती बसाई जिसमें प्रत्येक परिवार को एक बीघा जमीन देने की व्यवस्था की गई।

इस प्रकार स्वामी करपात्रीजी ने नोआखाली के शरणार्थियों की समस्या में भी जितना सक्रिय सहयोग दिया है उसकी ओर से भी कोई विचारशील व्यक्ति आँखें नही मूंद सकता

स्वामी श्री करपात्रीजी द्वारा प्रदत्त जयकारे–

(१) गोहत्या बन्द हो। (२) भारत अखण्ड हो।
(३) मन्दिरों की मर्यादा सुरक्षित रहे। (४) धर्म में हस्तक्षेप न हो।
(५) शासन विधान शास्त्रीय हो।

धर्म की जय हो,
अधर्म का नाश हो,
प्राणियों में सद्भावना हो,
विश्व का कल्याण हो

पाकिस्तान-निर्माण

'धर्म-युद्ध' चल रहा था और स्वामी जी भारत भर में घूम-घूमकर उसके समर्थन में जनमत जागृत कर रहे थे। इसी बीच भारत के इतिहास की वह तिथि भी आ पहुँची जिस दिन की बहुत दिनों से प्रतीक्षा थी और वह तिथि थी १५ अगस्त १९४७ ई.। इस दिन देश को स्वतन्त्रता मिली किन्तु कैसी? विभाजित, खण्डित, पाकिस्तान बनवाकर। इस दूरदर्शी सन्यासी का मन जिस बात से सशंकित था वही हुआ। जो नेता कहते फिरते थे कि पाकिस्तान हमारी लाशों पर बनेगा, उन्होंने ही देश के साथ विश्वासघात किया। ४० करोड़ सपूतों के रहते हुए भारत माँ का अङ्ग-भङ्ग हो गया। स्वामीजी की आत्मा कराह उठी। कारण स्पष्ट था। उन्होंने भारत की अखण्डता के लिए जितना प्रयत्न किया था उतना सम्भवत: अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं किया था। बाद में तो समाजवादी, हिन्दूसभाई, जनसंघी सभी ने ''अखण्डभारत'' का नारा लगाया किन्तु उपयुक्त समय पर उचित एवं सक्रिय विरोध करने वाला निर्भीक,दूरदर्शी एवं राष्ट्रभक्त नेता भारत में यदि कोई था तो केवल यही तरुण तपस्वी करपात्री स्वामी।

:: भारत अखण्ड हो ::

गोवध विरोधी आन्दोलन

पूज्य स्वामीजी परतन्त्र भारत में श्री धर्मसंघ के जन्म काल से ही गोवधबन्दी के लिए सतत् प्रयास करते आ रहे थे परन्तु तत्कालीन सरकार ने इस ओर जब कोई ध्यान नहीं दिया तब स्वामीजी ने धर्मसंघ के मंच से १९/१//४७ को अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ने की घोषणा की और अन्त में स्वामीजी को २८/४/४७ को काउन्सिल हाऊस पर प्रदर्शन करते हुए गिरफ्तार कर लिया गया।

जैसे तैसे स्वतन्त्रता देवी के दर्शन तो हुए परन्तु साम्प्रदायिक आग-अलीगढ़-काण्ड, सीमान्त काण्ड, नोआखाली काण्ड, पंजाब काण्ड एवं बंगाल हत्याकाण्डों के रूप में धधकती ही रही। राजधानी में प्रबन्ध अस्त-व्यस्त हो रहा था, चारों ओर अशान्ति थी; काश्मीर पर शत्रु का आक्रमण हो रहा था, लीगी गुण्डे दिल्ली के लाल किले को हस्तगत करने का षड्यन्त्र रच रहे थे, सारे भारत में तथाकथित साम्प्रदायिकता का नंगा नाच हो रहा था। स्वामीजी ने अगस्त १९४७ में देश विभाजन का विरोध

करने, देश को अखण्ड रखने की माँग को लेकर, गोवध बन्दी के प्रश्न के साथ-साथ-पुनः प्रदर्शन किये-इन्हें पुनः बन्दी बना लिया गया परन्तु शीघ्र ही छोड़ दिया गया। स्वामीजी ने राजधानी की स्थिति को पहिचाना और देहली में चल रहे धर्मयुद्ध को स्थगित करने की घोषणा कर दी।

अब उन्होंने मथुरा की ओर मुंह मोड़ा। श्रीकृष्ण जन्मभूमि में चौदह बूचड़खानों का अस्तित्व था। स्वामीजी ने उन्हें बन्द करने की माँग की। सत्याग्रह का संचालन करने के लिए स्वामीजी मथुरा पहुँचे। स्वामीजी को मथुरा के कलक्टर ने, उनकी घोषणा के २४ घण्टों के अन्दर ही मथुरा से बाहर चले जाने का आदेश दिया। स्वामीजी ने इस आदेश की अवहेलना की, अतः वह सत्याग्रह के प्रारम्भ होने से पूर्व ही २९/८/४७ को बन्दी बनाकर ६ मास के लिये जेल में डाल दिये गये। किन्तु इस पर सत्याग्रह रूका नहीं, वह चला और हजारों धर्मवीर उसमें भाग लेकर जेलों में गये। अन्त में मथुरा नगरपालिका को गोवध बन्दी का प्रस्ताव स्वीकृत करना पड़ा।

अब स्वामीजी ने धर्मयुद्ध का रुख बदला। उन्होंने आन्दोलन को जो दिशा दी वह विलक्षण थी। स्वामीजी ने स्थानीय बोडों में गोवध बन्दी के प्रस्ताव स्वीकृत कराने की ओर लोगों को अग्रसर किया। फलतः एक के बाद दूसरी नगरपालिकाओं तथा जिलाबोर्डों में स्थान-स्थान पर गोवध बन्दी के प्रस्ताव स्वीकृत किये गये-मथुरा में भी गोवध बन्द हो गया। ब्रजभूमि के चौदह बूचड़खाने बन्द हो गये-३२ जिलों में ऐसे प्रस्ताव पास हुए। इस प्रकार स्वामीजी के प्रयत्नों से इस दिशा में सफलता प्राप्त हुई। मथुरा सत्याग्रह के सम्बन्ध में स्वामीजी आगरा जेल में बन्द रहे; वहाँ आपने बन्दियों की दुर्दशा का निरीक्षण किया तथा जेल में किस प्रकार सुधार हो सकता है तथा किस प्रकार की धार्मिक, नैतिक शिक्षा वहाँ अपराधियों को दी जानी चाहिये इस पर भी आपने अपने विचार सरकार को लिखकर भेजे। परन्तु सरकाल भला ऐसे महात्मा की वाणी पर क्यों ध्यान देने लगी थी? जेल में स्वामीजी का भजन, सत्संग, उपदेश, तप, लेखन कार्य तथा अन्य नियम पूर्ववत् चलते रहे। बड़े-बड़े विरोधी भी जेल में उनके समर्थक बन गये। स्वामीजी का ९-९ दिन का निर्जल व्रत का कठोर नियम जेल में भी यथापूर्व चलता रहा। अन्त में अवधि से पूर्व ही इन्हें मुक्त कर दिया गया। आप मुक्त होकर भी शान्ति से नहीं बैठे अपितु पत्रों, लेखों, भाषणों, सभाओं एवं प्रस्तावों द्वारा अपनी धर्मयात्रा में निरन्तर अपने उद्देश्य के प्रचार में लगे रहे।

वर्ष १९४९-५० में पुनः स्वामीजी ने दिल्ली में अहिंसात्मक सत्याग्रह चलाया। सन् १९५२ में हस्ताक्षर अभियान चलाया गया संघ द्वारा। १९५४ में अ. भा. धर्मसंघ के सम्मेलन में विराट् गोरक्षा सम्मेलन हुआ। श्री स्वामी जी ने लखनऊ में सत्याग्रह किया परन्तु उन्हें गिररफ्तार न करके पन्तजी ने सादर आमन्त्रित किया और प्रदेश में गोवध बन्दी का आश्वासन दिया। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में गोवध बन्दी कानून महाराज की प्रेरणा से बने।

सन् १९५४-५५ में कानपुर में 'अंहिसात्मक धर्मयुद्ध समिति' का गठन किया गया- जिसने पूज्य करपात्रीजी की प्रेरणा से कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली में जोरदार आन्दोलन चलाये गये जो पौने दो वर्ष चलते रहे। साठ हजार धर्मवीर इसमें जेल गये, कई बलिदान हुए परन्तु केन्द्र सरकार ने सम्पूर्ण भारत के लिये एक केन्द्रीय गोवध बन्दी कानून न बनाने की हठ नहीं छोड़ी।

स्वामीजी ने अप्रैल १९६२ में हरिद्वार में पुनः आन्दोलन बुलाया और १८-१०-६२ को अकोला से पैदल बम्बई-देवनार में बनने वाले बूचड़खाने को रोकने के लिये प्रस्थान किया। २३-१०-७२ को पैदल जन-जागरण करते हुए बम्बई पहुँचे। जन-जागृति, भारत में एक ओर से दूसरे छोर तक उत्पन्न करने का श्रेय इस महात्मा-सन्यासी स्वामी श्री करपात्रीजी को ही है।

मार्च १९६५ में अ. भा. धर्मसंघ के निश्चयानुसार एक शिष्टमण्डल न शंकराचार्यो के नेतृत्व में प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी से मिलकर सम्पूर्ण भारत में गोवंशवध निषेध कानून की मांग करते हुए विशेषतः बम्बई, कलकत्ता के बूचड़खानों के निर्माण को तुरन्त रोकने का आग्रह किया। प्रधानमन्त्री जी एवं तत्कालीन गृहमन्त्री श्री गुलजारी लाल नन्दा जी ने गोहत्या बन्दी कानून बनाने का आश्वासन भी दिया। परन्तु वह अपना वचन पूरा करने के लिये, दुर्भाग्यवश, ताशकन्द से वापिस न लौट सके।

सन् १९६६ में प्रयाग माघ मेले के अवसर पर पूज्य स्वामीजी की प्रेरणा से अ. भा. धर्मसंघ शिविर में विशाल गोरक्षा सम्मेलन हुआ, जिसमें यह निर्णय लिया गया कि अब आन्दोलनों, प्रस्तावों, शिष्टमण्डलों आदि से काम नहीं चलेगा अपितु बलिदान देना होगा। गो की रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति देनी होगी। इसी संकल्प से पूज्य स्वामी जी व अन्य महात्माओं ने पुनः धर्मयात्राएँ प्रारम्भ कर दी। मार्च १९६६ से महात्माओं ने दिल्ली में धर्मयुद्ध का श्री गणेश कर दिया। अप्रैल १९६६ में सब नेताओं ने मिलकर निर्णय किया कि यदि ५-६ व्यक्ति भी गोहत्याबन्दी के लिए प्राणों की बाजी लगाने में अपना नाम दे दें तो सफलता निश्चित है। मई १९६६ में चित्रकूट मे राम-राज्य परिषद के अधिवेशन में पुनः यही घोषणा की गयी। श्री स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज शंकराचार्यो के साथ दिल्ली पधारे। सभी गौसेवियों से विचार विमर्श चला। स्वामीजी पूर्व कार्यक्रम के अनुसार ऋषिकेष चले गये।

देश के प्रमुख गोभक्त नेता सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी श्री भाई हनुमान प्रसाद पोद्दार को लेकर गम्भीर विचार विमर्श हेतु स्वामीजी से मिलने ऋषिकेष पहुँचे। कोयल घाटी स्थित शिविर में सर्वोच्च बैठक हुई जिसमें स्वामीजी ने गोहत्या बन्दी के लिये एक 'शपथ-पत्र' तैयार किया उस पर सर्वप्रथम अपने हस्ताक्षर किये तथा लगभग चालीस अन्य सुप्रसिद्ध मूर्धन्य गोभक्त नेताओं ने अपने हस्ताक्षर किये।

सितम्बर १९६६ में दिल्ली में इन नेताओं की मीटिंग हुई तथा सात महानुभावाओं की एक सर्वोच्च समिति बनाई गई जिसमें स्वामीजी का नाम प्रमुख था। ५/९/६६ को इस सर्वदलीय गोरक्षा महाभियान समिति की ओर से संसद भवन पर विशाल प्रदर्शन किया गया। गृहमन्त्री की गोहत्या बन्दी के लिये ज्ञापन दिया गया। स्वामीजी ७ नवम्बर, १९६६ को संसद भवन पर होने वाले विशाल प्रदर्शन की तैयारी में लग गये। उन्होंने इस आन्दोलन की सफलता के लिए लक्षचण्डी यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया।

अन्ततोगत्वा ७ नवम्बर, १९६६ को दस लाख गोभक्त नर-नारियों के साथ गोहत्याबन्दी की माँग को लेकर पूर्ण अङ्गहसात्मक प्रदर्शन किया तथा संसद-भवन के सामने सम्मेलन के मंच से स्वामीजी ने घोषणा की कि 'हमारा किसी दल विशेष से द्वेष नहीं है। हम किसी भी राजनीतिक माँग को लेकर नहीं आये हैं। इस समय जो शासनारूढ़ है वह हमारे ही घर के लोग हैं। हम उन सबका कल्याण चाहते हैं। हम तो केवल 'गोरक्षा की माँग रखने आये हैं।'' -परन्तु शासन ने दमनचक्र की नीति अपनाई और प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार भी किया गया।

८/११/८३ को अपनी गिरफ्तारी के समय स्वामीजी ने कहा कि 'अंहिसात्मक और शान्तिपूर्ण ढंग से गोरक्षा आन्दोलन चलाते रहना चाहिए।' आंदोलन चलता रहा। अनशन होते रहे। अनेक धर्मवीरों ने अनशन से प्राणोत्सर्ग किये-स्वामीजी को ६/१२/६६ को आगरा जेल ले जाकर छोड़ दिया गया। तिहाड़ जेल में स्वामीजी पर घातक प्रहार किया गया, जबकि वह भजनोपदेश में लीन थे इस चोट में उनके शरीर पर नीचे चिह्न पड़ गये। सिर फूट गया तथा वह बेहोश हो गये-एक आंख की ज्योति भी प्रायः जाती रही। यदि एक महात्मा स्वामीजी के ऊपर लेटकर स्वयं उन नम्बरी कैदियों के लोहे के डण्डे से किये गये प्रहार को सहन न कर लेते तो स्वामीजी जीवित कारागार से न निकल पाते।

अन्ततोगत्वा सरकार झुकी उसने आश्वासन दिये। गोहत्या बन्दी की मांग को सिद्धान्तः स्वीकार करते हुए उसे किस प्रकार लागू किया जाये, इसके लिये समिति बना दी-फलस्वरूप पुरी के शंकराचार्यजी, ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी, स्वामी रामचन्द्र वीर इत्यादि सभी अनशनकारी महात्माओं ने अनशन भंग किये। तब से सतत् प्रयत्नशील रहे यह सन्यासी। जनता शासन में भी श्रीयुत् मोरारजी भाई, श्री चरण सिंह जी, श्री अटल बिहारी वाजपेयी जी, श्री एच. एम. पटेल जी, श्री चन्द्रशेखरजी इत्यादि नेताओं को स्वामीजी ने व्यक्तिगत पत्र लिखकर गोवंश वध बन्दी करने का अनुरोध किया। परन्तु केन्द्रीय कानून बनाकर सम्पूर्ण भारत में गोवध निषेध के अपने आश्वासन को अभी तक पूरा नहीं कर पायी है और स्वामीजी जीवन भर प्राण-पण से इसके लिये सचेष्ट रहे।

'निर्भीकवक्ता'

३० जनवरी १६४८ को गांधीजी का निधन हुआ। स्वामीजी सुनकर स्तब्ध रह गये। वह उस समय प्रयाग में आयोजित धर्मसंघ के आठवें महाधिवेशन के अवसर पर वहीं थे। उन्होंने तत्काल समवेदना प्रस्ताव स्वीकृत किया और मौन होकर भगवान् से उनकी आत्मा की शान्ति के लिये प्रार्थना की। साथ ही भारत में फैली इस ह्रासात्मक अधार्मिकता का बड़े कड़े शब्दों में विरोध किया। तत्कालीन सरकार ने गाँधीजी की नृशंस हत्या का बदला हिन्दू संस्थाओं से लिया। राष्ट्रीय स्वयं सेवकसंघ के गुरूजी श्री माधवराय सदाशिव राव गोलवलकर को बन्दी बना लिया गया। हिन्दू सभा को भी 'गाँधी हत्या' से सम्बन्धित ठहरा कर समाप्त प्रायः कर दिया गया। हिन्दू नेता जेलों में बन्द कर दिये गये। ऐसे भीषण काल में जब सरकार के विरूद्ध कुछ भी कहने का किसी में साहस नहीं था और कुछ भी आलोचना करने वाले को हत्या से सम्बन्धित करार दे दिया जाता था, तब स्वामीजी ने बड़ी निर्भीकता के साथ सत्य का पक्ष लेकर सरकार की कड़ी आलोचना के साथ संघ को निर्दोष बतलाते हुये उसके सदस्यों को मुक्त करने की जोरदार मांग की। इस समय सारे ही भारत में एक स्वामीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनकी निर्भीकवाणी से सत्य का उद्घोष तथा निरपराधों के प्रति न्याय की मांग सुनाई देती थी।

स्वामीजी को भी काशी में जन-सुरक्षा कानून के अन्तर्गत बन्दी बना लिया गया था तथा कई महीने जेल में रखा गया किन्तु कोई भी आरोप सिद्ध न होने के कारण वे कुछ समय पश्चात् ही मुक्त कर दिये गये। सचमुच भारत में उस समय शान्तिपूर्वक, वस्तुस्थिति को स्पष्ट शब्दों रखते हुये सत्य का पक्ष लेने वाला निर्भीक नेता यदि कोई था वह यही निर्मुक्त सन्यासी करपात्री स्वामी था।

***

राजनीति में

एक ओर ऐसा भयंकर समय था और दूसरी ओर धर्म विरोधी दल संसद में 'हिन्दूकोड' पास करने पर उतारू था। जनता असहाय थी, उनके नेता बन्द थे अत: स्वामीजी ने ऐसे समय में पुन: एक बार सारे भारत की 'कोड-विरोधी' यात्रा की। इतना व्यापक और प्रभावशाली तर्कयुक्त एवं सुगठित रूप से प्रचार कार्य किया गया इस सर्वस्व त्यागी विरक्त महात्मा के द्वारा सम्पूर्ण देश में कोड विरोधी लहर चल पड़ी। सच पूछो तो कोड के विरोध में स्वामीजी ने जो कार्य किया उसका लेखन इस पुस्तक में सम्भव ही नहीं है। इन्हीं महात्मा के सत्प्रयत्नों का यही परिणाम हुआ ही कि पं. नेहरू द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी इसे यथावत् पास नहीं किया जा सका और हिन्दुकोड बिल रद्दी की टोकरी में पड़ा सिसकता ही रह गया। स्वामीजी के जीवन का यह एक महान् कार्य था।

'हिन्दूकोड' विरोधी धर्मयात्रा में स्वामीजी को अनेकों नये-नये सहयोगी एवं कार्यकर्ता मिले। काम भी खूब हुआ, परन्तु इस यात्रा में उन्हें पाश्चात्य शिक्षा सम्पन्न महिलाओं के तथाकथित 'आल इण्डिया वीमेन्स कान्फ्रेन्स' नाम की एक संस्था का सामना करना पड़ा। यह संस्था कोड समर्थकों के इशारे पर नाचती थी एवं उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर स्त्रियों के नाम से नये-नये बखेड़े खड़े करती थी स्वामीजी ने अनुभव किया कि इस संस्था में भारतीयता की अनुगामिनी महिलाओं का प्रतिनिधित्व नाममात्र को भी नहीं है। जनवरी सन् १९४९ में जब वह मद्रास के व्यापक दौरे पर थे वहाँ उन्होंने कोड विरोध में स्त्रियों में बड़ा उत्साह देखा। अत: स्वामीजी ने एक 'अखिल भारतीय महिला संघ' की स्थापना की। इसका कार्य देवास सीनियर की परम विदुषी राजकुमारी श्रीमती प्रभावती राजे, श्रीमती शान्ति देवी वैद्या, श्रीमती विद्यावती तथा ऋषिकन्या चित्रा देवी आदि अनेक विदुषी महिलाओं को सौंपा गया और इस संस्था के कार्यो से तथोक्त 'कान्फ्रेस' का नाम शेष रह गया। कान्सटीट्यूशन क्लब में आयोजित कोड विरोधी सम्मेलन में राजकुमारी जी के विद्वतापूर्ण भाषण के तर्कों से तत्कालीन कोड समर्थक नेतागण भी अत्यन्त प्रभावित हुए। स्वयं काँग्रेसाध्यक्ष श्री पट्टाभि सीतारमैया एवं पण्डित जवाहर लाल नेहरू पर भी राजकुमारी जी के कोड विरोधी तर्कसंगत विचारों का प्रभाव पड़ा परन्तु वे अपने रूख पर अड़े रहे।

किन्तु स्वामीजी ने देखा कि लाख प्रयत्न करने पर भी तथा शास्त्रमत, लोकमत एवं तर्कसम्मत होने पर भी उनकी मांगों पर ध्यान न देकर प्रगति के नाम पर सरकार हिन्दूकोड लादने पर तुली हुई है; बर्मा, लंका जैसे मांस भक्षी देशों में गोवध बन्द हो जाने पर भी भारत सरकार भारत भूमि से गोवध का कलंक दूर करने को तैयार नहीं तथा कौटिलय, कामन्दक, शुक्र, विदुर आदि की नीतियों के होते हुए भी विदेशी उच्छिष्ट सार समूह मात्र धर्महीन विधान इस धर्म प्राण भारत के ऊपर लादने को तुली बैठी है तो उन्होंने भी निश्चय किया कि भारतीयता के उपासक भारत के सच्चे प्रतिनिधियों को ही इन विधान सभाओं में भेजा जाय। अत: स्वामीजी ने 'रातराज्य परिषद' को अपना आशीर्वाद प्रदान किया। उन्होंने देश में घूम-घूमकर इसकी सैंकड़ों शाखाएँ स्थापित की तथा बालिग मताधिकार के आधार पर होने वाले चुनावों के लिये एक मंच तैयार किया।

भारत के नगर काशी, कलकत्ता, दिल्ली आदि स्थानों से प्रकाशित सन्मार्ग आदि दैनिक, पाक्षिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा इन दिनों स्वामजी के कार्य कलापों, विचारों का व्यापक प्रकाशन प्रचार एवं हुआ। इन पत्रों के माध्यम से स्वामीजी ने चिर प्रसुप्त हिन्दू जाति को सम्बोधित करते हुए उनसे 'कोऊ नृप होई हमहि का हानि' की नीति एवं इस उदासीनता को त्यागने की प्रेरणा की।

सन् १९५१ के चुनाव में रामराज्य परिषद एवं महिला संघ की ओर से लगभग ३०० उम्मीदवार खड़े किये गये तथा कितने ही अन्य उम्मीदवारों का समर्थन भी किया गया। स्वामीजी उन सबके चुनाव-प्रचार में काफी प्रयत्नशील रहे। प्रेस और प्लेटफार्म दोनों ही से सैद्धान्तिक राजनीति का प्रचार स्वामी के माध्यम से खूब हुआ और इन सबके परिणाम स्वरूप इस अल्प आयु की संस्था को जितनी सफलता मिलनी चाहिये थी उतनी मिली भी किन्तु यदि हिन्दू हितों का दम भरने वाली तत्कालीन अन्य संस्थाएँ आपस में एक दूसरे से न टकरा जातीं तो आशातीत सफलता भी मिल सकती थी। राजस्थान, मध्य भारत की विधान सभाओं में रामराज्य परिषद प्रमुख दल के रूप में उभरकर आयी थी साथ ही अनेक संसद सदस्य भी उसके टिकट पर अथवा समर्थन पर केन्द्रीय संसद में सफल होकर पहुँचे थे।

राम राज्य परिषद के अधिकृत उम्मीदवार प्राय: बहुत जगह खड़े किये गये थे जिनकी संख्या लगभग ३५० थी। कई जगह हिन्दू विचार धारा के उम्मीदवारों के विरोध में परिषद के उम्मीदवारों के नाम वापिस ले लिये गये थे और उनसे अपने परिषद के प्रतिज्ञा पत्र भरवा लिये गये थे, वे रामराज्य परिषद द्वारा समर्थित कहलाये। दस फरवरी १९५२ के दैनिक सन्मार्ग दिल्ली से प्रकाशित सफल उम्मीदवारों की सूची आगे दी जा रही है, (बाद के अंक उपलब्ध न होने से पूर्ण सूची नहीं दी सकी है।)

लोक सभा एवं धारा सभा के लिए :

परिषद के सफल उम्मीदवार

नाम	विवरण	निर्वाचन क्षेत्र	किसके लिए
१. सेठ तुलसीदास किला चन्द	समर्थित	बम्बई	लोक सभा
२. श्री विजयभूषण सिंह जू देव	अधिकृत	जसपत नगर मध्य प्र.	धारा सभा
३. श्री पद्मराज सिंह जी	अधिकृत	पंडरिया	,,
४. श्री वी. पी. सिंह जी	समर्थित	कंकेर	,,
५. श्री गंगा प्रसाद	अधिकृत	कवर्धा	,,
६. श्री राजा विजय सिंह जी	अधिकृत	उमरी	मध्यभारत धारासभा
७. श्री जमुना सिंह जी	,,	अम्बाह	,,
८. श्री बी. एस. मोरे	समर्थित	पंडरपुरमंगलखेड़ा	बम्बई धारा सभा
९. श्री मोहन मेना भाई राठौड़	,,	कालौल	,,
१०.सेठ श्री रामदास किला चन्द	,,	पाटनचनसमाहरीज	,,
११.युवराज श्री दलजीतसिंह	,,	ईढर	,,
१२.मोहर सिंह राठौड़	,,	बरिया	,,
१३.श्री पोपट लाल जोशी	,,	डीसाधनेरा	,,
१४.सेठ श्री पुरुषोत्तमदास पटेल	अधिकृत	कड़ी	,,
१५.अदेजा श्री चन्द्रासिंहजी दीपसिंहजी	समर्थित	कालाबाद ध्रोल	सौराष्ट्र धारासभा
१६.मौवीं महाराजकुमार श्री कालिका कुमार जी	समर्थित	मौवीं	,,
१७.डा. शिवदान सिंह	,,	मानौली	राजस्थान धारासभा
१८.ठा. भीमसिंह	अधिकृत	नवलगढ़	,,
१९.ठा. तानसिंह	,,	वदमेर	,,
२०.राजाधिराज अमरङ्गसह	समर्थित	शाहपुरा	,,
२१.माधो सिंह	अधिकृत	जालौर	,,
२२.श्री मान ङ्गसह	अधिकृत	जामवा रामगढ़(जयपुर)	,,
२३.श्री देवी ङ्गसह	अधिकृत	उदयपुर	,,

२४.श्री जयेन्द्र सिंह जी	अधिकृत	झालदा	राजस्थान धारासभा
२५.श्री गंगा सिंह जी	''	नागौर पूर्व	''
२६.देवराज जी	''	पीपलवा क्षेत्र	''
२७.चन्द्रकाँत	''	आंता मांग्रीज कोटा क्षेत्र	''
२८.रावराजा सरदार सिंह	''	उनियारा क्षेत्र	''
२९.श्री केशरी सिंह	''	नागौर पश्चिमी क्षेत्र	''
३०.श्री ठाकुर रघुवीर सिंह	''	खेतरी	''
३१.केसरी सिंह	''	पाटन	''
३२.भोपाल सिंह	''	मेड़ता पूर्व	''
३३.मोतीराम	''	सँवेना	''
३४.हरिराम	''	भीलवाड़ा	जयपुर लोक सभा
३५.सज्जन सिंह	''	हिन्डौना	राजस्थान धारासभा
३६.छत सिंह	समर्थित	जसवन्तपुरा	''
३७.अश्विनी कुमार	अधिकृत	भागी	''
३८.मदन मोहन	''	प. बतसर	''
३९.भेरु सिंह	समर्थित	बाली देसूरी	''
४०.हिम्मत सिंह जी	अधिकृत	जातूर कोटा	''
४१.श्री पं. नन्दलाल शास्त्री	''	सीकर(राजस्थान)	लोक सभा
४२.श्री लक्ष्मण ङ्कसह	समर्थित	सावन	अजमेर प्रदेश
४३.श्री महेन्द्र सिंह	''	नसीराबाद	''
४४.श्री राजाकौशलेन्द्र प्रतापसिंह	अधिकृत	कोठी	ङ्कवध्य प्रदेश
४५.श्री भुवनेश्वर प्रसाद	''	पनुमाला	''
४६.श्री राम विलास सिंह	''	बरहरा(जिला शाहाबाद)	विहार धारासभा
४७.रूपनारायण	''	नीमकाथाना(सीकर)	राजस्थान धारासभा
४८.रघुराज सिंह	''	किशनगंज कोटा	''
४९.श्री अमनप्रसाद	''	अम्बा	मध्य भारत
५०.श्री गजाधर सोमानी	''	नागौर पाली(राजस्थान)	लोकसभा

समस्त समर्थित उम्मीदवारों ने रामराज्य परिषद् के प्रतिज्ञा-पत्रों को पहले से ही विधिवत् भर रखे थे। अत: वे सब रामराज्य परिषद के ही उम्मीदवार थे।

स्वामीजी का निरन्तर प्रयास जारी रहा; जहाँ भी अधर्म, अन्याय, अनीति, अनर्थ, दीखता वे उसका तत्काल यथाशक्ति डट कर विरोध करते रहे। यद्यपि प्रत्येक चुनाव में स्वामीजी अपनी सैद्धान्तिक राजनीति की बात उसी उत्साह के साथ जनता के समक्ष रखते रहे जिस प्रकार गत ३२ वर्षों से रखते रहे थे; वर्तमान समय में भारत में उनके जैसा भारतीय राजनीति का पण्डित एवं निर्भीक निस्पृह, नि:स्वार्थ वक्ता दूसरा नहीं दीखता परन्तु बाहरी! अभागी हिन्दू जाति ऐसे सिद्ध, त्यागी, तपस्वी, मनस्वी नेता का नेतृत्व प्राप्त होते हुए भी तेरी कुम्भकर्णी निद्रा अभी भंग नहीं हुई हैं। इसे कलियुग का प्रभाव कहे या देश का दुर्भाग्य कि आज सिद्धांतहीन, दिशाहीन एवं उच्छृंखल राजनीति के फेर में पड़कर देश की जनता बिबिला रही है और उसमें शुद्धता, साधुता, सात्विकता, धार्मिकता, नैतिकता, त्याग इत्यादि के सक्रिय प्रवेश की बात कहने वाला सर्वस्व त्यागी विरक्त, वर्तमान राजनीति का चाणक्य और उसकी विचारधारा आज पूर्णत: उपेक्षित है फिर भी वह उसी अदम्य उत्साहपूर्वक राष्ट्र की सेवा में प्राणपण से अहर्निश लगे रहे इस आशा से कभी तो भारतीय राजनीति वर्तमान भोगवाद सिद्धान्हीनता, अस्थिरता एवं आपाधापी के गर्त से उबरेगी ही।

'गुरूजी मिलन'

राजधानी की तड़क-भड़क से दूर निगमबोधघाट यमुना तट की बालुकामयी धरती पर कुछ फूस की झोपड़ियाँ क्रमबद्ध खड़ी हैं; इन्हीं में दिल्ली का महायज्ञ की स्मृति स्वरूप श्री धर्मसंघ महाविद्यालय चलता है। गाये बन्धी है, औषधालय है, पुस्तकालय है, सत्सङ्ग-कथा मण्डप है सभी कुछ घास-फूंस, बाँस चटाइयों से बने हैं। इन्हीं में से एक कुटिया में धर्म सम्राट वीतराग महात्मा स्वमी श्री करपात्री जी महाराज एक लकड़ी की चौकी पर मध्याह्नोत्तर अर्चा पूजा में रत हैं। २३ अगस्त १९४९ का मध्याह्नोत्तर काल है। सहसा श्वेत कुर्त्ता-धोती पहिने काली दाढ़ी एवं लम्बे केश धारण किये एक भव्य मूर्ति ने प्रवेश किया तो उपस्थित व्यक्तियों ने धर्म की जय के साथ उच्च स्वर से उनका स्वागत किया। कथा-मण्डप में आगे बढ़कर स्वयं गैरिक वस्त्रधारी, गौरवर्ण के ४२ वर्षीय तरुण सन्यासी ने उनका स्वागत किया। स्वामी जी का दर्शन होते ही गुरुजी ने पूर्ण भक्ति भाव के धरती पर लेटकर साष्टांग प्रणाम-नमस्कार किया। मण्डप में अ. भारतीय धर्मसंघ, अ. भा. हिन्दू कोड विरोध समिति, अ. भा. रामराज्य परिषद, की ओर से संस्कृत में मानपत्र दिये गये, जिनमें गुरूजी को अभिनवशिवाजी कहकर सम्बोधित किया गया था। रा. स्व. से. संघ के सरसंघ चालक श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवालकर जी ने कहा कि 'धर्म के सम्बन्ध में आप समर्थ गुरू रामदास का स्थान रखते हैं, मैं तो छत्रपति की भाँति आपके निर्देशों का अनुपालक मात्र हूँ'..... सामने एक हिन्दू संस्कृति का बक्स रखा है, उसके भीतर क्या है, यह हम नहीं जानते, उसकी व्याख्या महात्मा लोग करेंगे, स्वामी करपात्रीजी

करेंगे, हमारा कार्य तो इतना ही है कि उस बक्स पर कोई गुण्डे, बदमाश, चोर, डाकू, कुत्ते आदि हमला नहीं करने पायेंगे। हम लोग उसकी रक्षा करेंगे।

अनन्तर गुरूजी स्वामीजी के साथ उनकी कुटिया में गये जहां २० मिनट तक दोनों के मध्य एकान्त वार्ता हुयी। दण्डवत् प्रणाम के पश्चात् स्वामीजी से प्रसाद ग्रहण कर उसे कमर की फेंट में बांधते हुए गुरूजी ने कहा कि 'मैं इसे अकेला नहीं अपितु सारे राष्ट्र को बाँटकर खाऊँगा।' स्वामी जी वह गुरूजी वार्ता के अनन्तर साथ-साथ कुटिया से बाहर निकले। उपस्थित जनसमुदाय ने धर्म जयघोषपूर्वक धर्म सम्राट-गुरूजी के इस ऐतिहासिक मिलन का अभिनन्दन किया। उसी समय का एक अनुपम चित्र यहाँ प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सका है।

परन्तु यह भी एक स्पष्ट सत्य है कि पूज्य गुरूजी और स्वामी श्री करपात्रीजी के मध्य एकमत्य अन्त तक नहीं रह सका। उनकी पुस्तक 'विचार नवनीत' से गुरूजी के विचारों की स्पष्ट झलक पाकर राष्ट्र ने जो आशा बाँधी थी कि समर्थ स्वामी गुरू रामदास एवं छत्रपति शिवाजी के समान स्वामी करपात्रीजी एवं पूज्य गुरूजी की विचारधारा सैद्धान्तिक रूप से एक होकर अन्ततोगत्वा राष्ट्र कल्याण में सहायक होगी, पूरी न हो सकी और करपात्रीजी महाराज को 'विचार नवनीत' की समालोचना में 'विचारपीयूष' लिखकर तथ्यात्मक औरसत्यात्मक विवेचन विचारकों के समक्ष रखना पड़ा। जैसे गुरूजी को निष्ठा पूज्य करपात्रीजी महाराज में अन्त तक बनी रही परन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रश्न पर स्वामीजी को वदेशास्त्रानुमोदित सत्य सिद्धांत से तनिक भी विचलित नहीं किया जा सका-इसका स्पष्ट आभास उनके विशाल विचार ग्रन्थ 'विचारपीयूष' से मिलता है।

> ''सर्वज्ञ परमेश्वर 'शासक' है, उनका 'शासन' ही अकृत्रिम वचन रूप वेद है; उन अन्नादि अपौरुवेय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद एवं तन्मूलक स्मृति-पुराणादि सद्ग्रन्थों में वर्णित वैदिक मार्ग ही कल्याण का निष्कण्टक मार्ग है।''

विभिन्न कार्य

'ज्योतिषपीठ'

स्वामीजी के दीक्षा गुरू ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरू शंकराचार्य श्री १००८ स्वामी श्री ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी २ मई, १९५३ को कलकत्ते में ब्रह्मीभूत हुए। उन्हें काशी मे जल समाधि दी गयी। अब प्रश्न था मठ के रिक्त पीठ स्थान की मूर्ति का। स्वामीजी ने देखा कि ज्योतिर्मठ की गद्दी १६५ वर्ष पश्चात् सन् १९४१ में तो पुनः स्थापित हुई थी जब अथक् परिश्रम एवं खोज के उपरान्त पूज्य गुरूदेव को बड़े आग्रह एवं अनुनय विनय पूर्वक इस पीठ को गौरव प्रदान करने के लिये पीठारूढ़ किया गया था। किन्तु अब बारह वर्ष बाद पुनः रिक्त हो गयी अतः इस पर किसी योग्यतम सन्यासी को ही अभिषिक्त करना चाहिये। सब की दृष्टि पूज्य स्वामी करपात्री पर थी कि वह ही ब्रह्मीभूत शंकराचार्यजी के पट्ट शिष्य है और उन्होंने एक सभा में कहा भी था कि 'करपात्री मेरा उत्तराधिकारी है।' काशी विद्वत् परिषद, अ. भा. धर्मसंघ, श्री शंकराचार्य शिष्टमण्डल, पूज्य महात्माओं, विद्वानों एवं प्रतिष्ठित सम्भ्रान्त नागरिकों की एक सभा काशी में हुई जिसके निर्णयानुसार एक शिष्टमण्डल पूज्य करपात्रीजी सम्भ्रान्त नागरिकों की एक सभा काशी में हुई जिसके निर्णयानुसार एक शिष्टमण्डल पूज्य करपात्रीजी की सेवा में इस पद को स्वीकार करने की प्रार्थना के साथ उपस्थित हुआ परन्तु वे धर्मसंघ, रामराज्य परिषद इत्यादि के व्यापक कार्यक्रम को करते हुए इधर पर्याप्त समय नहीं दे सकते थे और इसी कारण इससे अपने एक मात्र ध्येय जनता जनार्दन एवं धर्म की सेवा में एक सीमा तक रूकावट पड़ने की सम्भावना से उन्होंने स्वयं इससे पृथक ही रहने का निश्चय किया।

उधर भारत के विद्वन्मण्डल एवं साधु समाज ने एक मत से निर्णय किया कि पूज्यपाद परम वीतराग स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज को ही ज्योतिष्ठपीठ पर अभिषिक्त किया जाय। यद्यपि वे इसके लिये इच्छुक नहीं थे, उन्होंने मना भी कर दिया परन्तु फिर भी श्री स्वामी करपात्री जी के विशेष आग्रह पर आपने ज्योतिष्पीठ का आचार्य पद स्वीकार कर लिया और लगभग बीस वर्ष तक बड़ी योग्यतापूर्वक पीठ का संचालन एवं आद्य श्री शंकराचार्य जी के सिद्धान्त एवं परम्परा को वर्तमान भीषण काल में बड़ी ही योग्यतापूर्वक आगे बढ़ाते हुए पीठ को गौरवान्वित किया। परन्तु १० सितम्बर १९७३ की सायंकाल ७ बजकर ३० मिनट भाद्रपद शुक्ल त्र्योदशी विक्रमाब्द

२०३० को आप ब्रह्मलीन हो गये अत: एक बार पुन: स्वामीजी के समक्ष ज्योतिष्पीठ के पद पर सुयोग्य विद्वान सन्यासी को अभिषिक्त कराने का अवसर उपस्थित हुआ। ब्रह्मलीन जगद्गुरूजी की अन्तिम मन्त्रणा एवं महाराज श्री की प्रेरणा से परम वीतराग दण्डी सन्यासी श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज के नाम को काशी विद्यत परिषद एवं अन्य सभी मान्य धार्मिक संस्थाओं ने स्वीकार करते हुए उन्हें ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरू शंकराचार्य के पद पर अभिषिक्त किया गया। अनन्तर दिल्ली, जोशीमठ आदि अनेक स्थानों पर महाराज के पट्टाभिषेक समारोह सम्पन्न हुए। जगद्गुरू ने ज्योतिष्पीठ के कार्य क्षेत्र में बड़े ही प्रभावशाली ढंग से धर्म कार्य को आगे बढ़ाया है।

तात्पर्य यह है कि उत्तराम्नाय ज्योतिर्मठ बदरिकाश्रम के रिक्त पीठ के लिये तीन बार योग्यतम विद्वान, निस्पृह, विरागी, दण्डी सन्यासी को खोजकर अभिषिक्त करा देने का कार्य आज के धर्म विहीन समाज के लिये भले ही कुछ महत्व न रखता हो परन्तु धार्मिकों के लिये यह स्वामीजी के जीवन की वह अद्भु घटना है जिसके लिये वह सदा ही उनकी ऋणी रहेगी।

'बुद्ध जयन्ती'

१९५३ ई. में भारत की कथित सैक्यूलर सरकार द्वारा २४०० वीं बुद्ध जयन्ती मनायी गयी और जनता का करोड़ों रूपया उस पर व्यय किया गया। स्वामीजी ने कड़े शब्दों में स्पष्ट रूप से इस सरकारी तराजू के पासंगे की आलोचना की। उन्होंने कहा कि 'एक ओर बुद्ध के शिष्यों की अस्थियों का राजकीय सम्मान हो रहा है और भगवान् राम का जन्म स्थान अभी भी हिरासत में है। भगवान श्रीकृष्ण की जन्म भूमि एवं विश्व प्रसिद्ध ज्ञानवापी स्थित काशी विश्वनाथ मन्दिर के कुछ भाग पर मस्जिद के रूप में आज भी विधर्मियों का अधिकार बना है क्या यही धर्म पक्षपात विहीनता है।

'साधु संघ'

सरकारी प्रचार करने एवं जनता की धार्मिक भावनाओं से स्वार्थ सिद्धि करने के प्रयोजन से सरकार ने अ. भा. साधु समाज नामक संस्था को जन्म दिया। स्वामीजी ने इसका भी फण्डाफोड़ करने और सरकारी साधु एवं सच्चे साधु का विभेद करने के प्रयोजन से अ. भा. साधु संघ की स्थापना की और जनता को सरकारी साधुओं से सचेष्ट रहने का आदेश दिया।

'धर्म यात्राएं'

प्रश्न चाहे महा पंजाब समिति की माँगों का हो या होशियार पुर काण्ड का–जिसमें सरकार ने निरीह स्त्री–बच्चों तक पर लाठी प्रहार किया था, स्वामीजी ने कभी अन्याय अथवा अधर्म के आगे गर्दन नहीं झुकाई, वरन् उसका खुलकर प्रतिकार एवं विरोध ही किया। कभी बौद्ध नास्तिकवाद का विरोध तो कभी साधु रजिस्ट्रेशन बिल का विरोध, कभी मन्दिर प्रवेश के विषय पर चुनौती तो कभी द्रविड़

मुनेत्रकषगम जैसे विघटनकारी आन्दोलन एवं द्रविड़िस्तान का विरोध करते हुए यह महात्मा, सुप्त सनातनी धार्मिक जनता को जगाते तथा चेतना का शंखनाद फूंकते भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक धर्म-यात्राएँ करते ही रहे। इन्हीं दिनों स्वामीजी ने पाश्चात्य साहित्य का, विशेष रूप से साम्यवादी साहित्य एवं दर्शन का अध्ययन किया और 'समाजवाद एवं साम्यवाद' पर कई ग्रन्थ लिखकर उनकी भारतीय वैदिक दृष्टिकोण से समालोचना की और जनता के प्रबुद्ध वर्ग की आँखें खोलीं। इनमें सबसे प्रमुख ग्रन्थ मार्क्सवाद एवं रामराज्य के नाम से प्रकाशित हुआ जिससे वर्तमान समाजवादी जगत् में खलबली मच गयी। सुना गया कि पं. नेहरू ने महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन को इसके खण्डन का कार्य सौंपा उन्होंने कलम उठायी परन्तु प्रमुख कांग्रेसी पत्र हिन्दू का मत था 'कि राहुल जी उस पर सटीक लेखनी नहीं उठा सके। पत्र ने आगे यह भी लिखा कि देश का यह दुर्भाग्य है कि करपात्रीजी सरकार के आलोचक हैं, विरोधी हैं अन्यथा ऐसे ग्रन्थ का लेखक तो 'नोबल' पुरस्कार का पात्र होता।' स्वामी जी ने पुनः 'राहुल जी की भ्रान्ति' नामक पुस्तक लिखकर सभी शंकाओं का समाधान कर दिया।

'रामराज्य परिषद'

सन् ५७ के दूसरे आम चुनाव आये तो स्वामीजी ने रामराज्य परिषद की ओर से सैंकड़ों प्रत्याशी खड़े किये। यद्यपि चुनावी हथकण्डों के प्रति अनुभवहीनता और धन एवं प्रचार साधनों की कमी के कारण आशानुकूल सफलता नहीं मिली किन्तु फिर भी मध्य प्रदेश एवं राजस्थान में अनेक स्थानों पर परिषद की शानदार विजय हुई। इस चुनाव में स्वामीजी ने पुनः भारत भर की धर्म यात्राएँ की और सनातनी समाज में नवचेतना भरने का प्रयत्न किया।

'हिन्दी रक्षा'

जून १९५७ में पंजाब में 'हिन्दी रक्षा आन्दोलन' चला। स्वामीजी ने तुरन्त घोषणा की कि 'पंजाबी गुरुमखी का हम आदर करते हैं परन्तु उसे बलात् किसी पर लादा नहीं जा सकता' और अन्ततः स्वामीजी ने ३०१ सत्याग्रहियों एवं लगभग १५०० प्रदर्शनकारियों के साथ पंजाब के सचिवालय पर सत्याग्रह किया। इनके साथ अखिल भारतीय रामराज्य परिषद के प्रधान स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज तथा अ. भा. धर्मसंघ के कार्यकारी प्रधान श्री स्वामी परमानन्दसरस्वतीजी ने भी सत्याग्रह में भाग लिया। कहते हैं कि उस दिन तक के जत्थों में वह सबसे बड़ा जत्था था। स्वामीजी ने देश भर में घूम-घूमकर हिन्दी रक्षा आन्दोलन को सफल बनाने का प्रचार किया और उससे प्रेरित होकर सनातनी जगत् ने इस आन्दोलन में पूर्ण रूप से सहयोग दिया। हिन्दू जनता ने दलगत राजनीति से ऊपर उठकर इस आन्दोलन को सफल बनाया।

'वैदिक शाखा सम्मेलन'

नास्तिकवाद एवं बौद्धदर्शन के बढ़ते हुए सरकार द्वारा संरक्षित प्रचार को देखते हुए स्वामीजी ने वैदिक धर्म कीपुनः प्रतिष्ठा के लिये एक और प्रयत्न किया। आपने कानपुर में जगद्गुरू शङ्कराचार्य श्री स्वामी कृष्ण बोधाश्रमजी महाराज ज्योतिष्पीठ की अध्यक्षता में २ नवम्बर ५७ से १० नवम्बर ५७ तक सर्व वैदिक शाखा सम्मेलन का आयोजन कराया। सनातनी, आर्य समाजों तथा ईसाई सभी विद्वानों ने इसमें भाग लिया और शास्त्रार्थ द्वारा १६ वैदिक विषय एवं सिद्धान्तों को निर्णीत करके उनकी घोषणा की गयी। कहते है कि दिल्ली यज्ञ से उक्त सम्मेलन तक उपलब्ध वैदिक शाखाओं में से दो और लुप्त हो चुकी थी। देश भर के वैदिक विद्वानों ने इसमें भाग लिया। यह सम्मेलन सचमुच ही स्वामी जी का सतनान वैदिक संस्कृति के संरक्षण की ओर किया गया एक महान् प्रयत्न था। माननीय सम्पूर्णानन्द जी भी इसमें एक दिन पधारे। स्वामीजी ने उनकी शंकाओं का समाधान भी बड़े सुन्दर ढंग से किया। सम्मेलन में जगद्गुरू शंकराचार्य श्री अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ जी महाराज, द्वारका की अध्यक्षता में विद्वानों की एक समिति बनाई गयी जो वैदिक शोध एवं इसी प्रकार के आयोजन स्थान-स्थान पर करके वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा बढ़ते हुए नास्तिकवाद को रोकें।

***

विश्वनाथ

वर्षों से जिसकी रक्षा रकते आ रहे थे, जिसके लिये स्वामीजी तथा उनके असंख्यों अनुयाइयों ने कई बार जेल-यात्राएँ की थी, आन्दोलन किये थे, प्रतिनिधि मण्डल भेजे थे, सरकार से उपासना पद्धति की स्वतन्त्रता की मांग की थी। आखिर १५ दिसम्बर ५७ को पुलिस एवं कानून के बल पर तथाकथित हरिजनों ने घुसकर काशी विश्वनाथ मन्दिर की अनादि मर्यादा को भ्रष्ट कर दिया। मन्दिर में चारों ओर से जंगले लगा दिये गए थे। शिवलिंग को कोई नहीं छू पाता था। काशी नरेश भी बाहर से दर्शन करते थे। मन्दिर में कोई भी जा सकता था, पर गर्भ गृह में कोई नहीं जा सकता था। हरिजनों ने कहा कि हम शिवलिंग को छूकर दर्शन करेंगे। १७ फरवरी, सन् १९५५ को रविदास जयन्ती पर १० हरिजनों का जत्था पुलिस के साथ विश्वनाथ मन्दिर गया। पण्डितों ने माला पहनाकर उनका स्वागत किया और स्वामीजी ने सुझाव दिया कि वे भी वहीं से दर्शन कर लें, जहाँ से सब करते हैं। परन्तु स्वामीजी को गिरफ्तार कर लिया गया....पुनः १५ दिसम्बर ५७ को हरिजनों ने सिटी मजिस्ट्रेट और कोतवाल के साथ बलात् घुसकर फाटक को सिकड़ी और तालाछैनी से काट लिया। और जूतों सहित अनेक व्यक्तियों ने घुसकर मन्दिर की अनादि मर्यादा को भ्रष्ट कर दिया।

स्वामीजी का कथन था कि 'जैसे अन्य सभी मतावलम्बियों को अपनी-अपनी पूजा-पद्धतियों के अनुसार पूजागृहों में उपासना करने का अधिकार है, इसी प्रकार सनातन धर्मावलम्बियों को भी अपने वेद-शास्त्रोक्त-विधानानुसार मन्दिरों में पूजा करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए'-'प्रतिमा-पूजन की परम्परागत तथा शास्त्रीय पद्धति में किसी प्रकार की बाधा न डाली जाय'-परन्तु उपर्युक्त बलात् प्रवेश पर स्वामीजी ने कहा कि 'धार्मिक अत्याचार में कांग्रेसी शासन औरंगजेब शासन से भी भयंकर है। सरकार द्वारा संविधान में प्रदत्त धार्मिक स्वतन्त्रता तथा धर्म निरपेक्षता की घोषणा केवल उपहास मात्र रह गई हैं।'

अन्नपूर्णा मन्दिर में विद्वानों की सभा के बाद ५ जनवरी, १९५८ को ज्ञानवाणी की सभा में स्वामी करपात्रीजी ने घोषित किया कि धार्मिकों के लिये शिवरात्रि के अवसर पर काशी में दूसरे विश्वनाथ मन्दिर की स्थापना होगी। ९ फरवरी १९५८ को प्रातः मीरघाट पर रामानुजाचार्य देवनायकाचार्यजी महाराज ने नए विश्वनाथ मन्दिर का शिलान्यास किया। शिवलिंग नर्मदा से निकाल कर काशी लाया गया। २१ फरवरी,

१९६८ को वैदिक मन्त्रोच्चार के बीच मीरघाट स्थित मन्दिर में मूर्ति की वैदिक विधि विधान पूर्वक प्राण प्रतिष्ठा की गयी। पुजारियों को छोड़कर शिवलिंग तक कोई भी नहीं जा सकता। यद्यपि कुछ कथित सुधारवादी इससे सन्तुष्ट नहीं है परन्तु स्वामीजी का कथन है कि 'हमारी सनातन वैदिक पूजा उपासना पद्धति को इस प्रकार जबरदस्ती बदलने तथा हमारी पवित्र मर्यादाओं को बलात् भ्रष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं है। इसकी रक्षार्थ हमारा प्रयत्न पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहेगा। हाँ, यदि पुनः शुद्धि की बात मान लें तो यह विचार स्थगित किया जा सकता है।' उन्होंने सभी विरोधियों को परस्पर मिल बैठकर सैद्धान्तिक शास्त्रार्थ की चुनौती दी परन्तु कोई माई का लाल आज तक इस 'सन्त' की चुनौती स्वीकार करने का साहस नहीं कर सका और शायद कोई ऐसा सपूत भारत में उत्पन्न ही नहीं हुआ जो वैचारिक एवं शास्त्र सिद्धान्त के आधार पर इस परम तेजस्वी, उद्भट् विद्वान, तपस्वी सन्यासी से शास्त्रार्थ करने का साहस कर सकता। जीवन भर वे सनातन-वैदिक सिद्धान्तों की रक्षार्थ प्राणपण से अहर्निश जुटे रहे। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में परिगणित विश्वनाथ महादेव के दर्शन के उद्देश्य से काशी पधारने वाले सम्भ्रान्त, आस्तिक, वैदिक मतावलम्बी उपासक एवं काशी निवासी शंकरभक्त स्वामी श्री करपात्रीजी द्वारा स्थापित नये विश्वनाथ के दर्शन मीरघाट पर करके ही अपनी पूजा को सफल बनाते हैं।

'शास्त्रार्थ'

जैसा कि पूर्व में वर्णन किया जा चुका है कि शास्त्रीय सिद्धान्तों के विषय में स्वामीजी बड़े ही अडिग थे, कट्टर थे। उन्हें टूटना तो पसन्द था परन्तु झुकना नहीं। शास्त्रीय मामलों में समझौतावाद के वह विरोधी थे। यद्यपि इस समय देश में वातावरण शास्त्र विरोधी है; धर्म विरोधी है; शासन धर्म निरपेक्ष है, प्रजा धर्मविमुख है; साहित्य धर्म रहित है-परन्तु स्वामीजी उसी अदम्य उत्साह के साथ शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं वर्णाश्रम सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार में अहर्निश लगे रहें। अपने भाषणों में शंका समाधान का पूर्ण अवसर देना उनकी अपनी विशेषता रही। न वह स्वयं हठधर्मी थे न हठधर्मिता उन्हें रुचिकर थी। तत्त्व दर्शन की जिज्ञासा से किये जाने वाले वाद-विवाद के लिये उनका द्वार सदा सर्वदा खुला रहता था, वह खुले मस्तिष्क एवं उदार दृष्टिकोण वाले महामनीषी थे। देश भर में धर्म यात्राएँ करते हुए, अनेकों सम्मेलनों के सथा मंचों से उन्होंने लौकिक-पार-लौकिक, सामाजिक, राजनैतिक अनेक प्रश्नों पर अपने शुद्ध-शास्त्रीय-भारतीय विचारों को विचारकों के समक्ष प्रस्तुत किया। कभी-कभी उनकी इस चुनौती से किन्हीं महानुभावों को कुछ कसमसाहट सी भी अनुभव हुई और कई बार यह 'वाद-विवाद' 'तर्क-वितर्क' 'शंका-समाधान' का रूप धारण करके 'शास्त्रार्थ' का अवसर उपस्थित हुआ उनमें से कुछ का उल्लेख मात्र कर देना ही यहाँ उपयुक्त होगा।

सन् १९३२ में हरिद्वार अर्द्धकुम्भी के अवसर पर कोयल घाटी में सेठ गौरीशंकर गोयनका के साथ पं. मदन मोहन मालवीय स्वामीजी के दर्शनार्थ पधारे। श्रीमद्भागवतविषयक विचार-विनिमय के पश्चात् मालवीय जी कहने लगे 'कि यहाँ भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की त्रिवेणी बह रही है; इसके अवगाहन से प्राणी पाप, ताप और दैन्य सबसे छूट जाता है। हम लोगों के सौभाग्य से अभी ऐसे ज्ञानी महात्मा विद्यमान हैं जहाँ प्रत्येक प्रकार का विचार जिज्ञासुओं को मिल सकता है, वेदों और शास्त्रों के गूढ़ तत्व, जो पुराणों में बिखरे पड़े हैं, इन महात्माओं की कृपा से हम लोगों को वह प्राप्त होते हैं।' फिर उन्होंने महात्माजी को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'महाराज इन्हीं पुराणों के बल पर मैं अन्त्यजों को भी प्रणवयुक्त मन्त्र की दीक्षा देता हूँ। स्वामीजी ने कहा 'यह शास्त्र विरुद्ध है।' मालवीयजी ने कहा कि 'फिर तो महाराज विचार हो जाय।' स्वामीजी ने हामी भर ली। अगला दिन निश्चित हुआ। सायंकाल सभा जुटी शास्त्रार्थ का हल्ला मच गया। शास्त्रार्थ स्थल पर हरिद्वार ऋषिकेश आदि से लोग पहुंच गये। श्री गौरी शंकर गोयनका श्री ब्रह्मचारी गंगा स्वरूप जी महाराज पं. बालकराम अग्निहोत्री आदि अनेक महात्मा एवं विद्वान भी पहुँच गये। पं. मालवीयजी ने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए लम्बा व्याख्यान दिया। उस दिन सारा समय उनके भाषण में ही लग गया। अगले दिन पुनः उनका भाषण हुआ तो आँधी आ जाने से ही बीच में व्यवधान उपस्थित हो गया। परन्तु पन्द्रह मिनट में ही आँधी बन्द हो जाने पर स्वामी जी और मालवीय जी का उक्त विषय पर विचार विनिमय चला। दोनों पक्षों के वचन सभी जनता के सामने आये। अन्ततोगत्वा महात्माजी ने पूछा कि 'आपने दोनों पक्षों के वचन सभी जनता के सामने आये। अन्ततोगत्वा महात्माजी ने पूछा कि 'आपने दोनों पक्षों को सुना! तुमने क्या समझा? क्योंकि बुद्धि का स्वभाव है कि वह तत्त्वपक्षपातिनी होती है।' गोयनका जुगल ने स्वामी जी के पक्ष का समर्थन किया। मालवीय जी से निष्पक्ष बात जानने पर उन्होंने इतना ही कहा कि 'स्वामी जी के मुख से तो संस्कृत वाङ्मय-पूर्व मीमांसा-उत्तरमीमांसा की गंगा सी प्रवाहित हो रही थी, मैं तो उसमें अवगाहन कर अलौकिक आनन्दानुभव कर रहा था' मुझे कुछ कहना ही नहीं है अब! पत्रकारों से पूछने पर मालवीय जी ने कहा कि 'तुम लोग पत्रों में शास्त्रार्थ की चर्चा ही मत करो।' परन्तु ज्ञात हुआ है कि श्री गौरीशंकर गोयनका जी ने उक्त शास्त्रार्थ की एक पुस्तक 'माननीय प्रश्नोत्तक' के नाम से प्रकाशित की थी।

सन् १९४० में महामहोपध्याय पं. हरिहरकृपालु द्विवेदीजी ने कहा कि 'एकोद्देश्य परायण समस्त जनान्तः करणत्वा परनामधेयस्वरूप ही तो संघटन है, यह तो असम्भव है, हो ती नहीं सकता। इस पर स्वामीजी का कथन था कि 'जो काशी के पण्डित एकोद्देश्यपरायण समस्त जनान्तः करणत्वा-परनामधेयस्वरूप संघटन का लक्षण करके उसका खण्डन करते हैं, वे क्या संघटन का यह लक्षण करके उसका मण्डन नहीं कर

सकते'–पण्डितजी शान्त थे।

एक अन्य अवसर पर यहीं महामहोपाध्याय जी 'अकामः सर्वकामो वै मोक्षकाम उदार धीः'। तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम्।' इस श्लोक में स्वामीजी से उलझ गये। ज्ञानवापी में विचार–विनिमय होना निश्चय हुआ सारा विद्वत् समाज शास्त्रार्थ सुनने एकत्र हो गया परन्तु पण्डित जी उस सभा में आये ही नहीं और अन्त में पण्डित हरिहर कृपालु जी ने स्वामी जी को नारियल, माला, पुष्पादि अर्पित कर उनके श्री चरणों में दण्ड प्रणाम किया और उनके भक्त बन गये।

सन् १९४४ में दिल्ली महायज्ञ के अवसर पर कुछ आर्य समाजी पण्डित आये, एक दिन रामचन्द्र देहलवी भी पधारे। वाजसनेयी संहिता के उब्बट, महीधर भाष्य के ऊपर आक्षेप करते हुए आर्य समाजी पण्डितों ने कहा कि यह वेद विरुद्ध है, क्योंकि वेद प्रतिपादित है।' इस पर स्वामी जी ने कहा कि वेदाप्रतिपादित होने मात्र से उनको वेद विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। जैसे भोजन वेदाप्रतिपादित है–परन्तु भोजन वेदविरुद्ध नहीं है। अतः वेदाप्रतिपादित्तव हेतु–विरुद्धत्व साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। अतः उव्वअ महीधर के भाष्य वेद विरुद्धत्व वेदाप्रतिपादितत्वात् अनुमान दोष ग्रस्त है और सहीहित अर्थ का साधक वह नहीं बन सकता।

आर्य समाज की ओर से आये पण्डित अपना पक्ष भी संस्कृत भाषा में ठीक–ठीक उपस्थित नहीं कर सके और दो चार प्रश्नोत्तर के उपरान्त ही शास्त्रार्थ समाप्त। दूसरे दिन वे आये भी नहीं और केवल नोटिस छाप दिये–इस पर स्वामी जी ने दिल्ली यज्ञ के मंच से विद्वानों की सभा में लाखों जन समूह के बीच स्पष्ट घोषणा की कि 'कोई माई का लाल हो तो सामने आकर शास्त्रार्थ करें'–पर किसी ने साहस नहीं किया।

एक बार साप्ताहिक सिद्धान्त काशी में पूज्यपाद १०८ स्वामी रामदेव जी महाराज ने पक्ष रखा कि 'सन्यासियों को मठों आदि का संग्रह उचित नहीं है।'–इस पर स्वामी श्री करपात्री जी का कथन था कि 'सन्यास आश्रम त्याग का है, इसमें दो राय नहीं है। किन्तु साधारण सन्यासी और आचार्य दीक्षा सम्पन्न सन्यासी में महान् अन्तर है। स्वामी जी ने कहा कि भले ही किसी का श्रुति में मूल न मिलता हो किन्तु कोई विरोधिनी श्रुति न हो तो ऐसी भी स्मृतियों का प्रामाष्य माना है। अतः आचार्य दीक्षा–सम्पन्न सन्यासी के लिये मठादि संग्रह शास्त्रानुमत हैं–शास्त्र निषिद्ध नहीं है।'

इस प्रकार के तो एक नहीं अनेकों महत्वपूर्ण शास्त्रीय प्रश्नों पर स्वामी जी महाराज के शंका–समाधान के रूप में विचार अनेक पत्रों में समय समय पर प्रकाशित होते रहे हैं, जिनका संबंध केवल बुद्धिमानों की बुद्धि एवं मनीषियों की मनीषा से ही है।

इसी प्रकार एक लेखबद्ध शास्त्रार्थ 'समुद्रयात्रा' के सम्बन्ध में शास्त्रार्ज्ञ महारथी पं. माधवाचार्य एवं स्वामी श्री करपात्री जी के बीच कई वर्षों तक संस्कृत में लिपिबद्ध अनवरत चला जो सिद्धान्त पत्र में धारावाहिक रूप से प्रकाशित भी हुआ–

सर्वसाधारण एवं वर्तमानयुग के भारतीयों को इस प्रकार का वाद-विवाद भले ही कुछ विचित्र सा लगता हो परन्तु जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि स्वामी जी सत्युगी विभूति थे। उनके विचार भले ही समय से मेल न खाते हों, वह तो बस शास्त्रीय, एकमात्र शास्त्रीयपक्ष-उपस्थापन-प्रतिष्ठापन एवं परिपालन के पक्षपाती थे इस संसार में, फिर चाहे बहुमत किधर भी हो। शास्त्रमत के सामने वैदिक सिद्धान्तों के विषय में, उन्हें बहुमत से झुकाया नहीं जा सका। शास्त्रार्य महारथी अन्त समय तक समुद्र यात्रा पर स्वयं न जाकर-शास्त्रार्थ में ही उलझे रहे-इस मर्यादा को बांधने वाला एक ही व्यक्ति इस समय संसार में दीखता था स्वामी करपात्री जी के रूप में।

सन् १९६५ हरिद्वार-गोघाट के निकट गंगापार। श्री मन्माध्व सम्प्रदायाचार्य भण्डार कैरि-मठाधीश्वर श्री विद्यामान्य तीर्थ स्वामी जी उडुपीकेरल से पधारे तो उन्होंने अद्वैतसिद्धान्त मत को आसुरमत बताकर शास्त्रार्थ का आह्वान किया। हारने पर ५००० देने की भी घोषणा की अपने नोटिस में। उनकी चुनौती स्वामी करपात्री जी ने स्वीकार की। मध्यस्थ, स्थान, शर्तनामा सब कुछ लिखित रूप में तय हो गया। ४, ५ जुलाई ६५ में दो दिन शास्त्रार्थ चला। परन्तु प्रतिवादी स्वामी विद्यामान्य तीर्थ जी महाराज ने अपना पक्ष निर्बल पड़ता जान लिखित शर्तनामे की धारा के विरुद्ध एक स्थान पर अपने ही आचार्य श्रीमत्-मध्वाचार्य द्वारा कृत श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य के विरुद्ध भाषण कर दिया। शर्तनामे की शर्त के अनुसार अपने ही आचार्य के विरुद्ध बोलने वाला पराजित माना जायेगा। इस पर उभयपक्ष एवं मध्यस्थ तीनों के हस्ताक्षर थे। अतः उन्हें पराजित घोषित किया गया तो वह बीच में से ही उठकर चले गये। पूज्य परपात्री जी को इस शास्त्रार्थ में भी विजयी घोषित किया गया। जब उनकी विजय-शोभा यात्रा निकालने का प्रस्ताव किया गया तो स्वामी जी ने कहा कि ऐसा करना उचित नहीं है। शास्त्रार्थ तत्वनिर्णय के लिये हैं किसी के पराभव के लिये नहीं-तत्वनिर्णय हो गया अब वाद-विवाद समाप्त हो गया।

इस प्रकार एक नहीं अनेक अवसर वाद-विवाद के उपस्थित हुए इस महात्मा के सामने और तत्वबोध की दृष्टि से सदा स्वामी जी ने उसमें भाग लिया और सनातन वैदिक धर्म के सिद्धांतों की रक्षा की।

कायाकल्प :

'अनन्तावैवेदाः' की ११३१ शाखाओं में से आज केवल पांच-सात शाखाएं ही उपलब्ध हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम चारों दिशाओं में प्राप्य-मान्य प्रमाणिक संस्कृत शास्त्रीय सद्ग्रन्थां को ढूंढ-ढूंढ कर अध्ययन करना एवं शास्त्रानुमोदित वास्तविक पक्ष का प्रतिपादन करना स्वामी जी के जीवन का लक्ष्य बन गया। वेदों की अनेकों लुप्त प्राय शाखाओं को प्रगट करने का महान् प्रयास आपने किया। इसी सन्दर्भ में आपको 'ज्योतिष्मतीकल्प' के विषय में 'आनन्दकन्द' नामक दक्षिण भारतीय ग्रन्थ से आवश्यक

जानकारी मिली कि इस कल्प के करने से अनुपलब्ध एवं अश्रुतग्रन्थों की उपलब्धि साधक को होने लगती है। स्वामीजी ने स्वयं इस कल्पानुष्ठान को करने का संकल्प किया। पूज्यपाद जगद्गुरू शंकराचार्य श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज मध्यप्रदेश से ज्योतिष्मती एकत्र करने स्वयं गये। विधिवत् पूजन के उपरान्त बीस दिन तक इसका संग्रह किया गया फिर काशी में अन्नराशि में रखा गया। मीरघाट काशी में 'त्रीगर्भा' कुटी का निर्माण किया गया। वैद्यों का सम्मेलन बुलाकर विचार-विमर्श किया गया। जड़ी-बूटियों से कुटी का आलेपनादि द्वारा संस्कार किया गया। श्यामा गौ को पूजनादि के अनन्तर निर्धारित नियमित तूण-शाकपत्रादि का भोजन दिया गया। वर्ष १९७२ के चातुर्मास्य के अवसर पर महाराज ने विरेचन क्रिया के पश्चात् कुटी में प्रवेश किया जिसकी लागत लगभग ८५ हजार रूपये थी। चालीस दिन तक महाराज ने कल्पवास किया। औषधि सेवन से इतनी व्यग्रता बढ़ी कि असहनीय हो गयी, परन्तु इस महान् योगी का धैर्य उस समय देखते ही बनता था। कुटी में सेवक एवं चिकित्सक के अतिरिक्त प्रवेश वर्जित था। प्रकाश के नाम पर दीपक मात्र। बाहर से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्राय: स्वामी जी कुटी में ध्यानावस्थित रहते थे। जगद्गुरू स्वामी स्वरूपानन्द जी महाराज से वेदान्त श्रवण करते थे। बीच-बीच में आध्यात्मिक विषयों पर संस्कृत में वार्तालाप मात्र। परन्तु वर्षा, आर्द्रता, प्रतिकूल मौसम के कारण कल्प में व्यवधान पड़ता जान चिकित्सकों ने महाराज को कल्पस्थगन का प्रस्ताव किया जिसे चालीस दिन बाद महाराज ने स्वीकार करके बाहर भक्तों को दर्शन देकर कृतार्थ किया। पत्रकारों से प्रश्नोत्तर हुए। भार लिया गया, स्वास्थ्य अच्छा हो गया था। बाल काले होने लगे थे। कई पौण्ड वजन बढ़ गया था। परन्तु स्वामी जी ने कहा कि 'हमें यह कुछ अभीष्ट नहीं था। यह तो उसके गौण फल हैं मुख्यफल तो अश्रुतग्रन्थों की उपस्थिति थी उनका बुद्धि में अवतरण था जो अभीष्ट था-वह अभी दूर है अभी तो दशमास में से केवल चालीस दिन ही कल्प के व्यतीत हुए हैं। यदि भगवत्कृपा हुई तो नगर से बाहर नही हिमालय के निर्जन स्थान में इसका पुन: अनुष्ठान सम्भव हो सकेगा। इस अल्पकाल में भी अनुपम अनुभूतियां हुई हैं।' देखने में महाराज की आयु पच्चीस वर्ष कम लगने लगी।

वर्तमान समय में स्वामी जी द्वारा किये गये कल्पवास की घटना का महत्व इसलिये और भी बढ़ जाता है कि उसका लक्ष्य कोई व्यक्तिगत स्वार्थ या केवल शारीरिक स्वास्थ्य लाभ नहीं था अपितु अश्रुत-अनुपलब्ध वैदिक शाखाओं की उपलब्धि मात्र था। विश्वकल्याण एवं वेदोद्धार के लिये कृत-संकल्प इस महान् योगी संत के श्री चरणों में कोटि-कोटि नमन।

सम्मान :

स्वामी जी के विचारों को यद्यपि आज के शुष्क राजनीतिज्ञ प्रतिक्रियावादी,

प्रतिगामी अथवा समय के प्रतिकूल बताकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं; परन्तु वर्तमान समय में संत तुलसीदास जी के पश्चात् ऐसा विद्वान तपस्वी मनस्वी महापुरुष दूसरा शायद नहीं हुआ जिनकी वेद, पुराण, दर्शन, साहित्य, षड्ङ्गवेद और धर्मशास्त्र में इतनी गहरी पैठ हो। भाषण एवं लेखन दोनों में आपका समान अधिकार था। यों तो गत पचास वर्षों में स्वामी जी के सैंकड़ों प्रवचन एवं लेख प्रकाशित हो चुके हैं और न्यूनाधिक चालीस पुस्तकों की संरचना से आपने संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के साहित्य में अभिवृद्धि कर महान् कार्य किया है। फिर भी 'भक्तिरसार्णव', 'श्रीविद्यारत्नाकर', 'वेदस्वरूपविमर्श', 'चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श', 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य', 'श्री भगवतत्व', 'संकीर्तनमीमांसा और वर्णाश्रम मर्यादा', 'शाङ्करसिद्धान्तों पर किये आक्षेपों का समाधान', 'मार्क्सवाद और रामराज्य', 'भक्तिसुधा', 'विचार पीयूष', 'रामायणमीमांसा', 'वेदार्थपारिजात' आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें पढ़कर बुद्धिमानों की बुद्धि एवं मनीषियों की मनीषा चमत्कृत हो उठती है। स्वामीजी ने आजीवन संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य की जो महत्वपूर्ण एवं नि:स्वार्थ सेवा की है और निष्ठापूर्वक अहर्निश भारती के प्रति अपना त्यागपूर्ण जीवन समर्पित करके विद्वानों के सामने एक आदर्श उपस्थित किया है उत्तर प्रदेश शासन ने सन् १९७४ में 'भक्ति रसार्णव' ग्रन्थ की रचना पर तथा पुन: सन् १९८५ में (मरणोपरान्त) वेदार्थपारिजात ग्रन्थ पर आपको विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित कर अपने को गौरवान्वित किया। यद्यपि आपने अपने स्वभावानुसार इसे ग्रहण करने से मनाकर दिया परन्तु जब राज्यपाल महोदय ने स्वयं काशी जाकर दुशाला एवं पंचसहस्र मुद्राएँ समर्पित करनी चाही तो महाराज ने एक ब्राह्मण को सुपात्र समझ यह सब दिलवा दिया। उत्तर प्रदेश शासन शिक्षा विभाग द्वारा प्रकाशित 'राज्यसाहित्यिक पुरस्कार-१९७४' में स्वामी जी के प्रति व्यक्त भावना की भाषा इस प्रकार है-संस्कृत विद्या के केन्द्र काशी की उच्च विद्वत्ता की परम्परा को आप आज भी अक्षुण्ण रखे हुए हैं और अपने विशिष्ट वैदुव्य, प्रकाण्ड पांडित्य तथा गंभीर चिन्तन के कारण आपकी अप्रतिम प्रतिभा की ख्याति सारे देश में फैली हुई है। आप उच्च कोटि के विद्वान ही नहीं, प्रत्युत मौलिक चिन्तक भी हैं और संस्कृत विद्वानों की सम्मति में आप शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, श्री हर्ष, मधुसूदनसरस्वती, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों की गौरवमयी परम्परा की इस युग में एक अपूर्व कड़ी हैं। आपकी सख्याति, सर्वांगीण एवं बहुमुखी है। वेद, पुराण, दर्शन, साहित्य, षडङ्ग और धर्मशास्त्र में आपकी तलस्पर्शी विद्वता और प्रतिभा को संस्कृत जगत् ने गर्व के साथ स्वीकार किया है। लेखन और प्रवचन में आप समान रूप से निष्णात् हैं.....। 'विश्वनाथ की नगरी काशी में पांडित्य के सर्वोच्च सिंहासन पर विराजित इस निष्काम साहित्यसेवाी, नि:स्पृह संत एवं उद्भट-विद्वान् तपस्वी सन्यासी के श्री चरणों में कोटिश नमन हैं।'

वाचस्पति :

१ जनवरी ७९ को सायंकाल चार बजे श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की ओर से विश्वविद्यालय के कुलपति आचार्य पण्डित बद्रीनाथ शुक्ल द्वारा 'वाचस्पति' की उच्चतम मानद उपाधि स्वामी जी को प्रदान की गयी। वृन्दावन बिहारी भवन, लक्सारोड़, वाराणसी में आयोजित सादा समारोह में काशी का पण्डित समाज विश्वविद्यालय के उच्चाधिकारी, प्राचार्य, प्राध्यापक एवं अन्य उपस्थित धार्मिक वर्ग ने इस सर्वथा वीतराग महापुरुष को कुलपति द्वारा सर्वोच्च उपाधि प्रदान करते हुए, धर्मसम्राट की जय-जयकार पूर्वक अपना सम्मान व्यक्त किया। इस अवसर पर कुलपति जी ने कहा कि 'समस्त भारत की जनता अपने धार्मिक एवं आध्यात्मिक हितों के संरक्षण के लिये आपकी और देख रही है। वैदिक संस्कृति, शास्त्र परमपरा तथा समस्त भारतीयता आपसे ही सुरक्षित हैं। धर्म, राजनीतिक सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में आपके निर्देशन एवं योगदान से भारतीय जनता अपने को कृतकृत्य समझ रही है। भारतीय संस्कृति के महान् उन्नायक के रूप में आपकी महती ख्याति है। विश्व विद्यालय ने अपनी सर्वोत्तम उपाधि प्रदान करने का निर्णय कर अपने पावन कर्तव्य का पालन किया। इस उपाधि की सार्थकता भी आपके श्री चरणों में ही है। यदि विश्वविद्यालय ने ऐसा नहीं किया होता तो यह उसकी भयंकर उत्तरदायित्व विहीनता होती। आपके निर्देशन एवं सन्निधि में विश्व के सभी प्राणियों को कल्याण का मार्ग मिलता रहे यही हमारी आपके चरणों में प्रार्थना है।

स्वामी जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में कहा कि 'जिसके द्वारा धर्म एवं ब्रह्म बुद्धि हो वही विद्या है। यह विद्या अपार संसार में भटकते हुए प्राणियों को मार्ग दिखाती है। अविद्या, अविद्यामय कार्य तथा सर्व प्रपंच की निवृत्ति इसी से होती है। अत: सबसे बड़ा प्रयास इस विद्या की प्रगति के लिये होना चाहिये। त्याग की संसार में बड़ी महिमा है। जो जितना ही त्याग करता है वह उतना ही संसार को नन्दन वन, उस विद्या के बल पर होता है। विद्वानों को इसी विद्या को अपने तथा अपने अनुयायियों को सम्पादित करना चाहिये। इसी में सर्वथा कल्याण सम्भव हैं।'

'विश्व विद्यामन्दिर'

विश्ववन्द्य स्वामी करपात्रीजी महाराज के आध्यात्मिक आदर्शों एवं भारतीय संस्कृति के विश्व-व्यापी प्रचार-प्रसार हेतु 'भारतीय शिक्षा परिषद' द्वारा स्वामीजी की जन्मस्थली के समीप कुण्डा प्रतापगढ़ उत्तर प्रदेश में श्री स्वामी करपात्री 'विश्व विद्यामन्दिर' का शिलान्यास सुप्रसिद्ध दार्शनिक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलपति आचार्य प्रवर पण्डित बद्रीनाथ शुक्ल के कर कमलों द्वारा १० मई १९७९ को प्रात: ७.३० बजे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर आयोजित समारोह की अध्यक्षता अ. भा. रामराज्य परिषद, उत्तर प्रदेश के महामन्त्री श्री रामजी मिश्र ने की।

माननीय कुलपति जी ने विद्यामन्दिर का शिलान्यास करते हुए कहा कि 'स्वामी श्री करपात्री जी महाराज विश्व की महनीय विभूति हैं भारतीय संस्कृति एवं सनातन धर्म उनको पाकर कृतकृत्य हो गया हैं उनके आदर्शों के पालन करते हेतु ही इस विद्यामन्दिर की स्थापना की जा रही है। आशा है इसमें से विद्या प्राप्त कर निकलने वाले स्नातक भारतीय संस्कृति के रक्षक सनातन धर्म के उन्नायक एवं धर्मनिष्ठ होंगे। विद्यामन्दिरी के प्रबन्धक प्रयाग विश्व विद्यालय में दर्शन विभाग के प्रवक्ता छोटे लाल त्रिपाठी ने कुलपति महोदय का स्वागत करते हुए विद्यामन्दिर की रूप-रेखा पर प्रकाश डाला। एक वक्तव्य में कहा 'इस विद्या मन्दिर में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक की व्यवस्था रहेगी। साथ ही औद्योगिक, प्राविधिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण केन्द्र भी संचालित किये जायेंगे। प्राचीन भारतीय भाषण में श्री रामजी मिश्र ने स्वामीजी एवं विद्यामन्दिर के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए विद्यामन्दिर की उन्नति की कामना की। अन्य वक्ताओं एवं उपस्थित महानुभावों में उत्तर प्रदेश संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक श्री उमाशंकर मिश्र, विधायक श्री राम किशोर शुक्ल, श्री उमराव पाण्डेय उमापति आदि का नाम उल्लेखनीय था।

'वेदोद्धार'

गत अर्द्धशताब्दी में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन करके भी स्वामीजी को सन्तोष नहीं हुआ। ७३ वर्ष की आयु में भी विद्यार्थियों को भांति नित्य दश-दश घण्टों तक निरन्तर ग्रन्थावलोकन एवं लेखन कार्य में सरस्वती का यह वरद पुत्र अनवरत लगा रहा। सन् १९३७ में 'शाङ्कर सिद्धान्त समाधान', (पृष्ठ १९२), 'संकीर्तन और वर्णाश्रम मर्यादा' (पृष्ठ १२२) १९४० में 'श्री भगवत्तत्व' (पृष्ठ ७२२), १९५८ में 'मार्क्सवाद और रामराज्य' (पृष्ठ ८०४), १९५९ में 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य'(प्रथम खण्ड-पृ. २७९) (द्वितीय खण्ड पृष्ठ ४३५), १९६१ में 'वेद प्रामाण्य मीमांसा' (पृष्ठ ७८), १९६२ में 'अहमर्थ और परमार्थ सार' (पृष्ठ २७०), १९६८ में 'भक्तिरसार्णव' (पृष्ठ २४९), १९६९ में 'वेदस्वरूप विमर्श' (४४७ पृष्ठ), १९७२ में 'चातुर्वर्ण्यसंस्कृति विमर्श' (पृष्ठ ३२५) १९७२ में 'श्री विद्यारत्नाकर' (४७० पृष्ठ), १९७५ में 'विचारपीयूष'(६६० पृष्ठ) १९७६ में 'क्या सम्भोग से समाधि' (१०५ पृष्ठ), 'पूंजीवाद-समाजवाद-रामराज्य' (२७० पृष्ठ), १९७७ में 'रामायण मीमांसा' (१९३२ पृष्ठ) आदि अनेक खोजपूर्ण एवं पाण्डित्यपूर्ण महान ग्रन्थों की संरचना कोई साधारण काम नहीं है। परन्तु सर्ववेद शाखा सम्मेलनों के आयोजन कर्त्ता इस ऋषि की तृप्ति नहीं हुई। आपने केदारघाट काशी में में महाराज कुमार विजयानगरम का गंगातट स्थित भवन संस्था के धन से खरीदकर और उसका एक छोटा सा न्यास बनाकर उसमें 'वेदानुसन्धान संस्थान' की स्थापना की। यह स्थान काशी खण्ड में वर्णित प्रसिद्ध श्री केदारेश्वर महादेव मन्दिर से मिला हुआ केदारघाट गंगा तट पर स्थित है, जिसमें श्री स्वामीजी ने

श्री राम कृपेश्वर मन्दिर की भी स्थापना की। इसी 'वेदशास्त्रानुसन्धान-संस्थान' के अन्तर्गत वेदों-शास्त्रों पर स्वतन्त्र रूप से अनुसन्धान कार्य किया जा रहा है। स्वामीजी ने वेदां पर आज तक किये गये भाष्यों का गहन गम्भीर अध्ययन किया और वेदभाष्य लेखन के महत्वपूर्ण कार्य में वे लगे रहे वेदभाष्य भूमिका के लगभग २३०० पृष्ठ दो खण्डों में विद्वानों के मध्य आ चुके हैं। इस भूमिका से स्वामीजी ने महान वैचारिक क्रान्ति का सूत्र-पात किया है। यजुर्वेद-ऋग्वेद पर भाष्यपूर्ण हो चुके हैं यह प्रेस में है। अथर्व, साम पर भी भाष्य की रचना की। ९ अप्रैल १९७९ को 'वेदार्थ पारिजात' का प्रकाशनोद्घाटन भूतपूर्व काशी नरेश डाक्टर विभूति नारायण सिंह जी के द्वारा सम्पन्न हुआ। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति पं. बद्रीनाथ शुक्लजी ने अध्यक्षता की। विश्वविद्यालय के प्रांगण में प्रारम्भ लगभग २५ वैदिक ब्राह्मणों द्वारा वेद मन्त्रों से वेदभगवान का पूजन किया गया। वेद-स्तवन के अनन्तर वैदिकों का पूजन एवं उद्घाटन कर्ता महाराजा काशी एवं कुलपति जी का सम्मान ग्रन्थ के प्रकाशक श्री हनुमान प्रसाद धानुका द्वारा अक्षतचन्दन एवं माल्यार्पण से किया गया।

अपने उद्घाटन भाषण में काशी नरेश ने कहा कि 'वेदार्थ पारिजात' जैसा ग्रन्थ लिखकर पूज्य चरण श्री स्वामी श्री करपात्री जी ने आज की सबसे बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर एक ऐसा महान् कार्य किया है जो महाराज जी जैसे तपस्वी, मनस्वी और सरस्वती के अवतार से ही सम्भव है। वेद ही हमारी संस्कृति के मूल स्रोत हैं। केवल भारत के लिये ही नहीं वरन् समस्त विश्व और मानव-मात्र के लिये कल्याणप्रद हैं। इनका समुचित अध्ययन, मनन और अनुशीलन होने से ही मनुष्य-त्राण हो जाता है। आज वेद की रक्षा की धर्म है। पूज्य स्वामीजी ने सनातन धर्म की रक्षार्थ अपना जीवन ही न्यौछावर कर रखा है। वे सामर्थ्यवान हैं। 'वेदों के बारे में अनेक प्रकार के आक्षेपों का उचित निराकरण न होने से विद्वानों और वेदों में आस्था रखने वालों में अनेक भ्रान्तियाँ फैल गई थीं। यह आवश्यक था कि इन आक्षेपों का समुचित निराकरण किया जाय और वेद-मन्त्रों का सही स्पष्ट अर्थ प्रतिष्ठित किया जाय ताकि धर्म की रक्षा हो और वेदों के प्रति आस्था सुदृढ़ हो। यह कार्य बहुत कठिन था। इसे पूज्य चरण स्वामीजी जैसे सरस्वती के वरद्पुत्र ही कर सकते हैं। प्रसन्नता की बात है कि स्वामीजी ने इसे महसूस किया और 'वेदार्थ पारिजात' लिखकर कठिन कार्य को सम्पन्न किया। इससे वेद के अध्येताओं को बड़ा बल मिलेगा।' पर्याप्त अस्वस्थ होते हुए भी स्वामी जी ने स्वयं उपस्थित होकर समारोह को गौरव प्रदान किया। अपने आशीर्वचन के रूप में कहा कि 'वेदों के बारे में लोगों ने अनेक विवाद और वाद उत्पन्न कर रखे थे, उनका शमन और निराकरण बहुत जरूरी था। कुछ लोग केवल मन्त्रों को ही वेद मानते हैं किंतु यह सही नहीं है। 'मन्त्र और ब्राह्मण' दोनों वेद है। इस प्रकार के अनेक वाद और आक्षेप हैं जिनका निराकरण करने के लिये मुझे 'वेदार्थ

पारिजात' की रचना की ओर उन्मुख होना पड़ा। उदाहरण देते हुए पूज्य स्वामीजी ने कहा कि 'वेदों के बारे में एक दृष्टि यह है कि उसका प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म नहीं कर्मकाण्ड है। दूसरी दृष्टि यह है कि वेदों का प्रतिपाद्य विषय परात्पर ब्रह्म है कर्म काण्ड नहीं। लेकिन ऐसा नहीं है। वेद के जितने मन्त्र विनियुक्त है, उनका सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है लेकिन जो मन्त्र विनियुक्त नहीं है उनका सम्बन्ध परब्रह्म की प्रतिष्ठा से है।' स्वामीजी ने आशीर्वाद देते हुए कहा कि 'आज वेद और धर्म की रक्षा के इस महान् कार्य में जो लोग लगे हैं उनके उत्साह और विश्वास में वृद्धि हो यही मेरी शुभकामना है।'

वर्तमान जगत् में जब संसार भौतिकता में आकण्ठ निमग्न है। नास्तिकता का वातावरण है। वेद-शास्त्रों की उपेक्षा हो रही है। स्वामीजी ने वेद्धोद्धार के जिस महान् कार्य को उठाया आने वाली पीढ़िया शताब्दियों तक 'करपात्री-स्वामी' के पवित्र नाम का स्मरण करती रहेंगी। ईमानदार एवं निष्पक्ष विचारक, देश, धर्म एवं वेद के प्रति किये गये इनके भीष्मप्रयास की स्मृतिपूर्वक कृतज्ञता ज्ञापन करके धन्य होती रहेंगी।

स्वामीजी का कथन है कि 'वेद-मन्त्रों तथा उपनिषदों में इतिहास, रामायण महाभारत और पुराणों का उल्लेख है। अतएव मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद, व्याकरण, षडंग, पूर्वोत्तर-मीमांसा, इतिहास, पुराण, धर्म-शास्त्र आदि का समन्वय करके ही जो वेदार्थ का निर्धारण किया जाता है, वही वेदार्थ का सम्यक् निर्धारण है, मनमाने ढंग से नहीं।'

ऐसे परमपूज्य परिव्राजक, यतिश्रेष्ठ, धर्म सम्राट, वेदाद्धारक, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, तपस्वी, मनस्वी, सरस्वती पुत्र, दण्डी सन्यासी, वीतराग-महात्मा, परमहंसस्वरूप वाचस्पति अभिनवशङ्कर स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज के श्री चरणों में राष्ट्र की ओर ये प्रणामाञ्जलि समर्पित है। अभागे हैं वे लोग जो उनसे अपरिचित रहे, धन्य हैं वे लोग जिन्होंने इन महात्मा के दर्शन किये हैं।

***

ब्रह्मनिर्वाण

भारतीय शास्त्रों के अनुसार यद्यपि यह विश्व अनादि है अर्थात् इसका कोई पता नहीं बता सकता कि कब से बना। इस ब्रह्माण्ड में एक दो नहीं, असंख्य, अनन्तानन्त लोक-लोकान्तर, नक्षत्रमण्डल इसी प्रकार स्थित हैं जिस प्रकार गूलर के फल के अन्तर्ग असंख्य बीज। मोटे तौर पर भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यः- यह सात ऊपर की ओर अवस्थित हैं और महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल-यह क्रमशः नीचे की ओर अवस्थित हैं। मध्य में है यह भूमण्डल जिसमें प्रमुख कर्मभूमि है भारतवर्ष। यह एक ब्रह्माण्ड की स्थिति है इस प्रकार के अनेक ही नहीं अपितु अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड नाययक परब्रह्म-परमात्मा प्रतिक्षण धारण किये हुए है। विश्वविराट् के हृदय प्रदेश में अवस्थित है यह पवित्र भारत देश जिसके प्रांगण में वह सर्वशक्तिमान परमात्मा समय-समय पर अवतरित होकर धर्म की रक्षा करते हैं। उनका उद्घोष है कि 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्'। अवतारवाद भारतीय धर्म की विशेषता है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता, विश्व की सभ्यता-संस्कृतियों की जननी है। परन्तु जब कालक्रम प्रभाव से इनका ह्रास होने लगता हैं तो वे अकारणकरुणकरुणावरुणालय भगवान् इन भारतीय-वैदिक-तत्वों के संरक्षण के लिये किसी महान विभूति को भेजते हैं। यह सनातन-मान्यता है, शाश्वत-परम्परा है इस देश की। वैदिकों की मान्यता के अनुसार वर्तमानकाल पतन का काल है, उन्नति का या प्रगति का नहीं। सत्युग, त्रेता, द्वापर, कलियुग इस युगक्रमानुसार विचार करने पर यही तथ्य सुस्थापित होता है कि धर्म के चार चरणों में से कलियुग में एक ही चरण शेष रह जाता है। परन्तु मूलसंरक्षण की सदा से चिन्ता वे प्रभु स्वयं ही करते हैं। अधिक प्राचीनकाल में न जाकर अबसे सिद्धान्तों का पूर्णतया अपलाप करके अवैदिक, वाममार्गी, अघोरपन्थी, नास्तिक, क्लीव, पाखण्डी मत-मतान्तरों का जब इस पवित्र देश में प्रचार-प्रसार हुआ तब आद्य श्री शंङ्कराचार्य के रूप में भगवान् स्वयं पधारे और वेदान्त सिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठापना की। वर्णाश्रम धर्म इस पुरातन सनातन देश एवं जाति की रीढ़ है। इसके अस्तित्व का यह मूलाधार है। इस राष्ट्र के अतिरिक्त कहीं भी वर्णाश्रम धर्म की पूर्णतः स्थापना नहीं है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद, श्रुति-स्मृतिमूलक धर्म, गो, ब्राह्मण, यज्ञ आदि के मूल संरक्षण का जब-जब भी प्रश्न उत्पन्न हुआ है तब ही वे किसी न किसी विभूति को

किसी भी लोक से यहाँ कुछ समय के लिये भेज देते हैं जो अपना कार्य सम्पन्न करके पुनः निजलोक को प्रयाण कर जाते हैं। इसी परम्परा में आता है वह पवित्र नाम जिसके आविर्भाव एवं कार्यकलापों का वर्णन गत पृष्ठों में आपने संक्षेपतः पढ़ा। जो सम्पूर्ण भारतवर्ष में लगभग साठ वर्षों तक छाये रहे। धर्म के सर्वोच्च सिंहासन पर आरूढ़ होकर 'धर्मसम्राट' कहलाये, 'वेदार्थ्झपारिजत' एवं वेदभाष्यों की रचना करके 'वेदोद्धारक' कहलाये, अनेकों शतमुखकोटिहोमात्मक जैसे महायज्ञों का अनुष्ठान सम्पन्न कराने वाले 'यज्ञयुगप्रवर्तक' कहलाये, वैदिक-सनातन-हिन्दू धर्म शास्त्रों के विपरीत बनाये जाने वाले काले कानूनों (हिन्दू कोड आदि) का प्राण-पण से व्यापक सक्रिय विरोध करने वाले 'धर्मात्मा वेदपुरुष' कहलाये, गोहत्याबन्दी, अखण्ड भारत, धार्मिक-मर्यादा-संरक्षण के लिये कठोर यातनाएँ सहन करने वाले 'कर्मठ-सन्यासी-कारकपुरुष' कहलाये, राष्ट्रभाषा हिन्दी, देववाणीसंस्कृत के अजस्र भण्डार को अपनी प्रौढ़-सशक्त शास्त्रीय शब्दावली से सुपुष्ट करने वाले 'सारस्वतपुत्र' कहलाये, कथा, उपदेश, व्याख्यान एवं गूढ़ातिगूढ़ वैदिक-धार्मिक तत्वों का सरल, सुबोध, सगुम भाषा में विवेचन करके 'व्याख्यान वाचस्पति' कहलाये, अनेकों आक्षेपों का परिहार करते हुए वैदिकमत-स्थापन कर अनेकों शास्त्रार्थो में विपक्षियों को पराभूत करने वाले 'शास्त्रार्थमहारथी' कहलाये। कठिन से कठिन वैदिक-व्रतानुष्ठानादि पूर्वक एक कृच्छ-तपोमय जीवन व्यतीत करने वाले 'तपस्वीसन्त' कहलाये, धर्म संरक्षण हेतु लोकसंग्रह करते हुए भी कमलवत् उससे निर्लेप रहने वाले 'वीतराग-सन्यासी' कहलाये, पाश्चात्यपूर्णतः भौतिकवाद पर आधारित धर्म विहीन राजनीति के विकल्प के रूप में धर्मसापेक्ष, पक्षपातविहीन, लोकतान्त्रिक, अध्यात्मवाद पर आधारित आदर्शतम राजनीतिदर्शन 'रामराज्य' के प्रस्तोता महान रानीतिज्ञ-'राष्ट्रपुरुष' कहलाये, महान दार्शनिक, अर्थशास्त्री, महामनीषी, मनस्वी, तपस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी, धर्म की जय के घोष के उद्गाता 'धर्मात्मा-करपात्री' कहलाये। इसी प्रकार अपनी सर्वतोमुखीप्रतिभा को इस राष्ट्र में विकीर्ण करके, सनातन धर्म के सनातन-शाश्वत सिद्धान्तों का पुनर्जागरण करके लगभग साठ वर्षों तक सनातन-धार्मिक जगत के एकछत्र निर्विवाद नेता के रूप में सर्वोच्च सिंहासन पर सिंहासनस्थ रहकर सनामन धर्म की विजय का डंका बजाते रहे।

परन्तु निर्धारित कार्य पूर्ण कर लेने के अनन्तर उन्होंने स्वलीलासंवरण कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। प्रस्तुत पंक्तियों में उसी कारुणिक प्रसंग पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया गया है जिसमें महाराज श्री के देवतुल्य पवित्र-पार्थिव शरीर को दस मास की अविध में तपस्या-साधनारत रहना पड़ा। बात हमारी लौकिक-सीमित बुद्धि के अनुसार ऐसी प्रतीत होती है कि २९ जून सन् १९६७ में जो तिहाड़ जेल में उन पर कातिलाना हमला किया गया था उसमें उनके शिरोभाग में मर्मान्तक आघात लगा था, आँख की ज्योति चली गई थी, जो कालान्तर में औषधोपचार से आंशिक रूप से ठीक

हो गई थी परन्तु स्यात् अपना कुप्रभाव कहीं मस्तिष्क के सम्वेदनशील सूक्ष्म भाग के किसी कोष में छोड़ गई जिसके परिणाम-स्वरूप इन परम तपस्वी, मनस्वी, महामनीषी एवं विचारक महात्मा को समय समय पर रोगाक्रान्त होना पड़ता रहता। सन् १९८१ में ५ अप्रैल से प्रारम्भ होने वाले नवरात्र में रासपचांध्यायी पर महाराज की कथा प्रवचन का आयोजन परेटमैदान कानुपर में श्रीरामलीला कमेटी' द्वारा किया गया था। महाराज पूर्णस्वस्थ थे परन्तु पांचवें दिन अर्थात् ९ अप्रैल १९८१ को नित्य की भाँति पूजनादि सम्पन्न कर लिया और सायंकाल ५ बजे भिक्षा करने के उपरांत सायं ६ से ८ बजे तक उक्त प्रवचन का कार्यक्रम था। साढ़े चार बजे महाराज ने पूजन आरम्भ किया। पटबन्द थे। पांच बजे के स्थान पर साढ़े चार बज गये परन्तु पूजनोपरान्त नित्य की भाँति महाराज द्वारा की जाने वालनी शंख-ध्वनि आज अभी क्यों नहीं हुई? देखने पर ब्रह्मचारी जी ने पाया कि महाराज तकिये सहारे लेटे-लेटे ठाकुर जी के पूजा-पात्र वस्त्र से पूछ रहे थे। ब्रह्मचारी को आया देखकर तुरन्त बोले 'वायुरोग का पुनः आक्रमण हो गया है, शिर व गर्दन में पीड़ा है, तुरन्त काशी ले चलो, सब कार्यक्रम रद्द कर दो।' कार द्वारा कानपुर से काशी चल पड़े तुरन्त। ब्रह्मचारी को निर्देशित किया कि 'मार्ग भर राम नाक संकीर्तन करते चलो उच्चस्वर से'- इस प्रकार रात्रि में एक बजे काशी पहुँचे। प्रातः ५ बजे काशी में उन्होंने समाधि लगा दी। नेत्र बन्द, मन में परब्रह्म का चिन्तन, निज स्वरूपानुसन्धाननिरत, बाह्यदृष्टि से अचेतन से अस्वस्थावस्था में २१ दिन तक इसी ब्रह्मावस्था में स्थित रहे। सम्पूर्ण देश मं अस्वस्थता का समाचार फैल गया। भक्त, ब्रह्मचारी, सन्यासी सभी चिन्तातुर होकर काशी पहुँचने लगे। सर्वत्र प्रार्थनाएँ एवं धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न होने लगे। चिकित्सा वैद्यराज पं. ब्रजमोहन दीक्षित जी की चल रही थी।-नेत्र खोलने पर बोले-'हमें भगवान् की कथा-वार्ता सुनाओ, उसी से हमें स्वास्थ्यलाभ होगा।' उन्होंने सम्पूर्ण वाह्य-व्यवहारों को समेट लिया। अपनी चित्त-वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके बहर्निश ब्रह्म-चिन्तन में संलग्न रहते। कभी नेत्र खोलकर कहते कि 'कीर्तन करो, रामायण सुनाओ, विष्णुसहस्त्रनाम का पाठ करो, चण्डी पाठ सुनाओ, श्रीमद्भागवत का पाठ करो' आदि-२। उनकी आज्ञानुसार प्रातःकाल से रात्रि तक विभिन्न धर्म ग्रन्थों की कथाएँ, पाठ आदि महाराज श्री को विभिन्न विद्वानों, महात्माओं द्वारा श्रवण कराया जा रहा था। भक्ति के प्रसंग आने पर उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता, नेत्रों से अजस्त्रगति से अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती। बीच बीच में पूछते कि 'ठाकुर जी का भोग कैसा लगा है, आरती, पूजा, अर्चा आदि ठीक ठीक हो रहा है न?' उन्होंने सम्पूर्ण लोक-व्यवहार से अपने को पृथक कर लिया। इस सबके दृष्टा बने निर्लेपभाव से इन सभी कृत्यों एवं धार्मिक गतिविधियों को निहारते रहते तथा बीच बीच में निर्देशन देते रहते। इस सम्पूर्ण काल में वे प्रायः भक्ति की उस उच्चावस्था में लीन रहते जिसका वर्णन शब्दों से हो ही नहीं सकता। भावविभोर होकर, गद्गद्कण्ठ

से अस्फुट नामोच्चारण करते, कभी शरीर में रोमांच हो आता, कभी स्वेद छलकने लगता, कीर्तन, भजन एवं भगवद्कथामृत पान करते करते प्रभु मिलन के लिये छटपटाने लगते, खूब जोर जोर से रोने लगते। बार-बार अपने ठाकुर जी का पूजन करने, संकीर्तन करने, आरती करने, भोग लगाने प्रसाद वितरण आदि के बारे में पूछते रहते-इस प्रकार भक्ति की अलौकिक आध्यात्मिक स्थिति में महाराज श्री सतत् निरत रहते हुए ब्रह्म-चिन्तन में लीन रहते। परन्तु 'धर्म', और 'ब्रह्म' के बारे मे कोई भी शंका करता तो पूर्ण सावधानीपूर्वक उसका शास्त्रीय समाधन तुरन्त करते, उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता कि महाराज पूर्णस्वस्थ है। परन्तु फिरवही अन्तर्मुखी स्थिति को प्राप्त हो जाते। इस प्रकार अपना नित्यकर्म, पाठ, पूजन, देवोपासन, योगासन आदि भी पूर्ववत कर रहे थे। एक दिन बोले 'अब मैं बाजार समेट रहा हूँ, चलने की तैयारी में हूँ, हमको जो कुछ करना था कर चुके।'-इस प्रकार अपने संकल्प का कई बार उन्होंने संकेत किया परन्तु भक्तगणों ने कभी भी यह नहीं समझा कि महाराज जी अपनी इहलोकलीला संवरण करने पर दृढ़प्रतिज्ञ हैं।

यद्यपि रुग्णावस्था के कारण शारीरिक रूप से आप दुर्बल हो गये थो परन्तु मानसिक दृष्टि से वे पूर्णतः स्वस्थ थे। इसी स्थिति में पुनः जोर शोर से भजन, पूजन, योगाभ्यास, प्रवचन, वेदभाष्य लेखन आदि के कार्य में लग गये। स्वामीजी ने जो कुछ किया, जो कुछ कहा तथा जो कुछ वे कहना चाहते थे उसे अनेकों ग्रन्थों में अक्षर ब्रह्म के रूप में लिपिबद्ध करके अपना कार्य सम्पन्न हुआ जान उन्होंने शरीर त्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया और प्रतिज्ञा की कि अब काशी से बाहर नहीं जायेंगे, प्रातः काल घूमने भी जाते तो भी तुलसी, शालग्राम, गंगाजल साथ रखते कि न जाने कब, कहाँ इस नश्वर शरीर को छोड़ना पड़ जाय। इसी बीच जगद्गुरूशङ्कराचार्य श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज ने कहा कि 'महाराज ऐसा संकल्प अभी न करें, अभ तो आपकी देश-धर्म को महती आवश्यकता है'-बोले 'बस अब हमें कुछ करना शेष नहीं है जो कुछ हमें करना था कर चुके, कहना था कह चुके, जो विचार थे उन्हें लिख चुके, तुम लोगों को जब कभी अपेक्षा हो तो इन ग्रन्थों से जान लेना; हमें तो अब जाना ही है'। इतना ही नहीं जो भी अचल सम्पत्ति धर्म कार्यों के संचालन हेतु लोक संग्रह के रूप में संगृहीत हो गयी थी- सबका विसर्जन कर दिया-निस्तारण कर दिया, ट्रस्ट बना दिया। अब उन्हें न प्रेस से लगाव था न विभिन्न भवनों से। सम्पूर्ण बाह्य-चेष्टाओं को अन्तर्मुखी करके प्रतिक्षण ब्रह्मचिन्तन में रत रहने लगे। अहर्निश कथाश्रवण, भगवन्नामसंकीर्तन, पूजन, अर्चनादि में रत रहने लगे-भगवच्चरितामृत पान करते करते प्रभु मिलन के लिये तड़प उठते, मचल जाते और भावविभोर होकर रुदन करने लगते। इस काल में उन्होंने सम्पूर्ण धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, गतिविधियों का हृदय से परित्याग कर दिया और प्रतिक्षण निजस्वरूप में स्थित रहते हुए ब्रह्मचिन्तन

में लीन रहने लगे। इस समय की उनकी अवस्था उच्च कोटि के परमहंसों के समान हो गयी थी सीधे सरल भोले निश्छल बालकों की तरह। निज शुद्ध, बुद्ध, मुक्त भावापन्न दशा में वह दिव्य विभूति इस नश्वर शरीर के त्यागने हेतु निश्चित तिथि की प्रतिज्ञा रत रही–इस समय पूजन, भजन, आराधना भी चलता रहा पर स्पष्टतः वे सर्वथा असंग हो गये थे, इच्छा, द्वेष, राग, मोह सभी कुछ का मन से परित्याग करके वे सहज स्वरूप में रहकर आत्मानन्द में विभोर रहने लगे।

इसी अवस्था में एक दिन निर्देशित किया कि 'उनके इस पार्थिव शरीर को केदार खण्ड क्षेत्र के अन्तर्गत केदारघाट स्थित श्री गंगामहारानी की पावन गोद में ही जल समाधि दी जाय, किसी भी दशा में उनका कोई भी पार्थिव अंश जल में बहकर भी केदार खण्ड क्षेत्र से बाहर न जाय। यदि ऐसा सम्भव न हो तो केदारखण्ड स्थित उनके वेदानुसन्धानसंस्थानभवन के प्रांगण में ही उनके शरीर को समाधिस्थ कर दिया जाय'। –इस प्रकार दृढ़धारणाओं को सुनकर भक्तों में चिन्ता व्याप्त हो गई। सर्वत्र अनुष्ठान बैठा दिये गये उनके दीर्घजीवन की मंगलकामना के संकल्प से। जगद्गुरुशङ्कराचार्य श्री स्वामी निरञ्जनदेवतीर्थ जी महाराज जब काशी पहुँचे तब अस्वस्थ से होते हुए भी साधारणतः ठीक थे आँख में पीड़ा थी। औषधि भी वैद्यराज श्री ब्रजमोहन दीक्षित जी की ही ले रहे थे परन्तु कोई लाभ विशेष नहीं हो रहा था क्योंकि उनका संकल्प ही कुछ अन्यथा था।

महाप्रयाग से तीन चार दिन पूर्व जब उनकी सेवा में स्वामी श्री जगन्नाथानन्द जी, श्री सर्वेश्वर ब्रह्मचारी एवं अलखनिरंजन ब्रह्मचारी प्रभृति केदार खण्ड के तीसरे खण्ड पर उपस्थित थे तो स्वामी जी बोले–'जो कुछ कार्य हमसे कराना चाहो सो अभी करालो'।–परन्तु उने संकेत को उस समय कोई नहीं समझा। महाराज श्री के नेत्र में पीड़ा थी, शिर दर्द या। एकादशी को उसी दशा में स्वयं पाठ कर रहे थे कि एकदम तीव्र पीड़ा हुई नेत्र में तो वहीं तखत पर लेट गये। बोले–'त्रिअक्षरी' मन्त्र (ॐ ऐं. ह्रीं. श्रीं.) का जाप करो। सर्वेश्वर ब्रह्मचारी ने जाप किया। फिर बोले थोड़ा सेक दो, रुई गर्म करके सेका गया। फिर अलख ब्रह्मचारी राजवैद्य ब्रजमोहन दीक्षित जी को बुलाने चले गये। श्री सर्वेश्वर ब्रह्मचारी दुर्गा सप्तशती का पाठ सुना रहे थे। इसी बीच श्रीअलख ब्रह्मचारी भी वापिस आये तो नेत्र चिकित्सक डॉक्टर की व्यवस्था की गई। डॉक्टर ने नेत्र में 'ग्लूकोमा' बताया और महाराज को नासिका में डालने की औषधि दी। महाराज ने तुरन्त यह कहकर मना कर दिया कि 'आज एकादशी है, निर्जलव्रत है, कहीं औषधि का अंश मुख में चला गया अन्दर ही अन्दर तो व्रत भंग हो जायगा' अतः औषधि नहीं डाली। फिर ऑपरेशन का प्रश्न आया तो ज्ञात हुआ कि वाराणसी के बड़े नेत्र चिकित्सक कहीं बाहर गये हुए है, मंगलवार को वापिस आयेंगे अतः उनके आने तक आपरेशन स्थगति रखा गया। एक बार महाराज बोले 'जब हमारी ही चिकित्सा

की समय पर समुचित व्यवस्था नहीं हो पायी तब फिर इस देश के गरीब लोग तो बेचारे इसी तरह उपचार के अभाव में मर ही जाते होंगे?-

इस रुग्णावस्था में भी महाराज श्री पूर्ववत् पूजन, भजन, अर्चन नित्य की भांति करते रहे। सर्वेश्वर ब्रह्मचारी से अकस्मात महाराज ने पूछा कि पाठ अपने लिये करते हो कि हमारे लिये सर्वेश्वर ने निवेदन किया 'महाराज आजकल तो जो कुछ भी करता हूँ सब आपको ही समर्पित है, आपके शीघ्र स्वास्थ्यलाभ्ज्ञ के संकल्प से ही करता हूँ।'

इसी मध्य उन्होंने अपने प्रिय शिष्य मार्कण्डेय, ब्रह्मचारी जी को बुलाकर कहा कि 'जो भी कार्य हमारा अपूर्ण रह गया है उसे अब तुम पूरा करना।' जिस प्रकार सद्गृहस्थ पिता अपने पुत्र को दायित्व सौंपकर निश्चिन्त होकर प्रयाण करता है उसी प्रकार सन्यासी अपने शिष्य को अधूरे कार्यों को पूरा करने का निर्देश देकर इस लोक से प्रयाण करते हैं।-इस कर्म को 'सम्पत्ति-कर्म' की संज्ञा दी गई है। नि:सन्देह रूप से महाराज श्री ने सम्पत्ति कर्म करने के लिये पूज्य श्री मार्कण्डेय जी ब्रह्मचारी को आदेशित किया। महाराज श्री ने यह भी निर्देशित किया कि 'जब इस शरीर का अन्तिम समय उपस्थित हो तब हमारे ठाकुरजी हमारे वक्ष पर पधरा देना, गङ्गाजल, तुलसीदास मुख में डाल देता।' उनके द्वारा दिये गये उक्त निर्देशों को सुनकर सर्वत्र चिन्ता व्याप्त हो गई। सभी सन्त, महात्मा, सद्गृहस्थ, भक्त आदि काशी पहुँच्ने लगे। पुरी के जगद्गुरू शंकराचार्य श्री स्वामी निरञ्जन देवतीर्थजी महाराज जब माघ शुक्ला द्वादशी संवत् २०३८ (५ फरवरी १९८२) को काशी पहुँचे तो धर्म सम्राट से कहने लगे कि 'उन्हें उरई जाना है धर्मयात्रा पर आज्ञा हो तो जों आये।' तुरन्त धर्म सम्राट बोले 'हाँ-हाँ अवश्य जाओ पर देखो सोमवार ८ फरवरी को काशी अवश्य लौट आना।' उनकी इस बात से भी यद्यपि स्पष्टत: यह प्रगट था कि उन्होंने ५ फरवरी से पूर्व ही शरीर त्यागन का संकल्प ले लिया है परन्तु प्रत्यक्षत: किसी ने उसे समझा नहीं और पुरी पीठाधपति अपनी धर्म यात्रा पर उरई चले गये।

एकादशी को ही श्री महाराज ने ब्रह्मचैतन्य ब्रह्मचारी से कहा कि 'चतुर्दशी आ रही है, रविवार का दिन है, प्रात: सवा नौ बजे नक्षत्र में सर्व सिद्धि योग है, सावधान रहना ब्रह्मा, हमें जाना है।' त्रयोदशी को महाराज स्वस्थ थे। चतुर्दशी को ब्रह्म चैतन्य ब्रह्मचारी पूजा के लिये प्रात: पुष्प लेकर आये, महाराज स्नान करने गये परन्तु यह क्या? आज बिना दण्ड कमण्डलु के क्यों? ऊपर कक्ष में अनेक व्यक्ति पाठ, पूजा सम्पन्न कर चुके थे? श्री स्वामी जगन्नाथानन्द सरस्वती भी उस समय कहीं अन्यत्र गये थे। सर्वेश्वर ब्रह्मचारी दुर्गा सप्तशती का पाठ सुना रहे थे। श्री अलख ब्रह्मचारी वैद्यजी को बुलाने गये थे। महाराज उस समय एकाकी थे। बस पुष्प लेकर आने वाले ब्रह्म चैतन्य ब्रह्मचारी उस क्षण वहाँ पहुँचे। महाराज बोले-'श्री जी की किवाड़ी बन्द कर

दो।' किवाड़ बन्द होने पर धर्म सम्राट स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने ब्रह्मलीन जगद्गुरू शंकराचार्य श्री स्वामी कृष्ण बोधाश्रम जी महाराज का स्मरण किया और कहने लगे 'वे हमारे अनन्य सहयोगी थे, उन्हें ब्रह्मलीन हुये एक अरसा हो गया, पुरी के शंकराचार्य परसों आये थे, उरई गये हैं, कल तक आ जायेंगे, तुम लोग उनका सम्मान करना।' फिर उपदेश देते हुए कहने लगे–'जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रयाण करने लगे तो उद्धव जी ने प्रार्थना की कि महाराज हमारा क्या होगा?' भगवान् ने उत्तर दिया था कि 'हम ज्ञान, वैराग्य का उपदेश दे चुके हैं, इसी में तुम्हारी यश, कीर्ति बढ़ेगी।' –फिर कुछ रूककर ठेठ बनारसी बोली में महाराज ब्रह्म–चैतन्य ब्रह्मचारी से बोले– 'ताना देल्ली बाना देल्ली जन्तर देल्ली मन्तर देल्ली–हमारा शुभाशीर्वाद हइहै और तुम्हें क्या चाहिए? बोलो!' इसके बाद महाराज श्री ने श्रीसूक्त के सोलह मन्त्रों का जोर से पाठ किया। ऊपर जो श्री विद्या का चित्र (यंत्र) लगा था उस पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर ली, त्राटक लगा दिया। सर्वेश्वर ब्रह्मचारी को ब्रह्मचैतन्य ने पुकारा तथा गङ्गाजल, तुलसीदास, महाराज के मुख में डाला उन्होंने पूर्ण सावधानी के साथ उसे ग्रहण कर लिया। फिर उनके लिये निर्देशानुसार उनके ठाकुर जी व तुलसी जी को उनके वक्षस्थल पर पधरा दिया। और बस अब ७ फरवरी १९८१ रविवार चतुर्दशी का वह पुण्य नक्षत्र आ गया प्रातः ९ बजकर १७ मिनट पर जब उस देवपुरूष ने तीन बार 'शिव, शिव, शिव' का उच्चारण कर इहलीला संवरण कर ली। धर्म का वह प्रचण्ड जाज्वल्यमान मार्तण्ड अस्त हो गया। तत्काल स्वामी श्री भाकरानन्दजी, ब्रह्मचारी गङ्गचेतनजी, ब्रह्मचारी सर्वेश्वर जी, श्री गोयनका जी, श्री गोविनछ पण्डित आदि लोगों ने महाराज के पार्थिव शरीर को पद्मासन की मुद्रा में आसीन कर दिया। कानपुर दूरभाष करके उरई में स्थित दोनों शङ्कराचार्यों पुरी पीठाधीश्वर एवं ज्योतिष्पीठाधीश्वर महाराज को श्री कैलाश द्विवेदी द्वारा सूचित किया गया। अर्द्धकुम्भ मेले प्रयोग में फोन करके धर्म संघ पण्डाल में पूज्य स्वामी श्री नन्द नन्दनानन्द सरस्वतीजी, श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती (वेदान्ती स्वामी जी) महाराज आदि को सूचित कर दिया गया। मेरठ भी लाइटनिंग कॉल भेज कर सूचना दी गयी। तत्काल ही स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती, श्री स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती, श्री वैद्य पं. श्याम सुन्दर वाजपेयी, पं प्रेम नाथ शर्मा, पं. काली चरण पौराणिक आदि मेरठ से काशी पहुँच गये। सभी भक्तगण, महात्मागण काशी पहुँच गये मार्तण्ड के अन्तिम दर्शन के लिये।

दिव्य भौतिक-देह गङ्गा की गोद में–

धर्म सम्राट कहा करते थे–

'ब्राह्मण्स्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छाय तपसे चेह प्रेत्यानन्त सुखाय च।।'

सुख से सुख नहीं मिलता। विशेषतः ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र काम के लिये

नहीं अपितु घोर तपस्या और कष्ट सहन के लिये ही होता है।' –इसी विचारधारा को उन्होंने इस सुखोपभोग में अहर्निश डूबे समाज में सिद्धान्त का रूप देने का भीष्म प्रयास किया। अनेक शास्त्रीय अनुष्ठानों का, परिब्राजक–सन्यासी हेते हुए भी स्वयं अनुष्ठान कर घोर साधना एवं तपस्यारत रहकर क्षुद्र मानव देह को भी दिव्य–देह में परिवर्तित कर दिया। आप कहा करते थे कि 'तप में भी अनशन की बड़ी महिमा है– 'तपोनानशनात् परम'– अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं है। स्वामीजी ने एक दो वर्ष तक नहीं तीस–चालीस वर्षों तक अन्न–ग्रहण नहीं किया, मीठा नहीं खाया, नमक का सर्वथा परित्याग कर दिया। निर्जल एकादशी व्रत से लेकर बारह दिवसीय पराक्–व्रत एवं कृच्छ–चांद्रायण व्रतों तक का अनुष्ठान किया। महामानव मनु महाराज की इस उक्ति को–'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनुः' –उन्होंने चरितार्थ कर दिखाया कि यज्ञों के द्वारा, महायज्ञों के द्वारा साधक की देह ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनती है। अपने जीवन–काल में स्वामी जी ने छोटे बड़े शताधिक यज्ञों–महायज्ञों के अनुष्ठान पूर्ण वैदिक विधि विधानपूर्वक सम्पन्न कराये। इन सभी यज्ञों में उनको कोई व्यक्तिगत लाभ अभीष्ट, नहीं था अपितु 'धर्मग्लान्यधर्मभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्वक धर्म संस्थापनार्थ' एवं विश्व कल्याणकामना से ही उन्होंन इन्हें सम्पन्न कराया। पवित्र ब्राह्मण–कुलोत्पन्न इस वैदिक–ऋषि ने अपने त्रूाग तपस्या अनुष्ठानादि से यह सिद्ध कर दिया कि– 'ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह। विद्यया तपसातुष्ट्या किमुमतकलया युतः।'

(समस्त प्राणियों में ब्राह्मण जन्म से ही श्रेष्ठ है, फिर विद्या, तपस्या, सन्तोषरूपमेरी (भगवान की) कलाओं से युक्त ब्राह्मण के विषय में तो कहना ही क्या है?)।

स्वामी जी अपने प्रवचनों में ऋग्वेद के इस मन्त्र का विशेष उल्लेख किया करते थे–'अतप्ततनुर्नतदासोश्नुते दिवम्' इसका विवेचन करते हुए वे कहा करते थे कि 'यद्यपि भिन्न–भिन्न महानुभावों ने इस मन्त्र की अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की हैं परन्तु हमारी दृष्टि में इसका अर्थ्ज्ञ यह है कि भगवद्विरहजन्य तीव्रताप से जो तनु तप्त नही हुआ है, भगवान के वियोग का जिसको सन्ताप नहीं है–वह अतप्ततनु है, कच्चा है, उसे भवद्प्रेममतत्व का अनुभव नहीं हो सकता'। स्वामी जी ने अपने मन, हृदय, अन्तरात्मा के साथ साथ इस लौकिक पाँच भौतिक–क्षणभंगुर शरीर को भी भगवद्विरहजन्य तीव्रताप से खूब तपा लिया था। उनका वही दिव्य तप्ततनु आज विश्वनाथ बाबा की नगरी काशी में लाखों नर–नारियों के देखते–देखते साक्षात् ब्रह्मद्रवरूपी गंगाजल में समाधिस्थ होने जा रहा था। अपार जनसमूह उस पवित्र देह के अन्तिम दर्शन कर नेत्र लाभा कर रहा था।

गंगातट स्थित केदारखण्ड में उन महापुरुष का वह अलौकिक दिव्यदेह पद्मासन मुद्रा में भक्तों के दर्शनाथ रखा गया था। परन्तु बनारस की गली में स्थित उक्त स्थान अपार जनसमूह को अपने में समा पाने में समर्थ नहीं था अतः एक भव्य

पुष्पसज्जित मंच पर महाराज श्री के पवित्र देह को समाधि की मुद्रा में टाऊनहाल के खुले में ८ फरवरी को प्रातः आठ बजे जनता के दर्शनों के लिये समासीन कर दिया गया। केदारघाट से सफेद कार में दो शंङ्कराचार्यो के बीच पार्थिव शरीर को लाने वाला कार चालक टाऊन हाल पहुँचते ही फूट-फूट कर रो पड़ा। कार से सुसज्जित मंच तक इस ब्रह्मरूप पार्थिवदेह को स्वामी जी के शिष्यगणों ने अपने कन्धों पर ले जाकर मंच पर पधराया। 'हर हर महादेव शम्भो काशी विश्वनाथ गंगे' के पावन उद्घोष सर्वत्र गूंज रहे थे। भजन, कीर्तन, पाठ आदि चहुँ ओर चल रहे थे। बीच बीच में स्वामी जी द्वारा राष्ट्र को दिये गये पावन जयकारे लगाये जा रहे थे-'धर्म की जय हो', 'अधर्म का नाश हो', 'प्राणियों में सद्भावना हो', 'विश्व का कल्याण हो', 'गोमाता की जय हो', 'गो हत्या बन्द हो', 'पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी की जय हो', -हर हर महादेव'। राष्ट्र भर से आबाल वृद्ध नरनारी अपने धर्म सम्राट की दिव्य देह के अन्तिम दर्शन के लिये उमड़े पड़ रहे थे। टाऊन हाल में मंच पर दर्शन लाभ के पश्चात् श्रद्धाञ्जलियों का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। सभी धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, व्यापारिक, नागरिक संस्थाओं संगठनों के प्रतिनिधियों, बाहर से पधारे धर्मगुरुओं, साधुसंतों एवं वाराणसी के प्रशासनिक अधिकारियों ने श्रद्धाञ्जलियाँ एवं पुष्पमालाएँ समर्पित कीं।

सर्व प्रथम गोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री स्वामी निरञ्जनदेवतीर्थजी महाराज एवं ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरुशङ्कराचार्य श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज ने धर्म सम्राट को पुष्पांजलियाँ समर्पित की तदनन्तर श्रद्धाञ्जलियों पुष्पाञ्जलियों का तांता लग गया। कुछ प्रमुख महानुभावों में थे सन्मार्ग के सम्पादक श्री स्वामी नन्दनन्दनानन्द सरस्वती जी महाराज, संकटमोचन मन्दिर के महन्त पं. वीरभद्र मिश्र, परमहंसीगंगा आश्रम की ओर से पं. राजेन्द्रप्रसाद शास्त्री, कविराज वैद्य ब्रजमोहन दीक्षित, समाजवादी नेता श्री राजनारायण, भूतपूर्व मन्त्री श्री राजबली तिवारी, भू.पू. विधायक श्री शतरुद्रप्रकाश, सम्पूर्णानन्दविश्विद्यालय के भू. पू. वाइस चांसलर आचार्य श्री बद्रीनाथ शुक्ल, जहाजरानी बोर्ड के अध्यक्ष डा. रघुनाथ सिंह, कल्याण गीता प्रेस की ओर से श्री राधेश्याम खेमका, श्री प्रभुनारायण सिंह, श्री विश्वनाथ वसिष्ठ, काशी व्यापारमण्डल के श्री राजकृष्णदास, रोटरी क्लब के अध्यक्ष श्री शशिकान्त दीक्षित 'गाण्डोव' दैनिक के रमेशदत्तदूबे, पं. लक्ष्मीकान्त रामाचार्य, महर्षि पायलट बाबा, संसद सदस्य श्री सुधाकर पाण्डेय, श्री जगजीवनराम की ओर से श्रीघनश्याम मिश्र, श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, कांग्रेस की ओर से डा. वेदप्रकाश मिश्र, धीरेन्द्र नाथ राय, भू. पृ. सांसद श्री चन्द्रशेखर सिंह, श्याममोहन अग्रवाल, विजय कुमार अग्रवाल, बालकृष्ण कपूरिया, महेश प्रसाद यादव, सन्मार्ग के श्री हरिशंकर पाण्डेय, जनवार्ता के श्री ईश्वरदेव मिश्र, दैनिक जागरण के श्री लक्ष्मी शङ्कर सण्ड, जयदेश के सम्पादक आनन्द

बहादुर सिंह, रामराज्य परिषद की श्रीमती रत्नादेवी, इंका नेता श्री सागर सिंह, अयोध्या के सुप्रसिद्ध संत सीतारामशरणदास, मण्डलायुक्त श्री शैवाल कुमार मुखर्जी, पुलिस उपमहा-निरीक्षक श्री बलबीर सिंह वेदी, नगरमहापालिका प्रशासक श्रीदेवीलाल, वरिष्ठ पुलिस अधिक्षक, श्री त्रिनाथ मिश्र, विकास प्राधिकरण के सचिव श्री जे. एन. द्विवेदी, श्री रमेन्द्र त्रिपाठी नगर पुलिस अधीक्षक श्री सी. डी. शर्मा नगराधिकारी वाराणसी..... आदि।

शिक्षण संस्थाओं में तो कोई ऐसी संस्था ही नहीं रही जिसने काशी की इस महानविभूति एवं पाण्डित्य के सर्वोच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित सरस्वती के वरदपुत्र को अपने श्रद्धा के सुमन अर्पित न किये हों। वल्लभराम शालिग्राम सांगवेद विद्यालय, आदर्श संस्कृत महविद्यालय, गोस्वामी तुलसीदास संस्कृत महाविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, धर्मसंघ शिक्षामण्डल आदि सहित काशी के समस्त संस्कृत विद्यालयों की ओर से पुष्पाञ्जलियाँ अर्पित की गयी।

इनके अतिरिक्त स्वामी जी के तीर्थ पुरोहित सभा मंच, द्रविड़ पुरोहित संस्था, नूतनबालक गणेशोत्सव, समाजसेवा मण्डल, संकटमोच कमेटी, औरेया गान्धी आश्रम सर्वोदय मण्डल, हनुमानप्रसाद पोद्दार, अन्ध विद्यालय, धर्मसंघ, धर्मसंघ शिक्षा मण्डल, रामराज्यपरिषद, काशी सेवा समिति, अश्रपूर्णा मन्दिर, काशी विश्वनाथ मन्दिर, काशी पत्रकार संघ आदि अनेकों संस्थाओं की ओर से इन पुनीत आत्मा के प्रति हार्दिक एवं भावभीनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गयीं।

मैदागिन टाऊनहाल के विशाल प्रांगण में एक ऊँचे सुसज्जित मंच पर समाधि मुद्रा में बैठे स्वामी जी के पार्थिव शरीर को पुष्पाञ्जलियाँ समर्पित की जा रही थीं उस समय लाखों की संख्या में जन समूह उमड़ा पड़ रहा था। धर्म की जय एवं धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी की जय के निनाद से वातावरण निनादित हो उठता था। मंच के पार्श्व में ब्राह्मणों द्वारा वैदिकमन्त्रोच्चार हो रहा था। श्रद्धालु भक्त जन भावविभोर होकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से भावाञ्जलियाँ समर्पित कर रहे थे। काशी का सारा वातावरण उस राममय सिद्ध सन्त के ब्रह्मीभूत होने से उस समय ब्रह्ममय हो रहा था, राममय हो रहा था-इस प्रकार ग्यारह बज गये वर्तमान युग की इस महानविभूति की दिव्यदेह के अन्तिम दर्शन करने के लिये सम्पूर्ण भारत वर्ष से नर-नारी काशी पहुँच रहे थे। इस प्रकार देश भर के वैदिक विद्वानों, साहित्यकारों, पत्रकारों, बुद्धिजीवियों, धर्माचार्यो, विभिन्न संगठनों, समाजसेवियों, शिक्षासंस्थाओं, राजनैतिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने वर्तमान युग के धर्म सम्राट की उपाधि से विभूषित होने वाले त्याग-तपस्या की साक्षात् मूर्ति के दिव्य पार्थिव शरीर पर पुष्पाञ्जलियाँ अर्पित की, श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की। उधर टाऊन हाल में यह कार्यक्रम चलते चलते तीन घण्टे हो गये, लोगों का तांता लगा था। सम्पूर्ण काशी नगरी शोकाकुल थी। अनेक वयोवृद्ध लोगों ने बताया कि

ऐसा शोकाकुल उत्साह एवं श्रद्धासिक्तवातावरण वाराणसी के इतिहास में नया था, अभूतपूर्व था, अनुपम थाा, अनोखा था।

दिनांक नौ फरवरी सन् १९८२ ई. को प्रातः ग्यारह बजे काशी की ही नहीं अपितु विश्व की उस महान विभूति के दिव्य शरीर की शोभायात्रा टाउनहाल से प्रारम्भ हुई तो धर्मसम्राट, स्वामी करपात्री जी महाराज के जय जयकार से दिगदिगन्त गूंज उठा। उनके उस पावन देह को एक सजी सजायी शिविका पर जिसे ट्रक पर सजाया गया था, पधरा दिया गया, प्रतिष्ठापित कर दिया गया। सबसे अग्रिम पंक्ति में पुलिस की गाड़ियाँ चल रहीं थी, पुलिस बैण्ड रामधुन बजा रहा था, घुड़सवार पुलिस सम्मान प्रदर्शित करते हुए धीरे-धीरे चल रहे थे। उसके पीछे धर्मपथगामिनी जीप, दण्डी स्वामियों का विद्वानों का समूह रामधुन गान करते हुये चल रहा था सुसज्जित सिंहासन पर महाराज के श्रीविग्रह के पास पुरीपीठ एवं ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरुशङ्कराचार्य स्वयं बैठे थे। अन्य प्रमुख महानुभाषों में थे पूज्य श्री स्वामी नन्द नन्दनानन्द सरस्वती, नैमिषारण्य के स्वामी श्री नारदानन्द जी, स्वामी श्री जगन्नाथानन्द जी सरस्वती, श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती वेदान्तीजी, श्री ब्रह्मचारी अलख निरञ्जन प्रभृति भी सज्जित ट्रक पर ही बैठे हुए थे। चँवर ढुला रहे थे। ट्रक पर वह दिव्य शरीर पीठासीन समाधि मुद्रा में विराज रहा था। उनके तेजस्वी मुखमण्डल पर सदा की भांति शान्ति विराज रही थी। वही केशर-मिश्रित चन्दन चर्चित त्रिपुण्ड के मध्य कुंकुम बिन्दु शोभित थी। बस अन्तर यही था कि उनके वह करुणरस से परिपूर्ण, दिव्य-भव्य विशालनेत्र आज बन्द थे। वाराणसी भर में आज अन्यत्र पूजनादि के लिए पुष्पमालाएँ शेष शायद ही बची होगी। अपार जनपारावार उमड़ रहा था। स्थान-स्थान पर रोक-रोक कर काशी की अनेक संस्थाओं की ओर से उनके प्रधान महन्त एवं विशिष्ट नेतागण पुष्पमालाएँ, रुद्राक्षमालाएँ अर्पित कर रहे थे, आरती उतार रहे थे। कोई दुकान, गवाक्ष, छत, बरामदा, छज्जा, अटारी ऐसी नहीं दिखाई पड़ती थी जहां पर भक्त आबाल वृद्ध नर-नारी खड़े होकर महात्मा के अन्तिम दर्शन कर पुष्पमालाएँ चढ़ाकर पुष्पों की वृष्टि कर जय जयकार न कर रहे हो। महिलाएँ स्थान स्थान पर सामूहिक रूप में भजन गा रही थी अट्टालिकाओं से जिस समय पुष्पों की वर्षा होती थी उस समय धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो, पूज्य स्वाजी श्री करपात्री जी महाराज अमर रहें, गो हत्या बन्द हो, हर हर महादेव के नारों की तुमुलध्वनि से वातावरण गूंज उठता था। इतनी भीड़ थी कि मैदागिन से चौक तक जाते जाते ही एक घण्टा से भी अधिक समय लग गया। इस अपार जन समूह से युक्त इस महायात्रा में, साधु-सन्यासी, विद्वान नेता, श्रमिक, व्यवसायी, पत्रकार, साहित्यकार, शिक्षक, विद्यार्थी, महिलाएँ समान रूप से सम्मिलित होकर जय जयकार करते हुए चल रहे थे। ढोल मंजीरे बजाते हुए संकीर्तन कर रहे थे। सम्पूर्ण मार्ग भर पुष्प वर्षा के

साथ-साथ पैसों की, सिक्कों की, नये नोटों की वर्षा की गयी। इस प्रकार महाराज श्री के पार्थिव शरीर की यह महायात्रा मैदागिन, बुलानाला, नीचीबाग, बांसफाटक, गोदोलिया होता हुआ दशाश्वमेघघाट की ओर मन्थर गति से बढ़ रही थी। अन्नपूर्णा मन्दिर के महन्त श्री त्रिभुवनपुरी एवं सुभाषपुरीजी ने वांसफाटक पर स्वामी जी का पूजन अर्चन किया चादर चढ़ाई। महाराज शिष्य के विद्वान शिष्य जज स्वामी श्री विपिन चन्द्रानन्द सरस्वती जी ने भी यहाँ महाराज को माल्यार्पण किया और महायात्रा में सम्मिलित हुए। अखाड़े, की ओर से राजा भैय्या एवं श्री शिवप्रसाद ने माला पहनाई। इस प्रकार तीन किलोमीटर का मार्ग लगभग तीन घण्टों में तय करके महायात्रा जैसे ही दशाश्वमेघ घाट पहुँचा, सुगन्धित पुष्पमालाओं से आच्छादित महाराज श्री के उस पावन देह को ट्रक की शिबिका से उतार कर पहले सही सजे सजाये बजड़े पर पधरा दिया गया। बजड़े को मीटर बोट से बांधकर केदार-घाट ले जाया गया हजारों की संख्या में लोग दशाश्व मेघघाट से केदारघाट तक की अन्तिम महायात्रा में सम्मिलित होनेके लिये सैंकड़ों नावों बजड़ों आदि में घण्टों पूर्व से ही बैठे हुए प्रतीक्षारत थे। जिससे जैसे भी बना इस महामानव के महाप्रयाण में सम्मिलित होने के लिये अब सैकड़ों नावों, बजड़ों आदि पर आरुढ़ होकर जय जयकार कर रहा था। काशी-वाराणसी की पतित पावनी माँ गंगा का वह विस्तृत फैलाव, केदारघाट से रामनगर के दुर्ग तक मीलों लम्बा गंगा का वह फाट और उस पर यह रंग-बिरंगे बजड़े जिन पर भगवन्नाम संकीर्तन, एवं धर्मसंघ के जय जयकार गूंज रहे थे-विश्वनाथ की इस पावन नगरी काशी को एक अद्‌भुत गरिमा प्रदान करती हुयी यह अन्तिम यात्रा बजड़ों पर शनैः शनै सरकती डा. राजेन्द्र प्रसाद घाट दशाश्वमेघ घाट होती हुयी जैसी ही शीतलाघाट पहुँची-वहाँ एकदम रूक गयी। शीतला मन्दिर के घण्टे, शंख, नगाड़े आदि बज उठे अपने अभिनवशङ्कर के अन्तिम स्वागत में। चहुँ ओर भक्तों की अपार भीड़ फूल बरसाती जय जयकार करती दिखाई पड़ रही थी। कलकत्ता, दिल्ली, जयपुर, बम्बई, मेरठ आदि स्थानों से स्वामी जी के अनेक भक्तगण वायुयान द्वारा पधारे, कार द्वारा अथवा रेल द्वारा पधारे, जिसे जहाँ स्थान मिल सका वहीं रुक गया। काशी बन्द थी, बाजार बन्द थे, सिनेमा बन्द थे, विद्यालय बन्द थे, मुसलमानों तक की दूकानें बन्द थीं-विचित्र सा वातावरण हो गया था उस दिन विश्वनाथ की इस त्रैलोक्यपावन नगरी काशी का। उस समय शोकाकुल-समुदाय, धर्मभावनाओं से ओत-प्रोत था, श्रद्धासमन्वित होकर जैसे भी बन पड़ता अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति कर श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा था। अन्तिम दर्शन लाभ कर अभिनव शङ्कर के उस पावन दिव्य यज्ञ-पूत दिव्य-देह की झांकी को हृदय में बसाने के लिये उतावला हो रहा था जिसकी समानता में दूसरा व्यक्तित्व शताब्दियों से दृष्टि में नहीं आ रहा था। वह पावन देह अब जा रही थी सदा सदा के लिये ओझल होने के

लिये। सब लोग चल रहे थे, चलना चाह रहे थे, उड़कर जाना चाह रहे थे उनके निकट दर्शन के लिये परन्तु स्तब्ध थे, विवश थे, असहाय थे, कारण बीच में अपार जलराशि, असंख्य नाव-बजड़े, अनन्त जनसमूह बाधक जो बन रहे थे; व्यवधान डाल रहे थे। जो जहाँ था वहीं से उसने अपनी मनोभावनाओं को दृष्टि के माध्यम से गंगा के मध्य में अवस्थित विशाल सुसज्जित बजड़े पर प्रतिष्ठित धर्मसम्राट पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी के उस पवित्र शरीर पर केन्द्रित कर रक्खा था मानों यन्त्रजटित से होकर स्वयं जड़ता को प्राप्त हो गये हों। भक्तों की इस भावावस्था में जब गगनभेदी-धर्म के जय जयकार गूंजते, हर हर महादेव शम्भो, काशी विश्वनाथ गंगे की पावन ध्वनि श्रवणेन्द्रिय से जाकर टकराती-तब सम्पूर्ण मानव समाज में एक हलचल सी मच जाती। शब्दों में उस अलौकिक, अद्‌भुत करुणरससिक्त, शोकपूर्ण परन्तु आध्यात्मिक विचित्र वातावरण को प्रगट करने, बाँधने की सामर्थ्य नहीं है, जिन्होंने स्वयं उस वातावरण में निमग्न रहकर अवभृथ स्नान किया है वे ही महाभाग उसकी अनुभूति कर सकते हैं। युगपुरुष, राष्ट्रपुरुष, रामराज्य दर्शन का सशक्त प्रस्तोता महान नीतिविशारद, यज्ञपुरुष, वेदपुरुष, धर्मात्मा, महात्मा आधुनिक भौतिकवाद में आकण्ठ निमग्न वर्तमान धर्मविहीन उच्छृङ्खलसमाज में त्याग, तपस्या, तितिक्षा का मानबिन्दु-'करपात्री', अखण्डराष्ट्र, गोरक्षा, शास्त्रीय संविधान, वैदिक मर्यादा रक्षण हेतु आजीवन संघर्षशील, कर्मठ-सन्यासी कारक पुरुष जेलयात्री, महानदार्शनिक, परमज्ञानी, उद्‌भट्‌विद्वान, परमशैव, परमवैष्णव, परमशाक्त, राम ही थे इष्टदेव जिनके, श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द श्यामसुन्दर मदनमोहन एवं वृषभानु नन्दिनी राधारानी के लीला निकुंज में वर्षों तक स्वयं निवास कर श्रीमद्‌भागवत के हृदयरूपी रासपंचाध्यायी में अवगाहन करने वाले परमभक्त स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती जी महाराज का पार्थिव शरीर आज माँ गंगा की गोद में प्रविलीन होने हा रहा है, सबके देखते-देखते यह अलौकिक दिव्य देह उनके संकल्पानुसार केदारखण्ड में सदा-सदा के लिये समा जाने के लिये जब गंगा की अगमजलधारा के मध्य केदारघाट पहुंचा तो अपनी पारम्परिक वेशभूषा में काशी के डोमराजा श्री कैलाश भी अपने बजड़े पर उपस्थित हुए और अपने बजड़े को आगे निकालकर उसमें बिछी कुर्सी पर बैठे श्वेतवस्त्रधारी डोमराज ने आकर याचना की कि 'महाराज हमें यहाँ का कर दीजियेगा।' नियमानुसार एवं परम्परानुसार मृतक की वस्तुओं को निकाल लिया जाता है जो हमारा होता है, परन्तु यह महात्मा कोई साधारण विभूति नहीं थे अत: मैं उक्त नियम तोड़ते हुए याचना करता हूँ कि महाराज की कोई भी वस्तु कर के रूप में हमें प्रदान की जाय।' पुरी पीठाधीश्वर महाराज ने धर्मसम्राट के दैनिक प्रयोग में आने वाली अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएँ, सिंहासन, वस्त्र, कालीन आदि कर के रूप में डोमराजा को दिलवायीं। तब बजड़ा आगे बढ़ा।

इस सम्पूर्ण महायात्रा का संचालन पं. बटुकनाथ शर्मा ने किया। महाराज श्री की इच्छा थी कि 'उनका नश्वर शरीर केदारखण्ड में ही छूटे और उनके पंच भौतिक शरीर को केदारघाट पर ही जल समाधि दी जाय' उन्होंने यह भी निर्दिष्ट किया था कि–'किसी भी प्रकार उनके शरीर का कोई भी अवयव बहकर भी केदारघाट (केदारखण्ड) से बाहर न जाने पाये; यदि यह सम्भव न हो तो उनके शरीर को केदारखण्ड स्थित रामकृपेश्वर मन्दिर के प्रांगण में भूमि में समाधिस्थ कर दिया जाय'–उनकी इस अन्तिम इच्छा की पूर्ति का वह अवसर अब उपस्थित था। केदारघाट पहुँचने पर स्वामीजी की देह के समीप बैठे हुए भक्तों और शिष्यों में विचार विमर्श हुआ, मन्त्रणा की गयी और तत्पश्चात् पुरी पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थ ने घोषणा की कि–'मुझे सभी लोगों ने सर्वसम्मति से श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज का अन्तिम संस्कार करने के लिये अधिकृत घोषित किया है। अतः मैं स्नान कर क्रियाकर्म करने जा रहा हूँ।'–इस घोषणा के बाद जगद्गुरुजी ने गङ्गा में स्नान किया। फिर आचार्य पं. जोषणराम अग्निहोत्रीजी द्वारा षोडषोपचार पूजन कराया गया। सर्व प्रथम स्वामी करपात्री जी महाराज की उस परम पवित्र दिव्य पार्थिव देह की गङ्गाजल से स्नान कराया गया इसके बाद क्रमशः नियमानुसार दुग्ध, दधि, घृत, शहद एवं शर्करा स्नान कराया गया पुनः शुद्धोदक स्नानोपरान्त नये वस्त्र धारण कराये गये। दिव्य गन्धानुपेलन किया गया। मस्तक पर वही कुंकुम विन्दु से युक्तत्रिपुण्ड शोभित हो रहा था। गले में स्फटिक की मालाएँ पड़ी थीं, रुद्राक्ष की मालाएँ झूल रही थीं, तुलसी की मालाएँ सुशोभित हो रही थीं। बाहु में उनका वही आराधित स्वर्णमण्डित नवरत्नयुक्त अनन्त शोभायमान था। वास्तव में उन दिव्यात्मा का वह दिव्य शरीर आज बड़ा ही शोभायुक्त लग रहा था, एक विलक्षण आभा–प्रभा–कांति से सम्पन्न दीख रहा था। उस भौतिक, लौकिक, मायिक प्राकृत शरीर में अभौतिकता, अलौकिकता, अमायिकता एवं अप्राकृतता स्पष्टतः दृष्टिगत थी। अपार जनसमूह इस पावन देह के दर्शन कर उस स्वरूप को हृदय में समा रहे थे, चित्रकार कैमरे में उतार रहे थे। असंख्य जन समूह के हृदयों की धड़कन बढ़ती जा रही थी, श्वास–प्रश्वास दीर्घ हो रहे थे, शरीर रोमांचित हो रहे थे, हाथ जुड़ रहे थे। अब वह अवसर आया जब परम्परानुसार शङ्ख से कपालछेदन करना था। परन्तु स्वामी निरञ्जन देव तीर्थजी ने कहा कि–'मैं स्वामीजी जैसे महान सन्त के कपाल में छेदन नहीं कर सकता और यह कहते–कहते वे विलख पड़े। उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। बस उन्होंने पवित्र गङ्गाजल से भरे शङ्ख को स्वामीजी के कपाल से स्पर्श कराके ही कपाल क्रिया सम्पन्न की। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो उस समय भावविह्वल हाकर गलश्रुधार न हुआ हो। स्वामीजी के पार्थिव शरीर को षोडशोपचार पूजन के अनन्तर पत्थर के बने एक अत्यन्त सुदृढ़ समाधिपात्र में रख दिया गया। पूजन में नित्य प्रयुक्त होने वाली मालाएँ आदि यथावत स्वामीजी ने धारण कर रखी थीं। इन अमूल्य वस्तुओं को स्मृति के रूप में सुरक्षित रखने के किसी भक्त के प्रस्ताव पर पूज्य जगद्गुरुजी ने स्पष्टतः एवं दृढ़ शब्दों में उन्हें उतारने से मना कर दिया और लोहे के

मजबूत तारों से चारों ओर से भली प्रकार जड़कर उन विशाल प्रस्तर समाधिपेटिका को बजड़े के कोने से केदारखण्ड क्षेत्र में बीसों फीट गहरी गङ्गा की अगम जलधारा के मध्य में समाधिस्थ करने के लिये जैसे ही संकल्प व्यक्त किया गया तो जो जन समूह स्तब्ध खड़ा था, दम रोके, सहसा बिलख पड़ा। कोई रो रहा था, कोई भजन गा रहा था। कोई जय-जयकार कर रहा था। वेद-मन्त्रोच्चार हो रहा था। रामधुन चल रही थी-इर हर महादेव के तुमुल जयघोष, स्वामी करपात्रीजी अमर रहे; 'सनातन धर्म की जय' 'काशी विश्वनाथ गंगे हर-हर महादेव शम्भो' आदि की ध्वनियों के मध्य जैसे ही अपराह्न के साढ़े तीन बजे पेटिका को पुण्य सलिला मां गङ्गा की गोद में उतारा गया कि अनेक दण्डी सन्यासीगण भी स्नान/आचमन हेतु गङ्गा में कूद पड़े। भक्त भावुओं की भाव समाधि लग गयी, अनेक भक्तगण बेहोश हो गये। उस समय एक महान आश्चर्य हुआ। सवेरे से ही तेज धूप निकली थी परन्तु अन्तिम प्रयाण की इस शोकाकुल बेला में भगवान भुवनभास्कर भी इस कारूणिक दृश्य को न देख सके और अकस्मात् मेघखण्डों के ऊपर जाकर छिप गये, ओझल हो गये। टनों भार की प्रस्तर पेटिका जल में विसर्जित होते ही अपार जलराशि पचासों फीट ऊँचाई तक उछलकर ब्रह्मविद्वरिष्ठ की ब्रह्मरूप दिव्य देह की गोद में लेने को मचल उठी। उछलते जल की ऊँचाई मानो मेघमण्डल को स्पर्श करने को आतर हो उठी हो। उधर भाव समाधि में लीन भक्तों ने देखा कि सूर्यमण्डल को भेदन करके वह दिव्यात्मा सीधे ब्रह्मलोक प्रयाण की ओर जैसे ही अग्रसर हुई कि ब्रह्मलोक की अनेक दिव्यात्माएँ अपने सूक्ष्म चिन्मय स्वरूप में मेघों की आड़ लेकर प्रसन्न मत होकर पंक्तिबद्ध खड़े हुये इस दिव्य महापुरुष का स्वागत कर रही थी। यहाँ के लौकिक वाद्ययन्त्र अपनी शोकधुन बजाकर शान्त हो चुके थे उधर ब्रह्मलोक में हर्ष की दुंदुभियाँ बज रही थीं इस प्रकार श्रावण शुक्ल द्वितीया, रविवारसम्वत् १९६४ को आर्विभूत होकर उन्होंने माघ पूर्णिमा, रविवार, सम्वत् २०३८ विक्रमी को रविवार के उसी पवित्र दिन जिस दिन वे आये थे, स्नान, ध्यान, पूजनादि से निवृत्त होकर प्रातःकाल की बेला में शुभ पुष्प नक्षत्र में इस शरीर का परित्याग कर दिया।

उनकी स्मृति को पत्रकार पन्नों पर उतार रहे थरे, चित्रकार कैमरों में बन्द कर रहे थे, पर्यटक जल समाधि की उस अपूर्व झाँकी को स्मृति पटल पर संजो रहे थे और भक्त भावुकगण उनके स्वरूप को, उनके उपदेश को उनके आदेश को हृदयङ्गम कर रहे थे। उसी की किंचिमात्र झलक यहाँ दर्शाने का प्रयास किया गया है। गङ्गा तट पर खड़े एक भक्त के मुख से प्रस्फुटित भगवान आद्य शङ्कराचार्य का यह श्लोक आज भी हमारे कानों में गूंज रहा है:-

मातः शाम्भवि शम्भुसङ्गमिलिते, मीलो निधायाञ्जलिं,
त्वत्तीरे वपुषोऽवसानसमये नारायणाङ्घ्रि द्वयम्।
सानन्दं स्मरतो भविष्यति मम प्राण प्रयाणोत्सवे,
भूयाद् भक्तिरविच्युता हरिहराद्वैतात्मिका शाश्वती।।

धर्मयुद्ध एवं जेल यात्रायें

वैदिक, शास्त्रीय, सनातन सिद्धान्तों के प्रति कितने निष्ठावान है वे; भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं गौ, मन्दिर मर्यादा संरक्षण के किस रूप में प्रबल एवं कट्टर पक्षधर है, पिछले पृष्ठों में इसका कुछ आभास पाठकों को अवश्य हुआ होगा। स्वामी करपात्री जी महाराजा जिस पुरातन शास्त्रीय एवं गुरु परम्परा से चली आ रही सनातन विचारधारा के पोषक हैं–वर्तमान समय के अधिकांश विचारक, नेता आदि का दृष्टिकोण उससे भिन्न रहा है। स्वामी जी का इन सभी विषयों में एक मौलिक चिन्तन एवं दृष्टिकोण है, जिसे वे किसी भी स्तर पर परिवर्तनीय नहीं मानते। समय की विपरित गति होने पर भी धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में रंचमात्र भी समझौता करना उन्हें अभीष्ट नहीं, जबकि, अनेक आधुनिक विचारक समयानुसार किसी भी सीमा तक जाकर परिवर्तन, परिवर्धन के पक्षधर है। ऐसी बात नहीं कि, स्वामी जी हठवादी है, अथवा, तर्क संगत बातों के लिए भी उनके यहाँ स्थान नहीं है। उनके समय जीवन–दर्शन से सुस्पष्ट है कि वे बड़े ही उदारचेता, समन्यवादी, मौलिक विचारक है, जो विपक्षियों के न्यायसंगत तर्कों का खुले मन से आदर करते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं। परन्तु, राजनीति, दर्शन एवं धर्म का जिस रूप में और जितनी व्यापक गहराई से स्वामी जी ने अध्ययन व मनन किया है; जितनी लगन, निष्ठा एवं तपस्या पूर्वक इनके सूक्ष्म सिद्धान्तों का साक्षात्कार किया है, उतने गहरे में उतरकर इन तत्वों को समझने एवं आत्मसात् करने के लिये अन्यों ने न परिश्रम किया है न प्रयास। सतही पुस्तक ज्ञान के आधार पर थोथे, आकर्षक, लुभावने, तर्काभास से अपनी बुद्धि का चातुर्य व चमत्कार दिखाकर सर्वसाधारण को विमोहित तो किया जा सकता है, परन्तु, सनातन शाश्वत सिद्धान्तों की शास्त्रीय व्याख्या उनके वश की बात नहीं। स्वामी जी आधुनिक विश्व के इन विचारकों, जननेताओं, महात्माओं एवं विद्वानों ने सर्वथा भिन्न दीखते हैं– यही कारण है कि जब भी उन्होंने कोई योजना प्रस्तुत की अथवा विचार दर्शन रखा, उसे अपेक्षित समर्थन नहीं मिला। उन्होंने भारतीय अर्थ–व्यवस्था की मूलाधार, 'गौ' बताते हुए, उसकी हत्या बन्द करने की माँग की। उन्होंने, राष्ट्र को निर्बल बनाते हुए सदा अशान्ति व संघर्ष में डालने वाले भारत–विभाजन का विरोध करते हुए 'अखण्ड भारत' की मांग की। हिन्दु–विवाह–तलाक एवं उत्तराधिकार बिल रद्द हों, मंदिरों की मर्यादा सुरक्षित रहे तथा स्वतन्त्र भारत का शासन विधान मनु–याज्ञवल्क्य, गौतम,

कणाद, हारीत आदि धर्मशास्त्रों के आधार पर बनाया जाये, जो विदेशी संविधानों की नकल मात्र न होकर भारतीय शास्त्रों पर आधारित हो, उनसे पोषित, समर्थित हो।

अपने उपर्युक्त विचारों का स्वामी जी ने व्यापक प्रचार किया। नेताओं को पत्र लिखे, प्रतिनिधि मण्डल भेजे, प्रस्ताव आदि स्वीकृत कराये, अनेक बड़े-बड़े आयोजन सम्पन्न कराये, परन्तु जब उनके इन सिद्धान्तों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया, उल्टे उपेक्षा की गयी, तब स्वामी जी ने १९-१-१९४७ को बम्बई के खुले धर्म संघ अधिवेशन में तत्कालीन सरकार के विरुद्ध धर्मयुद्ध प्रारम्भ करने की घोषणा की। श्रावण संवत २००३ वर्ष ७/१० के 'सन्मार्ग' में प्रकाशित एक लेख में उन्होंने अपने विचार इस भाषा में प्रकट किये-

'.....धार्मिक पुरुषों को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए, कि जैसे दूसरों पर अन्याय और अत्याचार करना पाप है, वैसे ही अन्याय अत्याचार के शिकार बनना भी पाप ही है। दूसरों को मारना पाप है तो, मार खाना भी पाप है। अतः अत्याचार, अन्याय दूसरों पर न करके अपने ऊपर किये गये अन्यायों के प्रतिकार में अवश्य संलग्न होना चाहिए। सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी आदि अनुष्ठानों से दैवबल सम्पादन में सम्पूर्ण समाज को तत्पर हो जाना चाहिए। निकट भविष्य में दिल्ली में एक वृहत सनातनी-सम्मेलन होने वाला है, उसमें सभी आचार्यो, महात्माओं-विद्वानों तथा सभी आस्तिकों को अधिकाधिक संख्या में भाग लेना चाहिए, यदि सनातनी जीवित रहना चाहते हैं तो, आज अवसर है, कुछ कर बैठना चाहिए, नहीं तो सिवाय पछतावे के कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। अब ईश्वर का सहारा लेकर, क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य तथा कृपणता का परित्याग करके 'धर्मयुद्ध' के लिए तैयार हो जाना चाहिए-

अ. भा. धर्म संघ के षष्ठ महाधिवेशन के अवसर पर माघ कृष्ण १३ संवत् २००३ वि. १९-१-१९४७ को स्वामी करपात्री जी ने बम्बई में स्पष्ट घोषित किया कि-

'आज हम ब्रिटिश सरकार, केन्द्रीय-प्रान्तीय कांग्रेसी-सरकार, लीगी सरकार तथा देशी राज्यों से स्पष्ट कह देते हैं कि वे शीघ्र गोवध बन्द कर दें और शास्त्र एवं धर्म विरुद्ध शारदा-कानून, मन्दिर प्रवेश, विधवा विवाह, सगोत्र विवाह, तलाकबिल आदि कानूनों को रद्द करदें और नये धर्म विरुद्ध कानून न बनाने की प्रतिज्ञा करें। साथ ही देश-विभाजन की सारी योजनाओं को खत्म कर देवें और वेद, शास्त्र तथा भारतीयनीति के सनातनी विद्वानों की सलाह से भारत का शासन-विधान बनाया जाये। इसी से सबको सुख और शान्ति प्राप्त होगी। यदि अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया २००४ विक्रमी) परशुराम जयन्ती के पूर्व हमारी माँग पूरी न की गयी तो हम लोग ऐसी सरकार तथा ऐसे कानूनों का पूर्णतः बहिष्कार और विरोध करेंगे।'.....जब तक हो सके हम समझौते का ही प्रकार अपनायेंगे पर लाचार हो अन्त में यही करना पड़ेगा।

उन सरकारों का हमारा वह विरोध भी उनकी कल्याण-कामना से ही होगा। अन्यायी के अन्याय और प्रतीकार उसके कल्याणार्थ ही होता है। जनता तब तक जगह-जगह 'धर्मवीरदल' स्थापित कर संघठित हो जाये, और आदेश की प्रतीक्षा करें, यथा संभव यह विरोध अहिंसात्मक ही होगा।'

२४ अप्रैल १९४७ को दिल्ली धर्म संघ-महाविद्यालय में एक महत्वपूर्ण बैठक हुयी, जिसमें उस पत्र का मसविदा स्वीकृत किया गया, जो कांग्रेसी नेताओं तथा वाइसराय को भेजने के लिये पहले दिन धर्म संघ की बैठक में सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था। इस बैठक की समाप्ति पर पूज्य स्वामी करपात्री जी ने धर्मवीरों के लिए धर्मयुद्ध में पालनीय आवश्यक अनुशासनों पर जोर दिया और अपने भाषण में कहा-

''हमें अपने धर्म संग्राम में भगवान कृष्ण की भाँति प्रहार सहन करने होंगे, माफी नहीं मांगनी होगी। भोजन में बड़ा आग्रह रखना होगा कि जेल मे किसी अन्य का पकाया आहार न लिया जाये, और वहीं बैठकर निरन्तर पूजा-पाठ जारी रखा जाय, आवाश्यक होने पर अनशन का आश्रय लिया जाये। महाराणा प्रताप आदि धर्मवीरों का आदर्श सामने रखकर युद्ध में अवतीर्ण हों अनुशासन का पूर्णतया पालन करें, बिना अनुशासन के कोई युद्ध चल नहीं सकता।

उसी अवसर पर ब्रह्मचारी सत्यव्रत जी, श्री सूर्यनाथ पाण्डेय, प्रो. दूरकाल और श्री कृश्णमचारी जी ने कौसिल चेम्बर की सीढ़ियों से उतर कर मोटर पर सदार पटेल के साथ सवार होते हुये भी नेहरू जी के हाथों में एक बन्द लिफाफा दिया। फिर वाइसराय भवन पर पहुँचकर उक्त दल ने उनके प्राइवेट सेक्रेटरी को भी एक बन्द लिफाफा दिया। इसी प्रकार श्री राजेन्द्र बाबू, आचार्य कृपलानी को भी लिफाफे दिये गये-इन पत्रों में सनातनी हिन्दुओं की न्यायपूर्ण केवल पाँच माँगे स्वीकृत कर लेने का नम्र अनुरोध किया गया था और स्वीकृति की अवधि २७-४-४७ के सायंकाल तक चार दिन और बढ़ा दी गयी। तत्पश्चात् यह दल बिड़ला हाउस जाकर श्री कन्हैयालाल मुन्शी जी से मिला। सर वरदाचारी जी से मिलने उनके बंगले पर गये। चार दिन की अवधि व्यतीत हो रही थी पर, सरकार ने इस सनातनधर्मी समाज की उपेक्षा करके कोई उत्तर तक नहीं दिया। अन्ततोगत्वा अक्षयतृतीया को श्री करपात्री जी ने कहा कि .....

'.....तीन मास की प्रतीक्षा के बाद इस घड़ी तक अनुरोध का उत्तर न आने से आगामी कदम के लिये सभी चिंतित हैं- और इस पर विचार हो रहा है। विश्व का कल्याण चाहने वाले और भगवान के अनन्य भक्त सनातन धर्मियों का कोई भी कार्य गुप्त नहीं होता। षड़यन्त्रों में हमारा विश्वास नहीं और हम उसे नहीं चाहते। विरोधियों को भी गले लगाकर धर्म का साथी बनाना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। आज हम विवश होकर धर्म युद्ध में पदार्पण के लिये पूर्णतः सन्नद्ध हैं-

'हमारे लिये अब धर्म युद्ध अनिवार्य हो गया है। हम किसी की हानि नहीं चाहते हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारे साथ भी न्याय का बर्ताव किया जाय। हमारी इच्छा तो विश्व के कोने-कोने में शान्ति एवं सद्भाव का प्रसार करना है।'

अन्त में २८ अप्रैल ४७ को कौंसिल-भवन नई दिल्ली के सामने प्रदर्शन करते हुए श्री स्वामी करपात्री जी महाराज को अन्य ५० धर्म वीरों के साथ गिरफ्तार कर थाने में बन्द कर दिया गया। अगले दिन जिला जेल में अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट के न्यायालय में इन्हें एक मास की सादी कैद की सजा सुना दी गयी तथा 'बी' श्रेणी दी गयी। १-५-४७ को श्री करपात्री जी को दिल्ली जिला जेल से लाहौर जिला जेल में भेज दिया गया। प्रस्थान करने से पूर्व अधिकारियों से कहा कि मैं ट्रेन पर नहीं चढ़ता-पर उन्होंने अब तक के स्वामी जी के नियम के विरुद्ध बलात् इन्हें इन्टर क्लास में बैठाकर जेल में लाहौर भेज दिया। इधर विधान परिषद की बैठक स्थगित हो जाने पर धर्म युद्धार्थ धर्म-वीरों के जत्थे श्री नेहरू व श्री पटेल के निवास स्थानों, अन्तरिम सरकार के कार्यालयों पर तथा वाइसराय के यहाँ प्रतिदिन जाकर भगवन्नाम-संकीर्तन पूर्वक अपनी पाँचों माँगों के नारे लगाते हुये सत्याग्रह करने लगे।

सनातनी हिन्दुओं की पाँच मांगें- (१) गोवध सर्वथा अविलम्ब बन्द कर दिया जाय और उसका श्रीगणेश गो-वत्सल भगवान् श्री कृष्ण की पावन जन्मभूमि मथुरा से तुरन्त किया जाये।

(२) भारत की अखण्डता संर्वविध अक्षुण्ण रखी जाय, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मातृभूमि के विभाजन तथा प्रान्तों के वर्गीकरण की सभी योजनायें समाप्त करदी जायें।

(३) जिन कानूनों द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप किया गया है, उन्हें शीघ्र रद्द किया जाय। जो हस्तक्षेपकारी अधार्मिक बिल विभिन्न असेम्बलियों में विचाराधीन पड़े हैं, वे अविलम्ब रद्द किये जायें अथवा वापिस ले लिये जायें। भविष्य में इस प्रकार की दुरचेष्टा के लिये पुनः अवसर न दिया जाय।

(४) प्रतिमा-पूजन की परम्परागत तथा शास्त्रीय पद्धति में किसी प्रकार की बाधा न डाली जाय। मन्दिरों तथा धार्मिक प्रतिष्ठानों की पावनता ध्वंस करने के लिये जो दुष्कार्य किये जा रहे हैं वे शीघ्र रोके जायें।

(५) संविधान सम्मेलन में सनातनी हिन्दुओं का उचित प्रतिनिधित्व हो तथा जिन शासन विधानों के अनुसार हिन्दू शासित हो, उनका निर्माण एक मात्र शास्त्रीय आधार पर किया जाये तथा उन विधानों की रचना में सनातनी संस्थाओं एवं धर्माचार्यो द्वारा निर्वाचित प्राचीन शैली के शास्त्रज्ञ पंडितों का परामर्श और सहयोग अवश्य प्राप्त किया जाये।

स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने धर्मयुद्ध के स्वरूप का वर्णन करते हुये धर्म-वीरों के लिये निम्नलिखित सूत्र बताइये-

(१) विधान परिषद् तथा शासन परिषद् के अध्यक्ष तथा जहाँ-जहाँ संघर्ष चलाना इष्ट हो वहाँ के अध्यक्ष को सूचना देकर सभा करके या शोभा यात्रा (जुलुस) निकाल कर प्रतिरोध तोड़ कर धर्मयुद्ध चलाया जाये।

(२) संकीर्तन, अनुष्ठान तथा अनशन करके संघर्ष चलाया जाय।

(३) अहिंसा मार्ग से ही विरोध किया जाये।

(४) विधान परिषद, शासन परिषद, असेम्बली, वायसराय भवन तथा अन्यान्य सरकारी विभागों के भी समक्ष संघर्षचल सकता है।

(५) मथुरा आदि भिन्न-भिन्न तीर्थ स्थानों के म्यूनिसिपिल बोर्ड, कलेक्टर आदि के भवनों पर भी धर्मयुद्ध छेड़ा जा सकता है।

(६) व्याख्यानों सभाओं द्वारा भी न्याय और अन्याय का विवरण करके आन्दोलन चलाया जाय।

(७) जप-तप पूजापाठ आदित्य हृदय दुर्गा-पाठ आदि का विस्तार होना चाहिये।

(८) साथ ही विधान विशेषज्ञों की राय से न्याय पाने का प्रयत्न होता रहे।

(९) किसान मजदूर तथा गरीब लोगों के साथ राजाओं, जमीदारों तथा धनिकों का भी सहयोग प्राप्त करना चाहिये।

(१०) पत्र-पत्रिकाओं, नोटिसों, व्याख्यानों द्वारा सर्वत्र न्याय की वस्तु स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए।

स्वामी जी ने बताया कि इस तरह सब प्रकार से सरकार को न्याय देने के लिये बाध्य करना हमारा कर्तव्य है।

उपर्युक्त नियमों का कठोरता से पालन करते हुये धर्मसंघ की पाँचों माँगों के साथ नित्य जत्थे पर जत्थे गिरफ्तार होने लगे। धर्म वीरों पर अत्याचारों की सूचनायों नित्य आने लगी। श्री स्वामी कृष्णानन्दतीर्थजी का अधिकारियों ने ब्रह्मदंड छीन लिया। उन्होंने तदर्थ अनशन करके धर्मयुद्ध में अपने प्राणों की प्रथम आहुति दी। इसी प्रकार श्री स्वामी मुकुन्दाश्रम जी का ब्रह्मीभाव हुआ तथा गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य जी ने गोरक्षार्थ अपने प्राणों का विसर्जन किया। हजारों धर्मवीर जेल जा रहे थे, उन्हें साधारण सुविधायें भी नहीं दी जा रही थी। उनके कंठी-माला, दंड, कमंडल ठाकुर जी तक छीन लिये जाते थे, परन्तु कर्मवीरों ने अद्वितीय साहस का परिचय देते हुये पूर्ण रूप से अहिंसात्मक धर्मयुद्ध जारी रखा। तब, सरकार को भी सदाचारानुकूल व्यवस्था करनी पड़ी। २२-५-४७ को श्री करपात्री जी को लाहौर जेल से रिहा कर दिया गया। धर्मयुद्ध की गति-विधि और तेज हुयी। आषाढ़ी अमावस्या में दिल्ली धर्मसंघ मंडल में

आग लगा दी गयी, जिसमें धर्मसंघ विद्यालय की कुटियाएँ, यज्ञमंडप, सरस्वतीभवन, भंडार, ब्रह्मपुरी सब कुछ जलकर भस्म हो गये। धर्मयुद्ध चलता ही रहा। इसी मध्य पाकिस्तान के लिये नेहरू जी ने स्वीकृति दे दी, जिसे काँग्रेस ने भी बाद में स्वीकार कर लिया।

भारत को ३ जून १९४७ को राजनैतिक मुक्ति की घोषणा हुयी। ७ जून को सनातनी नेतृ-मण्डल की बैठक हुयी, दिल्ली में अ. भा. धर्मसंघ का विशेषाधिवेशन हुआ जिसमें देश-विभाजन को रोकने के हेतु वैध उपायों को करने का निर्णय किया गया। ७ जून को अ. भा. सर्वदल हिन्दू सम्मेलन हुआ जिसमें हिन्दू, आर्यसमाजी, सिख जैन आदि सभी ने देश विभाजन का विरोध किया। पूज्य करपात्री जी महाराज की प्रेरणा से धर्मयुद्ध को और गति प्रदान की गयी। कई बार वे स्वयं धर्मवीरों के साथ सत्याग्रह में गये। दो बार पुनः वे गिरफ्तार किये गये, परन्तुं हरबार पुलिस उन्हें शिविर में छोड़ जाती। अन्त में स्वामी करपात्री जी ने घोषणा की कि २५-८-४७ तक व्रजमण्डल में गोवध न रुका तो वहाँ भी धर्मयुद्ध का मोर्चा खोला जायेगा। धर्मवीरों के अनशन से अधिकारियों का नाकों दम था। लगभग ४००० धर्मवीर जेल खाने जा चुके थे। गान्धी जी का आसन भी डोल उठा। धर्म रक्षा सम्बन्धी वार्तालाप को १९-७-४७ को गाँधी जी का पत्र आया। करपात्री जी ने उत्तर दिया कि पहले पत्र द्वारा विचार अधिक उपयुक्त होगा, जिसमें आपसी दृष्टिकोण ज्ञात हो जायेंगे, तभी मिलना भी सार्थक होगा। पत्राचार द्वारा विचार-विनिमय होने पर श्री गान्धी जी ने लिखा कि आपके खत में बोध ही था, मुझे ज्यादा कहने जैसा नहीं था, इसी से समय बचा लिया। स्वतन्त्रता दिवस के बाद साम्प्रदायिक संघर्ष के कारण दिल्ली की स्थिति बहुत बिगड़ गयी। अतः स्वामी जी ने दिल्ली धर्मयुद्ध स्थगित कर दिया। उधर २५-८-४७ की अवधि बीतने पर करपात्री जी को ३०-८-४७ की रात्रि में ही गिरफ्तार कर लिया गया तथा छः मास का कारागार का दण्ड भोगने हेतु आगरा जेल में डाल दिया गया है। इस प्रकार मथुरा में भी धर्मयुद्ध प्रारम्भ हो गया। करपात्री जी ने अपनी रणनीति परिवर्तित करके जिला परिषदों, नगरपालिकाओं, नगर-निगमों को सत्याग्रह का लक्ष्य बनाया तथा उनके द्वारा गो-हत्या बन्दी प्रस्ताव स्वीकृत कराने का अभियान चलाया। जिसके फलस्वरूप मथुरा नगर परिषद में अपनी सीमा में गोहत्या बन्दी का प्रस्ताव पारित किये, फलतः व्रजभूमि के १४ बूचड़ खाने बन्द हो गये ३२ जिलों में गोहत्या बन्दी हुयी। अब देश के कोने-कोने से गोहत्या बन्दी की मांग उठने लगी। अनेक तारों, पुस्तकों पत्रों, जन-सभाओं एवं शिष्ट मण्डलों द्वारा सरकार से अनुरोध किया जाता रहा। १९-११-४७ को सरकार द्वारा एतदर्थ नियुक्त सरदार दातार सिंह समिति ने ६-११-४९ की अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी, इसे सरकार ने आंशिक रूप से स्वीकार किया। यद्यपि प्रान्तों में विभिन्न स्तरों पर गोहत्या बन्दी के इस महात्मा के पावन

संकल्प में बहुत कुछ सफलता मिली, परन्तु केन्द्रीय कानून के अभाव में सम्पूर्ण हत्याबन्दी सम्पूर्ण राष्ट्र में नहीं हो सकी। अतः सन् १९४९-५० में करपात्री जी महाराज द्वारा स्थापित अ.भा. रामराज्य परिषद् ने दिल्ली में पुनः सक्रिय आन्दोलन किया इसमें भी स्वामी करपात्री जी के नेतृत्व में राजस्थान के वीर राजपूतों ने लगभग बीस सहस्र की संख्या में जेलयात्रा की। सन् १९५२ में दो करोड़ लोगों के हस्ताक्षर सर संघ चालक श्री गुरु गोलवलकर जी द्वारा करा के राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद जी को भेंट किये गए परन्तु पं. नेहरू ने इसकी परवाह न की। सन् १९५४ में प्रयाग में अ.भा. धर्मसंघ के सम्मेलन में विराट गौरक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया। लाला हरदेव सहाय, सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी द्वारा आन्दोलन को गतिप्रदान की गयी। करपात्री जी ने लखनऊ में सत्याग्रह किया पर सरकार ने इन्हें गिरफ्तार नहीं किया। स्व. श्री गोविन्द वल्लभपन्त ने राज्य मन्त्रिमण्डल की ओर से आपको सादर आमन्त्रित किया और आश्वासन दिया कि डा. सीताराम की अध्यक्षता में नियुक्त कमेटी की रिपोर्ट मिलते ही उत्तर प्रदेश में गोहत्याबन्दी कानून बना दिया जायेगा। इस प्रकार उत्तर प्रदेश और बिहार में भी करपात्री जी महाराज की प्रेरणा से गोवधबन्दी कानून बने।

सन् १९५४-५५ में श्री करपात्री जी के नेतृत्व में देश की गोभक्त संस्थाओं एवं नेताओं के सहयोग से गौरक्षार्थ लक्ष चण्डी महायज्ञ का आयोजन किया गया। दक्षिणा-निरपेक्ष होकर निःस्पृह विद्वान ब्राह्मण उस यज्ञ में सम्मिलित हुए और अखिल भारतीय गौरक्षार्थ अहिंसात्मक धर्मयुद्ध समिति का गठन हुआ। देश के चार प्रमख नगरों कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद एवं राजधानी दिल्ली में उक्त समिति के आवाहन पर जोरदार आन्दोलन चलाये गये। चारों स्थानों पर लगभग ६० हजार गोभक्त धर्मवीरों एवं वीरांगनाओं ने जेलयात्रा की। कलकत्ता में आन्दोलन इतना तीव्र हुआ कि जब सत्या-ग्रही वीरों का जत्था विधान-सभा-भवन की ओर जा रहा था, तो जनता की अपार भीड़ को रोकने के लिए घुड़सवार पुलिस का प्रयोग करना पड़ा। घोड़े की टापों के नीचे अनेक धर्मवीर आहत हुए और धर्मवीर श्री जसकरण सिंह भूरा का बलिदान हुआ। बम्बई में भी सहस्त्रों धर्मवीरों ने गोरक्षार्थ जेल यात्रा की। श्री करपात्री जी के आदेशानुसार गुजरात के प्रसिद्ध सन्त शम्भु जी महराज के नेतृत्व में इतना प्रबल सत्याग्रह हुआ कि गुजरात सरकार को बाध्य होकर गोहत्या बन्दी कानून बनाना पड़ा। इसी प्रकार दिल्ली में भी सहस्त्रों धर्मवीरों ने जेल पर पहुँचकर परमपूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज ने स्वयं को गिरफ्तारी के लिए जेल पर पहुँचकर समर्पित किया। यह राष्ट्रव्यापी आन्दोलन लगातार पौने दो वर्षो तक चलता रहा। इसका सम्पूर्ण श्रेय इस तरुण तपस्वी को ही जाता है जो एक दिन के लिए भी चैन से नहीं बैठा। परन्तु केन्द्र सरकार ने सम्पूर्ण भारत के लिए एक कानून न बनाने की अपनी हठ में कोई परिवर्तन नहीं किया। देश में एक छोर से दूसरे छोर तक प्रबल जनमत जागृत हो चुका

था। करपात्री जी एवं अन्य सभी वर्गो के नेताओं के देशव्यापी दौरे अहर्निश हो रहे थे परन्तु कांग्रेस सरकार ने गोमांस भक्षकों के लिए एवं देश से गोमांस निर्यात करने में वृद्धि के प्रयोजन से बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली में विशाल यान्त्रिक बूचड़ खाने खोलने का निश्चय करके गौ भक्तों को खुली चुनौती दी। स्वामी करपात्री जी महाराज ने एक बार पुनः अप्रैल १९६२ में हरिद्वार में अ.भा. धर्मसंघ के तत्वावधान में एक विशाल गो रक्षा सम्मेलन का आयोजन किया तथा १८-१०-६२ में विदर्भ के प्रमुख नगर अकोला से विधिवत् गोपूजन के पश्चात् श्री करपात्री जी के नेतृत्व में गो रक्षा अभियान में बम्बई-देवनार में बनने वाले बूचड़ खाने को रोकने के लिए प्रस्थान किया। जो पैदल जन-जागरण करता २३-१०-६२ को बम्बई पहुँचा, जहाँ जनमत जागृत करने हेतु विशाल सभाएँ की गयी। दुर्भाग्य से इसी समय चीनी आक्रमण हो गया। पं. नेहरू की अपील पर गोरक्षा अभियान को स्थगित कर करपात्री जी ने राष्ट्र रक्षणार्थ जन-जागरण कार्य प्रारम्भ किया। अगस्त १९६४ में भारत गो सेवक समाज ने अ. भा. गो रक्षा सम्मेलन का वृन्दावन में आयोजन किया। इसमें सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, श्री स. मा. गोलवलकर जी ने विशेष रूप से भाग लेकर सरकार को चेतावनी दी कि यदि गोपाष्टमी संवत् २०२२ तक देश में सम्पूर्ण गोवंश की हत्या बन्द न की गयी, तो इसके लिए शान्तिमय आन्दोलन किया जायेगा। २२-२-१९६५ को एक उच्चस्तरीय शिष्टमण्डल ने प्रधानमन्त्री एवं राष्ट्रपति व खाद्य मन्त्री से भेंट की, परन्तु कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। २४-३-६५ को अ. भा. धर्मसंघ के शंकराचार्यो के नेतृत्व में प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री से मिलकर सम्पूर्ण भारत में गोवंश-वध-निषेध कानून की मांग करते हुए विशेषतः बम्बई के देवनार कलकत्ता के दानकुनी बूचड़खानों के निर्माण को तुरन्त रोकने का आग्रह किया गया। साथ ही यह भी आश्वासन दिया कि गो हत्या बन्दी से होने वाली सरकार की आर्थिक क्षति-पूर्ति करने के लिए गो-रक्षा-कर अथवा अन्य प्रकार से सहायता देने के लिए वे पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे। शास्त्री जी ने दोनों बूचड़ खानों को रोकने का आश्वासन दिया, साथ ही गोवंश वध को रोकने का भी वचन दिया। इस अवसर पर गृहमन्त्री गुलजारीलाल नन्दा भी उपस्थित थे। परन्तु, इसी बीच भारत-पाक-युद्ध का संकट आया और ताशकन्द से शान्ति का वह दूत जीवित न लौट सका, अतः उनके द्वारा प्रदत्त आश्वासन कार्यरूप में परिणत न हो सके।

सन् १९६६ में प्रयाग के माघ मेले के अवसर पर अ. भा. धर्म संघ शिविर के विशाल प्रांगण में गोरक्षा-सम्मेलन का आयोजन किया गया। पूज्य करपात्री जी इसके मूल प्रेरक थे। इस सम्मेलन में पुरी एवं ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्यो ने गोरक्षा की मांग के प्रति सरकार की निरन्तर उपेक्षा पर गहरा दुःख एवं आक्रोश प्रकट करते हुए-कि गोहत्या भाषण व शिष्ट मंडलों एवं प्रस्तावों से नहीं होने वाली है-गोमाता की रक्षा

तभी होगी जब हम लोग सच्चे हृदय से अपने प्राणों की बाजी लगाने को तैयार होंगें– यदि बलिदान का अवसर आया जो गोरक्षार्थ हम अपना बलिदान देगें,–इसी संकल्प से श्री करपात्री जी एवं अन्य महात्माओं, नेताओं ने देशव्यापी यात्राएँ प्रारम्भ कर दीं। उधर दिल्ली में २८/३/६६ से महात्माओं, ने धर्मयुद्ध का श्रीगणेश कर दिया। ७/४/६६ को जैन मुनि सुशील कुमार जी के स्थान पर ही पुरी के शंकराचार्य स्वयं गये। सन्त कृपालसिंह, सद्गुरू जगजीत सिंह, गोस्वामी गिरधारी लाल, पं. नन्दलालशास्त्री, स्वामी गवानन्द हरि आदि भी उपस्थित थे। इसमें पुरी के शंकराचार्य जी ने घोषित किया कि गोहत्या बन्द कराने के लिए हमें केवल ५/६ व्यक्ति चाहिए जगद्गुरू शंकराचार्य, स्वामी करपात्री जी, गुरू गोलवलकर जी, स्वामी गणेशानन्द जी, ब्रह्मचारी प्रभदुत्त जी, मुनि सुशील कुमार जी एवं सन्त कृपाल सिंह जी। सबसे पहले गोरक्षार्थ बलिदान देने के लिए स्वयं पुरी के शंकराचार्य जी ने अपना नाम प्रस्तुत किया।–तदनन्तर मेरठ की सभा में जगद्गुरू शंकराचार्य जी ने घोषणा की, कि 'चाहे हमारे आह्वान पर गोरक्षार्थ बलिदान–प्राणोत्सर्ग के लिए कोई मैदान में आये या न आये, हम स्वयं गोहत्या बन्द कराने को आगे आये हैं और अपने प्राणों की बाजी लगाने वाले हैं।'

२६–५–६६ को चित्रकूट में अ. भा. रामराज्य परिषद के अधिवेशन में आयोजित गोरक्षा सम्मेलन में उन्होंने पुनः अपने निर्णय की घोषणा की। ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज ने भी इसी आशय की घोषणा की। स्वामी करपात्री चित्रकूट से हरिद्वार जाते हुए रूके। सभी गो सेवी सज्जन उनसे मिले तथा मार्ग–दर्शन की प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि यदी सभी गो सेवी संस्थाए मिल कर प्रयत्नशील हों, तो सफलता की आशा की जा सकती है। स्वामी जी पूर्व कार्यक्रमानुसार ऋषिकेश चले गये। देश के सभी प्रमुख गोभक्त नेता सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी एवं श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार को साथ लेकर पुनः करपात्री जी की सेवा में पहुंचे। ऋषिकेश में कोयल घाटी स्थित महाराज के शिविर में सर्वोच्च बैठक हुई, जिसमें स्वामी जी ने निम्नलिखित आशय का शपथ–पत्र तैयार किया, ''मैं शपथ पूर्वक सर्वदलीय गोरक्षा–महाभियान को आश्वासन देता हूँ कि मनसा, वाचा, कर्मणा अपनी पूर्ण शक्ति से गोहत्या बन्दी के लिए जो भी आवश्यक होगा, सब कुछ करूंगा।'' इस शपथपत्र पर सर्वप्रथम स्वयं श्री करपात्री जी ने हरस्ताक्षर किये– फिर लगभग ४० गोसेवी नेताओं ने हस्ताक्षर किये। फिर स्वामी जी दिल्ली पधारे और अन्य नेताओं ने सर्वदलीय गो रक्षा महाभियान की रूप रेखा तैयार की। स्वामी जी चातुर्मास्य करने काशी चले गये। वाराणसी में ही सर्वोच्च समिति, संरक्षक एवं महाभियान समिति के सदस्यों को मनोनीत किया गया। १४–९–६६ को भारत गो सेवक समाज के कार्यालय, ३, सदर थाना रोड दिल्ली में शपथ–पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले नेताओं की बैठक हुई– एक सात महानुभावों की सर्वोच्च समिति को नीति–निर्धारिण का सम्पूर्ण दायित्व सौंपा गया। इनके नाम इस प्रकार है– (१) अ.भा. स्वामी निरंजन देव तीर्थ जी जगत्नाथ पुरी

(२) श्री स्वामी करपात्री जी महाराज, (३) श्री सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, (४) मुनि श्रीसुशील कुमार, (५) मा. स. गोलवलकर गुरु जी, (६) श्री भाईहनुमान प्रसाद पोद्दार, (७) श्री स्वामी गुरु चरणदास जी महाराजा २०/८/६६ से प. रामचन्द्रवीर ने आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। उसके आध्यात्मिक उत्तराधिकारी हिन्दु सभाई नेता श्री धर्मेन्द ने भी निराहार तपस्या प्रारम्भ कर दी। ५-९-६६ को संसद भवन पर सर्वदलीय गोरक्षा महाभियान पर हस्ताक्षर करने वाले सभी नेताओं के सहयोग में विराट प्रदर्शन किया गया, जो उस दिन तक के सभी प्रदर्शनों में महत्वपूर्ण था। गृहमन्त्री श्री गुलजारी लाल नन्दा जी को गोहत्या बन्द करने के सम्बन्ध में एक आवेदन पत्र संसद भवन के द्वार पर दिया गया। रामनवमी से ही साधुओं का गोरक्षार्थ आन्दोलन जो चल रहा था, वह उत्तरोत्तर प्रचंडरूप धारण कर रहा था। करपात्री जी महाराज ७ नवम्बर को लाखों गो भक्तों द्वारा संसद भवन पर होने वाले प्रदर्शन की तैयारियों में संलग्न थे। उन्होंने आन्दोलन की सफलतार्थ अखंडलक्ष चंडी यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया। फिर ७ नवम्बर १९६६ को जो १० लाख गोभक्तों का राजधानी में प्रदर्शन हुआ, वह इतिहास की अपूर्व घटना बन चुकी है·····मंच से स्वामी करपात्री जी ने जो शब्द कहे वह वास्तव में उन जैसे महान् आत्मा के ही अनुरूप थे। उन्होंने भाषण देते हुए कहा कि 'हमारा किसी दल विशेष से द्वेष नहीं है, हम किसी भी राजनीतिक मांग को लेकर नहीं आये हैं। इस समय जो लोग शासनारूढ़ हैं, वे सब हमारे ही घर के लोग हैं'·····। परन्तु ७ नवम्बर ६६ को कांग्रेसी शासन ने निरपराध नर-नारियों, महात्माओं एवं गोभक्तों पर जो अत्याचार किया, उसका विस्तृत विवरण यहाँ देना न अभीष्ट है न ही सम्भव। सैंकड़ों मर गये, घायल हो गये, गिरफ्तार किये गये। पुरी के शंकराचार्य जी स्वामी निरंजन देव तीर्थ जी ने गोपाष्टमी २० नवम्बर १९६६ से शास्त्रीय पराक व्रत प्रारम्भ किया तो, उन्हें दिल्ली आश्रम की मर्यादा तोड़कर बलात् पकड़कर पांडिचेरी जेल में बन्द कर दिया गया। सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी एवं रामचन्द्र शर्मा 'वीर' आदि अनेकों महापुरुषों ने आमरण अनशन किये।

८-११-६६ को ही पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज सत्याग्रह करते हुए गिरफ्तार कर लिये गये, उन्होंने गिरफ्तारी से पूर्व कहा कि 'अंहिसात्मक और शान्तिपूर्ण ढंग से गोरक्षा आन्दोलन चलाते रहना चाहिए'। दिल्ली सेन्ट्रल जेल में न्यायाधीश के समक्ष करपात्री जी ने अपने वक्तव्य में कहा कि 'वर्तमान गोहत्याबन्दी आन्दोलन किसी राजनीतिक दल-गत, संस्थागत अथवा वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से प्रेरित नहीं है। यह आन्दोलन लगभग आठमास से पूर्णतया अहिंसात्मक शान्तिपूर्ण ढंग से चल रहा है। ७-११-६६ के विराट् प्रदर्शन में हुयी अशान्ति और उपद्रवों से इस आन्दोलन का कोई सम्बन्ध नहीं है, न हमारे किसी भाषण अथवा किसी अन्य चेष्टा से ही किसी को इस प्रकार की प्रेरणा मिली है। कुछ गुप्त शत्रु अथवा गोहत्या बन्दी के मार्ग में बाधा डालने वालों की बुद्धि से ये उपद्रव कराये गये हैं। हम लोगों के शान्तिपूर्ण प्रयास को मंच पर अश्रु गैस के गोले

बरसाकर, लाउडस्पीकर के तार काट कर पुलिस द्वारा अस्त-व्यस्त कर दिया गया। जगद्गुरु जी के समर्थन में अनशन करने वालों की बाढ़ लग गयी। देश के सभी नेताओं ने जगद्गुरु जी के प्राण बचाने की अपीलें की। सरकार ने गोहत्याबन्दी की मांग की, परन्तु सरकार शान्त धर्मवीरों पर अपना अंकुश-प्रहार तीव्रतर करती रही। अन्ततः ३०-११-६६ को ७४ वर्षीय पं. ऋषि स्वरूप ब्रह्मचारी की अनशन के कारण मृत्यु हो गयी। श्री बद्रीमहाराज (मिर्जापुर) की एवं श्री मेहरचन्द पाहुआ की ३१-१२-६६ को अनशन द्वारा मृत्यु हो गयी। ६-१-६७ को तिहाड़ जेल में गोभक्त कृष्णचन्द्र भी शहीद हो गये। करपात्री जी को ६-१२-६६ को दिल्ली से आगरा जेल लाकर रिहा किया गया। ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी को भी रिहा कर दिया गया, परन्तु स्वामी श्री करपात्री जी ने ९-१२-६६ के अपने वक्तव्य में स्पष्ट घोषणा की कि 'यह आन्दोलन किसी राजनीतिक स्वार्थ से नहीं चलाया जा रहा है, न यह धर्म विशेष का ही अभियान है, इसमें सभी धर्मों के लोग शामिल है। प्रधान मन्त्री एवं गृह मन्त्री की घोषणाओं से लगता है कि सरकार प्रान्तीय स्तर पर गोहत्या बन्द करने का प्रयत्न कर रही है, पर वह संविधन में संशोधन करने के पक्ष में नहीं है, परन्तु संविधान में संशोधन करके गोवंश की हत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए, अन्यथा आन्दोलन तीव्र किया जायेगा।' अपने १७-१२-६६ के प्रेस सम्मेलन में श्री करपात्री जी महाराज ने कहा कि 'प्रधानमन्त्री का यह कहना बेतुका है कि गोवध बन्दी आन्दोलन चुनाव निकट आने पर होता है। स्मरण रहे कि यह आन्दोलन सन् १९४६-४७ से चल रहा है। अंग्रेजी शासन से इसे कांग्रेसी कार्यकर्त्ता ही चलाते थे। गोरक्षा महाभियान समिति को चुनाव लड़ने में कोई दिलचस्पी नहीं, यह असाम्प्रदायिक एवं अराजनैतिक संस्था है। सरकार यदि सम्पूर्ण गोहत्याबन्दी की मांग स्वीकार कर ले, तो यह सारी शक्ति दुर्भिक्ष-निवारणादि में लगा देंगे।' देश में इतना व्यापक जनमत जागरण हुआ, इस महात्मा की त्याग, तपस्या एवं लगन के कारण ही सरकार को झुकना पड़ा। उन्होंने अनशन भंग करके महात्माओं को प्राणरक्षार्थ प्रयास किये। स्वामी करपात्री जी की रिहाई का ओदश ३१-१-४७ को ही तिहाड़ जेल में दिया गया, जिससे वे शिष्ट मंडल के साथ वायुयान से पुरी जाकर शंकराचार्य जी को मना सकें। जिसे फलस्वरूप पुरी के शंकराचार्य जी ने ७३ दिनों के उपरान्त श्री स्वामी करपात्री जी महाराज के अनुरोध पर एवं संत श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने ७२ दिनों के पश्चात् ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज के अनुरोध पर अपना अनशन समाप्त किया, साथ ही महात्मा रामचन्द्र वीर ने १६५ दिन का अपना अनशन भी स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी के हाथ से संतरे का रस ग्रहण करके समाप्त किया।

पूज्य करपात्री जी अत्यन्त दुर्बल हो गये थे, उनके गले की हड्डी व जोड़ों में दर्द हो गया था। वे काशी पहुँच गये। वास्तव में तिहाड़ जेल में उन पर जो भीषण प्राणघातक प्रहार किये गये, उनसे इस महात्मा का न केवल शरीर कृश हो गया,

अपितु एक आँख की ज्योति भी जाती रही थी। तिहाड़ जेल में भगवत्भजन एवं उपदेश में रत इस महात्मा पर लोहे के डंडों से नम्बरी सजा याफ्ता कैदियों द्वारा अकस्मात् भीषण हमला किया गया। जिससे स्वामी जी तत्काल बेहोश होकर गिर पड़े। कई प्रहार उनके शिर, कमर, हाथ एवं पैर आदि पर किये गये। वह तो एक महात्मा ने उनके ऊपर गिर कर प्रहारों को स्वयं अपने ऊपर ले लिया अन्यथा करपात्री जी महाराज का इस आघात से प्राणान्त तक हो सकता था।

किमधिकम्! इस महात्मा ने सम्पूर्ण जीवन भर भीषण त्याग, तपस्या, कष्टपूर्ण एवं संघर्ष मय जीवन-यापन करते हुए, ईमानदारी से राष्ट्र, धर्म एवं गौ की सेवा की है। धर्म शास्त्रों के सत्य स्वरूप के संरक्षण एवं प्रचार प्रसार के लिए अपने प्राण पण से प्रयास किया है। उनको अनेक बार जेल यात्रा करनी पड़ी। कुछ का विवरण पाठकों की जिज्ञासाशान्ति हेतु प्रस्तुत है-

अवधि	विवरण	लक्ष्य
१. २८-४-४७ से २२-५-४७ तक	दिल्ली एवं लाहौर स्थानों पर बन्दी	अखण्ड भारत
२. ५-७-४७ से ७-७-४७	दिल्ली गिरफ्तार एवं रिहा।	गोहत्या बन्दी मन्दिर मर्यादा रक्षण
३. ८-७-४७ से ८-७-४७	,, ,,	धार्मिक स्वातन्त्र्य
४. २८-७-४७ से २९-७-४७	,, ,,	शास्त्रीय संविधान
५. २९-८-४७ से २२-११-४७	मथुरा आगरा जेल	गोवध बन्दी
६. १९-२-४८ से २४-७-४८	काशी	शान्तिभंग आशंका
७. जनवरी ५३	दिल्ली	जम्मू कश्मीर आन्दोलन
८. फरवरी ५५, एक साल में रिहा	काशी	विश्वनाथ मंदिर प्रवेश परन्तु उत्तर प्रदेश सामाजिक अयोग्यता निवारक कानून में मुकदमा चलता रहा। पुनः एक मास की कैद
९. १५-१२-५६	,, ,, दिल्ली-आगरा	विश्वनाथ मंदिर मर्यादा रक्षण
१०. ८-११-६६ से ६-१२-६६	,, ,,	गोवध बन्दी
११. ३१-१-६७	काशी	,, ,,

शास्त्रार्थ

''वादे-वादे जायते तत्त्वबोध:'' के अनुसार भारतीय सनातन वैदिक परम्परा में सदा से ही तत्व-जिज्ञासा का महत्व रहा है। भारतवर्ष का अनादि इतिहास साक्षी है कि इस पुण्य भूमि में सदा से बड़े-बड़े विचारक, तत्वज्ञ विद्वान, मनीषी एवं दार्शनिक हो चुके है। देश के कोने-कोने में बड़े-बड़े सत्रों का आयोजन विभिन्न धार्मिक उत्सवों एवं पर्वो के अवसर पर अनादि काल से होता रहा है। इस मानव कुम्भों में परस्पर विचार-विनिमय द्वारा तत्त्व-निर्णय किया जाता रहा है। इतना व्यापक, उदार दृष्टिकोण रहा सनातन वैदिक संस्कृति का एवं विचार-स्वातंत्र्य का, कि परस्पर विरोधी-से दीखने वाले अनेकों सम्प्रदायों का इस देश में एक साथ ही रहते हुए भी मूल में भावात्मक एकता आश्चर्यजनक रूप से प्रवहमान रही है और वही इस राष्ट्र की आत्मा है, जो आसेतु हिमाचल ऋषि-महर्षियों, राजर्षियों, आचार्यो, सन्तों एवं महात्माओं के इस परमपावन पुरातन देश को आज भी अखण्ड बनाये हुए हैं। सत्युग, त्रेता, द्वापर की बात को छोड़कर यदि वर्तमान युग के इतिहास पर ही दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट होता है कि अवैदिक विचारधारा एवं वैदिक विचारधारा का संघर्ष सैकड़ों नहीं सहस्त्रों वर्षो से यहाँ होता रहा है। इसी प्रकार का टकराव आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व आस्तिकवाद एवं नास्तिकवाद के दर्शन एवं विचारों के मध्य यहाँ हो चुका है, जब शेष संसार अज्ञान एवं असभ्यता के अंधकार में डूबा हुआ जंगली जीवन व्यतीत कर रहा था, आचार्य शंङ्कर ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए तत्कालीन अनेक नास्तिकमतों, विचारों एवं दर्शनों का जिस युक्तियुक्त प्रणाली से तात्त्विक खण्डन करके सनातन एवं वेदान्त सिद्धान्त की प्रस्थापना की वह वही शुद्ध प्रणाली की जिसे भारत में 'शास्त्रार्थ' कहा जाता है। विचार शक्ति, बुद्धि कौशल वाक्पटुता व्युत्पन्नमतित्व एवं तर्कशास्त्र के बल पर इस तरुण सन्यासी ने अपने ३२ वर्षीय अल्प जीवनकाल में अवैदिक-नास्तिक-प्रतिगामी मतों का समूलोन्मूलन कर वैदिक सनातन संस्कृति की स्थापना की। आज भारत में जो कुछ भी अपना शेष है, उसी महान् आचार्य शंकर की देन है।

कालान्तर में दैदुर्विपाक से भारत फिर पतनोन्मुख हुआ, विदेशी विधर्मी-अवैदिक आततायियों से सतत् आक्रान्त रहने के कारण 'तत्त्व-जिज्ञासा' की प्रवृत्ति से सर्वथा उन्मुख हो गया। ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, मुस्लिम-समाज, ईसाई-

समाज सबके वैचारिक आक्रमणों से ग्रस्त रहा–अत: किंकर्तव्यविमूढ़ बना अनिश्चय की स्थिति में पड़ा था, यहाँ के वैदिक धर्मावलम्बी को वास्तविक मार्ग नहीं सूझ रहा था। यद्यपि शास्त्रार्थ परम्परागत सौ–डेढ़ सौ वर्षो से पुन: चल पड़ी थी परन्तु पाश्चात्यों द्वारा हमारे पारतन्त्र्य का पूरा लाभ उठाया गया । हमारे ग्रन्थों का अनर्थकारी अनुवाद कराया गया, जिसके भ्रम में विदेशी तो क्या स्वयं भारतवासी संस्कृति प्रेमी भी आ गये। ऐसी भयंकर अवस्था में भगवान् शङ्कराचार्य के वेदान्त मत का सनातन वैदिक सिद्धान्तों का यथावत् मूलरूप से प्रतिपादन करने का कार्य अपने भाषण तथा लेखों, पुस्तकों द्वारा स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने अपने हाथ में लिया और आज नहीं गत पचास वर्षो से वे इस कार्य में लगे हैं। उनपके जीवन कुछ प्रमुख शास्त्रार्थों का उल्लेख मात्र यहाँ कर देना, प्रासंगिक ही होगा, जिससे पाठकवृंद इस शास्त्रार्थ, दिग्विजयी उद्भट् विद्वान् के वैदिक स्वरूप एवं विचारधारा के किंचित् अवगत हो सकें–

१. सन् १९३२, हरिद्वार अर्धकुम्भी का अवसर। कोयलघाटी में स्वामी श्री विराजमान। सेठ जयदयाल गोयनता एवं गौरीशंकर गोयनता के साथ पं. मदनमोहन मालवीय पधारे। उन्होंने प्रणवयुक्तमन्त्र को अन्त्यजों को दीक्षा देने का समर्थन किया तो शास्त्रार्थ का हो–हल्ला मच गया। दो दिन मालवीय जी का व्याख्यान हुआ, अपने पक्ष के उपस्थापन में –स्वामी जी ने शास्त्रीय पक्ष उपस्थित किया–परस्पर विचार–विनिमय चला। ····दोनों पक्ष के वचन सभा में सभी जनता के सामने आये। अन्ततोगत्वा महात्मा जी ने श्री गौरीशंङ्कर जी से पूछा कि दोनों पक्ष की बाते सुनी तुमने उसमें क्या समझा? क्योंकि बुद्धि का स्वभाव है कि वह तत्व पक्षपातिनी होती है। गौरीशङ्कर जी ने कहा कि महाराज शास्त्र का तात्पर्य तो यही समझ में आता है कि प्रवणयुक्त मन्त्र की दीक्षा अन्त्यजों को नहीं होनी चाहिये, फिर जयदयाल गोयनका से पूछा तो उन्होंने कहा कि महाराज वचन तो दोनों प्रकार के हैं परन्तु निषेध वचवन प्रबल हैं। –पत्रकारों के पूछने पर मालवीय जी ने कहा कि तुम लोगा पत्रों में शास्त्रार्थ की चर्चा ही मत करो। सुनने में आया है कि गौरीशङ्कर गोयनका ने 'मननीय–प्रश्नोत्तर' नाम से इस इस शास्त्रार्थ की पुस्तक भी प्रकाशित की थी: ·····कहते है मालवीय जी के मुख से यही शब्द निकले की स्वामी जी आपके मुख से संस्कृत वाङ्मयी उत्तरमीमांसा–पूर्वमीमांसा की वह गंगा यमुना सी प्रवाहित हो रही थी कि मैं तो हक्का–बक्का ठगा–सा उसमं अवगाहन कर रहा था–उसकी अलौकिकता का आनन्दानुभव अनुपम है मुझे कुछ कहना ही नहीं हैं।''

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

सन् १९४०! श्री पं. सभापति उपाध्याय जी ने काशी के विद्वानों कीा सभा में प्रमुख प्रस्ताव रखा कि पंडितों का संगठन किया जाय। महामहोपाध्याय पं. हरिहरकृपालु

द्विवेदी जी ने कहा कि 'एकोद्देश्य परायण समस्त जनान्तः करणत्वा-परनामधेय स्वरूप ही तो संगठन है। वह तो असंभव है, हो ही नहीं सकता। इस पर स्वामी श्री करपात्री जी महाराज जो उस सभा के अध्यक्ष थे, उन्होंने अपने भाषण में कहा कि 'जो काशी के पंडित एकोद्देश्यपरायण समस्त जनान्तः करणत्वापरनामधेय स्वरूप संघटन का लक्षण करके उसका खंडन करते है, वे क्या संगठन का यह लक्षण करके उसका मंडन नहीं कर सकते।' पंडित जी शान्त थे, निरुत्तर थे।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

एक अन्य अवसर पर यही महोपाध्याय जी ''अकामः सर्वकामोवा मोक्षकाम उदार धीः। तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम्।'' इस श्लोक में उलझ गये। स्वामी जी ने कहा कि 'पंडित जी आप जैसे कह रहे हैं-वैसा अर्थ इस श्लोक का नहीं है।' पं. जी ने कहा कि ''मैं रामानुज सम्प्रदाय का अर्थ कर रहा हूँ।'' स्वामी जी ने कहा कि 'मेरा वह ग्रन्थ देखा हुआ है, वहाँ भी ऐसा अर्थ नहीं है।' तक पंडित जी ने कहा कि 'मैं तिंगल सम्प्रदाय की दृष्टि से अर्थ कर रहा हूँ'- स्वामी जी ने कहा कि 'वह ग्रन्थ मेरा देखा हुआ है, वहाँ भी ऐसा अर्थ नहीं है'-इस पर विचार विनिमय की बात चली और ज्ञान वापी में विचार-विनिमय होने के लिये निश्चय हुआ। काशी में बातों-बातों में यह बात फैल गई। ज्ञानवापी में सभी लोग विद्यार्थी पंडित शास्त्रार्थ सुनने के लिये आतुर होकर एकत्रित हुये अन्ततोगत्वा वहाँ श्री पं. हरिहर कृपालु जी आये ही नहीं। इस घटना के पश्चात् उन्होंने कई बार सन्देश भेजा कि मिलना चाहता हूँ। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि मैं अब बिना शास्त्रार्थ के मिलूँगा ही नहीं। अन्ततोगत्वा जब पं. हरिहर कृपालु जी से न रहा गया तो महाशय जी दो विद्यार्थियों को मनाकर, नारियल-माला-पुष्प लेकर रात्रि के समय श्री स्वामी जी महाराज के निवास स्थान पर पहुँचे। माल्यार्पण कर नारियल भेंट करके साष्टाँग दंडवत् किया फिर स्वामी जी का करुणावरुणालय उमड़ पड़ा और महामहोपाध्याय पं. हरिहर कृपालु द्विवेदी प्रधानाचार्य श्री गोयनका संस्कृत महाविद्यालय काशी, स्वामी जी के अनन्य भक्त बन गये।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

३ फरवरी १९४४ ई.। धर्मनगर दिल्ली के महायज्ञ के अवसर पर 'सनातनदिग्विजयमण्डल' की ओर से 'सनातन धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध जिन्हें सन्देह हो, वे पधार कर उसे दूर करा लें'-ऐसी घोषणा की गई थी। उसी आयोजन में कुछ आर्य समाजी, पण्डित आये। दोनों पक्षों ने स्वामी जी करपात्री जी को मध्यस्थ नियुक्त किया। पहले तो वे हिन्दी में जबानी शास्त्रार्थ की जिद करने लगे, परन्तु यहाँ लेखबद्ध और वह भी संस्कृत में शास्त्रार्थ का नियम पहले से ही बना था। उन पण्डितों ने दो चार प्रश्न किये और उत्तर पाये कि बस शास्त्रार्थ समाप्त भी

हो गया। कोई शंका उपस्थित करने का साहस ही नहीं करता था कहीं ठीक से पक्ष रख भी पायेगा कि नहीं। मंडल की ओर से घोषणा की गयी, कि समाधान न हुआ हो तो पुनः कल पधारें–परन्तु दूसरे दिन कोई नहीं आया, और केवल मनमाने नोटिस छाप दिये गये–इस पर स्वामी जी की घोषणा दिल्ली के उस मंच पर उस दिन २–३ लाख की जनता के मध्य हुई। उसके शब्द आज भी उतने ही गर्म है। उनका कथन था–''है कोई माई का लाल, जो शास्त्रार्थ के लिये सामने आये। जिसकी छाती में काला बाल होय, जिसने अपनी माता का दुग्धपान किया हो, तो सामने आकर शास्त्रार्थ में भाग लेकर हमें तृप्त करे। यह कहाँ की बुद्धिमानी है कि जो जी में आये अनर्गल प्रलाप नोटिसों में छाप दिया और शास्त्रार्थ समाप्त''– बार–बार घोषणा करने पर भी किसी भी विद्वान ने इस महात्मा को शास्त्रार्थ की भिक्षा देने का साहस नहीं किया।''

साप्ताहिक 'सिद्धान्त' काशी में एक अद्भुत शास्त्रार्थ प्रकाशित हुआ। पूज्य श्री स्वामी रामदेव जी महाराज ने पक्ष रखा कि 'सन्यास आश्रम त्याग का आश्रम है, संग्रह का नहीं। भगवान् कृष्णद्वैपायन कह रहे हैं कि 'मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्य,' 'न कर्मणा न प्रजया धनेन् त्यागेनैके अमृतत्व मानसुः'– त्याग से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। अतः सन्यास आश्रम के बाद फिर मठों का संग्रह, लक्ष्मी का संग्रह उचित नहीं है, आदि–आदि। इस पर स्वामी जी का कथन था कि 'सन्यास आश्रम त्याग का है, इसमें दो राय नहीं है, किन्तु साधारण स्वामी और आचार्य दीक्षा सम्पन्न सन्यासी में महान् अन्तर है। अग्निपुराणादि में समयाचार दीक्षा से आचार्यदीक्षा कही गई है। उसका निपुणता से उपपादन वीरमित्रोदय आदि निबन्ध ग्रन्थों में किया गया है। महर्षि जैमनी ने भी अपनी मीमांसा के पहले पाद में श्रुतियों का प्रामाण्य निर्धारित कर 'धर्मस्य शब्द मूलत्वाद शब्द मनपेक्षस्यात्'–इस सूत्र से श्रुतियों में, जिनका मूल नहीं मिलता, उनका अप्रामान्य है ऐसा पूर्वपक्ष करके 'अपि वा कर्तृ सामान्यात् प्रमाण मनुमानं स्यात् विरोधेत्वनपेक्षं स्यात् असति हयनुमार्न'' आदि सूत्रों द्वारा भले ही श्रुति में मूल न मिलता हो, किन्तु कोई विरोधिनी श्रुति न हो तो ऐसी भी स्मृतियों का प्रामान्य माना है। अतः आचार्य दीक्षा सम्पन्न सन्यासी के लिए मठादि संग्रह शास्त्रानुमत है, शास्त्र निषिद्ध नहीं।

४–५ जुलाई सन् १९६५ : हरिद्वार–गोघाट कें पास गंगा पार। श्री मन्माधव सम्प्रदायाचार्य भण्डारकेरी–मठाधीश्वर श्री विद्यामान्य तीर्थ स्वामी जी महाराज कर्नाटक से पधारे तो उन्होंने अद्वैतसिद्धान्त मत को आसुर मत बताकर अद्वैत सिद्धान्त में दृढ़ श्रद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये आवाहन किया–अपने नोटिस में उन्होंने ''असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्पर सम्भूतं किमन्यत्काम हेतुकम्।।'' श्रीमद् भगवद्गीता के श्लोक का उद्धरण देकर उसका प्रतिपाद्य अद्वैतमत

बताया, तथा घोषित किया गया था कि यदि उन्हें कोई हरा देगा तो उसे ५००० सत्कार स्वरूप दिया जायेगा'' श्री स्वामी करपात्री जी ने चुनौती स्वीकार की। शास्त्रार्थ का स्थल समय सब निर्णीत हो गया। दोनों पक्षों की ओर से शास्त्रार्थ की शर्ते तय हुई और मध्यस्थ चुने गये महा-मण्डलेश्वर श्री भागवतानन्द जी महाराज। शर्तनामे पर वादी पक्ष के रूप में श्री स्वामी करपात्री जी महाराज के, प्रतिवादी पक्ष की ओर से श्री भागवतानन्द जी महाराज के हस्ताक्षर हुए और शास्त्रार्थ देववाणी संस्कृत में प्रारम्भ हुआ। प्रथम जिन रविवार ४ जुलाई को रात्रि ९ बजे तक बड़ा सुन्दर, रोचक, पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रामाणिक रूप से उभयवादी-प्रतिवादी ने अपने-अपने पक्ष उपस्थित कर अपने-अपने समर्थन में तर्क प्रस्तुति किये। दूसरे दिन ५ जुलाई को ६ बजे सायं पुनः सभा आरम्भ हुई-प्रतिवादी महोदय का पक्ष दुर्बल पड़ने लगा-एक स्थान पर आपने अपने ही आचार्य श्रीमत मध्वाचार्य द्वारा श्री मद्भगवत् गीता के भाष्य के विरुद्ध बोलने वाला पराजित होगा-इस पर उभय पक्ष एवं मध्यस्थ तीनों के हस्ताक्षर थे। अतः जब पुनः तर्क उपस्थित करने पर भी उन्होंने अपने ही आचार्य की उक्ति के विरोध में अभिमत प्रकट किया तो मध्यस्थ ने उन्हें पराजित घोषित किया और प्रतिवादी श्री विद्यामान्य तीर्थ जी महाराज बीच में से उठकर चले गये। स्वामी जी करपात्री जी महाराज सर्वसम्मति से विजयी घोषित किए गये। शास्त्रार्थ विजय के पश्चात् मण्डलेश्वरों की ओर से बड़ी ही सुन्दर महर्घ रूद्राक्ष की माला और फल पुष्पादि समर्पित कर कहा गया कि हम लोग विजयोत्सव यात्रा निकालना चाहते हैं। आपकी शोभा यात्रा हाथी पर निकालने का आयोजन है परन्तु इस तपस्वी विद्वान् सन्यासी विजयी शास्त्रार्थी ने उनसे कहा कि 'ऐसा करना उचित नहीं शास्त्रार्थ तत्त्व-निर्णय के लिये होता है, किसी के पराभव के लिये नहीं-तत्त्व निर्णय हो गया अब विषय-वाद-विवाद समाप्त हो गया समझना चाहिये। स्वामी जी अपनी प्रतिष्ठा, मान, लाभ इत्यादि के लिये शास्त्रार्थ के पक्षपाती नहीं है, उनका सिद्धान्त है ''वादे वादे जायते तत्त्व बोधः।''

यहाँ कुछ गिने चुने प्रसंग ही उपस्थित किये गये हैं। वास्तव में स्वामी जी के गत ५५ वर्षो की दिनचर्या जिन्होंने देखी है, जिन्हें इनके भाषण सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, वह चाहे किसी जाति, धर्म, मत, मजहब का मानने वाला हो, किसी भी राजनीतिक विचारधारा को मानने वाला हो, दार्शनिक हो या कर्मकाण्डी, नास्तिक हो या राजनीतिक-समाजसेवी-उसने इस महात्मा के शब्दों में सदा सर्वदा एक प्यास भरी चुनौती के दर्शन किए हैं, जो आवाहन-सा करता फिरता है विपक्षियों का वाद-विवाद द्वारा तत्व निर्णय के लिये अपने प्रत्येक भाषण में उतने प्रश्न करने की छूट देता है, जितने वह कर सकता है, और अन्तः में सभा स्थल को तब छोड़ते है जब सब श्रोताओं का, प्रश्नकर्ता का समाधान हो जाता है। ऐसी

अधिकारिक एवं चुनौती से भरी वाणी में बोलने वाला शास्त्रार्थी आज दूसरा नहीं दीखता, जिसकी शास्त्रार्थ द्वारा तत्व निर्णय करने की पिपासा को शान्त करने वाला शायद वर्तमान काल में उत्पन्न ही नहीं हुआ है। आवश्यकता है आज देश के विचारक, विद्वान्, मनीषी लेखक, पत्रकार, सम्पादक, शिक्षक, प्राध्यापक, प्राचार्य, वकील, जज, राजनीति शास्त्र के अध्येता आदि विशिष्ट-विशिष्ट विद्वानों की गोष्ठियों का आयोजन किया जाये, जिसमें इस उद्भट विद्वान, त्यागी, निस्पृह शास्त्रार्थी महात्मा के विचारों को सुनकर संकलित किया जाये। जिसका अपना कोई स्वार्थ नहीं, जिसका सम्पूर्ण जीवन ही विश्व कल्याण की कामना से समर्पित है। आने वाली पीढ़ियाँ इनकी कृतियों का अध्ययन कर विस्मय करेंगी और सराहेगी उनके भाग्य को, जिन्हें इस महात्मा के दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ है। इस भीषण कलिकाल में जब सत्य-असत्य की पहिचान नहीं हो पा रही है, चारों ओर पाखण्ड-प्रमाद का बोल बाला है, सन्मार्ग को कुमार्ग से आच्छादित कर लिया है-इसका ही विवेक नहीं हो रहा है कि कौन सद्ग्रन्थ है, कौन सद्सिद्धान्त? -ऐसे भयावह उल्वण वातावरण में पूर्ण रूप से वैदिक सनातन शाश्वत:सिद्धान्- रूपी दीपक की लौ को येन केन प्रकारेण संजोये हुये यह ऋषि अहर्निश वेदों की रक्षा में प्राणपण से तत्पर है।

***

दिनचर्य्या

(यो तो प्रसंगवश स्वामी जी के रहन-सहन, जप-पाठ-पूजन-भजन, अध्ययन, लेखन, भाषण आदि से सम्बन्धित कुछ न कुछ सांकेतिक वर्णन अन्य निबन्धों में भी आया है, परन्तु उनकी वैदिक दिनचर्य्या के विषय में कुछ विशिष्ट-२ तथ्यों का उल्लेख न करना कृपणता ही होगी। सार रूप से कुछ विवरण यहाँ प्रस्तुत कर लेखनी को पवित्र करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सका है।)

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

एक ढाई गज का कपड़ा एवं दो लंगोटी मात्र रख कर भयंकर शीतोष्ण वर्षा का सहन करना इनका अट्ठारह (१८) वर्ष की आयु में ही स्वभाव बन गया था। त्रिकाल स्नान, ध्यान, भजन, पूजन तो चलता ही था। विद्याध्ययन की गति इतनी तीव्र थी कि सम्पूर्ण वर्ष का पाठयक्रम घण्टों और दिनों में सांगोंपांग हृदयंगम कर लेते।.....गंगातट पर फूँस की झोपड़ी में एकाकी निवास, मधुकरी भिक्षा चौबीस घन्टों में एक बार। भूमिशयन। निरावरण चरण (पद) यात्रा। गंगातट नरवर में प्रत्येक प्रतिपदा को धूप में एक लकड़ी की कीली गाड़ कर एक टाँग से खड़े होकर तपस्या रत रहते, चौबीस घन्टे व्यतीत होने पर जब सूर्य की धूप से कीली की छाया उसी स्थान पर पुनः पड़ती, जहाँ २४ घन्टे पूर्व थी, तब दूसरे पैर का आसन बदलते-ऐसी कठोर साधना की किशोर हर नारायण ने। 'हरिहर चैतन्य ने।'

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

लगभग पचास वर्षो से नमक एवं मीठे का परित्याग कर स्वादेन्द्रिय (जिह्वा) पर पूर्ण नियन्त्रण।....कालान्तर में अन्न का भी परित्याग। हाथ के कते बुने, गेरु से रंगे वही दो शस्त्र-एक दण्ड, एक कमण्डलु या हांडी रखते। पवित्र, ब्राह्मणों के यहाँ की भिक्षा। कुएं के जल अथवा गंगाजल में पकी वस्तु को ही गृहण करते हाथ पर रखकर करो में ही भोजन करते, किसी भी पात्र में नहीं।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

बीस-बीस मील पैदल भ्रमण। राजस्थान के रेगिस्तान में पैरों पर कपड़ा लपेट कर पद-यात्राएं तो कश्मीर अमरनाथ यात्रा प्रसंग में बर्फ पर भी पैदल, कहीं-कहीं लेट-लेटकर केवलएक कोपीन और ढाई गज के वस्त्र में यात्राएँ।

प्रारम्भ में तीसरे दिन भोजन, फिर चौथे दिन दिफर पांचवे दिन इस प्रकार

पांच-पांच और नौ, नौ दिन तब अहर्निशा निर्जल व्रत पूर्वक पैदल धर्मयात्रायें, योग साधना, भाषण, पूजन-लेखनादि कार्य और फिर सात दिन के उपरान्त श्री मदभागवत का सप्ताह पारायण करके फलाहार ग्रहण करना।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

प्रतिदिन दशमील भ्रमण। रात्रि के डेढ़ बजे शैय्या त्याग, पूजन, आसन पर बैठ जाना। घन्टों वेद भाष्य लेखन। पूजन में त्रिकाल नियमों का पालन। साढे तीन घंटे का शीर्षासन, एक समय सांय पांच बजे साधारण भोजन। निर्जल, एकादशी व्रत, पूर्णिमा सत्यानारायण व्रत कथा प्रसंग श्रवण। दुर्गासप्तशती, सौन्दर्यलहरी आदि का पाठ, श्री विद्या उपासना। नित्य महारुद्राभिषेक अनुष्ठान।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

उपर्युक्त शास्त्रीय दिनचर्य्या के साथ-साथ विश्व की राजनीति का अद्यतन ज्ञान, उस पर विचार एवं तर्कसंगत युक्ति-युक्त टिप्पणियां एवं वक्तव्य देना। देश की सम्पूर्ण राजनीतिक गतिविधियों पर निकटतम दृष्टि रखते हुए भी सर्वदा निर्लै पावस्था में रहकर अध्यात्मचिन्तन रत रहना। महान् ग्रन्थों की संरचना।

सारांश, स्वामी जी के व्यक्तित्व में एक साथ अनन्तगुणों का समन्वय परिलक्षित हैं। वे एक परम भावुक भक्ति रस के प्रतिष्ठापक आचार्य एवं भगवदभक्त हैं, एक अत्यन्त नि:स्पृह, निर्मम पर मधुर दार्शनिक हैं; साक्षात शंकर स्वरूप में मूर्तिमान वेदान्त है; मोटे-मोटे रुद्राक्षों की मालाएं एवं त्रिपुण्डधारी, रुद्राष्टाध्यायी द्वारा महारुद्राभिषेक पूजन, में नितर परम शैव है; श्री राम जयराम जय जय राम के राष्ट्रमन्त्र के उन्नायक परम रामोपासक है; श्री मदभागवत एवं भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आन्नदकन्द के चरित्र वर्णन में अपने तपस्वी-ज्ञानी, दार्शनिक-योगी के स्वरूप से ऊपर उठकर श्री मन्नन्दराय एवं माता यशोदा के ललन एवं रासरासेश्वरी नित्यनिर्कूजेश्वरी श्री राधारानी के लोकोत्तर परमपावन चरित्र वर्णन में जब वे गलश्रुधार होकर भक्तिसागर में अवगाहन करने लगते हैं; तो उनका परम वैष्णव रूप मुखर हो उठता है। इस समय शालग्राम-पूजन, तुलसी एवं वैजयन्ती मालाओं को धारण किये उन्हें चाहे जब देखा जा सकता है। स्फटिक मणिमाल पहिनकर भगवती त्रिपुर, सुन्दरी महाशक्ति का साङ्गोपांग सविधि नित्य पूजन करते समय केशर कस्तूरीयुक्तपीतचन्दन चर्चित ललाट पर त्रिपुण्ड के मध्य में श्री विद्या की उपासना की प्रतीक रक्तिमय-कुकुंम की बिन्दिया उनके शाक्त स्वरूप को उजागर करती है।

सारांश यही कि स्वामी जीने अपनी वाणी एवं लेखनी के माध्यम से वैदिक संस्कृति, सभ्यता एवं धर्म के समन्वयवादी उदान तथा विश्व कल्याणकारी स्वरूप को सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करके दो महान् उपकार किया ही है, उन्होंने अपनी वैथ्दक दिनचर्या के द्वारा इन शाश्वत सिद्धान्तों के शुद्ध स्वरूप को व्यवहारिक रूप

देकर सिद्ध कर दिया है कि वेद, शास्त्र, धर्म, गौ, गंगा, मन्दिर साधु, शिखासूत्र आदि से युक्त भारतीय संस्कृति वास्तविक संस्कृति है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणपति, शक्ति, राम, कृष्ण आदि में एक ही ब्रह्म की सत्ता समायी है। इनकी उपासना उसी परब्रह्मा की उपासना है। सभी सम्प्रदायों को समन्वय एवं सामन्जस्य की भावना से अपने-अपने साम्प्रदायिक कर्मों का वेद शास्त्रोक्त विधि-विधान से अनुष्ठान करना चाहिये। न कोई सम्प्रदाय छोटा है न बड़ा, न कोई पूजा पद्धति न्यून है न हेय, न कोई देवता लघु है न त्याज्य। व्यापक उदार दृष्टिकोण पूर्वक स्व-स्व सम्प्रदायानुसार निश्छल मन से सत्य निष्ठा, लगन, श्रद्धा एवं विश्वास पूर्वक विश्व कल्याण कामना से अनुष्ठान रत रहने की शिक्षा-प्रेरण इन भोगवादी युग में यह महात्मा अपनी दिनचर्या के द्वारा आज भी दे रहा है।

***

संन्यासी की समाज सेवा

भारतवर्ष में 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों, उपदेशकों, नेताओं एवं समाज सेवकों द्वारा अपने-अपने दृष्टिकोण से किया जा रहा है। समाज के कल्याण की कामना से विभिन्न-विभिन्न महानुभावों ने भिन्न-भिन्न संस्थाओं, सभाओं की स्थापना भी की है। समाज-सुधार, समाज-कल्याण, समाज-उत्थान के नाम पर इतने समाज-सेवक, समाज-सुधारक और सामाजिक नेता अग्रसर है कि इसका वास्तविक रूप ही आज गड़बड़ा गया है-सभी तो छिछली राजनीति के प्रवाह में बह रहे हैं। भारतवर्ष एवं धर्मप्राण देश है, परन्तु इसकी इसी धार्मिकता, आध्यात्मिकता एवं विशेषता को भुलाकर इसे पूर्ण अधार्मिकता, भौतिकता एवं लौकिकता की आर उन्मुख करने में ही राष्ट्र के कर्णधार प्रवृत्त हो रहे हैं, ऐसा अनुभव एक संन्यासी का हुआ। एक ऐसे संन्यासी को जो मात्र लंगोटी पहनता है, हाथ पर खाता है, धरती पर सोता है, जिसका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, जो पूर्णरूप से धार्मिक कार्यकलापों में रत रहते हुये निवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर हैं, जिसने सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का गहन-गम्भीर अध्ययन किया है, जिसने अपनी समस्त लौकिक कामनाओं को जीत लिया है, जो न नमक का स्वाद जानता है, न मीठे के स्वाद से अब परिचित है, जिसने अनेक सद्ग्रन्थों की रचना की है, अनेक यज्ञों का अनुष्ठान सम्पन्न कराया है, जो पूर्णरूप से परमार्थ पथ के पथिक होते हुए भी इसी समाज में रहता है, इसी के हित की बात सोचता है, इसी के कल्याण में लगा है। लोककल्याणकारी कार्यकलापों में रत रहते हुये भी जो लौकिक सांसारिक झमेलों से दूर एक तटस्थ, निर्लेप योगी की जीवन बिताता है। जब आधुनिक युग के उस महानयोगी संन्यासी ने अधार्मिक बिलों का विरोध किया, हिन्दू-कोड का विरोध किया, भारत विभाजन का विरोध किया, गोहत्या का विरोध किया, धर्म विहीन समाज की स्थापना का विरोध किया धर्महीन राजनीति का विरोध किया, अधार्मिक शिक्षा का विरोध किया, तो उन समाज सुधारकों ने इस विरक्त संन्यासी का यह कहकर विरोध किया कि 'संन्यासी का राजनीति से क्या मतलब, समाज-सेवा से क्या अभिप्राय? उसे तो बस अन्तर्मुखी रहना चाहिये। उपर्युक्त बाह्य सामाजिक प्रवृत्तियों से संन्यासी को दूर रहना चाहिये.....आदि-आदि।'

उस तरुण संन्यासी स्वामी श्री करपात्री जी ने इनका उत्तर देते हुये कहा कि ''शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-सभी कुछ वर्णित है, अतएव प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों

मार्ग शास्त्रों में वर्णित है। जहाँ निवृत्ति मार्ग का वर्णन है वहाँ देह इन्द्रिय-मन-बुद्धि-सबकी चेष्टाओं का अत्यन्त निरोध तक कहा गया है। जिस समय पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि चेष्टाशून्य हो जाते हैं वही परागति है-वहाँ शुभाशुभ, सत्य-असत्य, धर्माधर्म सभी का त्याग अभीष्ट होता है।.....अतिनिर्विण्णमुमुक्षुओं, जिज्ञासुओं को भी संसार से अत्यन्त मुँह मोड़कर आत्मजिज्ञासा में लग जाना पड़ता है.....फिर भी ऐसा भी पक्ष है कि जो कृपण दु:खी प्राणियों को छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहते-

''नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको नान्यत्त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।'' तत्त्ववित् भी लोक सङ्ग्रहार्थ विविध कर्मों को करते हैं। जैसे बहिर्मुख दशा में भोजन, पान आदि में प्रवृत्ति होती ही है। फिर भी वे वस्तुत: अकर्त्ता, अभोक्ता, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ही है। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाला तत्त्ववित् युक्त और कृत्स्न कर्मकृत् ही माना गया है-अत: तत्त्वज्ञ महात्मा को बहिर्मुख दशा में लोक समाज के कल्याण कार्य में निर्लेप-भाव से रत रहना शास्त्रानुकूल है।

इस पर यह कहा गया है कि ''धर्मसनातन है, नित्य है, उसका कोई बाल-बांका नहीं कर सकता। फिर हमें उसकी रक्षा के टण्टे में क्यों पड़ना चाहिये?'' इसी तरह 'कलिकाल में धर्म का नाश अवश्यम्भावी है, फिर हमारे करने से क्या होगा? स्वामी जी का कथन है कि 'यह दोनों ही धारणाएँ अत्यन्त हानिकारक है। धर्म भाव्य है, अनुष्ठान साध्य है, उसका क्षय भी होता है। प्रवाह रूप से और अधिष्ठातृ देवरूप से वह नित्य भी है। काल में भी उसकी रक्षा का प्रयत्न सभी तरह आवश्यक है, जिस तरह ग्रीष्म में भी उष्णता निवारणार्थ और शीत में भी उष्णता सम्पादनार्थ प्रयत्न आवश्यक होता है। दण्डनीति के नष्ट हो जाने पर त्रयी (वेद एवं तत्प्रोक्त धर्म) संकटग्रस्त हो जाता है-'नश्येत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम।' वर्तमान में 'हिन्द-कोड' आदि के द्वारा वही दृदश्य सामने उपस्थित है। इस दृष्टि से राननीति की उपेक्षा बड़ी ही घातक नीति है, अतएव राजनीति-सहकृत-धर्म एवं धर्म-नियन्त्रित-नीति होनी चाहिये। इसके लिये धर्मज्ञ निवृत्ति परायण महात्माओं का भी ओर प्रयास अपेक्षित है।

जो यह कहा जाता है कि संसार यद्यपि कुत्ते की पूँछ के समान टेढ़ा ही है, जैसे कुत्ते की पूँछ घृत, तेल का प्रयोग कर सीधा करने का लाख प्रयत्न करने पर भी बाँस की नली में डाल कर रखने पर भी टेढ़ी रहती है,वैसे ही लाख प्रयत्न करने पर भी संसार की अपनी वही रफ्तार बेढ़ंगी रहेगी, तथापि 'अवतारों, ऋषियों, महर्षियों ने अपने-अपने समय में काम किया है। अपरिगणित प्राणी उन प्रयत्नों से आत्म-कल्याण में समर्थ हो सके है।' -स्वामी जी आगे लिखते है कि 'पूर्ण समर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान वह परमेश्वर मुख्य रूप से संसार को सन्मार्गगामी बनाने का जिम्मेदार है, जिसका यह संसार है। फिर भी, जब श्वान भी वहाँ बैठता है वहाँ लाङ्गल से स्थान को पवित्र करके बैठता है, तब कोई धार्मिक भक्त या ज्ञानी (निवृत्तिमार्गी-संन्यासी-

महात्मा) जहाँ रहेगा, उस स्थान, देश तथा वातावरण को शुद्ध रखना चाहेगा ही। समष्टि-व्यष्टि परस्पर एक-दूसरे के विशेष रूप से सम्बद्ध है। समष्टि का प्रभाव व्यष्टि पर व्यष्टि का प्रभाव समष्टि पर पड़ता ही है। पवित्र वातावरण एवं पवित्र देश, ग्राम आदि में रहने से साधना में बड़ी सुविधायें मिलती है। अपवित्र वातावरण वाले पवित्र देश, ग्राम आदि में रहने से अनेक असुविधायों होती है। मद्यपायी, वेश्यगामी, नास्तिक पुरुषों एवं कुलटा स्त्रियों के सन्निधान में रहने से उच्चकोटि के व्यक्तियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। सन्त भगवत परायण, परोपकारनिष्ठ, ब्रह्मात्मनिष्ठ प्राणियों के समागम से अपकृष्ट व्यक्तियों पर भी सत्प्रभव पड़ता है।'

स्वामी जी कहते है कि 'इस दृष्टि से कर्तव्य पालन पर दृष्टि रखकर कार्य करना आवश्यक है। जगत् को भगवत्स्वरूप समझकर सेवा बुद्धि से या जगत् को भगवत्सन्तान एवं कुपथ्याभिमुख रुग्ण समझकर या सन्निपातग्रस्त समझकर उसके सम्मान-अपमान का ध्यान न कर उसकी (समाज की) सेवा करना उचित है। जैसे पशु के विपरीताचारण का ध्यान न कर चिकित्सक-चिकित्सा करता है, वैसे ही जनता की, समाज की सेवा का भाव होना चाहिये। तत्ववित् के सामने शिष्यों के शतशः प्रश्न होने पर भी ज्ञान, अज्ञान, संशय, विपर्यय के भावों को जानता हुआ और समाधान करता हुआ भी वह जिस प्रकार अहंकार-ममकार से लिप्त नहीं होता, प्रत्युत् नाट्य एवं सिनेमा का दृश्य समझकर सर्वप्रपंचातीत रहता है, उसी तरह की स्थिति तत्त्ववित् (संन्यासी) लोक सङ्ग्रही धर्म संस्थापक की होती है। इसी उदात्त भावना से संन्यासी को भी समाज सेवा में अग्रसर होना अपेक्षित ही है।' स्वामी जी का स्पष्ट मत है कि 'समाज की बागडोर, अयोग्यों, नास्तिकों के हाथ में छोड़ देने से समाज का पतन ही होगा जो अन्ततोगत्वा सर्वनाश का कारण बनेगा।'

अपने ग्रन्थ 'मार्क्सवाद और रामराज्य' के उपसंहार में समाजहित एवं राष्ट्रहित के लिये विद्वानों, आचार्यो, महात्माओं, साधु-सन्तों, धार्मिकों आदि को निर्भय होकर आगे आने का आह्वान करते हुये यह लिखते हैं कि -'कुछ लोग कहते हैं कि उपासना का ज्ञान तो मन की चीज है। सब कुछ गड़बड़ होने पर भी महात्मा या विद्वान् को इन टण्टों से दूर रह कर भजन ही करना चाहिये। ठीक है, परन्तु शास्त्र एवं धर्मस्थान नष्ट हो जाने पर विद्वानों या महात्माओं का शण्डामर्क के तुल्य सरकारीगण हो जाने पर भजन करने का धार्मिक होने का मन भ कैसे कर सकेगा? आखिर धार्मिक, आध्यात्मिक, भावनाओं से ओत-प्रोत मन भी तो शास्त्रों एवं सत्पुरुषों की कृपा से बनता है, बिना शास्त्रादि के वैसा मन भी नहीं बन सकता है। यदि प्रह्लाद ने भी यही सोचा होता कि चलो पिता जी से विवाद कौन करे? मन में ही रामनाम जपते रहेंगे, ऊपर से पिता की बात मान लें, तो आज कोई रामनाम लेने वाला रह सकता था? परन्तु जब सच्चाई के साथ प्रह्लाद ने अपने जीवन को संकट में डालकर भी सिद्धान्त की रक्षा की तभी संसार

में सिद्धान्त की स्थिरता रह सकी। इस तरह विद्वान एवं महात्मा राजतन्त्र शासन में भी हस्तक्षेप करते थे। (फिर, अब तो जनतन्त्र-शासन है, इसी सिद्धान्तानुसार तो सर्वोच्च सत्ता जनता में ही निहित होती है। अतः वास्तविक राजा जनता ही होती है, अतः राजनीतिक दक्षता सम्पादन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम-कर्तव्य है। .....जनता के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है कि वह उदारता, गम्भीरता और दक्षता के साथ राष्ट्र एवं धर्म का हिताहित देखकर कर्तव्य का निर्धारण एवं पालन करे।) जहाँ न राजतन्त्र हो, न जनतंत्र हो, किन्तु अधिनायकतन्त्र (डिक्टेटरशिप) हो, वहाँ पर तो विशिष्ट दक्ष राजनीतिज्ञ विद्वानों एवं महात्माओं के सिवा दूसरा कोई कुछ कर ही नहीं सकता है। जनता का संग्रह, उसे प्रोत्साहन देना एवं क्रान्ति के लिये उसे तैयार करना भी उन्हीं (राजनीतिज्ञों) के वश की बात हैं। ऐसे समय में धर्म एवं धर्मशास्त्रों की रक्षा के लिए विद्वानों को सामने आना पड़ता है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि - 'स्थापयध्वमिमं मार्ग प्रयत्नेनापि हे द्विजाः। स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं भवेत्।। (सूत संहित ज्ञान योग खं. २०/५४) विद्वानों को वैदिक धर्म की स्थापना के लिये सुदृढ़ प्रयत्न करना चाहिये। वैदिक धर्म के स्थिर होने पर सब कुछ स्थिर हो जायेगा। यही यह भी कहा गया है कि 'जो समर्थ होने पर भी सर्व प्रकार से धर्मरक्षार्थ प्रयत्नशील नहीं होता, वह पाप का भागी होता है। माता-पिता की, गुरुजनों की या जनसमूह के धन-धर्म एवं प्राणों का विनाश हो रहा है, कोई समर्थ पुरुष बैठे-बैठे तमाशा देंखे। कुछ प्रयत्न न करे, यह प्रत्यक्ष ही पाप है-'

'यश्च स्थापयितुं शक्तो नैव कुर्याद विमोहितः।
यस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्त निर्णयः।।'

(सूत संहिता, २०/२/५५)

किन्तु जो समर्थ न होने पर भी यथाशक्ति धर्मशास्वतः मर्यादा की रक्षा के लिये प्रयत्न करता है, वह उसी पुण्य के प्रभाव से सब पापों से मुक्त होकर सम्यक् ज्ञान का भागी होता है। स्वामी जी कहते हैं कि 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि यम कहे जाते हैं। यह निवृत्तिमार्गानुसारियों के लिये बड़े ही महत्व के है। शौच, सन्तोष, स्वाध्याय आदि में कुछ गड़बड़ी क्षम्य भी हो सकती है, परन्तु यम के सेवन में तो पूर्ण तत्परता होनी चाहिये। इसीलिए कहा गया है-'यमान् सेवेत् सततं नियमान् मत्परः क्वचित्' (श्रीमद भा.), यमों का सेवन सर्वदा ही करना चाहिये। नियमों में सातत्य न होने पर भी काम चल सकता है। अहिंसा आदि का अभिप्राय है-मनसा, वाचा-कर्मणा, प्राणि-रक्षण करना, प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना, यही लोकरक्षण, प्राणिरक्षण, धर्मरक्षण राजनीति का मुख्यलक्ष्य है, यही क्षत-त्राण है। इसी कारण महात्माओं की इन कार्यों में प्रवृत्ति होती थी। कालकवृक्षीय-जैसे अरयवासी चाणक्य जैसे बालब्रह्मचारी, समर्थ स्वामी जैसे निवृत्ति निष्ठ लोग भी इसी काम में संलग्न हुए।

फिर भले ही इस काम में सफलता मिले अथवा न मिले, समुचित प्रयत्न कभी निष्फल नहीं होता। उसका अदृष्ट फल तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है, तभी तो भगवान् श्री कृष्ण ने कहा था –

''यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सन्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग् ज्ञानमवाप्नुयात्।।
धर्मकार्यं यतञ्छक्या नो चेत प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तर्त् पुण्यमत्र मेनास्ति संशयः।''

(महा. उद्यो. ९३/६)

लोकरक्षण, प्राणिरक्षण एवं धर्मरक्षण की इसी शास्त्रीय भावना से पूज्यपाद स्वामी करपात्री जी महाराज जैसे त्यागी, तपस्वी, विरक्त यति महात्मा भी गत पचास वर्षो से वैदिक धर्मावम्बियों का आह्वान करते हुए, सदभावनापूर्ण, सहिष्णु, धार्मिक व्यक्तियों के समाज निर्माण के लिए प्रेरित करते हुए अहर्निश मनसा–वाचा–कर्मणा इस पुनीत कार्य में रत है। उनका स्पष्ट मत है कि यदि सारे भारतवर्ष के साधु, सन्यासी, सन्त–महात्मा ही जो इस राष्ट्र का अन्न खाकर ब्रह्मचिन्तन करते हैं, समाज को धर्मशील एवं सदाचार युक्त बनाने में लग जायें तो समाज का, राष्ट्र का एवं विश्व का कल्याण सहज ही में हो सकता है।

***

जेल के अनुभव

अप्रैल १९४७ को स्वामी करपात्री जी ने भारत विभाजन-विरोधी आन्दोलन चलाया और भारत की अखंडता की रक्षा के लिये स्वयं सत्याग्रह करने सहस्त्रों धर्मवीरों के साथ गिरफ्तार होकर लाहौर जेल में सींकचों में बन्दी हुये। पुनः दिल्ली, मथुरा, आगरा, प्रयाग, काशी आदि की जेलों में विभिन्न अवसरों पर यातनायें सही। वहाँ जेलो के अन्दर का जो वातावरण इस कारुणिक महात्मा ने देखा तो उनकी आत्मा चीत्कार कर उठी। यों तो विभिन्न व्यक्तियों, समितियों ने जेल सुधार के लिये अनेक संस्तुतियाँ समय-समय पर की हैं, परन्तु एक त्यागी, तपस्वी, मनस्वी, मानवमात्र के कल्याण के लिये कृत संकल्प सन्यासी की क्या प्रतिक्रिया हुई, क्या विचार उनके मन में उठे, क्या सुझाव उन्होंने दिये-इनका किंचित् दिग्दर्शन कराना यहाँ अभीष्ट है, अतः अधिक न लिखते हुये, दूसरी बार की जेल यात्रा में आगरा सेन्ट्रल जेल में लिखे गये केवल दो लेखों को यहाँ पाठकों की जिज्ञासा-निवृत्ति हेतु यथावत दिया जा रहा है जिससे आज ३१ वर्ष पूर्व की जेलों की दशा एवं स्वामी जी के तत्सम्बन्धी विचारों से अवगत हुआ जा सके।

(१)

अखिल भारतवर्षीय धर्मसंघ के छठे महाधिवेशन (बम्बई) के प्रस्तावानुसार गोवध बन्दी, भारत की अखंडता, धर्म में हस्तक्षेप का न होना आदि के लिये दिल्ली में धर्मयुद्ध चल रहा था। भगवान् गोपाल कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा में गोवध न हो इसके लिये पन्त सरकार से प्रस्ताव की पहली मांग की गई। अलटिमेटम दिया गया कि ३० अगस्त से पहले यदि मथुरा में गोवध बन्दी न हुई तो वहां भी धर्मयुद्ध का मोर्चा स्थापित किया जायेगा। मथुरा आदि में मेरे भाषणों, कथाओं पर भी १४४ धारा द्वारा रोक लगा दी गई। २९ अगस्त को ही गुप्तचर विभाग के अधिकारी एवं कोतवाल आदि ने मेरे स्थान पर ही आकर कहा कि सरकार का आदेश है कि आज 'रात के १२ बजे तक आप मथुरा जिला छोड़ दें, न छोड़ने पर गिरफ्तारी होगी।' मैंने कहा 'मैं जिला छोड़ने की अपेक्षा गिरफ्तारी को अच्छा मानता हूँ।' उसी दिन रात को १० बजे कोतवाल साहब लारी लेकर मेरे यहाँ पहुँचे और मुझे लेकर मथुरा चले। 'दो व्यक्तियों के बिना मेरा काम चल न सकेगा इसलिए मेरे साथ दो व्यक्ति यहाँ से चलेंगे।' मेरे यह कहने पर कोतवाल साहब ने कहा कि 'और की गिरफ्तारी का आर्डर नहीं है।' फिर

कहने-सुनने पर वे दो व्यक्तियों को मेरे साथ ले जाने पर राजी हो गये। श्री बालचन्द्र दीक्षित तथा रामाधार ब्रह्मचारी मेरे साथ आये। जेल में मैं अकेला ही गया। स्थान पहले से ही साफ करके धुलाकर रखा गया था। दोनों व्यक्तियों के विषय में कोतवाल ने कहा कि कल कलक्टर साहब से पूछ कर ही इन लोगों को ले सकता हूं। वे दोनों व्यक्ति मथुरा शहर चले गये। दूसरे दिन और सत्याग्रही आ गये। मेरे पूजन-पाठ का क्रम चालू हो गया। मुझे 'ए' श्रेणी में रखा गया। पहले किसी वक्तव्य में यह कह दिया गया था कि सनातन धर्म की स्थिति बिगड़ती जा रही है, अतः गोपाल कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा में गोवध बन्दी के लिये अधिकाधिक प्रयत्न सभी महात्माओं, विद्वानों को करना चाहिये। यदि उचित काररवाई न हुई तो प्रभु के श्री चरणों में ही जन्माष्टमी से अनशनव्रत किया जायेगा। यद्यपि महात्मा, सन्त, छात्र, विद्वान सत्याग्रह में आ रहे थे, तथापि जन्माष्टी से व्रत प्रारम्भ कर दिया गया। कई दिन तक व्रत चला भी, परन्तु शुभ सूचना हो जाने के कारण तोड़ दिया गया।

कुछ महात्माओं, ब्रह्मचारियों और विद्वानों को 'बी' श्रेणी दी गई। शेष 'सी' श्रेणी में रखे गये। यह पता चलने पर कि जिस आर्डिनेन्स में हम सब लोग को लिया है, उसमें तीसरा नम्बर गुन्डों का है। सरकार को इस आशय की एक दरखास्त दी गई कि क्या सरकार इन विद्वानों, महात्माओं को गुन्डा समझती है? यदि नहीं, तो जब सन् ४२ के आन्दोलन में कांग्रेस ने अपने सभी सत्याग्रहियों को 'बी' श्रेणी की सुविधा दिलायी थी, तब इन सत्याग्रहियों को भी वह सुविधा मिलनी चाहिये। पर उसकी कुछ सुनवायी न हुई। जितने सत्याग्रही आते थे, सभी नजरबन्द रखे जाते थे। सत्याग्रह में अनेक दन्डी स्वामी, ब्रह्मचारी, यति तथा स्वामी अखन्डा नन्द जी (चित्रकूट) के शिष्यों तथा अन्यान्य गृहस्थ विद्वानों, संस्कृत पाठशाला गोवर्धन एवं धर्मसंघ विद्यालय के विद्यार्थियों एवं कर्मचारियों ने प्रमुख भाग लिया। फिर क्या था, जेल में ही अखन्ड भगवन्नाम संकीर्तन, ध्वजवन्दन भाषण आदि होने लगे। एक १२ वर्ष के बालक सुधाकर दीक्षित का भाषण प्रभावशाली एवं सम्बद्ध होता था, अतएव बहुत मनोहर था। श्री कन्हैया लाल पोद्दार, श्री गिरिराज धरणजी (मथुरा), सेठ रामरिखदास जी (बम्बई), श्री नन्दलाल शास्त्री, श्री चन्द्रशेखर शास्त्री आदि लोग बाहर से मिलने आये। श्री शिवमङ्गल सिंह एम. एल. ए. भी जेल का निरीक्षण करने आये।

इस तरह शान्तिपूर्वक भगवद्भजन में समय बीत रहा था कि २२ सितम्बर को प्रातः जेलर साहब ने आकर कहा कि 'तार आया है कि आप का परिवर्तन डिस्ट्रिक्ट जेल आगरा कर दिया गया। मजिस्ट्रेट मुकदमा करने आ गये हैं। आप जेल के फाटक पर चलें।' मुकदमे का नाटक हुआ, मजिस्ट्रेट ने ६ महीनें की सजा सुनायी और 'ए' श्रेणी में स्थान दिया। मेरे भजन पूजन के लिए दो व्यक्तियों का साथ जाना आवश्यक था, अतः जेलर साहब ने आई. जी. से फोन पर बात करके मेरे साथ जाने

के लिये दो व्यक्तियों को आगरा जेल भेजने की अनुमति ले ली। मेरे कहने पर उन्होंने पुलिस लारी का प्रबन्ध किया और स्वयं भी आगरा साथ आने के लिए चल पड़े। रास्ते में लारी खराब हो गयी और कालातिक्रमण होने लगा, जब जेलर साहब को मध्य मार्ग से ही लौट जाना पड़ा। हम लोग सायंकाल आगरा जिला जेल के फाटक पर पहुँचे।

उस समय जेलर साहब (श्री रामदत्त शुक्ल) न हीं थे। नायब जेलर मिले। इन्होंने १० 'बी' हम लोगों को ठहरने के लिये बतलाया। देखा कि दोनों तरफ छः-छः कोठरियाँ और बीच में बरामदा है। वह कबूतरों की बींट से भरा था। कुछ कैदियों ने आकर धोया, किन्तु गन्दगी नहीं गई दुर्गन्धि आ रही थी। कबूतरो की बींट भी पूरी धुल नहीं सकी थी। यह देखकर मैदान में नीम के पेड़ के नीचे आसन लगाया गया। एक अधिकारी ने (जिसका तबादला तीन-चार दिन बाद हो गया) बड़ा सौजन्य दिखलाया। तुरन्त रस्सी और मटका मंगवाकर साथ-साथ, कुयें पर जाकर वहाँ से पानी निकलवा लाये। दूसरे दिन अधिकारी वर्ग की ओर से कहा गया कि आपको जो चीज चाहिये, उसे शीघ्र लिखवाकर दें, जिससे आप लोगों के भोजनादि में विलम्ब न हो। बिछाने के लिये कम्बल, कट्टे और नये बर्तन मंगाये गये। काम करने के लिए आदमी भी मिल गये तथा कहा गया कि यहाँ जो चीज है सब आपकी सेवा में उपस्थित है, जो चीज नहीं है आप अपने हित-चिन्तकों से मंगाये। स्थनीय सेठ रमणलाल जी को सूचना दी गयी। यमुना जल और पुष्प आदि का प्रबन्ध वहाँ से हो गया। लोग मिलने आये। श्री छोटेलाल कानोडिया, श्री रामबिलाल दास, परशुराम पुरिया आदि ने अपने मुनीमों से फल आदि भेजा और सेवा की प्रार्थना की। मथुरा के पोद्दार जी ने खबर भेजी कि आज्ञा हो तो हम यमुना जल आदि का प्रबन्ध करें। स्थानीय धर्म संघ मन्त्री, अध्यक्ष आदि भी मिले। श्री गणेशीलाल जी के यहाँ से भी बिल्व पत्र, पुष्प आदि आने लगे। हमें जेल से खाद्य सामग्री लेनी नहीं थी, इसलिए प्रोफेसर रामस्वरूप शर्मा, श्री राधा गोविन्द जी, पण्डित गजानन सदाशिव शास्त्री प्रभृति लोगों के यहाँ से सामग्री आ गयी। बाद में मालूम हुआ कि जो वस्तुयें आती हैं वे फाटक से ही लौटा दी जाती है। जेलर साहब से पूछा गया कि क्या ऐसा होता है? उन्होंने कहा 'हाँ, बाहर से कोई भी वस्तु अलाऊ' नहीं है। ठेकेदार ही जो चीज लायें, खा सकते हैं।' कबूतरों की बीट से बचने के लिए एक तिरपाल के लिए कहा गया, किन्तु उसे भी अधिकारी वर्ग ने अस्वीकार किया। प्रतिदिन चारों ओर से टट्टियों की भयंकर दुर्गन्धि आती थी। वर्षा होने पर सारी कोठरियों में बड़े जोरों से जल चूता था। वहाँ बैठना तक कठिन था। सारी कठिनायी अधिकारियों के आगे रखी गयी। उन लोगों ने एक (दीवानी) वैरक दिखायी। किन्तु वहाँ भी चारों ओर से दुर्गन्धि आ रही थी, गन्दी नाली पास में ही निकलती थीं। हमने ४ नम्बर की बैरक के लिए कहा, पर अधिकारियों ने कहा कि वहाँ लड़के रहते हैं।' जब कहा गया कि उन्हें ६ नम्बर में,

जो एकदम खाली है, भेज दिया जाये और हमें ४ नम्बर की बैरिक मिल जाये, पर अधिकारियों की ओर से फिर भी अस्वीकृति का ही उत्तर मिला। जेलर ने कहा था– 'साहब, वर्षा अंग्रेजी तारीख से ११ सितम्बर को बन्द हो जानी चाहिए, पर इस साल वर्षा ही अधिक हो रही है। हमारे ही घर चू रहे हैं, हम कुछ नहीं कर सकते। जेलर साहब के इस उत्तर से तो हँसी आती थी कि एक जिम्मेदार व्यक्ति भी भला ऐसा उत्तर दे सकता है। अस्तु! फिर परामर्श के लिए वकीलों को बुलाया गया। श्री रामसहाय, श्री लक्ष्मी कान्त, श्री विष्णु नारायण टण्डन, श्री शिव शंकर जी आदि वकील आये। उन्हें इस अनुपपत्ति के साथ मथुरावाली दरख्वास्त की भी बात बतलायी गयी। फिर बाहर से कनात और पाल आ गया। उसी से किसी तरह हमारे लिए पूजन–पाठ का स्थान नीम के नीचे बनाया गया। मेरे साथ वाले दो व्यक्तियों के बन्द होने की बात उठी, पर वह भी सुप्रिण्टेण्डेण्ट साहब की व्यवस्था से ठीक हो गयी। दो जमादार, एक नम्बरदार तथा दो और आदमी मेरे यहाँ काम–काज तथा देख–रेख के लिए रखे गये। कुछ जमादारों ने मिलकर गन्दगी दूर करने का प्रयत्न किया। परन्तु सामान लौटाने की समस्या सामने थी। श्री लक्षमण प्रसाद पोद्दार आदि मथुरा से कूटू का आटा और श्री द्वारकाधीश भगवान का प्रसाद लेकर आये। वह भी लौटा दिया गया। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट से कहने पर उन्हें बाहर से दूध, चावल, दाल के आने के लिए अपनी अनुमति दे दी गयी। अब प्रायः बाहर से सामग्री आने लगी। इटावा के डॉक्टर टण्डन और डॉक्टर व्यास तथा मेडिकल सुपरिण्टेण्डेण्ट सेन्ट्रल जेल (आगरा) आदि ने भी सेवा के लिए प्रार्थना की। श्रीमती पालीवाल, राव साहब वेराली तथा पन्त जी के पार्लियामेन्ट्री सेक्रेटरी श्री गोविन्द सहाय आदि ने भी सेवा के लिए पूछा। पर अब व्यवस्था प्रायः ठीक होती जा रही थी, अतः सभी से यही कहा जा रहा था कि अब प्रायः व्यवस्था ठीक है। दुर्गादत्त त्रिपाटी एवं केशवमणि शास्त्री (काशी), नन्दलाल शास्त्री आन्दोलन की गतिविधि के बारे बातचीत करने आये। सांगवेद महाविद्यालय नरवर के प्रधानाध्यापक श्री विजय प्रकाश जी मिश्र और श्री रामचैतन्य ब्रह्मचारी आदि ने भी मुलाकात की। मुलाकात के लिए मुझे ही फाटक पर जाना पड़ता था। किन्हीं विशिष्ट लोगों को अधिकारी वर्ग अपने साथ मेरे स्थान पर पहुँचाते थे। श्री सेठ चिरंजीलाल लोयलका और वैद्य सीताराम मिश्र बम्बई आदि ने भी जेल में मुलाकात की। लोयलका जी तथा प्रोफेसर रामस्वरूप शर्मा के यहाँ से दूध का प्रबन्ध हो गया। कई बार गोबर से लिपवाने पर कोठरियों का कुछ संस्कार हो गया। एकान्त की दृष्टि से स्थान अच्छा था। यहां कैदियों में एक विशिष्ट व्यक्ति बंगाली बनर्जी थे। इनके पैर में दस सेर की बेड़ी पड़ी हुई थी। ये सात बार जेल जा चुके थे। इस समय भी उन पर अभियोग चल रहा था।

श्री कृष्णबोधाश्रम जी भी मिलने के लिए जेल में आये थे। राजा दुर्जन सिंह जी, म. म. श्री गिरिधर शर्मा, श्री वृजनाथ जी प्रभृति अनेक सज्जन राजनीतिक प्रश्नों

पर विचार करने के लिए आते थे। डाक्टर व्यास ने एक बड़ा ही सुन्दर तम्बू भेज दिया, जिससे शीत की भी बाधा टल गयी। पुष्प मिल जाते थे। गंगा न थी, यमुनाजल मिल ही जाता था। भजन पूजन की सुविधा सुन्दर थी ही। सबका भजन ठीक चल रहा था, इतने में जेलर साहब ने आकर कहा–'आज आपकी रिहाई है।'

(२)

❖ ❖ ❖

पूर्व के कारागार और आज के जेल एक ही वस्तु है। ये अपराधी की अपराध शुद्धि के लिए होते हैं। दण्डविधान से अपराधी पवित्र हो जाता है। यहाँ कुछ कष्ट तो होता ही है, परन्तु वह तपस्या के कष्ट के समान कल्याणकारक होता है। जो किसी धार्मिक, राजनैतिक कारणों से अन्यायीक शासकों द्वारा जेल में भेजे जाते हैं, उनका यह कष्ट तपस्या और संयम बनकर परमेश्वरी तुष्टि, प्रतिबन्ध निवृत्ति आदि में उपयुक्त होता है। यहां हर प्रकार का नियन्त्रण होने से भोग–विलास की वासनायें स्वतः क्षीण हो जाती है। गाना, बजाना, नाटक, सिनेमा, वेश्या, मद्य, द्यूत, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि किन्हीं नशीली वस्तुओं का सेवन यहाँ वर्ज्य है। स्त्रियो के सहवास की कौन कहे उनका दर्शन तक यहाँ नहीं हो सकता, कोई भी व्यक्ति यहाँ निर्व्यसन हो सकता है। विचारशील, सदाचारी यहाँ निर्विघ्नरूप से ध्यान, भजन, योगाभ्यास, वेदान्तविचार कर सकता है। धर्मसंघ के सत्याग्रही कहा करते थे कि यदि दो साल की जेल एक बारगी हो जाये, तो हम सिद्ध होकर ही यहाँ से निकलें। सचमुच सावधान पुरुषों के लिए ऐसी ही बात है। परन्तु घूसखोर कर्मचारियों के कारण यहां सज्जन दुःखी और दुर्जन प्रसन्न रहते हैं। इसीलिए यहां चोरी से द्यूत, मद्यपान, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, अफीम सब वस्तुएँ आ जाती है। शासकों की मूर्खता से गरीब तो याहं रोटी दाल के लिए भी रोता है, अत्याचारी, धोखेबाजों, धनिकों को यहा फल, दूध, घी, मास, अण्डा आदि बहुत सी वस्तुयें मिल जाती है। किसी भी भयंकर से भयंकर क्रान्तिकारी उपद्रवकारी को 'ए' श्रेणी दी जायेगी, बड़े–बड़े उपद्रवी गुण्डों को 'ब' श्रेणी मिलेगी, परन्तु उनसे कम अपराधी, शान्त सज्जनों को 'सी' श्रेणी में रखा जायेगा। कांग्रेसी सरकार आज अधिकतर गरीबों के ही वोट से सरकारी पदों पर आरूढ़ हुयी है, परन्तु उसके शासन में उन्हीं गरीबों को 'सी' श्रेणी दी जाती है, जिसमें उनका पेट भी नहीं भरता। बड़े–बड़े भले मानुस योग्य सज्जन, बुद्धिमान, बलवान, पहलवान तथा शास्त्री, आचार्य आदि विद्वानों को 'सी' श्रेणी दे दी जाती है, एक दुराचारी तथा बदमाश धनी को 'ए' तथा 'बी' श्रेणी मिलती है। गरीब सज्जन को 'सी' श्रेणी। एम. ए., बी. ए. अंग्रेजी के विद्वान को 'ए', 'बी' श्रेणी मिलेगी। परन्तु शास्त्री, आचार्यो को 'सी' श्रेणी दी जाती है, जिसमें मिलने वाली खाद्य सामग्री से उनका एक बार भी पेट नहीं भर पाता। घी, दूध, फल आदि न भी हो, केवल अन्न ही सही, परन्तु वह पेट भर

तो हो। आठ छटांक अन्न सबको बराबर दिया जाता है। 'ए' तथा 'बी' श्रेणी वालो को फल, सवा छटांक घी' ग्यारह छटांक दूध, चाय, मीठा आदि अलग मिलता है। यदि किसी आन्दोलन को अपराध माना जाये, तो सबसे कठोर दण्ड उनके प्रवर्तक को और अनुयायियों को अल्प दण्ड मिलना चाहिए। परन्तु यहां धर्मराज्य के विध्वंसक आन्दोलन के भी प्रवर्तक को 'ए' श्रेणी और उसके अनुयायियों को 'सी' श्रेणी मिलती है। यश्ह क्यों? माना कि बाह्य रहन-सहन के आधार पर जेल में श्रेणियों की व्यवस्था है, परन्तु कम से कम पेट तो गरीबों का भी भरना ही चाहिए। आठ छटांक का दिन में एक बार कलेवा करने वाले गरीबों के लिए यह क्या है?

पहले सदाचार और धर्म की प्रधानता रहती थी, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के धर्मोपदेशक यहाँ आते थे, धर्म-ग्रन्थ लोगों को सुलभ थे, जिससे लोग अपने आचार-विचार को ठीक कर लेते थे। परन्तु धर्मद्रोही शासकों ने उन व्यवस्थाओं को हटा दिया है जिससे कारावासियों को सच्छिक्षा और सद्विचारों द्वारा अपने पापों का प्रायश्चित करने का अवसर ही नहीं मिलता। प्रत्युत यहाँ आकर वे और अधिक व्यसनी और दुराचारी होकर निकलते हैं। यहाँ आकर शासकों की मूर्खता एवं अन्यायपरायणता का भी पूरा पता लगता है। कितने ही अपराधी बेदाग छूट जाते हैं, कितने ही निरपराधियों को कड़ी सजा या फांसी तक हो जाती है। अतः यदि यहाँ गम्भीर गुप्तचरों द्वारा वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जाय, तो न्याय में अधिक सुविधा हो सकती है।

कुटुम्ब में आसक्त प्राणी को अवकाश भी कम मिलता है। यहाँ के अवकाश का सदुपयोग किया जा सकता है। सन्ध्या, तर्पण आदि नित्यकर्म तथा उद्योग धन्धे भी सीखे जा सकते हैं। सद्ग्रन्थों का मनन और लेख भी अच्छे लिखे जा सकते हैं। लोकमान्य का 'गीतारहस्य' जेल का ही लिखा हुआ है। विधर्मी या धर्महीन शासकों तथा कर्मचारियों के कारण वहाँ भोजनादि की अत्यन्त अव्यवस्था रहती है। स्पर्शा-स्पर्श का कोई विवेक ही नहीं रहता, कोई भी जातिवाला भोजन बना सकता है, बांट सकता है। सुना है पूर्व के जिलों में कुछ विचार रखा जाता है। बर्तन और वस्त्र में भी यहाँ कोई विवेक नहीं रखा जाता, वही एक भंगी के काम में आकर पुनः ब्राह्मण के काम आ जाता है। यहाँ ब्राह्मण कैदी को जनेऊ आदि नहीं मिलते। इतना ही नहीं, दिल्ली के सत्याग्रह में तो धर्मवीरों के दण्ड, कण्ठी, माला, ठाकुर भगवान तक छीन लिये गये थे। उस समय सैंकड़ों धर्मवीरों ने अनशन व्रत करना प्रारम्भ किया था। दण्डी स्वामी श्री कृष्णानन्द जी तीर्थ ने इसी जेल में दस दिन का निर्जल अनशन कर धर्म स्वातन्त्र्य-संग्राम में अपना बलिदान दे दिया। स्वामी श्री कृष्णानन्द जी की मृत्यु का समाचार देशी-विदेशी पत्रों में प्रकाशित हुआ, तब सरकार की आंखे खुली और तब से दण्ड, माला, कण्ठी, ठाकुर आदि पर से प्रतिबन्ध हटा। इसी तरह सैंकड़ों धर्मवीरों को 'सी' श्रेणी में भी अपने आचार के अनुसार भोजन बनाने, खाने की सुविधा मिली। पहले-पहल हम लोगों के लिए दिल्ली जेल में सब नये

बर्तन मंगाये गये। पीछे फिर वही पुराने लोहे के बर्तन धर्मवीरों को दिये जाने लगे। इस पर धर्मवीरों ने सामूहिक अनशन चलाया, तब कहीं बर्तनों की सुविधायें मिली। असल में पुलिस और जेल के कर्मचारी किसी भी नालायक सरकार का साथ देने में सबसे आगे रहते आये है। देश-स्वातन्त्र्य संग्राम में यतीन्द्रदास के अनशन करके प्राणोत्सर्ग करने से कांग्रेसियों को जेलों में सुविधायें मिली। सन् ४२ के आन्दोलन में कांग्रेस ने अपने सभी बन्दियों को 'बी' श्रेणी दिलायी। परन्तु धर्मसघ के बड़े-बड़े योग्य विद्वानों और महात्माओं को उसी कांग्रेसी सरकार ने 'सी' श्रेणी में रखा। पुलिस ने धर्मवीरों के साथ घोर अत्याचार किया। पण्डित जवाहरलाल के बंगले पर गये सन्त सत्याग्रहियों को पुलिस द्वारा उठवाकर गन्दी नाली में पटकवा दिया गया, किन्हीं के पैर पकड़कर जमीन पर घसीटा गया, किन्हीं के ऊपर चढ़कर रगड़ा गया। ये सब कांग्रेसी सरकार के काले कारनामे हैं। किन्हीं को मोटर से गिराया गया, किन्हीं को बन्दूक से कुन्दों से मारा गया। उन धर्मवीरों का अपराध यही था कि गोमाता की हत्या रोकने और अपने धर्म पर कानूनी हस्तक्षेप न करने की माँग करने वे अपने ही देशवासी शासकों के पास गये थे। हम सभी को ऐसी भयंकर हवालात में बन्द किया गया कि नरक की भी यातनाएँ उनके सामने मात थी। किन्तु हम सब को सन्तोष इसलिए था कि हम लोग गोवध बन्दी, भारत की अखण्डता, धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए ये सब कष्ट सह रहे थे। मथुरा जिले से अधिकारियों को लिखा गया कि कांग्रेसी राजबन्दी 'बी' श्रेणी में रखे गये थे, तब धर्मसंघ के बन्दी 'सी' श्रेणी में क्यों रखे जा रहे है? परन्तु कोई उत्तर नहीं आया। हाँ फिर लाहौर, मथुरा तथा आगरा की जेलों में सन्यासियों को अपने दण्ड आदि ले जाने से नहीं रोका गया। मथुरा से प्रयत्न करने पर बहुत से धर्मवीरों को 'बी' श्रेणी दी गयी। दिल्ली में बहुत कम लोगों को 'बी' श्रेणी दी गयी थी, फिर भी सब प्रसन्न थे, कीर्तन, ध्यान, भजन में सब लगे रहते थे। हाँ, आजकल युक्त प्रान्त के जेलों में देखा गया है कि कुछ कांग्रेसी जाँच करने जाते हैं। परन्तु एक तो उनके साथ जेल के अधिकारी आदि रहते हैं, जिनकें भय से साधारण बन्दी कुछ बोल ही नहीं सकते। यदि किसी ने साहस करके लिख पढ़कर कुछ दुख निवेदन किया, तो भी ये सज्जन जेलर को ही वह पत्र देकर हंसते हुए चले जाते हैं, क्योंकि उन्हें तो केवल जांच करने की ही वाहवाही लेनी है। जब कुछ परिणाम नहीं निकलता, तब बन्दी सोचते हैं कि जब ये कुछ कर तो सकते ही नहीं, तो फिर जेल के अधिकारियों से ही विरोध क्यों करें? हाँ कभी-कभी सच्चे हितैषी नेता भी जांच करने के लिये आ जाते हैं। परन्तु अधिकारियों को साथ न रखकर यदि वे जांच करें, तब तो कुछ काम चल सका है। इसका अर्थ यह नहीं कि जेल के सभी कर्मचारी बुरे ही होते है, अनेक जेलों के कर्मचारी बहुत ही सज्जन है। वहां यदि कोई गड़बड़ी है, तो प्राचीन अत्याचारपूर्ण नियमों के कारण। अतएव आज जेलों के सर्वतोमुख सुधार की आवश्यकता है।

-मा. सन्मार्ग काशी।

विभिन्न कार्यकलापम्

ज्योतिष्पीठ-स्वामी जी के दीक्षागुरु ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरुशङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज २० मई १९५३ को कलकत्ते में ब्रह्मीभूत हुए, उन्हें काशी में जल-समाधि दी गई। अब प्रश्न था मठ के रिक्त स्थान की पूर्ति का। स्वामी जी ने देखा कि ज्योतिर्मठ वद्रिकाश्रम की गद्दी १६५ वर्ष पश्चात् सन् १९४१ में तो पुनः स्थापित हुई थी, जब अथक परिश्रम एवं खोज के उपरान्त पुज्य गुरुदेव को बड़े आग्रह एवं अनुनय विनयपूर्वक इस पीठ को गौरव प्रदान करने के लिये पीठ पर अभिषिक्त किया गया था। किन्तु अब पुनः रिक्त हो गई अतः इस पर किसी योग्यतम संन्यासी को ही अभिषिक्त करना चाहिये। सबकी ही दृष्टि पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी पर थी कि वह ही ब्रह्मीभूत शङ्करचार्य जी के पट्टशिष्य हैं और उन्होंने एक सभा में कहा भी था कि 'करपात्री मेरा उत्तराधिकारी है।' काशी विद्वत परिषद, अ. भा. धर्म-संघ, श्री शङ्कराचार्य शिष्य मण्डल, पूज्य महात्माओं, विद्वानों एवं प्रतिष्ठित सम्भ्रान्त नागरिकों की एक सभा काशी में आयोजित हुई जिसके निर्णयानुसार एक शिष्ट मण्डल पूज्य करपात्री जी की सेवा में इस पद को स्वीकार करने की प्रार्थना के साथ उपस्थित हुआ परन्तु वे धर्म-संघ, रामराज्य-परिषद इत्यादि के व्यापक कार्यक्रम को करते हुए इधर पर्याप्त समय नहीं दे सकते थे और इसी कारण अपने एक मात्र ध्येय जनता जर्नादन एवं धर्म की सेवा में एक सीमा तक व्यवधान पड़ने की सम्भावना से उन्होंने स्वयं इससे पृथक् ही रहने का निश्चय किया।

उधर भारत के विद्वन्मण्डल एवं साधु समाज ने एक मत से निर्णय किया कि पूज्यपाद परम वीतराग स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज को ही ज्योतिष्पीठ पर अभिषिक्त किया जाय। यद्यपि वे इसके लिये इच्छुक नहीं थे, उन्होंने मना भी कर दिया परन्तु फिर भी श्री करपात्री जी के विशेष आग्रह पर आपने ज्योतिष्पीठ का आचार्य पद स्वीकार कर लिया और लगभग बीस वर्ष तक बड़ी योग्यतापूर्वक पीठ का संचालन किया एवं आद्य श्री शङ्कराचार्य जी के सिद्धांत एवं परम्परा को वर्तमान भीषण काल में बड़ी ही गरिमापूर्वक आगे बढ़ाते हुये पीठ को गौरवान्वित किया। परन्तु १० सितम्बर, १९७३ की सायं ७ बजे भाद्र शुक्ल त्रयोदशी को आप ब्रह्मलीन हो गये। एक बार पुनः स्वामी जी के समक्ष ज्योतिष्पीठ के पद पर सुयोग्य विद्वान संन्यासी को अभिषिक्त कराने का अवसर उपस्थित हुआ। ब्रह्मलीन जगद्गुरु जी का अन्तिम

मन्त्रणा एवं प्रेरणा से परमवीतराग दण्डी संन्यासी श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज के नाम को काशीविद्वत-परिषद एवं अन्य सभी मान्य धार्मिक संस्थाओं ने, उसे स्वीकार करते हुये उन्हें ज्योतिष्पीठ बद्रिकाश्रम के जगद्गुरु शङ्कराचार्य के पद पर अभिषिक्त किया गया। अनन्तर दिल्ली, जोशीमठ आदि अनेक स्नानों पर महाराज के पट्टाभिषेक समारोह सम्पन्न हुए। जगद्गुरु जी ने ज्योतिष्पीठ के कार्य क्षेत्र में बड़े ही प्रभावशाली ढंग से धर्म कार्य को आगे बढ़ाया है।

तात्पर्य यह है कि उत्तराम्नाय ज्योतिर्मठ बद्रिकाश्रम के रिक्त पीठ के लिये योग्यतम, विद्वान्, निस्पृह, विरागी, दण्डी-संन्यासी को एक बार नहीं तीन-तीन बार खोजकर अभिषिक्त करा देने का कार्य आज के धर्म विहीन समाज के लिये भले ही कुछ महत्व न रखता हो परन्तु धार्मिकों के लिये यह स्वामी जी के जीवन की वह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है जिसके लिये वह सदा उनके ऋणी रहेंगे।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

बुद्धजयन्ती-सन् १९५६ में भारत की कथित सैक्यूलर सरकार द्वारा २४००वीं बुद्ध-जयन्ती मनायी गयी और जनता का करोड़ों रुपया उस पर व्यय किया गया। स्वामी जी ने कड़े शब्दों में स्पष्ट रूप से इस सरकारी तराजू के पासंगे की आलोचना की। उन्होंने कहा कि 'एक ओर बुद्ध के शिष्यों की अस्थियों का राजकीय सम्मान हो रहा है और दूसरी ओर भगवान राम का जन्म स्थान अभी भी हिरासत में है, क्या वही धर्म-पक्षपात-विहीनता है?'

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

साधुसंघ-सरकारी प्रचार करने एवं जनता की धार्मिक भावनाओं के स्वार्थ-सिद्धि करने के प्रयोजन से सरकार ने अ. भा. साधु समाज नामक संस्था को जन्म दिया। स्वामी जी ने इसका भी भण्डाफोड़ करने और सरकारी-साधु एवं सच्चे साधु का विभेद करने के प्रयोजन से अ. भा. साधु संघ की स्थापना की और जनता को सरकारी साधुओं से सचेष्ट रहने व सदा सत्य सनातन धर्म पर आरूढ़ रहने का सदुपदेश दिया।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

धर्मयात्राएँ-प्रश्न चाहे महा पंजाब समिति की माँगों का हो या होशियारपुर काण्ड का-जिसमें सरकार ने निरीह स्त्री-बच्चों तक पर लाठी प्रहार किया था, स्वामी जी ने कभी अन्याय अथवा अधर्म के अगो गर्दन नहीं झुकाई, वरन् उसका खुलकर प्रतिकार एवं विरोध ही किया। कभी बौद्ध-नास्तिकवाद का विरोध तो कभी साधु रजिस्ट्रेशन बिल का विरोध, कभी मन्दिर प्रवेश के विषय पर चुनौती तो कभी द्रविड़ मुनेत्रकषगम जैसे विघटनकारी आन्दोलन एवं द्रविड़स्तान का विरोध करते हुये यही अलमस्त, फाके मस्त महात्मा सुप्त भारतीय धार्मिक जनता को जगाते हुये तथा चेतना

का शंखनाद फूँकते भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक अपनी धर्मयात्राएँ करते ही रहे। इन्हीं दिनों स्वामी जी ने पाश्चात्य साहित्य का विशेष रूप से साम्यवादी साहित्य एवं दर्शन का अध्ययन किया और 'समाजवाद एवं साम्यवाद' पर कई ग्रन्थ लिखकर उनकी भारतीय वैदिक दृष्टिकोण से समालोचना की और जनता के प्रबुद्ध वर्ग की आँखे खोली। इनमें सबसे प्रमुख ग्रन्थ 'मार्क्सवाद और रामराज्य' के नाम से प्रकाशित हुआ जिससे वर्तमान समाजवादी जगत में खलबली मच गई। सुना गया कि पण्डित नेहरू ने महापण्डित राहुलसांकृतायन को इसके खण्डन का कार्य सौंपा। उन्होंने कलम उठाई परन्तु प्रमुख कांग्रेसी पत्र हिन्दू का ही मत था कि 'राहुल जी उस पर सटीक लेखनी नहीं उठा सके-देश का दुर्भाग्य है कि श्री करपात्री जी सरकार के आलोचक हैं, विरोधी हैं अन्यथा ऐसे ग्रन्थ का लेखक तो नोबल पुरस्कार जैसे सम्मान का पात्र होता। स्वामी जी ने पुनः 'राहुलजी की भ्रान्ति' नामक पुस्तक लिखकर सभी का निरसन कर दिया।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

हिन्दी रक्षा-जून १९५७ में पंजाब में 'हिन्दी रक्षा आन्दोलन चला। स्वामी जी ने तुरन्त घोषणा की कि पंजाबी गुरुमुखी का हम आदर करे हैं परन्तु उसे बलात किसी पर थोपा नहीं जा सकता' और फलतः स्वामी जी ने ३०१ सत्याग्रहियों एवं लगभग १५०० प्रदर्शनकारियों के साथ पंजाब के सचिवालय पर सत्याग्रह किया। उनके साथ अखिल भारतीय रामराज्य-परिषद के प्रधान स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज तथा अ. भा. धर्मसंघ के कार्यकारी प्रधान श्री स्वामी परमानन्द जी ने सत्याग्रह में भाग लिया। कहते हैं कि उस दिन तक के जत्थों में स्वामी करपात्री जी महाराज के सत्याग्रहियों का जत्था सबसे बड़ा था। स्वामी जी ने देश भर में घूम-घूमकर हिन्दी रक्षा आन्दोलन को सफल बनाने का प्रचार किया और उससे प्रेरित होकर सनातनी जगत् ने इस आन्दोलन में पूर्ण रूप सहयोग दिया। हिन्दू जनता ने दलगत राजनीति से ऊपर उठकर इस राष्ट्रीय आन्दोलन को सफलता प्रदान की।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

विश्वनाथ-वर्षो से जिसकी रक्षा करते आ रहे थे जिसके लिये स्वामी जी तथा उनके असंख्यों अनुयायियों ने कई बार जेल यात्राएँ की थी, आन्दोलन किये थे, प्रतिनिधि मण्डल भेजे थे, सरकार से उपासना पद्धति की स्वतन्त्रता की माँग की थी; आखिर १५ दिसम्बर, ५७ को पुलिस एवं कानून के बल पर तथाकथित हरिजनों ने घुसकर काशी विश्वनाथ मन्दिर की मर्यादा को भ्रष्ट कर दिया। मन्दिर में चारों और जंगले लगा दिये गये थे। शिवलिंग को कोई नहीं छू पाता था। काशी नरेश भी बाहर से दर्शन करते थे। मन्दिर में कोई भी जा सकता था। पर हरिजनों ने कहा कि हम शिवलिंग को छूकर दर्शन करेंगे। इसके पूर्व भी १७ फरवरी सन् १९५४ को जयन्ती

पर १० हरिजनों का जत्था पुलिस के साथ विश्वनाथ गया था। स्वामी करपात्री जी के साथ-साथ पण्डितों ने माला पहना कर उनका स्वागत किया और सुझाव दिया कि वे खिड़की से दर्शन कर लें, परन्तु स्वामी जी को गिरफ्तार कर लिया गया था·····अनन्तर पुनः १५ दिसम्बर ५७ को हरिजनों ने सिटी मजिस्ट्रेट और कोतवाल के साथ बलात् घुसकर फाटक की सिकड़ी और ताला छैनी से काट दिया। और जूतों सहित यथावत् अनेक व्यक्तियों ने घुसकर मन्दिर की अनादि मर्यादा को भ्रष्ट कर दिया।

स्वामी जी का कथन था कि 'जैसे अन्य सभी मतावलम्बियों को अपनी-अपनी पूजा-पद्धतियों के अनुसार पूजागृहों में उपासना करने का अधिकार है, इसी प्रकार सनातन धर्मावलम्बियों को भी अपने वेद-शास्त्रोक्त-विधानानुसार मन्दिरों में पूजा करने की स्वतन्त्रता होना चाहिये'-'प्रतिमापूजन की परम्परागत तथा शास्त्रीय पद्धति में किसी प्रकार की बाधा न डाली जाये'-परन्तु उपर्युक्त बलात् प्रवेश पर स्वामी जी ने कहा कि 'धार्मिक अत्याचार में प्रदत्त धार्मिक स्वतन्त्रता तथा धर्म निरपेक्षता की घोषणा केवल उपहास मात्र रह गई है।

उन्होंने अन्नपूर्णा मन्दिर में विद्वानों की सभा के बाद ५ जनवरी, १९५८ को ज्ञानवापी की सभा में स्वामी करपात्री जी ने घोषित किया कि धार्मिकों के लिये शिवरात्री के अवसर पर काशी में दूसरे विश्वनाथ मन्दिर की स्थापना होगी। ९ फरवरी, १९५८ को प्रातः मीरघाट पर स्वामी श्री रामानुजाचार्य देवनायकाचार्य जी महाराज ने नए विश्वनाथ मन्दिर का शिलान्यास किया। शिवलिंग नर्मदा से निकालकर काशी लाया गया। २१ फरवरी, १९५८ को वैदिक मन्त्रोच्चार के बीच मीरघाट स्थित मन्दिर में मूर्ति की वैदिक विधि विधानपूर्वक प्राण प्रतिष्ठा कर दी गई। पुजारियों को छोड़कर शिवलिंग तक कोई भी नहीं जा सकता। यद्यपि कुछ कथित सुधारवादी इससे सन्तुष्ट नहीं हैं परन्तु स्वामी जी का कथन है कि 'हमारी सनातन वैदिक पूजा उपासना पद्धति को इस प्रकार जबरदस्ती बदलने तथा हमारी पवित्र मर्यादाओं को बलात् भ्रष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं है। इसकी रक्षार्थ हमारा प्रयत्न पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहेगा। हां, यदि पुनः शुद्धि की बात मान लें तो यह विचार स्थगित किया जा सकता है।' उन्होंने सभी विरोधियों को परस्पर मिल बैठकर सैद्धान्तिक शास्त्रार्थ की विनम्र चुनौती दी परन्तु कोई माई का लाल आज तक इस 'सन्त' की चुनौती स्वीकार करने का साहस नहीं कर सका और शायद कोई ऐसा सपूत भारत में उत्पन्न ही नहीं हुआ है जो वैचारिक एवं शास्त्र सिद्धान्त के आधार पर इस परम तेजस्वी, उद्भट विद्वान, तपस्वी संन्यासी से शास्त्रार्थ करने का साहस भी कर सकेगा। आज भी यह सनातन-वैदिक-सिद्धान्तों की रक्षार्थ प्राण-पण से जुटा है।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

सम्मान-स्वामी जी के विचारों को यद्यपि आज के शुष्क राजनीतिक प्रतिक्रियावादी, प्रतियामी अथवा समय के प्रतिकूल बताकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं; परन्तु वर्तमान समय में सन्त तुलसीदास जी के पश्चात् ऐसा विद्वान तपस्वी, मनस्वी, महापुरुष दूसरा शायद नहीं हुआ जिनकी वेद, पुराण, दर्शन, साहित्य, षडङ्ग और धर्मशास्त्र में इतनी गहरी पैठ हो। भाषण एवं लेखन दोनों में आपका समान अधिकार है। यों तो गत पचास वर्षों में स्वामी जी के सैंकड़ों प्रवचन एवं लेख प्रकाशित हो चुके हैं और न्यूनाधिक चालीस पुस्तकों की संरचना से आपने संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के साहित्य में अभिवृद्धि कर महान कार्य किया है। फिर भी 'भक्ति रसार्णव', 'श्रीविद्यारत्नाकर', 'वेदस्वरूपविमर्श', 'संकीर्तन मीमांसा' और 'वर्णाश्रम मर्यादा', 'शाङ्कर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान', 'मार्क्सवाद और रामराज्य', 'विचारपीयूष', 'रामायणमीमांसा', 'वेदार्थपारिजात', आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन्हें पढ़कर बुद्धिमानों की बुद्धि एवं मनीषियों की मनीषा चमत्कृत एवं निःस्वार्थ सेवा की है और निष्ठापूर्वक सुरभारती के प्रति अपना त्यागपूर्ण जीवन समर्पित करके विद्वानों के सामने जो आदर्श उपस्थित किया है, वह अभिनन्दनीय है। उत्तर प्रदेश शासन ने सन् १९७४ में आपको विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित कर अपने को गौरवान्वित किया। यद्यपि आपने अपने स्वभावानुसार इसे ग्रहण करने से विनम्रतापूर्वक मनाकर दिया परन्तु जब राज्यपाल महोदय ने स्वयं काशी जाकर दुशाला एवं पंचसहस्र मुद्राएँ समर्पित करनी चाही तो महाराज ने एक वैदिक ब्राह्मण को सुपात्र समझ यह सब दिलवा दिया। उत्तर प्रदेश शासन के शिक्षा विभाग द्वारा श्री हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री स्वामी का प्रदत्त विशिष्ट पुरस्कार के अवसर पर प्रकाशित पुस्तिका 'राज्य साहित्यिक पुरस्कार १९७४' में स्वामी जी के प्रति व्यक्त भावना की भाषा इस प्रकार है-

''अनन्त श्री विभूषित श्री हरिहरानन्द जी सरस्वती करपात्री स्वामी''

'संस्कृत विद्या के केन्द्र काशी की उच्च विद्वता की परम्परा को आप आज भी अक्षुण्ण रखे हुये हैं ओर अपने विशिष्ट वैदुष्य, प्रकांड पांडित्य तथा गम्भीर चिन्तन के कारण आपकी अप्रितम प्रतिभा की ख्याति सारे देश में फैली हुई हैं।'

आप उच्च कोटि के विद्वान् ही नहीं, प्रत्युत मौलिक चिन्तक भी है और संस्कृत विद्वानों की सम्मति में आप शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, श्री हर्ष, मधुसूदन सरस्वती, अप्ययदीक्षित, पंडित राज जगन्नाथ आदि विद्वानों की गौरवमयी परम्परा की इस युग में एक अपूर्व कड़ी है। आपकी प्रतिभा, सर्वागीण एवम् बहुमुखी है। वेद, पुराण, दर्शन, षडङ्ग और धर्मशास्त्र में आपकी तल स्पर्शी विद्वता और प्रतिभा को संस्कृत जगत् ने गर्व के साथ स्वीकार किया है। लेखन और प्रवचन में आप समान रूप से निष्णात है।

आपके संस्कृत साहित्य को अपनी शक्तिशाली और मर्मस्पर्शी लेखनी से अत्यन्त स्मृद्ध किया है। आपने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें ''भक्ति रसावर्ण:'', ''श्री विद्या रत्नाकर'', ''वेदस्वरूपविमर्श'', विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें आपने प्रतिपादित विषयों का तलस्पर्शी विश्लेषण इस योग्यता और प्रभावशाली शैली में दिया है कि प्रबुद्ध विद्वानों ने उनके कारण आपकी लेखनी का लोहा मान लिया है। उनके मनन, चिन्तन और आलोचना से विद्वानों को तद्विषयक शास्त्रीय रहस्यों का परिज्ञान होता है।

आपकी एक और स्पृहणीय विशेषता है। अधिकांश संस्कृत के विद्वानों के समान आपने राष्ट्रभाषा हिन्दी की उपेक्षा नहीं की। आपने हिन्दी साहित्य को भी अपनी कृत्तियों से समृद्ध किया है जिनमें ''वेद का स्वरूप और प्रामाण्य'', 'भगवतत्व' और ''शंकरभाष्य पर आक्षेप और समाधान'' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आप उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् ही नहीं हैं वरन् आपने अपने व्याख्यानों और प्रवचनों से संस्कृत के प्रेमियों और विद्वानों को सतत प्रेरणा दी है। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यलय की संगोष्ठियों में आपने जो निबन्ध प्रस्तुत किये हैं वे संस्कृत के अध्येताओं के लिये सतत प्रेरणा के स्रोत हैं।

आज भी जब वार्धक्य के कारण आपको विश्राम लेना चाहिये, आप सुरभारती की सेवा में अपने पुराने उत्साह और तत्परता से संलग्न होकर विद्वानों के लिये एक आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। आपने आजीवन संस्कृत साळित्य की जो बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण सेवा की तथा संस्कृत के विद्वानों के सामने जिस तलस्पर्शी पांडित्य का आदर्श रखा तथा अपनी स्थायीमूल की कृतियों से संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि की एवं गीता के अनुसार निष्काम भाव से संस्कृत की आराधना की, उसके उपलक्ष में उत्तर प्रदेश शासन आपको विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित कर अपने को गौरवान्वित समझता है।

भगवान् बाबा विश्वनाथ की नगरी काशी में पांडित्य के सर्वोच्च सिंहासन पर विराजित इस निष्काम साहित्य सेवी, निस्पृहसंत एवं उद्भट् विद्वान्, परम तपस्वी सन्यासी के श्री चरणों में कोटि-कोटि नमन।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

वाचस्पति-१ जनवरी १९७९ को सायंकाल चार बजे श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की ओर से विश्वविद्यालय के कुलपति आचार्य पंडित ब्रदीनाथ शुक्ल द्वारा स्वामी श्री करपात्री जी महाराज को 'वाचस्पति' की उच्चतम मानद उपाधि प्रदान की गई। वृन्दावन बिहारीभवन, लक्सारोड़, वाराणसी में आयोजित सादा समारोह में काशी का पंडित समाज, विश्वविद्यालय के उच्चाधिकारी, प्राचार्य, प्राध्यापक एवं अन्य उपस्थित धार्मिक वर्ग ने इस सर्वथा वीतराग महापुरुष को, कुलपति जी द्वारा

सर्वोच्च उपाधि प्रदान करते समय धर्मसम्राट् की जय-जयकार पूर्वक अपना सम्मान व्यक्त किया। इस अवसर पर कुलपति जी ने कहा कि 'समस्त भारत की जनता अपने धार्मिक एवं आध्यात्मिक हितों के संरक्षण के लिये आपकी ओर देख रही है। वैदिक संस्कृति, शास्त्रपरम्परा तथा समस्त भारतीय आप से ही सुरक्षित है। धर्म, राजनैतिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में आपके निर्देशन एवं योगदान से भारतीय जनता अपने को कृतकृत्य समझती रही है। भारतीय संस्कृति के महान उन्नायक के रूप में आपकी महती ख्याति है। विश्वविद्यालय ने अपनी सर्वोत्तम उपाधि प्रदान करने का निर्णय कर अपने पावन-कर्तव्य का पालन किया है। इस उपाधि की सार्थकता भी आपके श्री चरणों में ही है। यदि विश्वविद्यालय ने ऐसा नहीं किया होता तो यह उसकी भयंकर उत्तरदायित्व-विहीनता होती। आपके निर्देशन एवं सन्निधि में विश्व के सभी प्राणियों को कल्याण का मार्ग मिलता रहे यही हमारी आपके चरणों में प्रार्थना है।'

स्वामी जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में कहा कि 'जिसके द्वारा धर्म एवं ब्रह्म वृद्धि हो वही विद्या है। यही विद्या अपार संसार में भटकते हुए प्राणियों को मार्ग दिखाती है। अविद्या, अविद्यामय कार्य तथा सर्व प्रपंच की निवृत्ति इसी से होती है। अतः सबसे बड़ा प्रयास इस विद्या की प्रगति के लिए होना चाहिये। त्याग की संसार में बड़ी महिमा है। जो जितना ही त्याग करता है वह उतना ही संसार को नन्दनवन उस विद्या के बल पर बना देता है। संसार का कल्याण इसी विद्या के बल पर होता है। विद्वानों को इसी विद्या को अपने तथा अपने अनुयायियों को सम्पादित करना चाहिये। इसी में सर्वथा कल्याण सम्भव है।'

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

विश्वविद्यामन्दिर-विश्ववन्द्य श्री स्वामी करपात्री जी महाराज के आध्यात्मिक आदर्शों एवं भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी प्रचार प्रसार हेतु 'भारतीयशिक्षापरिषद्' द्वारा स्वामी जी की जन्मस्थली के समीप कुण्डा, प्रतापगढ़ उत्तरप्रदेश में श्री स्वामी करपात्री 'विश्वविद्यामन्दिर' का शिलान्यास सुप्रसिद्ध दार्शनिक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलपति आचार्य प्रवर पण्डित बद्रीनाथ शुक्ल के कर कमलों द्वारा १० मई १९७९ को प्रातः ७-३० बजे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर आयोजित समारोह की अध्यक्षता अ. भा. रामराज्यपरिषद, उत्तरप्रदेश के महामन्त्री श्रीराम जी मिश्र ने की। माननीय कुलपति जी ने विद्यामन्दिर का शिलान्यास करते हुये कहा कि 'स्वामी श्री करपात्री जी महाराज विश्व की महनीयविभूति हैं भारतीय संस्कृति एवं सनातन धर्म उनको पाकर कृतकृत्य हो गया है। उनके आदर्शों के पालन हेतु ही इस विद्यामन्दिर की स्थापना की जा रही है।' आशा है इसमें से विद्या प्राप्त कर निकलने वाले स्नातक भारतीय संस्कृति के रक्षक, सनातन धर्म के उन्नायक एवं धर्मनिष्ठ होंगे। विद्यामन्दिर के प्रबन्धक प्रयाग

विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के प्रवक्ता डाक्टर छोटे लाल त्रिपाटी ने कुलपति महोदय का स्वागत करते हुये विद्यामन्दिर की रूपरेखा पर प्रकाश डाला। एक वक्तव्य में उन्होंने कहा कि 'इस विद्यामन्दिर में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक की व्यवस्था रहेगी। साथ ही औद्योगिक प्राविधिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण केन्द्र भी संचालित किये जायेंगे। प्राचीन भारतीय विद्याओं की उन्नति हेतु संस्कृत एवं आयुर्वेद के अध्ययन का भी समुचित प्रबन्ध रहेगा।' अध्यक्षीय भाषण में श्रीराम जी मिश्र ने स्वामी जी एवं विद्यामन्दिर के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुये विद्यामन्दिर की उन्नति की कामना की। अन्य वक्ताओं एवं उपस्थित महानुभावों में उत्तरप्रदेश संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक श्री उमाशंकर मिश्र, विधायक श्री रामकिशोर शुक्ल, श्री उमराव पाण्डेय, उमापति आदि का नाम उल्लेखनीय था।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

'वेदार्थपारिजातप्रकाशनोद्घाटन'-९ अप्रैल १९७९ को सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रांगण में कुलपति जी की अध्यक्षता में आयोजित एक समारोह में काशीनरेश डाक्टर विभूतिनारायण सिंह जी द्वारा स्वामी जी द्वारा रचित 'वेदार्थपारिजात' का प्रकाशनोद्घाटन हुआ। २५ वैदिक ब्राह्मणों द्वारा वेदमन्त्रों से वेदभगवान् का पूजन किया गया। वेदस्तवन के अनन्तर वैदिकों का पूजन एवं काशी नरेश का सम्मान स्वागत, ग्रन्थ के प्रकाशक श्री सेठ धानुका जी द्वारा किया गया। अपने उद्घाटन भाषण में काशीनरेश ने कहा कि 'वेदार्थ पारिजात' जैसा ग्रन्थ लिखकर पूज्य चरण श्री स्वामी करपात्री जी ने आज की सबसे बड़ी आवश्यकता की पूर्तिकर एक ऐसा महान् कार्य किया है जो महाराज जी जैसे तपस्वी, मनस्वी और सरस्वती के अवतार से ही सम्भव है। वेद ही हमारी संस्कृति के मूल स्रोत है। केवल भारत के लिये ही नहीं वरन् समस्त् विश्व और मानवमात्र के लिये कल्याणप्रद है। इनका समुचित अध्ययन, मनन और अनुपालन होने से ही मनुष्य का त्राण हो सकता है। आज वेद की रक्षा ही धर्म है। पूज्य स्वामी जी ने सनातन धर्म की रक्षार्थ अपना जीवन ही न्योछावर कर रखा है। वे सामर्थ्यवान हैं। वेदों के बारे में अनेक प्रकार के आक्षेपों का उचित निराकरण न होने से विद्वानों ओर वेदों में आस्था रखने वालों में अनेक भ्रान्तियाँ फैल गयी थी। यह आवश्यक था कि इन आक्षेपों का समुचित निराकरण किया जाय और वेद मन्त्रों का सही और स्पष्ट अर्थ, प्रतिष्ठित किया जाय ताकि धर्म की रक्षा हो और वेदों के प्रति आस्था सुदृढ़ हो। यह कार्य बहुत कठिन था। इसे पूज्य चरण स्वामी जी जैसे सरस्वती के वरद-पुत्र ही कर सकते हैं। प्रसन्नता की बात है कि स्वामी जी ने इसे महसूस किया ओर 'वेदार्थ पारिजात' लिखकर एक कठिन कार्य को सम्पन्न किया। इससे वेद के अध्येताओं को बड़ा बल मिलेगा।' पर्याप्त अस्वस्थ होते हुय भी स्वामी जी ने स्वयं उपस्थित

होकर समारोह को गौरव प्रदान किया। अपने आशीर्वचन के रूप में उन्होंने कहा कि 'वेदो के बारे में लोगों ने अनेक विवाद और वाद उत्पन्न कर रक्खे थें, उनका शमन और निराकरण बहुत जरूरी था। कुछ लोग केवल मन्त्रों को ही वेद मानते हैं किन्तु यह सही नहीं है। 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' दोनों वेद है। इस प्रकार के अनेक वाद और आक्षेप हैं जिनका निराकरण करने के लिये मुझे 'वेदार्थ पारिजात' की रचना की ओर उन्मुख होना पड़ा।' उदाहरण देते हुये पूज्य स्वामी जी ने कहा कि 'वेदों के बारें में एक दृष्टि यह है कि उसका प्रतिपाद विषय ब्रह्म नहीं कर्मकाण्ड है। दूसरी दृष्टि यह है कि वेदों का प्रतिपाद विषय परब्रह्म है कर्मकाण्ड नहीं। लेकिन ऐसा नहीं है। वेद के जितने मन्त्र विनियुक्त हैं उनका सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है परन्तु जो मन्त्र विनियुक्त नहीं है उनका सम्बन्ध परब्रह्म की प्रतिष्ठा से हैं।' स्वामी जी ने आर्शीवाद देते हुए कहा कि 'आज वेद और धर्म की रक्षा के इस महान् कार्य में जो लोग लगे हैं उनके उत्साह और विश्वास में वृद्धि हो यही मेरी शुभकामना है।'

***

वेदोद्धार

जैसे आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व सम्पूर्ण भारतवर्ष में नास्तिकवाद का बोलबाला था, सर्वत्र वेद-निन्दा, यज्ञ-निन्दा एवं ईश्वर-निन्दा का प्रचार था, अवैदिकमत-मतान्तर एवं समुदायों से यह भारत की पुण्यभूमि सर्वथा आक्रान्त थी, सनातन वैदिक धर्मानुयायिओं का अस्तित्व खतरे में पड़ गया था और वैदिक धर्मावलम्बियों में एक ही चिन्ता व्याप्त थी कि 'कोवेदानुद्धरिष्यति'-ऐसे भीषण समय में भगवान् आद्य श्री शंकराचार्य जी ने इस पुण्यभूमि में अवतरित होकर निरीश्वरवादी मत-मतान्तरों का समूलोन्मूलन कर वैदिक धर्म की पताका फहरायी थी। ठीक वही अथवा उससे भी भयंकर परिस्थिति भारत की हो रही थी। लोग किंकर्तव्यविमूढ़ थे। अवैदिकों की कौन कहे वैदिक धर्मावलम्बी भी आधुनिकता के रंग में रंग कर पाश्चात्यों के स्वर में स्वर मिलाने में ही अपना गौरव समझ रहे थे। पारतन्त्र्यकाल की लम्बी अवधि में विदेशियों द्वारा जो धर्मध्वंस किया गया उसके कारण सनातन वर्णाश्रमधर्मी विद्वानों तक को मार्ग नहीं सूझ रहा था। विदेशी-विद्वानों द्वारा लिखे गये भाष्यों एवं टीकाओं को ही भारतीय अध्येतागण आदर्श मानने लगे थे। सारांश बड़ा ही उल्वण वातावरण था देश में और सनातन-वैदिक-धर्मावलम्बियों को एक ही चिन्ता थी कि - 'कोवेदानुद्धरिष्यति'? ऐसे समय में एक विभूति ने सन् १९०७ ई. में जन्म लेकर १९२४ में गृहत्याग करके १९३१ में विधिवत् सन्यास दीक्षा लेकर भारत का आसेतु हिमाचल अनेक बार भ्रमण किया और काशी से काश्मीर तथा रामेश्वरम् से बद्रिकाश्रम तक के सनातनवैदिक धर्मावलम्बियों से जन सम्पर्क स्थापित कर वैदिक संस्कृति को तोला, जांचा और परखा। उस समय की मनोभावनाओं एवं वेद-धर्म दिग्दर्शनमात्र कराने की दृष्टि से केवल एक ही उद्धरण प्रस्तुत है।

मा. सन्मार्ग वर्ष ३/५ फाल्गुण पूर्णिमा, वि. संवत् १९९८ में प्रकाशित प्रमुख लेख में श्री करपात्री जी लिखते हैं कि .....धर्मविमुखउच्छृङ्खलता का प्रचार करके लोग मुदित होते हैं। 'इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः' की सी बात उपस्थित है। इस बात की वास्तविकता अंशतः सभी को मान्य है, तथापि कृष्णपक्ष में 'अन्धकार का अधिक मात्रा में साम्राज्य होने पर लोग क्या अन्धेरे में ही बैठे रहते है और यथाशक्ति क्या प्रकाश-प्रतिष्ठा का प्रयत्न नहीं करते?....हमें भी यथाशक्ति धर्म, वेद-शास्त्रों की उन्नति एवं रक्षा का प्रयत्न करना चाहिये।'....."संसार में धार्मिक, वैदिक

एवं नैतिक भावों का ह्रास देखकर, कुछ मनस्वी महानुभवाओं ने अभ्युत्थित हो बहुत सी उलझनों को सुलझाकर उल्वण वातावरण में 'प्राणावशेष' धर्म की सहायता की। परन्तु कालकर्म के प्रभाव से कुछ तो अस्त हो चुके और कुछ अनेक हेतुओं से शिथिल हो गये, स्थिति दिनोदिन बिगड़ती जा रही है। समर्थ धर्माचार्य महात्मा और विद्वद्वृन्द प्रसुप्त हो रहे हैं। असमर्थ लोग खिन्न होने के सिवा और कर ही क्या सकते हैं?.....'परिस्थिति यह हो गयी है कि हमारी बातें भी सुनने वाले कम हैं। जनसाधारण तथा प्रायेण धनीमानी लोग वेद-शास्त्र धर्म विरोधी समाज के पक्षपाती रहे हैं। धर्माचार्यो तथा विद्वानों पर से विश्वास उठ चला है। निस्पृह-विद्वानों पर भी यही सन्देह होने लगता है कि ये भी स्वार्थ साधन के लिये माया रच रहे होंगे।' .....'स्थिति यहां तक बिगड़ी कि सनातन ही असनातन का रूप धारण कर बैठा। आस्तिक प्रजा अवैदिकों की बात नहीं सुनती थी, इसलिये अवैदिकों ने भी वैदिकों का रूप धारण किया। कहने के लिए वेद का समाश्रयण किया गया। वेद-प्रतिपादित कहकर अवैदिक धर्म की महत्ता बढ़ाई गई। इतने पर भी पुराण, इतिहास और धर्म-शास्त्रादि द्वारा वेदार्थ निर्णय करके, आस्तिक प्रजा धर्म-स्वरूप समझती समझाती थी। सो इस कलिकाल की सहायता से मायावियों ने छद्म से धर्माचार्य तथा भक्त-प्रवर उपदेशकों का रूप धारण किया। वेद, स्मृति, इतिहास, पुराणानुसार व्यवस्था दे देकर संसार को मोहित कर लिया, अभिज्ञों को भी चकित कर दिया और प्राचीन प्रथा के श्रद्धालुओं को भी भ्रम में डाल दिया।' .....'विद्वानों का प्रथम कर्तव्य है कि तेईस घन्टे स्वार्थ के लिये हैं ही, केवल एक घन्टा परमार्थ के लिये लगावें। अनध्यायों का उपयोग विशेषकर धर्म-चर्चा में लगावें।'.....'विशुद्धवर्णाश्रमोचित वैदिक धर्म का उपेदश करें। शास्त्राविरुद्ध अंशों का अनुमोदन करें। लोकोपयुक्त कार्यसाधनार्थ वेद-शास्त्र-विपरीत धर्मध्वंसक मार्गो के प्रचलन के विरुद्ध शीघ्रातीशीघ्र शास्त्रानुसार सुगम मार्ग का अनुष्ठान सहित प्रचार करें।'.....'इस समय सभी सम्प्रदायों के आचार्यो, महात्माओं तथा विद्वानों का पारस्परिक संघर्ष छोड़कर, एक मत हो, लोकधर्म तथा अपने कल्याण में शीघ्र ही तत्पर हो जाना चाहिये। यदि इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया गया तो सर्वनाश में देर नहीं है। 'बोद्धारोमत्सरग्रस्ता:' के कलंक का अवकाश कदापि न देना चाहिए। घर का झगड़ा पीछे संभलता रहेगा। एक विद्वान का दूसरे काी युक्तियुक्त बात पर यथेष्ट आदर होना चाहिये।'.....यह सारा कार्यक्रम भगवन्नाम स्मरणपूर्वक उन्हीं के समाश्रवण में सम्पन्न हो तो सफलता अवश्य ही मिलेगी।''

उपर्युक्त कार्य में उस महात्मा को अनेकों आचार्यों, विद्वान् सद्गृहस्थों एवं धर्म प्रेमियों का सहयोग मिला और उसने उच्चस्तर पर उनके विचार किया तो पाया कि वेद की ११३१ शाखाओं में से इस समय केवल पाँच सात शाखाएँ शेष रह गयी है उनको भी अज्ञान या भ्रमवश साङ्गोपाङ्ग यथार्थरूप से समझा नहीं जा रहा है। ऐसी

परिस्थिति में उस महापुरुष ने सन् १९४० में अ. भा. धर्म-संघ की स्थापना की एवं सन् १९४३ में देश की राजधानी दिल्ली में एक शतमुखकोटि होमात्मक महायज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करया जिसमें सम्पूर्ण अखण्ड भारतवर्ष के सभी उपलब्ध शाखाओं के विद्वानों को तत्कालीन ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य भगवान् श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज ज्योतिष्पीठ, बद्रिकाश्रम एवं पुरी पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ जी महाराज आदि की अध्यक्षता में एक झण्डे के नीचे खड़ा कर दिया। तीन-तीन लाख की भीड़ में परतन्त्र भारत की तड़पती कलपती चिन्तित धर्म-भीरु प्रजा को जो उद्बोधक वैदिक सदुपदेश इस महात्मा ने निःस्वार्थ भाव से विश्व कल्याण कामना से दिया, उसने जन-जन में जागृति उत्पन्न हुई। विद्वानों की एक समानान्तर मण्डली को देश के वैदिक मंच पर इकट्ठा करने का श्रेय इस महापुरुष का ही है, जिसने दिल्ली के इस महायज्ञ के अवसर ही 'सर्व वैदिक उपलब्ध शाखा सम्मेलन' में भाग लिया। तब से लेकर अब तक प्रायः प्रतिवर्ष अ. भा. धर्मसंघ के वार्षिक महाधिवेशनों के अवसर पर सर्ववेद शाखा सम्मेलन का आयोजन कर धर्माचार्यो एवं वैदिक विद्वानों द्वारा वैदिक अनुसन्धान जनित प्रगति पर व्यापक विचार किया जाता है। इस प्रकार वर्तमान उल्वण वातावरण में घटित होने वाली अवैदिक गतिविधियों एवं अवैदिकों द्वारा किये गये आक्षेपों पर तात्विक विचार-विमर्श पूर्वक उनका सैद्धान्तिक निराकरण करके वैदिक सनातन, सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने का कार्य इस महा मनीषी के तत्वावधान में सम्पन्न किया जाता रहा है जिनमें से कतिपय प्रमुख अधिवेशनों की सूची मात्र यहाँ प्रस्तुत की जा रही है-

क्र.	वर्ष	स्थान	अध्यक्ष
१.	१९४४ ई.	दिल्ली	श्री मद्जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज, ज्योतिष्पीठ् बद्रिकाश्रम।
२.	१९५७-५८	कानपुर (उ. प्र.)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी कृष्णबोधा श्रम जी महाराज, ज्योतिष्पीठ् बद्रिकाश्रम।
३.	१९५८	वाराणसी (उ. प्र.)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी श्री मदभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ जी महाराज, शारदा-पीठ द्वारका।
४.	१९६०	प्रयाग (उ. प्र.)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी कृष्ण बोधाश्रम जी महाराज, ज्योतिष्पीठ् बद्रिकाश्रम।
५.	१९६१ ई.	कलकत्ता (बंगाल)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी कृष्ण बोधाश्रम जी महाराज, ज्योतिष्पीठ् बद्रिकाश्रम।
६.	१९६२ ई.	दिल्ली	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी

			कृष्णबोधा श्रम जी महाराज, ज्योतिष्पीठ् बद्रिकाश्रम।
७.	१९६३ ई.	अकोला (म. प्र.)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी कृष्णबोधा श्रम जी महाराज, ज्योतिष्पीठ बद्रिकाश्रम।
८.	१९६४ ई.	अमृतसर (पंजाब)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी श्री मदभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ जी महाराज शारदापीठ द्वारका।
९.	१९६५ ई.	सीहोर (म. प्र.)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी श्री मदभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ जी महाराज शारदापीठ द्वारका।
१०.	१९६६ ई.	अकोला (म. प्र.)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थ जी महाराज, गोवर्धनमठ, जगन्नाथपुरी।
११.	१९६७ ई.	गंगानगर (राजस्थान)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी कृष्णबोधा श्रम जी महाराज, ज्योतिष्पीठ् बद्रिकाश्रम।
१२.	१९७२ ई.	हैदराबाद (आन्ध्र)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी कृष्णबोधा श्रम जी महाराज, ज्योतिष्पीठ् बद्रिकाश्रम।
१३.	१९७३ ई.	(बोकारो)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ स्वामी श्री महेश्वरानन्द जी महाराज सुमेरुपीठ, काशी।
१४.	१९७४ ई.	बलिया (उ. प्र.)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी निरञ्जन देव तीर्थ जी महाराज, शारदा पीठ, द्वारका।
१५.	१९७५ ई.	जमशेदपुर	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री मदभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ जी महाराज, शारदापीठ द्वारका।
१६.	१९७६–७७	प्रयाग (उ. प्र.)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी निरञ्जन देव तीर्थ जी महाराज, गोवर्धनमठ, जगन्नाथपुरी।
१७.	१९७८ ई.	पाली (राजस्थान)	श्री मद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य १००८ श्री स्वामी निरञ्जन देव तीर्थ जी महाराज, गोवर्धनमठ, जगन्नाथपुरी।

उपर्युकत सम्मेलनों के अतिरिक्त बीच–बीच में आंचलिक एवं क्षेत्रीय स्तर पर भी वैदिक सम्मेलन आयोजित किये जाते रहे जिनमें अनेक शङ्कराचार्यो, महात्माओं, वैदिक विद्वानों में वैदिक तत्वों पर सामयिक गहन विचार–विमर्श होता रहा।

स्वामी श्री करपात्री जी महाराज द्वारा आयोजित इन वैदिक महासत्रों की विशेषता यह है कि इनमें प्रतिपक्षियों को भी सादर आमन्त्रित करके उनके विचार जानने का पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता है। यदि अपेक्षित हो तो उन्हें मार्ग-व्यय देकर, भोजन, आवास आदि व्यवस्था भी धर्मसंघ की ओर से की जाती है। पक्ष-विपक्ष में बोलने वाले विद्वानों द्वारा स्थापित पक्षों पर 'वादे-वादे जायतेतत्वबोधः के दृष्टिकोण से शान्तिपूर्वक उभय सम्मत मध्यस्थ की उपस्थिति में निष्पक्ष विचार किया जाता है। सब कुछ विचार करने पर पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज शास्त्रीय पक्ष को वैदिक प्रमाणों सहित उपस्थापित करके सर्वसम्मत वैदिक सिद्धान्तों का निरूपण करने का प्रयास करते हैं। देखने, सुनने और लिखने में तो यह बड़ी सरल-सी लगती है परन्तु सुविज्ञ वैदिक भली प्रकार जानते हैं कि संसार के सम्पूर्ण भोगों से दूर सर्वस्व त्यागी, पूर्ण विरागी इस सन्त का अपना कुछ भी स्वार्थ नहीं। वह केवल कलिकाल में वैदिक सिद्धान्तों के रक्षण और प्रतिपादन में ही गत पचास वर्षो से अहर्निश लगा है। विश्व में किसी ओर से भी अपौरुषेय वेद, तदाधारित शास्त्र, तन्मूलक स्मृति पुराणादि प्रतिपादित सनातन वैदिक धर्म के विरुद्ध यदि कोई कुछ कटाक्ष, आक्षेप, व्यंग्य आदि करता है तो इस महात्मा की आत्मा तड़प उठती है और फिर मंच, पत्र, पुस्तक आदि के माध्यम से इन महापुरुष द्वारा उसका तत्काल वैदिक समाधान प्रस्तुत किया जाता है। गत पचास वर्षो में ऐसा एक भी अवसर उपस्थित नहीं होने दिया इस तपस्वी ने, जबकि वैदिक सनातन सिद्धान्तों पर आक्षेप करने वालों को इनकी लेखनी अथवा शास्त्रार्थ का प्रहार सहना न पड़ा हो। आज सनातन वैदिक धर्म पर जाने अनजाने, चाहे अनचाहे प्रहार करने वाले व्यक्ति को सौ बार विवश होकर यह सोचना पड़ता है कि उसे 'करपात्री स्वामी' का सामना करना पड़ेगा। स्थिति यह है कि भारतवर्ष के बड़े-बड़े विद्वान् स्वामी जी का समर्थन प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं तथा इसे अपना गौरव समझते हैं। स्वामी जी की प्रेरणा से देश व्यापी बड़े-बड़े महायज्ञों के साथ-साथ वैदिक विद्वानों द्वारा असंख्य अनुष्ठान देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अनुष्ठित किये गये जिनके कारण वैदिक कर्मकाण्ड के माध्यम से वेद भगवान् की आराधना की गयी। पण्डित समाज में एक हलचल सी मच गयी, उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ और इन वैदिकों ने विश्व कल्याण कामना से ओत प्रोत होकर निस्वार्थ भाव से वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न किया, जिससे चिर पारतन्त्र्य से प्रभावित, विदेशी शासन से आक्रान्त एवं जरजर वैदिक विचारधारा को पुनरुज्जीवित करने के कार्य को गति मिली। तत्कालीन पत्रों से यहाँ कुछ प्रमुख प्रस्ताव, उद्धरण, सम्मतियाँ, अनुष्ठान आदि देकर पाठकों को उस वातावरण का किंचित आभास कराने का प्रयास अप्रासंगिक न होगा।

❖ ❖ ❖

(१) ''वैदिक सर्वशाखा सम्मेलन''-''धर्मनगर-दिल्ली २ फरवरी-१९४४

ई.'' ''आज दोपहर को उपलब्ध सर्ववैदिक शाखा सम्मेलन बड़ी धूमधाम से प्रारम्भ हुआ। जनता दो लाख से अधिक संख्या में उपस्थित थी। वेद की अनेक विभिन्न शाखाओं के विद्वान सम्मिलित थे। सर्वप्रथम मङ्गलाचरण और संघ के जयकारों के साथ कार्यारम्भ हुआ। सभापति का आसन श्री १००८ जगद्गुरु रामानुजाचार्य देवनायकाचार्य (बड़गादी, बम्बई) ने अलङकृत किया। वैदिक अर्थज्ञों अन्वेषकों एवं विद्वानों के भाषण हुए। वेद की महत्ता और उसके रक्षा प्रकार पर गम्भीर विचार विनिमय हुआ। दूसरे दिन भी यह सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में भी स्वामी श्री करपात्री जी महाराज का भाषण बड़ा ही ओजस्वी हुआ। महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने यज्ञ सम्बन्धी सभी शंकाओं का समाधान किया। पं. कालूराम जी का भाषण भी अपने विषय में अद्वितीय रहा। अन्त में सभापति ने अपने भाषण में वेद-रक्षा पर जोर देते हुए वेद रक्षक ब्राह्मणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।''

सा. सन्मार्ग काशी वर्ष २ अंक ३५-३६
२०-२-१९४४ ई.

❖ ❖ ❖

(२) **अष्टादशपुराण, वेदों का पारायण**-धर्मनगर दिल्ली-४ अप्रैल १९४४ ई.।

''यज्ञमंडप के वायव्यकोण में एक मंडप में अष्टादशपुराणों तथा दुर्गासप्तशती का पारायण २ अप्रैल से प्रारम्भ हुआ। यज्ञमंडप के बाहर सशाख चारों वेदों का भी परायण उसी दिन प्रारम्भ हुआ।''

(सा. सन्मार्ग वर्ष १ अंक ४४ रविवार, ता. १६-४-१९४४ ई.)

❖ ❖ ❖

(३) सर्ववैदिक शाखा सम्मेलन-धर्मनगर, ५ अप्रैल १९४४ ई.।

''आज अपराह्न २ बजे से धर्मसंक्ष विशेषाधिकार के पंडाल में अनन्तश्री समलङकृत भगवान् ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य की अध्यक्षता में सर्व-वैदिक-शाखा-सम्मेलन हुआ। इस अवसर पर प्रत्येक शाखा के वैदिकों ने अपने-अपने वेदों का सविकृति पाठ किया। कई वृद्ध तो ऐसे दीखे कि जो चारों वेदों का पारायण करते हों। अनेक घनपाठियों का भी धनपाठ हुआ। काशी के प्रसिद्ध काण्य शाखी वैदिक विद्वान् श्री पं. रामाचार्य पौराणिक जी के सुपुत्र पं. लक्ष्मीकान्त पौराणिक का स्वशाखापाठ बड़ा ही आश्चर्यजनक हुआ। आप दस वर्ष के ब्रह्मचारी हैं, आपने इतनी छोटी अवस्था में काण्वसहिंता को कंठस्थ कर अब पदरूप विकृति एवं शास्त्र का प्राथमिक अध्ययन कर रहे हैं। ... ''उन्नाव के कतिपय सामवेदियों ने भी अच्छा पांडित्य दिखाया। काशी के वैदिक पंडितों में श्रौत-स्मार्त कर्मकांड विशारद पं. दत्तात्रेय दीक्षित पानागाँवकर तथा याज्ञिक प्रवर श्री बालकृष्ण शास्त्री जावजी भट्ट, श्री घनपाठी सोमनाथ जी सोलापुर, श्री रामभट्ट जी रटारे, श्री रामसखा जी वैद्य, श्री रामनाथ

सारस्वत, श्री कर्मकांडी गणपति भट्ट जोशी, श्री मंगल जी बादल, श्री बद्रीनाथ जी गणूरकर, श्री मार्तण्ड शास्त्री घोड़ेकर आदि के नाम उल्लेखनीय है। जिसे देखकर श्री करपात्री जी एवं श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुये।'' (वही)

❖ ❖ ❖

(४) अ. भा. धर्मसंघ तृतीयमहाधिवेशन दिल्ली में स्वीकृत-

प्रस्ताव सं. ३ -

''यह अ. भा. धर्मसंघ धार्मिक सज्जनों से अनुरोध करता है कि 'शतमुख (कोटि होमात्मक) महायज्ञ और वैदिक सर्वशाखा सम्मेलन को स्मृति में भारतवर्ष की राजधानी देहली में यमुनातट पर एक ऐसा विशाल 'धर्मभवन' तथा उसमें धर्म-संघ महाविद्यालय बनवायें जिसमें प्राचीन शास्त्रीय रीति एवम् नियमों के अनुसार लौकिक-पारलौकिक कल्याणानुकूल वेदादि-सच्छास्त्रों का पठन-पाठन हो, जिससे विश्वगुरु भारत का गौरव पुनः जीवित एवं जागृत हो।''

❖ ❖ ❖

(५) **प्रस्ताव संख्या सात**-''यह सम्मेलन एक ऐसी शिक्षा योजना का निर्माण आवश्यक समझता है, जिससे स्वतन्त्रतापूर्वक वेद धर्म-शास्त्र, व्याकरणादि-वेदाङ्ग, दर्शन, प्राचीन इतिहास, साहित्य एवं कला आदि का पठन-पाठन संरक्षण तथा उपवृंहण होकर शिक्षा का शासकों से सम्बन्ध कदापि न रहे एवम् भारतीय सभ्यता, संस्कृति के आधार पर ही शिक्षणालयों, अध्यापकों तथा छात्रों का संगठन हो, जिससे प्रारम्भ से ही बालकों के कोमल अन्तःकरण में कुसंस्कार न पड़े, किन्तु उत्तम् धार्मिक आध्यात्मिक भाव ही दृढ़ होकर भविष्य में वर्णाश्रम धर्मरक्षण में सहायक हो।''

❖ ❖ ❖

(६) दिल्ली में धर्मसंघ महाविद्यालय की स्थापना - दिल्ली, २२/२/४४।

''गत ११ फरवरी को प्रातः पौने ग्यारह बजे धर्मनगर दिल्ली में श्री स्वामी करपात्री जी, श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी, श्री मनोहरलाल जी, पं. चन्द्रशेखर शास्त्री एवं श्री ज्योतिप्रसाद जी के करकमलों से भी धर्मसंघ महाविद्यालय स्थापित हुआ.....।।''

सा. स. वर्ष १/३७, २२/२/१९४४

❖ ❖ ❖

(७) ''श्री स्वामी करपात्री जी के काशी आगमन के साथ ही जनता में यहाँ के कोटिहोमात्मक महायज्ञ को चर्चा चल पड़ी.....काशी के चार पांच सौ वैदिक ब्राह्मणों ने दक्षिणानिरपेक्ष ११ दिन का अखंड रुद्राभिषेक श्री केदारेश्वर में दुग्धधार द्वारा निर्विघ्न सम्पन्न किया.....श्री गदाधरर जी ब्रह्मचारी जी ने अभिषेक पात्र में दूध छोड़ा और वैदिकों ने ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी उपरान्त पंचमी को साढ़े ग्यारह बजे अभिषेक

विधि प्रारम्भ कर दी। यह अखंड दुग्धधार का अभिषेक ११ दिन तक रात्रिन्दिव निरन्तर तीन चार सौ वैदिक विद्वानों के भाग लेने पर सविधि सम्पन्न हुआ।'+

❖ ❖ ❖

''.....महापूजन के बाद श्री करपात्री जी की अर्चना वैदिक विद्वानों ने प्रारम्भ की। नव विल्पत्र के एक सघन और मोटे माला को धारण कराकर जिस समय इस काशी के तीन सौ ब्राह्मणों ने इन ब्रह्मकुलवल्लभ का स्तवन प्रारम्भ किया-उस समय आचार्य के आयोचित उपचार का मूर्तिमान चित्र उपस्थित हुआ था।''

❖ ❖ ❖

''.....अधिवेशन के अन्त में श्री करपात्री जी ने अपने भाषण में वैदिक विद्वानों को अखंड रुद्राभिषेक यज्ञयागादि को उत्तरोत्तर बढ़ाते रहने का आदेश दिय। -भगवान् के प्रति श्रद्धा विश्वासपूर्वक किया हुआ जाप, अनुष्ठान कभी भी व्यर्थ नहीं पड़ता। अत: आराधना सामूहिक रूप से निरन्तर बढ़ती रहे। व्यक्तिगत सन्ध्यावन्दन नित्य नैमितिक कर्मों को बराबर करते रहने का अनुरोध करते हुये श्री स्वामी जी ने काशी के धर्मेश्वर तथा गभस्तीश्वर के काशीखंडोक्त मन्दिर में अखंड रुद्राभिषेक की घोषणा की। वैदिक विद्वानों के प्रोत्साहन में आपने यह कहा कि, 'आप लोगों के बिना धर्म का पक्षपात कौन करे? आप लोगों का जो कार्य है उसे आप कर रहे हैं, इसमें आपकी विशेष क्या बड़ाई है।''

''श्री धर्मेश्वर'':-'काश्मीर घट्टस्थ अधिकांश ब्राह्मण वैदिक है। गंगा के पावनजल से अखण्ड रुद्राभिषेक का निश्चय इन्हीं वैदिक ब्राह्मणों ने मिलकर किया है। गो दुग्ध और गंगा स्थान की पावनता समान है। इस समय मीरघाट का पूरा मुहल्ला इन ब्राह्मणों के शुभकार्य में सहयोगी है।'.....'ब्रह्मचारी गजानंद जी पूजन में सम्मिलित रहते हैं। श्री स्वामी करपात्री जी एक बार दशनार्थ आगमन इस मन्दिर में इधर प्रतिदिन हो रहा है। इस अखण्ड रुद्राभिषेक में वेद के विभिन्न शाखा के सभी लगभग २००-२५० विद्वान् भाग ले रहे हैं।'

❖ ❖ ❖

''श्री गभस्तीश्वर'':-'यहाँ कृष्णयजुर्वेदीयसंहिता के विषिष्ट वैदिक विद्वानों ने श्री विश्वनाथ शास्त्री द्रविड़ की तत्त्वावधानता में आषाढ़ कृष्ण चतुर्दशी से महारुद्राभिषेक प्रारम्भ किया है। श्री पण्डित केदारनाथ जेतली आदि श्री स्वामी करपात्री जी के आदेशानुसार निरीक्षण में तत्पर है। श्री स्वामी करपात्री का प्रतिदिन यहाँ भी आगमन हो रहा है।'

❖ ❖ ❖

''श्री करपात्री जी ने काशी के वैदिक विद्वानों को प्रोत्साहित करते रहने का उपदेश संघ के विशेषाधिवेशन श्री केदारघाट पर दिया था, उसी के अनुसार-अनेक अखण्ड रुद्राभिषकों की योजनायें बनाई जा रही है।''

(काशी साप्ताहिक सन्मार्ग वर्ष २/३-१८-६-४४ ई.)

❖ ❖ ❖

सारांश, इस वीतराग तपस्वी अलौकिक संत ने आज के उल्वण वातावरण में जब स्वदेशी, विदेशी, सभी विद्वान्, मनीषी, समाजसुधारक, नेता विचारक, सनातन वैदिक सिद्धान्तों का नानाप्रकार के खंडन करते हैं। कलियुगी साहित्य समुद्र का प्रबल प्रवाह इस सनातन कमल को विलुप्त करता हुआ सा दीखता है। आधुनिक सुख-सुविधा एवं भोगवाद के नाम पर समानता, सामाजिक एकता एवं सुधारवाद के नाम पर एक नहीं सहस्त्रों पत्र-पत्रिकायें, पुस्तक-पुस्तिकायें करोड़ों रुपये की लागत से सम्पूर्ण राष्ट्र में नित्य प्रकाशित होकर उच्छृङ्खलता, उद्दण्डता, चरित्रहीनता, नास्तिकता, अनैतिकता के वातावरण का बड़ी तेजी से निर्माण करने में निरत है। प्रेस एवं प्लेटफार्म के व्यापक प्रचार-प्रसार की आंधी से अब सत्य, धर्म और अध्यात्मक श्वान-साहित्य अथवा नग्न साहित्य का भयानक अजगर लील लेना चाहता है-इस वीतराग तपस्वी महामनीषी सन्यासी ने प्रहलाद की भाँति इस नास्तिकवाद के विरुद्ध अकेले युद्ध छेड़कर विश्व के इन तथाकथित विचारकों के समक्ष चुनौती उपस्थित कर ऋषियों, महर्षियों की आदर्श वैदिक विचारधारा का शुद्ध एवं वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करने का महान प्रयास किया है।

सम्पूर्ण उपलब्ध प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य का गहन अध्ययन कर शुद्ध वैदिक वर्णाश्रम धर्मावलम्बित सतोगुणी विचारधारा को अपनी पवित्र लेखनी के माध्यम से राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत किया है। सहस्त्रों स्फुट निबन्धों-लेखों के अतिरिक्त लगभग चालीस ग्रन्थों की संरचना कर वैदिक सत्साहित्य को अभिवृद्धि की है। 'वेद स्वरूप और प्रामाण्य', 'वेद स्वरूप विमर्श', 'वेद प्रामाण्य मीमांसा' जैसे पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ लिखकर ही आपको सन्तोष नहीं हुआ, आपने काशी में 'वेदशास्त्रानुसन्धान केन्द्र' की स्थापना की जिसके अन्तर्गत वेदों-शास्त्रों के विभिन्न विभिन्न महानुभावों ने किया हैं या उपलब्ध है उन सभी का अध्ययन करके स्वामी जी ने अत्यन्त प्रामाणिक लगभग दो हजार पृष्ठ की 'वेदभाष्यभूमिका वेदार्थपारिजात' लिखकर महान् वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया है। बुद्धिजीवियों, महान् विचारकों, तत्त्व चिन्तकों एवं आत्म जिज्ञासुओं को अपनी-अपनी विचारधाराओं की स्वतन्त्र रूप से समाज पर लादने से पूर्व सौ बार सोचने को विवश कर दिया है। स्वामी जी वेदानुसंधानकार्य में अदम्य उत्साह पूर्वक अहर्निशरत है। ७३ वर्ष की आयु में भी नित्य दस-बारह घंटे वेदों के भाष्यलेखन में लगे हुये हैं। यजुर्वेद एवं ऋग्वेद पर

भाष्यपूर्ण हो चुके हैं अथर्व-साम पर चल रहे हैं। 'वेदार्थ पारिजात' नामक यह विशाल वेदभाष्य ग्रन्थ छपकर विद्वानों के हाथों में आ चुका है। स्वामी जी का कथन है कि 'वेद मन्त्रों तथा उपनिषदों में इतिहास, रामायण, महाभारत और पुराणों का उल्लेख है। अतएव मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद, व्याकरणादि षडंग, पूर्वोत्तरमीमांसा, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि का सम्बन्ध करके ही जो वेदार्थ का निर्धारण किया जाता है, वही वेदार्थ का सम्यक्-निर्धारण है, मनमाने ढंग से नहीं।'

किमधिकम्! स्वामी श्री करपात्री जी आज इस घोरकलिकाल में इस सतयुगी सनातन-वैदिक मूल भावना को आगे बढ़ाने में अहर्निश लगे हैं जिसे भगवान् वेदव्यास, जैमिनि, आचार्य शंकर, भट्टपादकुमारिल, सायण, यास्क, महीधर, उव्वट आदि महा-मनीषियों ने संजोये रखा है। भले ही आज का अवैदिक समाज इस महात्मा के कार्य को समुचित महत्व न देकर उपेक्षात्मक रूप अपनाले, परन्तु सत्य, सत्य ही रहता है, आने वाले निष्पक्ष-विचारक-विद्वान्-मनीषीगण, वर्तमान काल के इस वैदिक ऋषि द्वारा, इस अद्भुत अलौकिक सद्ग्रन्थों के माध्यम से किये गये वेदोद्धार के इस महान कार्य का ईमानदारी से मूल्यांकन कर कृत्यकृत्य होंगे।

***

एक नजर में जीवनी

❑ जन्म–	श्रावण शुक्ल द्वितीया रविवार संवत् १९९४ विक्रमी। सन् १९०७ ई.।
❑ पिता श्री–	पं. रामनिधि ओझा।
❑ माता श्री–	शिवरानी जी।
❑ पितामह–	पं. अमानराम जी।
❑ भ्राता–	हरिशंकर। हरिहरप्रसाद।
❑ स्थान–	ग्राम भटनी, जिला प्रतापगढ़, उतर प्रदेश में पूर्वज पितामह ग्राम औझोली, बरहलगंज, गोरखपुर से आये।
❑ वैराग्य–	८, ९ वर्ष की आयु में ही सत्य की खोज में बारबार घर से पलायन।
❑ प्रारम्भिक शिक्षा–	संस्कृताध्ययन, भजन, पूजन, तप, जप, पाठ, ध्यान, धारणा घर पर ही है।
❑ विवाह–	सन् १९१६ ई. में नौ वर्ष की आयु में ग्राम खण्डवा, पोस्ट डिंगवस, प्रतापगढ़ के पं. रामदत्त उपाध्याय की सौभाग्यवती पुत्री कुमारी महादेवी जी के साथ विवाह सम्पन्न।
❑ गृहत्याग–	१९ वर्ष की आयु में सन् १९२६ ई. में हरिनारायण ने घर छोड़ दिया।
❑ दीक्षा–	उसी वर्ष वीरसिंहपुर (मध्य प्रदेश) में स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज से नैष्ठिक ब्रह्मचारी की दीक्षाली। हरिनारायण से 'हरिहरचैतन्य' बने।
❑ अध्ययन–	नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री पं. जीवनदत्त जी महाराज द्वारा संस्थापित नरवर सांग वेद विद्यालय, जि. बुलन्दशहर में संस्कृताध्ययन (सन् १९२६ में)।
❑ विद्यागुरु–	षडदर्शनाचार्य पं. स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम जी महाराज से व्याकरण शास्त्र, दर्शनशास्त्र, भागवत, न्यायशास्त्र, वेदान्त अध्ययन। नरवर से भेरियाग्राम (भृगुक्षेत्र) में पंजाबी स्वामी (श्री अच्युतमुनि जी) के समीप गंगा के मध्य नाव में गुरू जी से अध्ययन।

❑ तप–	गंगा तट। एकान्त कुटिया। २४ घण्टों का जप–तप। १९२७ में वहीं से हिमालय गमन लगभग तीन वर्ष कोयल घाटी, ऋषिकेश की तपस्थली में अखण्ड साधना, आत्मदर्शन, धर्म सेवा का संकल्प।
❑ संन्यास–	सन् १९३० में पुनः नरवर आगमन। काशी प्रस्थान। वाराणसी से पूर्व सीखर गाँव में गंगातट पर शिखासूत्र परित्याग एवं 'विद्वत–संन्यास ग्रहण' परमहंस जी, हरिहर चैतन्य का पुनः श्री गुरू चरणों में नरवर प्रस्थान, गुरू सेवा अध्ययन आदि। सर्वस्व त्याग। करों में भिक्षा के कारण 'करपात्री' कहलाये।
❑ दण्डग्रहण–	२४ वषीय तरुण परमहंस हरिहर चैतन्य का परम तपस्वी १००८श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज से सन् १९३१ ई. में विधिवत् दंड ग्रहण कर 'अभिनवशंकर' के रूप में प्राकट्य।
❑ सन्यास आश्रम का नाम–	परमहंस परिव्राजकाचार्य १००८ श्री स्वामी हरिहरानन्द सरवती श्री करपात्री जी महाराज।
❑ धर्म संघ–	विक्रम संवत् १९९७ की विजयदशमी को (ई. सन् १९४०) में अखिल भारतवर्षीय धर्मसंघ की स्थापना।
❑ धर्म यात्राएँ–	सम्पूर्ण देश की आसेतु हिमाचल पैदल यात्राएँ, धर्म प्रचार, धर्म संघ शाखा संस्थापन।
■ प्रचार, पत्र प्रकाशन–	मासिक 'सन्मार्ग' काशी, साप्ताहिक सन्मार्ग काशी, साप्ताहिक सिद्धान्त काशी का प्रकाशन, पश्चात् काशी, कलकत्ता, दिल्ली से दैनिक 'सन्मार्ग' का प्रकाशन एवं धर्म–प्रचार।
❑ ग्रन्थ रचना–	'शंकर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान', 'संकीर्तन और वर्णाश्रम मर्यादा' आदि ग्रन्थों की रचना संवत् १९९४ वि. सन् १९३८–३९ में ही की, अनन्तर 'श्री भगवत्तत्व' नामक वृहद ग्रन्थ लिखा संवत् १९९७ में।
❑ महायज्ञानुष्ठान–	ईसवी सन् १९४३–४४ में सोनीपत, मेरठ, गढ़मुक्तेश्वर, दिल्ली, काशी, कानपुर, बम्बई, लखनऊ, उदयपुर, बीकानेर, बिहार, आंध्र, मध्य भारत, बंगाल, पंजाब आदि में अनेक बड़े–बड़े महायज्ञों का अनुष्ठान विश्व कल्याण कामना से कराया।

❑ धर्म विरोधी बिल– 'हिन्दूकोड', 'अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल', हिन्दू-विवाह एवं तलाक बिल का व्यापक विरोध किया।

❑ धर्म शिक्षा– भारतीय-सनातन-वैदिक संस्कृति-धर्म की रक्षार्थ 'धर्मसंघ शिक्षा मंडल' की स्थापना तदन्तर्गत अनेक 'धर्मसां महाविद्यालयों' की स्थापना स्वतन्त्र पाठ्यक्रम।

❑ राजनीति– २ सितम्बर १९४५ ई. को सनातनी दल की स्थापना। सन् १९५० ई. में 'रामराज्य परिषद्' की स्थापना।

❑ धर्मयुद्ध– १९-१-४७ ई. को अखंड भारत, गोरक्षार्थ, धर्मयुद्ध की घोषणा तथा २६-४-४७ ई. को धर्म युद्धारम्भ, जेल यात्राएँ।

❑ जनसेवा– पाकिस्तान स्थापना के पश्चात् नोआखाली गमन, हिन्दुओं को सान्त्वना, शुद्धि, रामनाम प्रचार एवं शिविरों की व्यवस्था। धर्माथियों की सेवा सुश्रूषा।

❑ वैदिक शाखा सम्मेलन– 'अ. भा. वैदिक शाखा सम्मेलन' की स्थापना जिसके अनेकों अधिवेशनों में वैदिक शाखाओं के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार का कार्य सम्पादन। वेदानु संधान परिषद् स्थापना।

❑ शास्त्रार्थ– सन् १९३१-३२ के हरिद्वार कुम्भ के अवसर पर कोयल घाटी ऋषिकेश में अन्त्यजों को सप्रणवमन्त्रदीक्षा व मन्दिर प्रवेश पर पं. मदन मोहन मालवीय जी से शास्त्रार्थ। अनन्तर १९४० में काशी में म. म. पं. हरिहल कृपालु शास्त्री जी से 'धर्म संघ-संगठन, स्वधर्मानुष्ठानों से कल्याण आदि पर शास्त्रार्थ। १०८ स्वामी श्री रामदेव जी महाराज से संयास-दीक्षा-आचार्य' सम्बन्धी लिखित शास्त्रार्थ। जुलाई १९६५ में हरिद्वार में 'अद्वैतमत' पर श्री मध्व सम्प्रदायाचार्य श्री स्वामी विद्यामान्य तीर्थ जी से शास्त्रार्थ। दिल्ली, कानपुर, अमृतसर, प्रयाग आदि स्थानों पर विभिन्न अवसरों पर अनेक शास्त्रार्थ, शंका-समाधान, विचार विमर्श। श्री माधवाचार्य शास्त्री से विदेश यात्रा पर लिखित शास्त्रार्थ।

■ साधु संघ– सरकार द्वारा पोषित-समर्पित संस्था अ. भा. साधु समाज के विकल्प में अ. भा. साधु संघ की स्थापना की।

❑ धर्मवीर दल– युवकों ने धर्म भावना प्रसार एवं संगठन को सुदृढ़ करने के लिए अ. भा. स्तर पर 'धर्म वीर दल' स्थापना की।

- ❑ विविध कार्य– श्री रामजन्म भूमि उद्धार हेतु प्रयत्न 'महा पंजाब समिति', 'होशियारपुर कांड', 'बौद्धनास्तिक वाद', 'साधु रजिस्ट्रेशन बिल', 'मन्दिर प्रवेश', 'द्रविड़-मुन्नेत्रकषगम' के द्रविड़िस्तान, कैलास मानसरोवर के चीन द्वारा अपहरण आदि सभी राष्ट्रविरोधी कृत्यों का विरोध।
- ❑ हिन्दी– जून १९४७ ई. में पंजाब में 'हिन्दी रक्षा आन्दोलन' में सत्याग्रह।
- ❑ विश्वनाथ– २९ फरवरी १९५८ ई. महाशिवरात्रि विक्रम संवत् २०१४ को श्री विश्वनाथ घाट (मीरघाट) गंगा तट पर भगवान् विश्वनाथ के नये मन्दिर की स्थापना।
- ❑ पत्राचार– श्रीयुत महात्मा गान्धी, पंडित जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, राम मनोहर लोहिया, आदि को सन् १९४७ में धर्म रक्षण, पाकिस्तान-विरोध, हिन्दू-कोड विरोध आदि विषयक पत्र लिखे। वर्ष १९७७ में प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई, जनता पार्टी अध्यक्ष श्री चन्द्र स्वामी, श्री राजनारायण प्रभृति को गोवध-बन्दी हेतु पत्र भेजे।
- ❑ सक्रिय राजनीति– सभी निर्वाचनों में रामराज्य परिषद् के माध्यम से सच्चरित्र प्रत्याशियों को आशीर्वाद दिया। हिन्दु सभा, रामराज्य परिषद् एवं जनसंघ के एकीकरण हेतु प्रयास एवं नेतृत्व।
- ❑ गोरक्षा– ७ नवम्बर १९६६ ई. को दिल्ली में गोरक्षा महाभियान समिति द्वारा आयोजित अभूतपूर्व विशालतम ऐतिहासिक रैली को आर्शीवाद, नेतृत्व प्रदान कर जेल यात्रा, एकान्तवास, शारीरिक उत्पीड़न सहन किया।
- ❑ कायाकल्प– ई. सन् १९७२ में अश्रुत वैदिक ग्रन्थों की उपलब्धि हेतु काशी में 'कायाकल्प' किया।
- ❑ सम्मान– वर्ष १९७४ ई. में उत्तर प्रदेश शासन द्वारा अनेक संस्कृत एवं हिन्दी ग्रन्थों की संरचना हेतु, विशिष्ठ पुरस्कार से पुरस्कारित किये गये।
- ❑ वाचस्पति– १ जनवरी सन् १९७९ को सायंकाल चार बजे श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की ओर से उच्चतम उपाधि 'वाचस्पति' से सम्मानित किये गये।

❑ वेदार्थ पारिज– ९ अप्रैल १९७९ को काशी नरेश द्वारा प्रकाशनोद्घाटन समारोह में भी उपस्थित होकर समारोह को गौरव प्रदान किया।

❑ ग्रन्थ रचना– भक्ति, धर्म, संस्कृति, दर्शन, राजनीति इत्यादि विषयों पर विशुद्धशास्त्रीय पक्ष प्रतिपादन करते हुए लगभग ५० ग्रन्थों की रचना की।

❑ दिनचर्या– कई–कई दिन तक निर्जल वृत, ढाई घन्टे का शीर्षासन, रात्रि के डेढ़ बजे ही उठकर प्रतिदिन दस मील पैदल भ्रमण, घण्टों एक आसन से बैठकर अध्ययन एवं लेखन, पूजन के त्रिकाल नियमों का अक्षरशः पालन, २४ घण्टों में एक बार सामान्य भिक्षा पत्तल या हाथ पर रख कर ही ग्रहण, साठ वर्षों से नमक–मिष्ठान्न का परित्याग, अनवरत धर्मयात्रायें, भाषण, आन्दोलन, विभिन्न विषयों पर शास्त्रीय पक्ष एवं विचार उपस्थापन। अहर्निश धर्मशास्त्र, वेद, गो संरक्षण में सक्रिय इस ऋषि को पाकर सचमुच आज भारत माता धन्य हुई है। समाज सेवा में रत, 'सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय', 'धर्म की जय', 'अधर्म का नाश', 'प्राणियों में सद्भावना' एवं 'विश्व के कल्याण' की भारतीय वैदिक सनातन भावना को अजस्त्र अवाध अविरल गति से इस भीषण कलिकाल में अकेले ही आगे बढ़ने के कार्य में चौबीसों घंटे निस्त इस सन्यासी को शत–शत प्रणाम, जो मनुष्य आकृति में देव तुल्य पवित्र है। धन्य हैं वे लोग जिन्होंने इनके दर्शन किये हैं, अभागे है वे लोग जो आज भी उनसे अपरिचित हैं।

श्री––हरि:––श्री––हरि:––श्री––श्री हरि:

***

स्वामीजी और संस्मरण-लेखन

हिन्दी में संस्मरण लेखन का कार्य भी उतना ही प्राचीन है जितना हिन्दी भाषा का इतिहास। देश के प्रत्येक क्षेत्र में प्रसिद्ध विद्वानों, साहित्यकारों एवं राजनीतिज्ञों ने अपने-अपने ढंगस से भिन्न-भिन्न समय पर संस्मरण लिखे हैं जिनमें तत्कालीन परिस्थितियों का तो दिग्दर्शन रहता ही है साथ ही साहित्य की इस नयी विधा का रूप भी परिमार्जित होता रहता है। स्वामी जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं उन्होंने अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थों की रचना की है साथ ही हिन्दी भाषा में विपुल साहित्य का सृजन कर राष्ट्रभाषा के स्वरूप को सचमुच शृंगारित किया है, सजाया संवारा है। उनकी गद्य लेखन शैली में भी पद्यात्मकता के दर्शन होते हैं। देववाणी संस्कृत के सामीप्य के कारण उनके शब्दों से संगीत फूटता है। एक ओर जहां उनकी प्रौढ़ पाण्डित्य पूर्ण हिन्दी से बड़े-बड़े मनीषियों एवं प्रकाण्ड विद्वानों की वृद्धि को खुराक मिलती है वहीं दूसरी ओर भक्तों एवं जिज्ञासुओं की पिपासा जिज्ञासा भी शान्त होती है। उनके स्वतन्त्र लेखों की भाषा में लौकिकता के साथ-साथ आध्यत्मिकता का स्पष्ट पुट रहता है तो उनका प्रश्नोत्तर सम्बन्धी साहित्य जिसमें वे शंका-समाधान प्रस्तुत करते हैं, प्रायः सर्वसाधारण को बोधगम्य रहता है। शास्त्रार्थ की भाषा पूर्ण वैदिक तो निर्वाचन आदि से सम्बन्धित साहित्य में वह पूर्ण राजनीतिज्ञ के रूप में प्रगट हो जाते हैं। यहां अधिक न लिखकर केवल कुछ संस्मरण मूल रूप से उद्घृत किये जाते हैं जिनमें दिल्ली, बम्बई, बीकानेर के यज्ञों के संस्मरण प्रस्तुत है। कहा गया है कि साहित्य समाज का दर्पण है। स्वामी जी ने अपनी लेखनी से जो अनेक संस्मरण उपर्युक्त अवसरों पर लिखे थे उनसे स्पष्टतः तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। विशेष बात यह है कि स्वामीजी के संस्मरण अन्य नेतृ वर्ग की भांति केवल स्मरणात्मक ही नहीं है अपितु उनमें तत्कालीन इतिहास की एक झलक के साथ वस्तु-स्थिति का यथातथ्य वर्णन जिन शब्दों में उन्होंने प्रस्तुत किया है उससे कुतूहल, उत्सुकता और ज्ञान वृद्धि असन्दिग्धू है। इसी औतसुक्य निवृत्ति के प्रयोजन से केवल तीन संस्मरणों का पाठक यहाँ रसास्वादन करें।

(१) साप्ताहिक, काशी सन्मार्ग २/२, पृष्ठ ४, दिल्ली कानपुर यज्ञ
(२) ,, ८/१, बीकानेर यज्ञ संस्मरण पृष्ठ २७
(३) ,, ८/४-५, बम्बई यज्ञ संस्मरण पृष्ठ २०२

(१) यज्ञ का उपक्रम

जिन दिनों मैं 'काश्मीर यात्रा' में था, श्री पं. माधवाचार्य जी का पत्र मिला कि 'स्वर्णप्रस्थ' (सोनीपत) के यज्ञ तथा श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज के सन्निधान में म. म. प. गिरिधर शर्मा जी, पं. बालकराम अग्निहोत्री, पं. अखिलानन्नद शर्मा ही आये थे, मैं भी था। वहाँ ही प. बालकराम जी का प्रस्ताव हुआ कि –'शतमुख कोटिहोमात्मक महायज्ञ' हो और 'वैदिक सर्व शाखा सम्मेलन द्वारा भगवान का तर्पण और स्तवन किया जाय। सर्व सम्मति से निश्चय हुआ कि–भारत की राजधानी दिल्ली में यह यज्ञ होना चाहिये–एतदर्थ स्वामी जी दिल्ली में चातुर्मास्य करें। हम सब लोग तदर्थ भी प्रयत्न करें। श्री स्वामीजी वहीं चातुर्मास्य करेंगे। मेरे जिम्मे वहां की सभा का आयोजन है। इस सम्बन्ध में आपकी राय क्या है?'

मैंने उत्तर में लिखा–'काम तो बड़ा सुन्दर है परन्तु क्या हो सकेगा? बहुत द्रव्य की अपेक्षा ऐसे कामों में पड़ा करती है।' पश्चात् पता लगा कि–दिल्ली में धर्मसङ्घ का एक उत्सव हुआ, उस में श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी की अध्यक्षता में निश्चय हुआ कि शतमुख काटिहोमात्मक महायज्ञ एवं वैदिक सर्व शाखा सम्मेलन हो; साथ ही चन्दा माँगने का प्रयत्न न किया जाय। सुना गया कि किसी एक धनिक ने यह भी कहा कि–'यह तो सभी का काम है–इसे तो मैं करा सकता हूँ।' परन्तु स्वामी कृष्ण बोधाश्रम जी ने घोषित कर दिया कि सनातन सिद्धान्त कें अनुसारी व्यक्तियों का ही धन इनमें ग्राह्य होगा। कतिपय व्यक्तियों ने कुछ करने को कहा परन्तु मेरे पहुँचने की प्रतीक्षा की जाय–ऐसा ही अधिक निश्चय हुआ।

स्वामी जी चातुर्मास्य करके मेरठ चले गये। वहाँ भी धर्मसंघ के ही संकल्प से एक चण्डीयाग बड़े धूम धाम से हुआ था। दिल्ली वालों की कुछ शिथिलता देखकर श्री स्वामी जी भी उदासीन रहे थे। दिल्ली के पं. ज्योतिप्रसाद शर्मा जी के पत्र बार–बार मेरे पास पहुँच रहे थे। मैं भी जम्बू में चतुर्मास्य करके 'कांगड़ा', 'ज्वालामुखी' का दर्शन करते हुये 'जालन्धर' में आया। वहीं श्री स्वामी जी का पत्र आया कि मिलने पर ही दिल्ली यज्ञ का अन्तिम निर्णय होगा।

जिन दिनों मैं जम्मू था उन्हीं दिनों कानपुर धर्मसंघ के मन्त्री जम्मू गये थे। वे वहाँ से दिल्ली धर्मसंघ के वार्षिकोत्सव में गये। उन्होंने कानपुर पहुँचकर वहाँ से लिखा कि–'शतमुख कोटिहोमात्मक महायज्ञ और वैदिक सर्वशाखा सम्मेलन यहाँ ही हो।' परन्तु उनको भी यही लिखा गया कि–'ऋषिकेश ही आकर मिलो।' शीघ्रातीशीघ्र ऋषिकेश हम भी पहँचे। श्री स्वामी जी मेरठ से यज्ञ कराकर वहीं आये। सुदर्शन आदि पहले से ही गये थे। विचार होने लगा। अन्त में यही निर्णय हुआ कि दिल्ली में यज्ञ सर्वप्रथम होना चाहिये पश्चात् कानपुर में भी होगा। श्री पं. बालकराम जी अग्निहोत्री को दिल्ली के लिय शीघ्र पहुँचने को कहकर हम लोग संघ का प्रचार करते हुए–

मुजफ्फरनगर, शामली आदि होते हुए दिल्ली की ओर चल पड़े। हम लोग दिल्ली आ गये। लोगों ने स्वागत किया। गौरीशंकर के मन्दिर में लोगों को साधारण उत्साह दिखायी पड़ा। सोहनदत्त की पाठशाला में हम लोगों को ठहराया गया। प्रचारबुद्धि से श्री ज्योतिप्रसाद–मन्त्री धर्मसंघ ने लक्ष्मी मार्केट में व्याख्यान के लिये कहा। हम लोगों के जाने पर वहाँ व्याख्यान होने लगा। इतस्ततः जगह भी देखी गयी। अन्त में यमुना पार में ही यज्ञ का होना निश्चित हुआ। पुल का प्रश्न सामने आया–महात्मा कल्याणदेव जी ने कहा कि हम शीघ्र पुल बना देगें। परन्तु, पुल की स्थिति ऐसी भयानक निकली कि उनके वश की बात न रही।

दो चार दिन के बाद यह निश्चय हुआ कि यहाँ एक स्वागतसमिति बनायी जाय। तदनन्तर कार्य का प्रारम्भ हो। श्री बेणी प्रसाद जयपुरिया से बातचीत हुई। वे आगा पीछा अवश्य करते थे, परन्तु प्रतिष्ठित एवं आस्तिक पुरुष प्रतीत हुए–अतः उन्हें स्वागताध्यक्ष निश्चित किया गया। श्री नारायण दास जी केडिया–कोषाध्यक्ष, श्री राम जी बैरिष्टर–स्वागतमन्त्री स्वामी कल्याणदेव जी प्रबन्धसमिति के अध्यक्ष और श्री जगन्नाथ कपूर मन्त्री नियुक्त हुए। और कार्य चलने लगा। सरकारी मामले के सुलझाने में बैरिष्टर साहब और श्री दामोदर प्रसाद गुप्त लगे। अर्थसंग्रह में ...रस्तोगी जी जो कि अर्थ प्रबन्धक थे–लगे परन्तु कार्य बहुत ढीला था–किसी को उत्साह नहीं था। हरएक चाहते थें कि काम ही टल जाय तो अच्छा है।

इधर आद्याशक्ति भगवती की ही प्रेरणा और अनुग्रह से करने की रुचि हुयी थी। अतः उनकी आराधना ही का एकमात्र सहारा था। श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी अधिकाधिक रूप से आराधना में ही रहते थे। एक ओर बड़े अच्छे उपासक थे–वे भी पाठ में लगे थे। इधर पं. बालकराम जी, श्रीधरशास्त्री वारे तथा पं. जीवनदत्त जी आदि आये। विधानों का निश्चय हुआ। भूमिपूजन भी हुआ। निमन्त्रण–पत्र जाने लगे। पोस्टर, नोटिसें आदि छपने लगे। पंडित मायादत्त जी दिन–रात लिखापड़ी में लगे रहते। परन्तु दिन–प्रतिदिन ऐसी टेढ़ी स्थिति का सामना करना पड़ता था कि चित ऊब जाता था। कई बार पत्र भेजना रोक दिया जाता था। शहर में गौरीशंकर पर व्याख्यान होता था। लोगों को यज्ञ का महत्व और आवश्यकता बतलायी जाती थी। परन्तु यह स्पष्ट कहा जाता था कि –'धर्मसंघ चन्दा नहीं मांगेगा, जो लोग आवश्यकता समझें स्वयं प्रवृत्त हों। हाँ, आस्तिक सनातन धर्म के पूर्ण विश्वासी लोगों का ही अर्थ ग्राह्य हो सकेगा।' श्री वेणीप्रसाद जी से एक विशिष्ट धनिक से बातचीत हुयी और उन्होंने अपना पूर्ण सहयोग देने को कहा। अन्त में वे स्वयं भी मिले और बड़े से बड़े काम करने को कहा। परन्तु, कुछ आचरण सम्बन्धी त्रुटि के कारण उन्हें पहले आत्मशुद्धि पर ही जोर डालने को कहा गया। इस तरह कई ओर से आचरण एवं सिद्धान्तों की गड़बड़ी से प्राप्त सहयोग की भी उपेक्षा होती थी। योग्य अधिकारियों की तो कमी थी ही।

वहाँ की निराशापूर्ण स्थिति को देखकर एक दिन छोटेलाल कानोडिया को लिखा गया कि एकबार यहाँ आकर मिल जायें। पत्र मिलते ही वे आ गये। मिले तो उनको सारी स्थिति बतायी गयी। उन्होंने कहा कि –'जैसी आज्ञा होगी मैं सब कुछ कर सकूँगा। परन्तु, यहाँ की भी स्थिति देख लूं'–कहकर वे शहर जाकर अपने मित्रों से मिले। कुछ लोग उत्साहित हुए। अन्त में सब लोग मिलकर यमुनापार हम लोगों के पास आये। उन लोगों को कह दिया गया कि भाई संकोच और दबाव के कारण नहीं–किन्तु श्रद्धा से जिन लोगों की रुचि हो–प्रवृत्त हों–अन्यथा बेखटके हट जायें। पश्चात् कितने की क्या चीज आयेगी–इत्यादि विचार चला। मण्डप–निर्माण, वरण सामग्री का संचय यहाँ से किया जायेगा–ऐसा उन लोगों का निश्चय हुआ। कुण्डमण्डप का ठेका हो ही चुका था। पुल और वरणसामग्री का भी विचार निश्चित हुआ। अन्त में भोजन का प्रसंग–(जिसमें एक लाख से अधिक का ही, व्यय संभव था) चला। उस पर प्रायः सब लोग मौन रह गये। श्री छोटेलाल जी वहाँ के लोगों को प्रोत्साहित करने लगे–परन्तु, उन लोगों को क्षुब्ध देखकर छोटेलाल जी ने कहा–'अच्छा एक लाख हम कलकत्ता से ला देंगे।'

'भाई! जिसकी भक्ति हो–यह प्रवृत्त हो। यह काम तो भगवान का है, भगवान करेंगे ही। अवश्य होगा कार्य रुकेगा नहीं।' लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुयी। सब लोग अपने–अपने कार्य में लग गये। छोटेलाल जी कलकत्ता चले गये। सेठ चाँदमल जी भोजन प्रबन्ध में लग गये। बाबू रामेश्वर प्रसाद जी मुराका प्रबन्ध कार्य में लगे। वे तत्परता के साथ काम करते थे। अन्त में वही रहने ही लग गये। अब कार्य चलने लगा। उधर विरोध भी हो रहा था। सनातन धर्म युवक मण्डल और उसके संचालक 'दीना नाथ दिनेश' किसी की प्रेरणा से या स्वत कुछ गुप्त कुछ प्रगट रूप से विरोध कर रहे थे। आर्यसमाज,द कम्यूनिस्ट पार्टी और वहाँ के कुछ ऐसे लोग जिन्होंने अपने को अनाहुत समझा–उन लोगों का प्रयत्न विरोध में चल रहा था। विरोध के साथ ही कुछ समाधान भी चल रहा था। पं. ईश्वरी प्रसाद प्रकाशन विभाग में अच्छा कार्य कर रहे थे। हिन्दी, अंग्रेजी तथा उर्दू के अनेक पत्र भी अनुकूल कुछ प्रतिकूल होकर काम कर रहे थे। सारांश यह कि प्रचार जोरों से होने लगा।

उधर श्री स्वामी जी के ब्रह्मचारी सोमदत्त और जयराम शुद्ध घृत संग्रह में लगे थे। श्री स्वामी जी का एक भक्त और भी बड़ा उत्साही था–परन्तु वह किसी झंझट में पड़ा था। घृत पर्याप्त मात्रा में आने लगा। इधर वर्षा और शीत का झमेला था। कुण्डमण्डप के बनने में भी ताड़वृक्ष आदि के न मिलने के कारण विलम्ब हो रहा था परन्तु 'अम्बा' की असीम अनुकम्पा से काम होता ही गया। सामग्री संचित होने लगी। तिल आने लगा। उसकी सफाई के लिये स्त्रियाँ एकत्रित होने लगी। सत्यनारायण भगवान् की कथा एक बार फिर हुई। उसी दिन अद्भुत भारतीकृष्णतीर्थ जी के

करकमलों से ध्वजोत्तोलन हुआ। उसी दिन से कथा भी श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी कहने लगे। अब जनसमूह धीरे-धीरे बढ़ने लगा। एक ब्रह्मचारी ने महायज्ञ को अकिञ्चित्कर कहकर कीर्तन को ही सामयिक एवं उपयुक्त यज्ञ बतलाया। दिल्ली के साप्ताहिक-'लोकमान्य' में उस लेखपर विचार हुआ।

अब निमन्त्रित लोग बढ़ने लगे। दण्डी स्वामियों का भी अच्छा समारोह था। जगद्गुरु ज्योतिष्पीठाधीश्वर की सवारी निकाली गयी। अपार जनसमूह साथ था। लोग कहते हैं कि दिल्ली में इतना बड़ा जुलूस किसी का भी नहीं निकला। स्वामी सोमाश्रमजी भी वहीं विराजमान होकर शुभानुसंधान कर रहे थे। श्री नरोत्तमाश्रम जी तो प्रबन्ध में ही थे। शास्त्री चेतनदेव भी पहले से ही आ गये थे। अब मद्रास, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों के विद्वान तथा बंगाल, मिथिला, पञ्जाब, जम्मू तथा राजपूताना आदि के विद्वान आने लगे। प्रवेशपत्र और आर्त्विज्य निर्णय का काम होने लगा। धीरे-धीरे बसन्तपञ्चमी जो कि आरम्भतिथि थी-आ गयी। अपार जनसमूह ने चारों और से मन्डप घेर लिये। स्व्यं सेवकों का प्रबन्ध अच्छा हो गया था। पुलिस भी ठीक काम कर रही थी। डाकखाना, टेलिफोन भी काम कर रहे थे। नल की व्यवस्था भी की गयी थी। हजारों पट-मण्डप बने थे। विशाल पण्डाल व्याख्यान के लिये बना था। कार्य प्रारम्भ हुआ। बड़े-बड़े वैदिक विद्वानों ने मंगलसूक्त आदि प्रारम्भ किया। पं. जीवनदत्त जी यजमान थे। वे पहले ही दिनों से आकर कार्य में संलग्न थे-कर्म में लग गये। ज्योतिष्पीठाधीश्वरजगद्गुरु शंकराचार्य अपने दिव्यपीठ पर विराजमान थे। दूसरी तरफ कुछ ब्राह्मणों की परीक्षा ली जाने लगी-कुछ अनुतीर्ण हुए-इतने ही में बहुत से लोग नाराज होकर बिगड़ने लगे। अनन्तर परीक्षा स्थगित कर दी गयी। अन्त में आरम्भिक कार्य के अनन्तर प्रधानाचार्य प्रधान ब्रह्मा का वरण हो गया। इतने में अतिकाल हो गया।

दूसरे दिन के लिए मण्डप वरणादि का कार्य्य स्थगित कर दिया गया। उधर पण्डाल में जगद्गुरु शंकराचार्य भारतीकृष्णतीर्थ जी की अध्यक्षता में कार्य्यवाही प्रारम्भ हुयी। जनसमूह बहुत था। कुछ भाषणों के बाद वहाँ का भी कार्य्य समाप्त कर दिया गया। रात्रि में वरण कार्य्य प्रारम्भ हुआ। प्रायः आचार्य्यों का वरण हो गया। सवेरा होते ही लोग अपने अपने कार्य्यो से मुक्त होकर उसी कार्य्य में लग गये। दूसरे दिन सायंकाल तक लगभग पन्द्रह सौ से अधिक वरण हो गया। अन्त तक पुराणादि पाठों में वरण ही रहा। तीसरे दिन से हवन प्रारम्भ हो गया। अनेक गम्भीर आथर्वणिक कार्य्य चल रहे थे। चालिस कुण्डों पर दश दश चारों वेद के विद्वान् दश दश ब्रह्मा भी वैसे ही नियुक्त हुए। शेष सब कुण्डों पर यजुर्वेदी ही थे। मण्डप के चारों ओर स्थण्डिल थे। उस पर उपलब्ध समस्त वैदिक शाखाओं के विद्वान्-वेदपारायण करते थे। इतिहास पुराण आदिकों के पाठक भी वहीं थे। दुर्गा एवं अन्नपूर्णा के पाठ वाले

अलग विराजमान थे। बड़े अद्‌भुत अद्‌भुत विद्वानों का दर्शन कर लोग चकित हो रहे थे। बहुत से अमेरीकन तथा योरोपिय विद्वान् भी दूर से यज्ञमण्डप की शोभा बड़े चाव से देख रहे थे।

यज्ञ चलने लगा–प्रबन्ध भी यथासम्भव चल रहा था। दक्षिणा की कमी बुद्धि में प्रतिभासित होती थी। यद्यपि अधिकाधिक संख्या से द्रव्य आ रहा था तथापि उस पर विश्वास कम था। इतने में अपने प्राचीन स्नेही श्री गौरीशंकर जी गोयनका जा पहुँचे। उन्होंने एक दिन पूछा महाराज अब खर्च–खर्च की क्या हाल है? मैंने कहा–'मुझे तो मालूम नहीं–'वहाँ (अर्थ समिति में) क्या है?' और तो सब ठीक ही है–दक्षिणा का कार्य अवशिष्ट है।' इस पर उन्होंने कहा कि–अब जो भी हो मुझपर छोड़ दें। मैं स्वत: या किसी से लेकर सब कर लूँगा। कितना लगेगा? मैंने कहा लगभग दो लक्ष लगेगा। उन्होंने कहा ठीक है। दूसरे दिन आकर उन्होंने कहा मेरा भाई मन्नालाल भी आ गया है, उसकी भी राय है अब दूसरे से लेने की जरूरत नहीं। मैं अपने भाई के साथ सब कर लूँगा। मैं तो भगवती पर गौरीशंकर को कुछ संकोच भी हुआ और उन्होंने कहा–मैं तो केवल कोषाध्यक्ष हूँ, धन तो सब भगवान् का ही है। फिर इसमें मेरा क्या? अधिवेशन में गौरीशंकर ने ही महाविद्यालय का भी प्रस्ताव रक्खा। उनके दूसरे भाई श्री कन्हैयालाल जी और उनके सुपुत्र माघवप्रसाद गोयनका आये थे। उन्होंने विद्यालय के लिये अपने निजी कोश में से एक लक्ष रुपया दिया और अपनी गोवर्धन की पाठशाला भी धर्मसंघ को ही दे दिया।

अधिवेशन में और भी अनेकों आवश्यक प्रस्ताव पास हुए। पूर्णाहुति के दिन अपार जनसमूह उमड़ पड़ा। विरुद्ध पत्रों ने भी कहा–लगभग दो लाख व्यक्तियों की उपस्थिति में पूर्णाहुति हुयी। उसी दिन नगर–यात्रा का जुलूस थ। उसमें लोगों का कहना था कि दश लक्ष की भीड़ थी। लोगों का कहना था कि ऐसा जुलूस कभी नहीं निकला। पहले सरकारी अड़चनें बहुत थी परन्तु अन्त में चीफ कमिश्नर आदि भी आकर मिले और बड़ी सहानुभूति दिखलायी। जुलूस समाप्त होने पर ठीक स्नान के समय १२ तोपें दागी। लगभ दस लाख आदमियों ने अवभृथ स्नान किया। पश्चात् सायंकाल से ही दक्षिणा प्रारम्भ हुयी। कई दिनों तक यह कार्य होता रहा। गौरीशङ्कर ने अपने मुनीमों को बैठा दिया और यह कह दिया कि–'जब तक महाराज कहे तब तक आज्ञानुसार देते जाओ।' लगभग दो लाख रुपया बाँटा गया। और अन्त में वहाँ ही महाविद्यालय का मुहुर्त्त कराकर वृन्दावन की यात्रा हो गयी। यज्ञ से अवशिष्ट लगभग ढाई लाख और सब मिलाकर चार लाख रुपया पाठशाला के लिये नियुक्त कर दिया गया। वहाँ की स्वागतसमिति और उसके कार्यकर्ताओं ने सचमुच बड़ा प्रयत्न किया।

यहाँ के पश्चात् कानपुर का यज्ञ निश्चित ही था। परन्तु, वहां के प्रमुख कार्यकर्ता श्री सुदर्शनलाल जी वाजपेयी से मैंने कहा–भाई ! जिस नियम से यहाँ यज्ञ हुआ उस नियम से वहाँ हो सकना सम्भव नहीं हैं ! क्योंकि वहीं (कानपुर) यज्ञ करने में जिन लोगों का प्रमुख हाथ समझा गया था उनका आचरण सनातन धर्म के विरुद्ध है। इस पर उन्होंने कहा कि यदिऐसा नियम है तो उन लोगों के बिना भी यज्ञ हो सकेगा। अस्तु, बड़े परिश्रम के साथ कानपुर पहुँच गया। वहाँ जाकर स्थिति कठिन मालूम पड़ने लगी। जिल लोगों का द्रव्य वह उनके आचरण और विरुद्ध खान–पान के कारण अग्राह्य था, उन्हीं की ओर से मण्डप बनने की तैयारी थी। मैंने सोचा कि सर्वोपद्रव दूर करने के लिये यहाँ का यज्ञ स्थगित कर दिया जाए या समयान्तर कर दिया जाय। परन्तु वहाँ के ब्राह्मणों के आग्रह से श्री भगवती का आश्रय लेकर 'शतमुख कोटिहोमात्मक यज्ञ' और 'धर्मसंघ का विशेषाधिवेशन' स्वीकार कर लिया गया।

पूर्व निश्चित लोगों का द्रव्य अस्वीकार करने में ही पहली यज्ञसमिति के प्रधान लोगों को पृथग्भूत होना पड़ा। यद्यपि उन लोगों ने व्यक्तिगत रूप से अन्त तक पूर्ण मनोयोग से सेवायें की। यहाँ तक कि तिल आदि के खाने का प्रबन्ध भी उन्हीं लोगो ने किया। विरोधी दल तो यद्यपि दिल्ली में था तथापि यहाँ बहुत विरोध हुआ। यहाँ भी बड़े आदमियों ने गवर्नर तक दौड़ लगायी। कुछ स्वमनोनुकूल आर्डर भी प्राप्त कर लिया। परन्तु अपने पास तो सिवा भगवान के और कोई सहारा था ही नहीं। वहाँ के कई प्रतिष्ठित लोगों की स्त्रियाँ और पुरुष आ–आकर प्रार्थना करते थे कि हमारी कुछ सेवा ले जी जाय। नियमों के कारण उन्हें मधुर शब्दों से मना कर दिया जाता था। यद्यपि उन लोगों ने नामोल्लेख सहित बहुत बवण्डर फैलाया। कुछ प्रतिकार का प्रयत्न किया गया, किन्तु सब प्रयत्न बेकार सिद्ध हुआ।

इधर सुदर्शनलाल और उनके भाई मथुराप्रसाद तथा ब्रह्ममण्डल के कई विशिष्ट सज्जनों ने बड़े साहस से कार्यारम्भ किया। बाबू किशोरचन्द, बाबू श्यामलाल टण्डन आदिकों के प्रयत्न से दूसरी कमेटी बनी–कार्य चलने लगा। बाबू किशोर चन्द की हिम्मत और प्रयत्न सचमुच बड़ा ही प्रशस्त था। 'वर्तमान' के संपादक पं. रमाशंकर जी भी अपने सिद्धान्त से बिल्कुल नहीं हटे। इस तरह से अनेकों सज्जन जिनका नाम स्मरण नहीं तथा स्वागत मन्त्री, स्वागताध्यक्ष का भी प्रयत्न प्रशस्त था। श्री विश्वम्भरनाथ जी वाजपेयी भी बड़ी तत्परता से कार्य में संलग्न थे। एक बड़े ही आस्तिक ने बड़े परिश्रम से आवास स्थान के लिये अयोध्यादि दस पुरियों का निर्माण कर दिया, साथ ही एक बहुत बड़ा पण्डाल बना दिया। एक सज्जन ने पुल बनाने का प्रयत्न किया। उधर वर्षा का कोप अधिक था–परन्तु यज्ञारम्भ होते ही वर्षा आदि मिट गयी।

दक्षिणा का प्रसंग आया। यद्यपि यह पहले ही कह दिया गया था कि दक्षिणा निरपेक्ष ब्राह्मणों का ही यहाँ सन्निवेश होगा और बाहर के विद्वानों का आह्वान न होगा तथापि दिल्ली के समान ही यहाँ भी मद्रास, महाराष्ट्र, मिथिला, पंजाब, राजपुताना आदि से विद्वान आये थे। अच्छे समारोहों से कार्य हुआ। बल्कि मण्डप की शोभा तो वहाँ से भी अधिक यहाँ की थी। दक्षिणा के लिए सेठ गौरीशंकर जी फिर आ गये और पूछा कि कितने द्रव्य की आवश्यकता है? अन्त में निश्चित हुआ कि यहाँ भी द्रव्य है तो उन्होंने २५ सहस्र लेने को कहा। परन्तु अन्त में १५ हजार ही लिया गया और लौटा दिया गया कि अब द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। दिल्ली में भी अन्त में द्रव्य लेना बन्द कर दिया गया कारण भिन्न-भिन्न लोगों की ओर से पर्याप्त द्रव्य आ गया। अन्नपूर्णा की कृपा से अन्न भी पर्याप्त संग्रहीत था। अन्त में घोषित कर दिया गया था। यहाँ भी धर्मसंघ विद्यालय का प्रस्ताव पास किया गया। सुदर्शन लाल जी वाजपेयी और श्री कपूर जी इधर दत्तचित हुए। यह सब कुछ लिखने-कहने का सार इतना ही कि-'जो कुछ भी कार्य हुआ है। यह सब प्रभु की कृपा का ही फल है।' अपना बल, बुद्धि, पौरुष सर्वथा अकिंचित्कर है:-

ता कहे प्रभु कछु आगम नहिं, जापर तुम अनुकूल।
तब प्रताप बड़वानलहिं जारि सकहि खलु तूल।।

-काशी सन्मार्ग २/२ (११/६/४४)

(२) बीकानेर का संस्मरण

यहाँ कीर्तन के ही प्रसंग में दो-तीन दिन के लिए जाना हुआ। परन्तु यहाँ के लोगों का विचार अधिक रोकने का हो गय। मैंने कहा-'यदि नवरात्र में अयुतचण्डी हो, तब तो यहाँ रहना हो सकता हैं।' रामप्रसाद, हरगोपाल आदि ने विचार-विमर्श करके व्ययादि का विवरण पूछा। उसमें अधिक व्यय समझकर हिचक गये। पीछे मैंने रामप्रसाद को बुलाकर प्रोत्साहित किया। वह तैयार हो गया, अस्तु, काशी से विद्वान बुलाये गये। वहाँ के अधिक आत्माराम भ्रदशंकरजी को वे लोग अधिक पसन्द करते थे। मैंने कहा-'ठीक, उन्हीं को बुला लो।' मनीराम व्यास आदि धर्मसंघ के कार्यकर्ता मण्डपादि-निर्माण में लग गये। राजपूताना प्रान्तीय धर्मसंघ के अधिवेशन की बात ठहरी। श्री गौरीशंकर अपने दलबल सहित उस काम में लगे। धर्मवीरसिंह भी काम करने लगा। इधर मार्कण्डेय दुर्गापाठियों की परीक्षा में लग गये। बहुत ब्राह्मण परीक्षा से हटने लगे, फिर भी प्रयोजन के योग्य विद्वान आते ही रहे। अन्त में बीकानेर के परीक्षा न देने वाले ब्राह्मणों का दल जोर पकड़ गया और वे पूर्ण विरोध में तत्पर हो गये। आत्माराम भट्ट को भी उन्होंने अपनी ओर खींच लिया। कोई कुण्ड-मण्डप को अशुद्ध कहने लगे, कोई-कोई तो गालियाँ भी देने लगे। वैश्यवर्ग घबरा गया। चिमनलाल गोस्वामी भी, जो कि यजमान होने वाले थे,

घबरा गया और चाहा कि वह काम बन्द कर दिया जाय। समझाने का प्रयत्न हुआ, परन्तु इन लोगों की हिम्मत न बंधी। अन्त में घोषित कर दिया गया कि ब्राह्मणों के उपद्रव से अब यह काम रोकना पड़ रहा है। इससे उन ब्राह्मणों में भी खलबली मची। बहुत से समझौता कराने के पक्ष में भी आये। अनेक लोग परीक्षा को अनुचित कहने लगे। परन्तु परीक्षा के बिना बहुत ही अयोग्य लोगों का प्रवेश हो जाता है, इसलिए यह नियम तोड़ने का विचार नहीं हुआ।

काशी के ब्राह्मणों ने कहा–'हम लोग दश व्यक्ति हैं, दश दिन में सहस्रचण्डी तो कर ही जायेंगे।' मैंने कह दिया कि जो ब्राह्मण रहे, वे पाठ करें, जो कुछ हो सकेगी व्यवस्था की जायेगी। रामप्रसाद आदि से कह दिया गया कि तुम लोग पृथक हो जाओ, तो भी यहाँ कुछ हो ही जायेगा। वे लोग कहने लगे कि 'हम लोगों की हिम्मत नहीं पड़ती।' अन्त में उन लोगों ने हवनसामग्री आदि जो आ चुकी थी, दे देने की बात कही। चन्द्रशेखर शास्त्री के आचार्य्यत्व में कार्य आरम्भ कर दिया गया। पराम्बा केवल परीक्षा लेती है, घमण्ड तोड़ने के लिये नाटक रचती है। अन्त में 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' के अनुसार उसने काम चालू किया। लोगों की बुद्धि फेरी। वैश्य आकर कहने लगे–'महाराज, अब हम लोग काम करेंगे और अब छिपकर नहीं, खुलकर काम करेंगे।' यजमान भी, जो संकल्प करके चले जाने वाले थे, कहा–'अब जैसी आज्ञा हो, वैसा की करूं।' इतने में उन ब्राह्मणों की तरफ से समझौते की सिफारिश आने लगी। स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी आ गये। उनके पास सब जाये, समझौता हो गया। भट्ट जी के विश्वास पर बिना परीक्षा किये ही ब्राह्मण ले लिये गये। अब अयुत चण्डी पूरी करने का संकल्प दृढ़ हो गया। कुण्ड–मण्डप के अशुद्ध होने की शिकायत भी समाप्त हो गयी।

उधर धर्मसंघ का अधिवेशन प्रारम्भ हो गया। काशी से धर्मेन्द्रपुरी पधारे। बहुत प्रभावशाली व्याख्यान होने लगे। तीन–चार दिन तक घोर निराशा रही। सब साथी और भक्त साथ छोड़ गये, भक्तों का पता ही न चलता था। कोई बीमार हो गया या बन गया, कोई समाधि में बैठ गया। परन्तु पराम्बा ने काम पूरा करने की ठान ली थी। धीरे–धीरे फिर सबके दर्शन होने लगे। बहुत बड़े समारोह के साथ असंख्यात स्त्री–पुरुषों का जमाव होने लगा। दो एक दिन दूध, घी आदि में संकोच रहा, फिर तो अन्नपूर्णा चेत गयी। दूध, घी खूब अच्छी तरह बँटने लगा, ब्राह्मण सन्तुष्ट थे। हवन भी प्रारम्भ हो गया। बीकानेर महारानी की इच्छानुसार एक दिन रत्नबिहारी जी के मन्दिर में भी व्याख्यान हुआ। विद्याकर शास्त्री एम. ए. के सभापत्तित्व में अधिवेशन हुआ। अनेक प्रस्ताव भी पास हुये। श्री प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी स्वगताध्यक्ष थे। पूर्णाहुति से पहले बीकानेर नरेश सकुटुम्ब दर्शनार्थ आये। यज्ञ के दर्शन के बाद दोनों पुत्रों और

कुछ मन्त्रियों के साथ मेरे पास आकर बैठे और कुछ धार्मिक, राजनीतिक विषयों के सम्बन्ध में वार्तालाप हुआ। पूर्णाहुति, दक्षिणा वितरण, ब्रह्मभोज आदि हो जाने के बाद वायुयान द्वारा यहाँ से जोधपुर आया गया। इस तरह करुणामयी जगदम्बा के अनुग्रह से यह महायाग भी सकुशल सम्पन्न हो गया।

(३) महायज्ञ और महाधिवेशन

अनन्त-ब्रह्माण्डजननी, कल्याणमयी, पुत्रवत्सला, पराम्बा की मङ्गलमयी कृपा से बम्बई का भी महायज्ञ तथा धर्मसंघ षष्ठमहाधिवेशन सम्पन्न हुआ। प्राणी जब अहंकार, ममकार से आक्रान्त होता है, तब पराभव और असफलता ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, यह इन यज्ञों में अनेक बार देखा गया। अपने प्रयत्न और महात्म्य का जहाँ भी विचार आया कि वहाँ उपद्रवों के पहाड़ ही दिखाई पड़ने लगते हैं, वहाँ निरहङ्कार होकर परम्बा के सहारे स्थिति बनी, वहाँ फिर कोई भी रुकावट नहीं रहती।

स्वर्गीय सेठ श्रीलच्छीरामजी चूड़ीवाला का बम्बई में धर्मसंध-महाधिवेशन के लिये बहुत वर्षो से निमन्त्रण था, परन्तु वह टलता ही गया। इन दिनों देश-काल की परिस्थिति बड़ी विकट थी, अतः हिम्मत नहीं पड़ती थी। परन्तु पराम्बा की प्रेरणा से बम्बई में महायज्ञ तथा महाधिवेशन का विचार करना ही पड़ा। कलकत्ता से चलते ही अच्छे शकुन मिले, इससे भी विश्वास दृढ़ हुआ। बम्बई में आते ही श्री चिरञ्जीलाल लोयलका, सेठ श्रीगजाधर सोमाणी आदि वायुयानावतरण स्थान पर ही मिले। रास्ते में ही लोयलका जी से चर्चा चली, उन्होंने बड़े प्रेम से आज्ञा पालन करने की बात कही।

लोयलका जी के भवन में ही विश्राम हुआ। उन्होंने लोगों को सूचित किया। सेठ द्वारकाप्रसाद सेकसरिया आदि ने भी सहानुभूति दिखलाई। कई लोगों ने नोआखाली में ही कुछ करने की सलाह दी। पर मैंने लोयलका जी को सलाह दी कि यदि २-४ व्यक्ति मिलकर कार्य आरम्भ कर दें, तो सब काम हो जायेगा, अन्यथा उन पंचायतों से कुछ काम नहीं चलता है। लोयलकाजी ने बड़ी वीरता के साथ यह स्वीकार किया, उनके एक मित्र एक जज साहब थे। (श्रीचम्पकलाल मोदी), उनसे वे मिले, उन्होंने भी सहानुभूति दिखलाई।

अब यज्ञ तथा महाधिवेशन के उपयुक्त भूमि-अन्वेषण आरम्भ हुआ, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते चौपाटी मेरिन ड्राइव के मैदान की भूमि तय हुई। जमीन के मालिकों ने उदारता से जमीन देना स्वीकार किया। श्रीगोविन्दराम सेकसरिया जी के भ्राता ने बिजली आदि का प्रबन्ध और व्यय देना स्वीकार किया और डाक टेलीफोन, नल एवं सफाई की व्यवस्था की। सेठ श्रीवल्लभदास कृष्णदास ने स्वागताध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया और श्रीलोयलका जी को स्वागतमन्त्री बना दिया गया। श्री द्वारकादास सोमाणी, श्री सेठ तुलाराम चूड़ीवाला, श्री परसराम पुरिया, श्री शिवचन्दराय झुन्झनुवाला, वैद्य श्रीसीताराम जी, जज साहब आदि अनेक सज्जनों ने मिलकर कार्य संभाल लिया।

पण्डित श्रीधर शास्त्री वारे यज्ञमण्डल बनवाने में लग गये। श्री शिवचन्दराय आदि धर्मसंघ-महाधिवेशन के व्याख्यानमण्डप में लग गए। नरवर के तपोमूर्ति ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी यजमानत्व के लिए आ गए। श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी के तत्वावधान एवं परिश्रम का तो कहना ही क्या? हरएक कार्यो की देख-रेख उनके ही हाथ में थी। श्रीमन्त्रीस्वामी, श्रीकाशीआश्रमजी, श्री सूर्यनाथ पाण्डेय, चन्द्रशेखरशास्त्री, मार्कण्डेय जी, देवकृष्ण त्रिपाठी, वैजापुरकजी, मदनगोपाल शर्मा सब ब्राह्मणों का निर्णय-प्रबन्ध, अधिवेशन, सन्मार्ग, केन्द्रीय धर्मसंघ आदि के कार्यो में बड़ी तत्परता से लगे थे। लक्षचण्डी, अष्टोत्तरशत श्रीभागवतसप्ताह, पुराणपाठ देवीभागवतपाठ, अखण्ड अन्नपूर्णा-स्तोत्रपाठ, अखण्ड हरिनामसंकीर्तन, विद्वत्-परिषद्, व्याख्यातृ-मण्डल, आदि में लगभग दो हजार ब्राह्मण एकत्र हो गए। महंगी और कन्ट्रोल होने पर भी दूध, घी, अन्न आदि की पर्याप्त वृद्धि अन्नपूर्णा के ताप से हो गयी। होम के लिए शुद्ध घृत आस्तिक माताओं के घरों से आने लग गया। सरकार की ओर से घी-तेल आदि के होम पर पर्याप्त बाधा डालने का प्रयत्न चला, परन्तु अन्त में सब बाधायें मिट गयी, पराम्बा की कृपा से यथाविधि तिल, घृत, मेवा आदि से ठीक-ठीक होम हुआ।

श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर महाराज शंकराचार्य श्री ब्रह्मानंद सरस्वती तथा शारदापीठाधीश्वर अभिनव-सच्चिदानन्दतीथ, श्रीरामानुज सम्प्रदाय के प्रतिवादिशंकराचार्य, आचार्य पीठाधपति श्रीराघवाचार्यजी (बरेली) वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य आदि अनेक आचार्य सम्मिलित हुए। म. म. अनन्तकृष्णशास्त्री, म. म. गिरिधर शर्मा, पण्डित रमापति मिश्र, पण्डित देवनायकजी आचार्य, ब्रह्मचारी सत्यव्रतजी पण्डित अखिलानन्दजी, शास्त्रार्थ महारथी माधवाचार्यजी, शंकरानन्दजी आदि अनेक व्याख्याता तथा महात्मा सम्मेलन में सम्मिलित हुये। स्वामी अखण्डानन्दजी की कथा हो रही थी। इस तरह यज्ञ, पाठ, सम्मेलन और अधिवेशन का कार्य चला। अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए। मुख्य रूप से गोवधविरोध, अधार्मिक बिल-विरोध, भारत विभाजन विरोध के लिए अक्षयतृतीया से आन्दोलन करने का निश्चय किया गया।

दक्षिणा का प्रश्न सामने आया। मैंने लोयलकाजी से पूछा। उन्होंने कहा, 'जैसी आज्ञा होगी सब हो जायेगा, कोई चिन्ता नहीं है।' बम्बई निवासी आस्तिक धनिकों ने भी पर्याप्त धन समर्पण किया। सानन्द दक्षिणा भी सम्पन्न हुयी। अवभृथस्नान भी पर्याप्त बड़ी शोभा-यात्रा निकाली गयी।

यह यज्ञ भी दिल्ली तथा काशी के महायज्ञ के समान ही बड़े समारोह से हुआ। यहाँ विशेषता यह थी कि पराम्बा की कृपा से कष्ट और चिन्ता बहुत कम उठानी पड़ी। हाँ, लोयलकाजी आदि कई व्यक्ति दिनरात जागकर घोर परिश्रम करते थे।

कृष्णबोधाश्रमजी की तपस्या तथा तत्परता का प्रभाव था ही और पराम्बा की प्रेरणा से ही तो यह सब काम हुआ ही था, अतः अनेक कठिनाइयों और विघ्नबाधाओं का अन्त हो जाना स्वाभाविक ही था।

इस अधिवेशन में जामनगर, पोरबन्दर, आध्रा, सोहावल, विजयपुर आदि अनेक राज्यों के नरेश भी सम्मिलित हुये। बम्बई असेम्बली के अध्यक्ष तथा बम्बई हाईकोर्ट के अनेक जज एवं हिन्दूमहासभा के अध्यक्ष श्री भोपटकरजी तथा अनेक सरकारी अफसर भी यज्ञ के दर्शनाथ आये और मुझसे मिले। प्रायः उन सब की सहानुभूति इस यज्ञ तथा महाधिवेशन से थी। बहुत दूर-दूर से धर्मसंघ के प्रतिनिधि इस अवसर पर आए थे। गोरक्षा-सम्मेलन, अखण्डभारत-सम्मेलन आदि अनेक उपयोगी सम्मेलन भी साथ-साथ सफलतापूर्वक सम्पन्न हुए। इस प्रकार यह विराट आयोजन श्रीपराम्बा की असीम अनुकम्पा से सानन्द समाप्त हुआ।

***

भक्ति और मुक्ति

पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के विभिन्न विषयों पर विचारों की कुछ झलक गत अध्यायों में देने का प्रयास किया गया है। परन्त उनके जैसे सर्वाङ्गीण विषयों के ज्ञाता द्वारा लिखित धार्मिक आध्यात्मिक गूढ़ाति गूढ़, गम्भीर शास्त्रीय विषयों के गहरे में उतरकर कुछ मुक्ताचयन करना साहस ही है। फिर भी उनके परमज्ञानी एवं परम भक्त वाले स्वरूप से परिचय प्राप्त न करना न्यूनता ही रहेगी 'ज्ञान' 'भक्ति' 'मुक्ति' ऐसे महत्वपूर्ण एवं गम्भीर विषय है जिसका विवेचन भारतीय मनीषियों द्वारा सदा से किया जाता रहा है। अपने-अपने ढंग से इन पर विचारकों ने विचार प्रस्तुत किये हैं; परन्तु आज के विषाक्त वातावरण में, जब सभी कुछ सन्तुलित सा होता जा रहा है एक परम पावन गन्ध का आभास इस देश के वातावरण में स्वामी जी के विचार दर्शन में आज भी भक्तों को होता है। उन्होंने इस विपरीत नास्तिक-प्रायः धर्म विहीन एवं जड़वादी समाज के मध्य देववाणी संस्कृत के साथ २ विशुद्ध राष्ट्रभाषा में वैदिक, शास्त्रीय, एवं पौराणिक, सनातनी सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके वास्तव में महान उपकार किया है भारत पर। संस्कृत में आज भी उपलब्ध विपुल साहित्य को कोई पढ़ता नहीं, आंग्ल भाषा में स्वामी जी लिखते नहीं, अतः आज के व्यस्त समाज को भी इस नवनीत का रसास्वादन शास्त्रनिष्ठ हिन्दी में सुलभ कराके स्वामी जी ने बड़ा उपकार किया है। उसकी लेखन एवं विषय वर्णन शैली अद्‌भुत है। वे पग-पग पर विगत का उपस्थापन करते है फिर उसके पक्ष को रखकर अपना मत प्रगट करते हुए शास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत करते है उनकी भाषा यद्यपि आम बोलचाल की भाषा नहीं है फिर भी जिस शैली से संस्कृत निष्ठ हिन्दी भाषा में उन्होंने इन गम्भीर शास्त्रीय विषयों का वर्णन किया है उससे वास्तव में राष्ट्रभाषा के कोष की अभिवृद्धि ही हुयी है।

सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'स्वामी जी एक ओर त्यागी महात्मा है वहीं दूसरी ओर लोक-संग्रह के लिये निरन्तर प्रयासशील कर्म योगी भी हैं-उनका तीसरा रूप मुझे सबसे अधिक आकृष्ट करता है। वह है उनका भक्त रूप····। अपनी प्रगाढ़ विद्‌वत्ता और अक्लान्त धर्मनिष्ठा के आवरण में वस्तुतः स्वामीजी महान् भगवद् भक्त हैं। भक्ति का कोई प्रसंग आते ही उनका यह प्रेमिक रूप सब कुछ को पीछे छोड़कर श्रोताओं को अभिभूत कर देता है।·····भागवत की कथा सुनाते समय वे प्रायः भगवान् के प्रेमिक रूप में अपने आपको निमज्जित कर

देते हैं–····।''उनकी इसी उच्च स्थिति का वर्णन करते हुए डाक्टर विद्या निवास मिश्र कहते हैं···शास्त्र की मर्यादा का निरन्तर ध्यान रखने वाले स्वामी जी भक्ति की बात करते समय सब कुछ भूल जाते हैं।···' स्वामी जी पूर्णतः अद्वैतवादी है, वेदान्त सिद्धान्त के अधिकारी प्रवक्ता ही नहीं अपितु परम वीतराग और भगवान् आद्यश्री शंकराचार्य के शांकर सिद्धान्त को जीवन में अक्षरशः उतारने वाले वेदान्तनिष्ठ है, निर्मोही है, निर्मम हैं, उन्हें वास्तव में कही लगाव नहीं है। वे बड़े कठोर हैं परन्तु स्वामी जी वर्तमान् समय में भक्तिरस के उतने ही मर्मज्ञ है जितने कि अपने समय में भगवान् आद्य श्री शंकरचार्य जी महाराज थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में साहित्य विभागाध्यक्ष डाक्टर रेवाप्रसाद द्विवेदी का कथन है·····'साहित्य शास्त्र पर आपका ग्रन्थ है 'भक्ति रसार्णव, इसमें भजनीय तत्व के रूप में पहले आपने ईश्वर तत्व की सिद्धि की है। इसे समझना साहित्य शास्त्र के सामान्य विद्वानों के लिये असम्भव है। सभी वादों को प्रस्तुत करते हुए रस को लौकिक और अलौकिक दो कोटियों में अवस्थित बताया है आपने। अलौकिक रस भक्ति रस है और श्रृंगारादि रस उसके अंग है।'···स्वामी जी भक्ति को रस मानने के सम्प्रदाय के आधुनिकतम आचार्य है।' स्वामी जी मुक्ति और भक्ति पर विचार करते हुए लिखते हैं कि –'कहा जाता है कि अद्वैतवाद की कैवल्य मुक्ति पाषाण कल्प है, वहां किसी भी प्रकार का सौख्य एवं उसकी सामग्री नहीं होती। भगवान् की मंगलमयी लीलाओं का जहाँ स्फुरण हो, वही परमपुरुषार्थ है। इतना ही क्यों, भावुकों का तो यह कहना है कि मुक्ति से भी श्रेष्ठ भगवान् की भक्ति है। इसीलिए भक्त लोग मुक्ति की परवाह न करके केवल भक्ति चाहते हैं–भक्तिरस की ऐसी अद्भुत महत्ता है कि मुक्ति या ब्रह्मानन्द भक्ति रसामृत सिन्धु के परमाणु की तुलना में भी नहीं आ सकते–''ब्रह्मानन्दो भवेदेष द्विपरार्द्धगुणी कृतः। नैत तभक्ति रसाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।।'' जो भगवान् की कथामृताब्धि का निरन्तर अवगाहन करते हैं, वे चतुर्वर्ग को तृण के समान समझते हैं। स्वामी जी पूर्व पक्ष रखते हुए लिखते हैं ''कि कुछ लोग कहते हैं कि प्राणी का जब तक भुक्ति–मुक्ति–स्पृहारूप पिशाची से पीछा नहीं छूटता, तब तक भक्ति सुख का उदय होना कठिन है–साथ ही कुछ लोग कैवलरूपोक्ष का ही महत्व गाया करते हैं और भक्ति को अन्तःकरण की वृत्ति ही कहते हैं। उनका कहना है कि इसीलिए सर्वत्र ही शास्त्रों में प्राप्य रूप मोक्ष का ही विचार किया गया है। भक्ति तो एक साधन रूप से ही यत्र–तत्र आदरणीय बतलायी गयी है।''–स्वामी जी का इस पर कथन है कि यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय, तो दोनों ही ओर सार है। कमी यही है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहता। इतना ही नहीं, किन्तु एक दूसरे पक्ष को घृणा की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः शब्दों से भले ही कोई कहले कि मुझे नहीं चाहिए, परन्तु जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, शोक और मोहादिशत संकुलित संसार से छुटकारा पाना अभीष्ट न

होगा? स्वामी जी प्रश्न करते हैं कि 'क्या विकराल नेत्र-व्यथा और उदर-शूल व्यथा का मिटना मन नहीं चाहता? फिर सर्वोपद्रव तथा सर्वताप निवृत्ति रूप मुक्ति से किसे अरुचि हो सकती है? हां स्वस्वरूपभूत परमानन्द रसामृत सिन्धु भगवान् में स्वाभाविकी प्रीति भी कम महत्व की नहीं है।'' - ''जहां पहले-पहल मोक्ष की वाञ्छा ही दुर्लभ है, तो फिर मोक्ष स्पृहा, विनिर्मुक्त होने की भावना, कितनी बड़ी बात है? फिर भी अवश्य एक ऐसी स्थिति है, जहां प्राणी को गुण मात्र से निःस्पृह होना ही पड़ता है।'' -''तत्परं पुरुषख्यातेगुणं वैतृष्ण्यम्-'' वशीकारसंज्ञक 'अपरवैराग्य' से भिन्न एक 'परवैराग्य' होता है, जो कि पुरुष स्वरूप साक्षात्कार से होता है। गुणों से वितृष्ण होना ही उसका स्वरूप है। गुणों में सर्वश्रेष्ठ सत्वगुण है, सत्व का भी सर्वोत्कृष्ट दिव्य परिणाम है परब्रह्माकाराकारित वृत्ति। उससे भी वितृष्णता होनी ही परवैराग्य है, क्योंकि यह (सत्वपुरुषान्यथाख्याति) वृत्तिपरिणामिनी प्रति संक्रमण शीला, सान्त होती है, तद्विपरीत निर्विकारानन्दरूपा चिति अपरिणामिनी, अप्रति-संक्रमणशील, शुद्ध, अनन्त होती है। अतः गुण परिणाम चाहे जैसा भी क्यों न हो, वह सर्वदा हेय पक्ष में ही है। अतः वितृष्णता ही 'परवैराग्य' है। परवैराग्य सम्पन्न व्यक्ति ही स्वात्मरति लक्षण भक्ति का अधिकारी होता है। वस्तुतः ऐसी स्थिति पर पहुँचे हुए मुक्त मुनीन्द्रों की ही मुक्ति स्पृहा मिटती है और वे ही परमुख्यभक्ति के मुख्य अधिकारी है।'' - स्वामी जी इस विवेचन को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं कि -''वैसे तो भक्ति सुरसरि में सभी अवगाहन के अधिकारी है, एक पतित भी और एक मुक्त मुनीन्द्र भी। वस्तुतः भगवद् भक्ति से ही कर्मयोग, ज्ञानयोग दोनों की ही सफलता होती है। उसके बिना किसी की भी सफलता नहीं। इसीलिये मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि भक्ति ही कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों का साधन है। अतएव देहली-दीपक-न्याय से दोनों का उपकार करने के लिए, कर्म और ज्ञान दोनों का फल भी है।'' - ''वहीं भक्ति दोनों की परिपुष्टि करके स्वयं ही दोनों के फलस्वरूप में भी व्यक्त होती है अर्थात् वही भक्ति परमात्मस्वरूप में श्रद्धा तथा प्रीतिरूप में विराजमान होती है, फिर परमात्वस्वरूप साक्षात्कार के अनन्तर परमात्मप्रीतिरूप भक्ति प्राप्त होती है, परन्तु यह भक्तिजन्य नहीं है। नित्य प्रत्यक् चिदात्मा सदा निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद होता है, परन्तु वहां प्रेम और प्रेम का आश्रय एवं विषय पृथक्-पृथक् नहीं है, तभी अत्यन्त अभेदवादी अद्वैतवादी वेदान्ती भी अपने निर्विशेष प्रत्यक् चैतन्या-भिन्न परमात्मस्वरूप को समस्त प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद मानते हैं। अतः ज्ञान के अनन्तर 'आत्मरतिरात्मक्रीड़ाः, यस्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः'-इत्यादि स्थलों में जो आत्मरति पद से कहा गया है, वह स्वात्म स्वरूप ही प्रेम है। भक्तिरसायनकार ने भी द्रवीभूत चित्त पर प्रादुर्भूत निखिलरसामृत मूर्ति भगवान् को शुद्ध प्रेम कहा है-

''भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्।।''

''रसौ वै सः-इत्यादि श्रुतिसिद्ध रसस्वरूप परमात्मा ही सर्वजगत का कारण है। कारण ही समस्त कार्यो में विराजमान होता है। इस रूप से रसात्मिका भक्ति स्वभाव से ही सर्वगत है। मुक्ति के विषय में यह भी कहा गया है कि भवबन्ध और मोक्ष दोनों संज्ञायें अज्ञान से है। वस्तुतः स्वप्रकाश सत्यज्ञानानन्दात्मा भगवान् से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। स्वप्रकाश सूर्य में केवल दिन और रात की कल्पना है। विचार करने पर सूर्य से भिन्न होकर कोई वस्तु नहीं है। यदि बन्ध नाम की कोई वस्तु नहीं है, तो फिर उसकी निवृत्ति ही कैसे तात्विक हो सकती है? इसी अभिप्राय से शुद्ध आत्मस्वरूप परिनिष्ठित महापुरुष बन्ध और मोक्ष दोनों को ही अतात्विक समझकर सर्वनिरपेक्ष होकर आत्मरति सम्पादन करते हैं-

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षर्न च मुक्त इत्येषा परमार्थता।।'

'वास्तव में न निरोध है न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है, न कोई मुक्त है। अनन्त, शुद्ध, अद्वैत ही परमार्थ तत्व है'- इस दृष्टि से अद्वैतवादियों की दृष्टि से मोक्ष नगण्य ही है। स्वामी जी आगे कहते है कि 'यदि इसी तत्व को दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय, तो मोक्ष परमार्थ भवत्स्वरूप ही ठहरता है। अविद्या लक्षण बन्ध की निवृत्ति मुक्ति है। इस पक्ष में भी यही शंका होती है कि बन्ध निवृत्ति सती है या असती है? सत्स्वरूप कहने से उसमें साधन की व्यर्थता आती है, असत्स्वरूप कहें, तो स्वपुष्पादिवत् साध्यता अनुपपन्न रहती है। तीसरा पक्ष इसलिए अनुपपन्न है कि एक में सदसत्वरूपता अनुपपन्न है। इस तरह अनेक पक्ष उठने के बाद यह कहा गया है कि अधिष्ठानस्वरूप अन्तरात्मा ही बन्ध निवृत्ति है। तब तो उसके लिए साधनानुष्ठान व्यर्थ ही है। इसका समाधान बताते हुए स्वामी जी आगे लिखते है 'ज्ञात आत्मा ही बन्ध निवृत्ति है, केवल आत्मा नहीं। अतः साधनानुष्ठान से ज्ञानोत्पादन द्वारा आत्मा में ज्ञातता उत्पन्न की जाती है। इस पर भी यह आक्षेप होता है कि फिर तो उत्पन्न होने वाले अन्तःकरण-वृत्ति रूप ज्ञान के नष्ट होने पर आत्मा की ज्ञातता भी अवश्य ही नष्ट होगी, अतः बन्ध निवृत्ति रूप मुक्ति भी अनित्य ही रहेगी। यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे 'कारीरीयाग' का फल आसन्नकाल विशिष्ट वृष्टि न होकर आसन्नकालोपलक्षित वृष्टि ही है, वैसे ही ज्ञातता-उपलक्षित चिदात्मा ही है बन्धनिवृत्ति है। स्वामी जी आगे और स्पष्ट करते है कि 'तत्व ज्ञान के पहले आत्मा सावरण रहता है, तत्व ज्ञान के उत्पन्न होने पर अनादि, अनिर्वचनीय आवरण नष्ट होने पर वह निरावरण हो जाता है। बस वह निरावरण ब्रह्म ही बन्धनिवृत्ति या मोक्ष है। इसी अभिप्राय से विदोन्तियों का कथन है कि अज्ञात प्रत्यकचैतन्याभिन्न परमात्मा ही वेदान्त

का विषय है और ज्ञात होने पर वही वेदान्त का प्रयोजन है। अतएव आत्यन्तिक अनर्थ की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष परमात्मस्वरूप ही ठहरता है। प्राप्ति भी उसकी उसी प्रकार है, जैसे विस्मृत कण्ठमणि की प्राप्ति। अतएव प्रह्लाद प्रभृति भक्तों ने अपने श्रीहरि को अपवर्ग रूप माना है। अन्यथा यदि मुक्ति स्वप्रकाश परमानन्ददायक भगवान से भिन्न हो, तब तो अद्वैतवादियों को अद्वैत भंग होना अनिवार्य ही होगा।

मुक्ति तत्व पर विशद एवं व्यापक तात्विक विवेचन करते हुए स्वामी जी आगे पुनः विचार प्रस्तुत करते है कि 'शून्यवादियों के मत से प्रदीपकल्प विज्ञानात्मा का मिट (बुझ) जाना ही मुक्ति या निर्वाण है। परन्तु वेदान्ती की दृष्टि से तो प्रदीप का भी बुझना अत्यन्त मिटना नहीं है। जो व्यापक अग्नि घृतवर्तिका के सम्पर्क से दाहकत्व-प्रकाशकत्व विशिष्ट प्रदीप शिखा के रूप में व्यक्त था, वही अग्नि अपने सोपाधिक रूप को छोड़कर निरुपाधिक विशुद्ध अग्नि के रूप में अवस्थित होता है। ठीक उसी तरह बुद्धि आदि उपाधि के सम्पर्क से जीव भावापन्न चिदात्मा सोपाधिक स्वरूप से मुक्त होकर निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है। ऐसी स्थिति में स्वप्रकाश व्यक्त भावापत्ति, शुद्धस्वरूप या ज्ञान किंवा निरावरण ब्रह्मरूप मुक्ति भगवत्स्वरूप ही ठहरती है। अतएव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'अत्र ब्रह्म समश्नुते', 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव', 'विशतेतदन्तरम्', - इत्यादि गीता-वचनों से भी यही तत्व सिद्ध होता है। स्वामी जी कहते हैं कि 'यदि ब्रह्मरूप ही मुक्ति है, तब तो ब्रह्म अनन्त परमानन्द रूप है, उससे भिन्न बड़ी दूसरी वस्तु की कल्पना भी नहीं हो सकती। निरतिशय वृहत एवं स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप ही तो 'ब्रह्म' है।' अतः जिस वस्तु में 'मुक्ति' से बड़ी कोई वस्तु है- **इसका अर्थ होगा कि अनन्त ब्रह्माकर भगवान् से भी बड़ी कोई वस्तु है। जो ब्रह्म से भिन्न और बड़ा कुछ मानते हैं, यह उनकी श्रद्धामात्र है, क्योंकि दृढ़ प्रमाणशून्य अर्थ में विवाद व्यर्थ होता है।** वस्तुतस्तु-''यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्' इत्यादि श्रीमदभागवत् के पद्यों में परमानन्द पूर्ण ब्रह्म को ही भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों एवं गीता का परम पर्य्यवसान एक, अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश ब्रह्म में ही है। स्वामी जी स्पष्ट घोषणा करते हैं कि 'यदि उससे भिन्न तत्व ही भगवान् माना जाता हो तो, वैदिक तो उसे मानने में असमर्थ ही रहेंगे। ऐसी स्थिति में मुक्ति प्राप्ति और भगवत्प्राप्ति एक वस्तु होती है। अतः मुक्ति से वैराग्य मानो भगवान् से ही वैराग्य होगा। सत्वपुरुषान्यताख्याति तक तो हेय पक्ष में है, अतः उससे वैराग्य उचित ही है, परन्तु भगवद्रूप मुक्ति से वैराग्य सचमुच तत्वानभिज्ञता ही है।

स्वामी जी मुक्ति पक्ष के उपर्युक्त तात्विक विवेचन के अनन्तर मुक्ति और भगवान् की एकरूपता बताकर आगे भक्ति तत्व के विषय में लिखते हैं कि -'जो भगवान् प्राणियों के निरतिलशय, निरुपाधिक पर प्रेम के आस्पद है', उनसे वैराग्य

कैसा? फिर भगवान् में राग को ही तो 'भक्ति' कहते हैं। भगवत्स्वरूप मुक्ति से भक्ति में बड़प्पन की कल्पना और मुक्ति-स्पृहा को पिशाची कहना कहाँ तक संगत हैं, क्योंकि मुक्ति राग और भगवद्राग तो एक ही वस्तु है और वही 'भक्ति' है। रागास्पद से राग का बड़प्पन कहा जा सकता है, तो भगवद्रूप मुक्ति से भक्ति को भी बड़ा कहा जा सकता है। मुक्ति या भक्ति की भगवान् को प्राप्त पुरुषों को स्पृहा न हो, यह भी असम्भव है, क्योंकि भगवान् तो सदा निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेम के आस्पद है। इसे स्पष्ट करते हुए स्वामी जी कहते है कि -''इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ज्ञानी या मुक्त भक्ति की उपेक्षा करते हैं। आत्मरति और आत्मक्रीड़ इत्यादि प्रकार से वर्णित रसस्वरूप भक्ति तो भगवत्स्वरूप ही है, उसमें उत्कर्षापकर्ष की कल्पना या उपेक्षा की सम्भावना नितान्त भ्रम-मूलक है।

मुक्ति तत्व विवेचन एवं मुक्ति व भक्ति की एकरूपता का वर्णन करते हुए स्वामी जी भक्ति की ओर बढ़ते ही अपने ज्ञानी, वैरागी, तपस्वी स्वरूप की विस्मृति सी करके भक्ति रसामृत सिन्धु में निमज्जन करते से प्रतीत होने लगते हैं; अब उनका भक्त रूप शेष रह जाता है; शरीर में रोमांच उठता है, वाणी गद्गद् एवं नेत्र प्रेमाश्रुओं से पूरित हो जाते है; उनके अन्तःकरण में वह मूर्तिमान वेदान्त तत्व नाचने लगता है और वह गलश्रुधार हो जाते हैं। भक्ति की उस उच्चस्थिति में पहुँचकर मन के कुछ सावधान होने पर गद्गद् वाणी से भक्त करपात्री जी कहते हैं कि रही भगवदाकाराकारित स्निग्ध अन्तःकरण वृत्तिरूप भक्ति की बात, वह भी कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकती। पहले तो इसी के प्रभाव से सब कुछ हुआ और इसी के प्रभाव से ज्ञान में भी सरसता है। कहा है-

''अहो चित्र महो चिर्य वन्दे तत्प्रेम बन्धनम्।
यद् बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्।।''

'कोई निराकार निर्विकार परब्रह्म को भजते हैं, कोई सगुण, साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की वन्दना करते हैं, पर मैं तो उस अद्भुत प्रेम बन्धन की वन्दना करता हूँ जिसमें बंधकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त प्राणियों को मुक्ति प्रदान करने वाला और स्वयं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव परब्रह्म भक्तों का खिलौना क्रीड़ामृग हो जाता है।' इस तरह जब शुद्ध ब्रह्म से प्रेम बन्धन (भक्ति) की महिमा बढ़ जाती है, तब तो मुक्ति से भी उनकी महिमा का बढ़ना युक्त ही है। भक्ति तत्व की महिमा का निरुपण करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि 'निरतिशय, निरूपाधिक परप्रेमास्पद भगवान सभी के अन्तरात्मा हैं, सभी के प्रिय है, फिर भी भक्ति के बिना वे नीरस ही रहते हैं। सरसता का लेश भी उनमें नहीं भासित होता।

'व्यापक ब्रह्म बिरज अविनाशी; सत चेतन घन आनन्दरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी, सकल जीवजग दीन दुखारी।
नाम निरूपण नाम जतन ते, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते।।'

'कंस, शिशुपाल और दन्तवक्त्र को भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन होता था, फिर भी बिना प्रेम के उन्हें उनमें सरसता का भान नहीं होता था। प्रेम का सम्बन्ध होने से साधारण वस्तु में भी सरसता का भान होने लगता है। अतः प्रेम का महत्व स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त भक्ति तत्व एक ऐसी वस्तु है जिसके आर्शीवाद के बिना ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति आदि का प्राप्त होना असम्भव है।' भक्ति की महिमा का बखान करते हुए वे कहते हैं कि 'भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति आदि भले ही भक्ति के फल हों, फिर भी बुद्धिमानों की दृष्टि में भक्ति का मूल्य मुक्ति से भी अधिक होता है। जैसे–यद्यपि अर्थ (धन) का फल धर्म और काम (भोग) ही है, फिर भी बुद्धि मान या कृपण धर्म और भोग की उपेक्षा करके कि बहुना प्राणान्त कष्ट सहन करके भी धन की रक्षा करता है। उसकी दृष्टि यही है कि यदि अर्थ बना रहेगा, तो जब चाहेंगे तभी धर्म और भोग सम्पन्न हो सकेंगे। जैसे हीरकादि रत्नों के रहने पर समस्त पदार्थ सुलभ होते हैं, वैसे ही भक्ति के रहने पर समस्त पुरुषार्थ सुलभ हो जाते हैं। किबहुना ज्ञान और वैराग्य, जो कि मुक्ति प्राप्ति के मूल हैं, वे भी तो महारानी भक्ति के ही पुत्र है और सदा उन्हें भक्ति के शुभाशीर्वाद की अपेक्षा रहती है। इसीलिए सन्तजन मुक्ति की परवाह न करके भक्ति को चाहते हैं–

'अस विचारि हरि भगत सयाने, मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।'

चिंतामणि भक्ति से ही चारों पुरुषार्थो की प्राप्ति सुगमता से ही हो जाती है।

''यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्य तश्च यत्।
सर्वं मद्भक्तियोगेन भद्भक्तोलयतेञ्जसा।''

कर्म, ज्ञान और वैराग्य आदि से प्राप्त होने वाली सभी वस्तुयें भक्ति से प्राप्त हो सकती है। अति दुर्लभ कैवल्यपरमपद भी भक्ति की महिमा से न चाहते हुए भी प्राप्त होता है–

'अति दुर्लभ कैवलरूपरम पद, वेद पुराण निगम आगम वद।'
'भक्ति करत सोई मुक्ति गुसाई, अन इच्छित आवै बरियाई।'

जैसे स्थल के बिना जल टिक नहीं सकता, वैसे ही भक्ति के बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता–

'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई, तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।'

भक्ति की महत्ता बताते हुए स्वामी जी कहते है कि 'जितने भी व्यापार होते हैं, सभी साधन से ही सफल होते हैं, साध्य–गोचर व्यापार होता ही नहीं। कुठार के उद्यमन–निपातन से ही काष्ठ का द्वैधी भाव रूप फल सिद्ध होता है। अतः उस मूल में ही आदर होना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से मुक्ति से भी या भगवान् से भी अधिक भक्ति का महत्व गाया जाता है। इन्हीं आशयों से भावुकों का कहना है कि मुक्ति में तो भक्त भगवान् हो जाता है, परन्तु भक्ति से तो भक्त भगवान् को वश में कर लेता है। इसीलिए सर्वाधिक आकांक्षा भक्त को भक्ति की ही होती है–

''धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहौ निर्वाण।
जन्म जन्म रति रामपद यह वरदान न आन।।''

स्वामी जी भक्ति के भेदों का दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं कि 'भक्ति शास्त्र में भक्ति के अनेक भेद कहे गये है। वैसे लोग भी साधन भक्ति और साध्य भक्ति इसके दो भेद मानते हैं; परन्तु यहां दो प्रमुख प्रकारों का उल्लेख करना है, वे हैं 'वैधी' और रागानुगा। विधि वहां होती है जहां अत्यन्त अप्राप्ति हो-''विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'' कामुक की कामिनी में स्वाभाविक अनुरक्ति होती है, वहां विधि की आवश्यकता नहीं है। भगवान् में स्वाभाविक अनुरक्ति नहीं है, अतः वहां विधि की उपेक्षा है; शास्त्रों में इसका विधान पाया जाता है कि जिसे अभय प्राप्ति की इच्छा हो, उसे सर्वात्मा-परमेश्वर हरि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए। बैधी भक्ति के लिए भगवान् का ऐश्वर्यमय रूप होना चाहिए। वैसे तो भगवान् के अनन्त रूप हैं, पर उनका विभाग तीन प्रकार से किया गया है-निर्गुण, निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार। इन तीनों रूपों का वर्णन करते हुए स्वामी जी लिखते है कि ''स्वयंत्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः'' से निर्गुण-निराकार, निर्विकार रूप तथा ''स्वाराज्य लक्ष्म्याप्तसमस्तकामः'' से अनन्त कल्याणनुणगण निलय सगुण-निराकार रूप कहा गया है। अनन्त कोटि कन्दर्पदर्प दमन पटीयान्, अनन्त कल्याण गुणगणनिलय, मधुर, मनोहर, सौन्दर्य, सुधा-सिन्धु, भगवदीय मङ्गलमय सगुण-साकार विग्रह के लिए क्या कहा जाये? इस रूप को तो भक्त जैसा चाहे वैसा बनाते हैं, इसीलिए कहा जाता है कि संसार को बनायें भगवान् और भगवान् को बनायें भक्त।.....भक्त लोग अपने चित्त से जिस-जिस रूप की भावना करते हैं, भगवान् भक्तों पर अनुग्रह करके वही वही रूप धारण करके भक्तों को दर्शन देते हैं।''एक सगुण साकार रूप से भगवान् वैकुण्ठधाम में विराजते हैं। सम स्वरूप के अनन्त गुणाश्रयत्व एवं महामहिम ऐश्वर्य सम्पन्नत्व का वर्णन 'बलि हरद्भिश्चिरलोकपालकिरीटपीडितपादपीठः' से यिका गया है।... ...'इतना ऐश्वरीय ज्ञान होने पर भी उनको न भजने से पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि अनेक अनर्थ परिलुप्त भ्झीम भवाटवी में भटकना पड़ेगा, इस अनर्थ का बोध होने से प्राणी को वैधी भक्ति का आश्रय लेना पड़ता है।' स्वामी जी यहां प्रश्न उपस्थित करते हैं कि 'भगवान के साकार होने का कारण क्या है? फिर स्वयं ही उत्तर देते हैं कि 'परपरमहंसमहामुनीन्द्रों को 'श्री परमहंस' बनाने के लिए भगवान् का अवतार होता है। भगवद् शक्ति के बिना ज्ञान शोभित नहीं होता। वह स्वरूप ऐसा सुन्दर होता है कि भगवान् स्वयं अपनी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता भूलकर उसे देखते ही नाच उठते हैं-

'रूपराशि छवि अजिर बिहारी, नाचहि निज प्रतिबिम्ब निहारी।'

जनक जी भी कहने लगे-

'इनहिं बिलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।'

स्वामी जी आगे बताते हैं कि 'एक तो हंस होते है प्रकृति-पुरुष को सर्वथा नीर-क्षीर के समान पृथक-पृथक समझने वाले सांरूथवादी। दूसरे होते हैं वे परमहंस, जिनकी दृष्टि में अविद्या, तत्कार्यात्मक प्रपञ्च रहता ही नहीं। उनके हृदय में भक्ति का अंकुर उत्पन्न होते ही वे 'श्री परमहंस' हो जाते हैं। भक्ति और ज्ञान का पारस्परिक विरोध अनभिज्ञ लोग समझते हैं।.....'आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, महामुनीन्द्र भी भगवान् की भक्ति करते हैं। क्यों? तो शास्त्र उत्तर देते हैं-'इत्थंभूत गुणो-हरिः।' इसी भक्ति को 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। यह भक्ति गोपाङ्गनाओं की थी।.....व्रजाङ्गनाओं का इतना निःसीम अनुरोध है कि, मुनि लोग ध्यान, धारण आदि के द्वारा विषयों से मन हटाकर जहाँ जोड़ना चाहते हैं, गोपांगनायें वहां से मन हटाकर विषयों में लगाना चाहती हैं। योगीन्द्र-मुनीन्द्र क्षण मात्र हृदय में जिसकी स्फूर्ति के लिए उत्कण्ठित होते हैं; वे मुग्धायें भक्तिन उसी को हृदय से निकालना चाहती है। ऐसी भक्ति जिसे प्राप्त है, उसके सौभाग्य का क्या कहना? उस पर स्वाभाविकी भक्ति की प्राप्ति भी भगवत्कृपा पर अवलम्बित है और भगवत्कृपा श्रुति-स्मृत्युक्त स्वस्व कर्तव्य के पालन पर ही निर्भर है। अंत में स्वामी जी स्पष्ट सिद्धान्त निश्चित करते हुए कहते हैं कि भगवद्-भक्ति के सम्पादनार्थ भी शास्त्रोक्त कर्तव्यों का अनुष्ठान परमावश्यक है।

***

प्रकाशित ग्रन्थ

क्र.	ग्रन्थ	पृष्ठ	मूल्य	सन्
१.	'शाङ्कर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान'	१९२	०.७५	१९३७
२.	'संकीर्तन और वर्णाश्रम मर्यादा'	१२२	अप्रकाशित	१९३७
३.	'श्रीभगवत्तत्व'	७२२	२०.००	१९४७
४.	'मार्क्सवाद और रामराज्य'	८०४	२५.००	१९५८
५.	'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य'(प्रक्षम खण्ड)	२७९	३.००	१९६०
६.	,, ,, ,, (द्वितीय खण्ड)	४३५	४.५०	१९६०
७.	'वेद प्रामाण्य मीमांसा'	७८	१.००	१९६१ (संस्कृत)
८.	'अहमर्थ और परमार्थसार'	२७०	६.००	१९६२ (संस्कृत भाषानुवाद सहित)
९.	'भक्ति रसार्णव'	२४९	५.००	१९६८
१०.	'वेदस्वरूप विमर्श'	४४७	७.००	१९६९ (संस्कृत)१
११.	'चातुर्वर्ण्य संस्कृतिविमर्श(प्रथम भाग)'	३२५	३.००	१९७३ (संस्कृत)
१२.	'श्रीविद्यारत्नाकर'	४७०	१२.००	१९७३ (संस्कृत)
१३.	'विचार पीयूष'	६६०	२२.००	१९७५
१४.	'क्या सम्भोग से समाधि'	१०५	२.२५	१९७६
१५.	'पूँजीवाद-समाजवाद रामराज्य'	२७०	५.००	१९७६
१६.	'रामायण मीमांसा'	११३२	४०.००	१९७७
१७.	'भक्ति सुधा (प्रथम भाग)'	१४८	२.५०	१९६४
१८.	,, ,, (द्वितीय भाग)	३५२	१०.००	१९६४
१९.	,, ,, (द्वितीय भाग)	३६५	१०.००	१९६५

क्र.	ग्रन्थ	पृष्ठ	मूल्य	सन्
२०.	चातुर्वण्यं संस्कृति विमर्श (द्वितीय भाग)	–	१०.००	–
				(संस्कृत)
२१.	संघर्ष और शान्ति	२५६	४.००	१९४९
				(संगृहीत)
२२.	राहुल जी की भ्रान्ति		१.५०	
२३.	जाति, राष्ट्र और संस्कृति		१.५०	
२४.	रा. स्व. से. संघ और हिन्दू धर्म		५.००	
२५.	रामराज्य परिषद् और अन्य दल		०.७५	
२६.	ये राजनीतिक दल		०.५०	
२७.	रा. रा. परिषद् और स्वतन्त्र पार्टी		०.५०	
२८.	आधुनिक राजनीति और रा. रा. परिषद		०.५०	
२९.	राजनीति में भी ईमानदारी		०.३०	
३०.	व्यक्तिगत या सामूहिक		०.५०	
३१.	धर्म और राजनीति		०.५०	
३२.	तिथ्यादिनिर्णय कुम्भनिर्णयश्च		१.००	
३३.	विदेश यात्रा शास्त्रीय पक्ष			
३४.	गम्भीर विचार की आवश्यकता			
३५.	समन्वय साम्राज्य संरक्षण			(संस्कृत)
३६.	माननीय प्रश्नोत्तर	अप्राप्त		
३७.	हिन्दू कोड प्रमाण की कसौटी पर	२५८	१.५०	१९४९
३८.	श्री विद्या वरिवस्या	–	–	–
३९.	रास और प्रयोजन	–	–	–
४०.	वेदार्थ पारिजात (प्रथम खण्ड)	९०८	९०.५०	१९७९
			(भूमिका भाग संस्कृत भा. टी.)	
४१.	,, ,, (द्वितीय खण्ड)		९०.००	
			(भूमिका भाग संस्कृत भा. टी.)	
४२.	,, ,, 'यजुर्वेद'		प्रेस में (वेदानुवाद)	
४३.	,, ,, 'ऋग्वेद'		,,	,,
४४.	,, ,, 'सामवेद'		,,	,,
४५.	,, ,, 'अथर्ववेद'		,,	,,

क्र.	ग्रन्थ	पृष्ठ	मूल्य	सन्
४६.	अमरावाणी (खण्ड-१)	१०२	१.००	१९४९ (संगृहीत)
४७.	,, (खण्ड-२)	१०३	१.००	१९४९ (संगृहीत)
४८.	रामायण - महाभारत काल-मीमांसा	५६	१.२५	(अंकित नहीं)
४९.	रामराज्य	४०	०.५०	(अंकित नहीं)
५०.	शक्ति का आराधन	अभी प्रकाश्य		(भाषण संग्रह)
५१.	श्रीमद्भागवत महिमा और 'भगवद्भक्ति'	,,		,,
५२.	रामायण और राम	,,		,,
५३.	आत्मकल्याण और आत्मनियन्त्रण	,,		,,
५४.	मानव जीवन, धर्म और सदाचार	,,		,,
५५.	सन्मार्ग - सुमन	,,		,,

***

राम जन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन के नायकों में एक थे स्वामी करपात्री जी

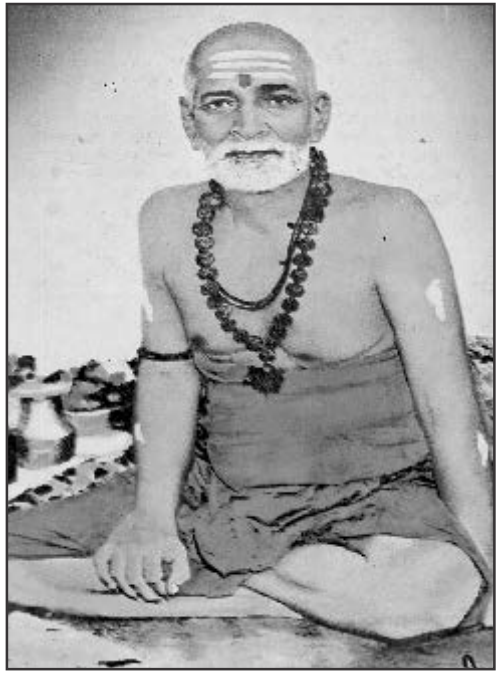

आज पूरा देश ही नहीं बल्कि पूरा विश्व रामजन्म भूमि अयोध्या में भगवान राम के दिव्य एवं भव्य मंदिर की आधार शिला रखे जाने को लेकर उत्साहित है। यह उत्साह भगवान राम की जन्मभूमि अयोध्या के करीबी जनपद प्रतापगढ़ में भी है। भगवान राम का प्रतापगढ़ से खास रिश्ता माना जाता है। कहा जाता है भगवान राम वन गमन के समय प्रतापगढ़ के सई नदी को पार कर श्रंग्वेरपुर पहुंचे थे। तभी से यह जिस मार्ग सेश्रृंग्वेरपुर गए उस मार्ग का नाम राम वन गमन मार्ग से जाना जाता है। यही नहीं भगवान राम को विवादित जन्मभूमि को मुक्त कराने के प्रथम आंदोलन की रणभेरी विश्व में धर्मसम्राट के नाम से विख्यात भारतीय राम राज परिषद के संस्थापक स्वामी करपात्री का जन्म भी प्रतागढ़ में ही हुआ था। उनका जन्म जिला मुख्यालय से ५० किमी दूर पश्चिम और दक्षिण के कोने पर बसा रामपुर खास विधानसभा के भटनी गांव में हुआ था। भटनी गांव वर्तमान में लालगंज तहसील के अंतर्गत आता है।

स्वामी करपात्री जी का जन्म सन् १९०७ ईस्वी में श्रावण मास, शुक्ल पक्ष, द्वितीया की सरयूपारीण ब्राह्मण रामनिधि ओझा के यहां हुआ। स्वामी करपात्री जी के मां नाम श्रीमती शिवरानी ओझा था। बचपन में स्वामी करपात्री जी का नाम हरी नारायण था। ९ वर्ष की अल्प आयु में उनका महादेवी से विवाह कर दिया गया। १७ साल की आयु में करपात्री जी ने गृह त्याग दिया और वह ज्योतिर्मठ शंकराचार्य स्वामी

ब्रह्मानंद सरस्वती से नैष्ठिक ब्रह्मचारी के दीक्षा के उपरांत उनका नाम हरिहरानंद सरस्वती हुआ। किंतु वह करपात्री के नाम से प्रसिद्ध थे। करपात्री जी खाने के पात्र के रूप में अपने कर को ही बर्तन के रूप में अपने साथ रखते थे। स्वामी करपात्री जी की धर्म शास्त्रों की अद्वितीय प्रतिभा और ज्ञान को देखते हुए उन्हें धर्म सम्राट की उपाधि दी गयी। स्वामी करपात्री जी को भगवान राम और हिंदू धर्म पर अटूट आस्था दी। भगवान राम में आस्था होने के कारण उन्हें अयोध्या में भगवान राम के मंदिर निर्माण के आंदोलन का बिगुल बजाने के लिए प्रेरित किया। स्वामी करपात्री जी ने अखिल भारतीय राम राज्य परिषद का गठन किया जो अखिल भारतीय राम राज्य परिषद हिन्दूवादी राजनीतिक दल के रूप में चर्चा में आया। मुगल शासन में राम भक्तों की आवाज कुंद हो गयी थी। तब से कुंद पड़ी उस आवाज को सन् १९४७ में बलरामपुर के राजा पाटेश्वरी प्रसाद सिंह, गोरक्षपीठ के पीठाधीश्वर महंत दिग्विजयनाथ, स्वामी करपात्री जी और फैजाबाद के तत्कालीन डीएम केके नायर ने बुलंद यिा था। २२-२३ दिसम्बर १९४७ की मध्यरात्रि रामलला की मूर्ति का विवादित स्थल पर रहस्मयी ढंग से प्राकट्य इनें चारों की रणनीति का हिस्सा था। आज जब मंदिर के निर्माण का अवसर है तो करपात्री जी का नाम न लेना बेमानी होगी। समूचा प्रतापगढ़ आज गौरवान्वित है। स्वामी जी ७ फरवरी को ..... थे।

परिपक्व वैराग्य

(साभार स्वनाम धन्य कल्याण के सम्पादक पदम विभुषण राधेश्याम जी खेमका
की पुस्तक करपात्री स्वामी एक जीवन-दर्शन से पृष्ठ १६०-२०६ तक)

जाड़ा, गर्मी और बरसात-सभी मौसमोंमें वे प्रायः एक चद्दर ओढ़कर ही सोते। एक बारकी बात है। पौषका महीना था। अनवरत वर्षा और शीतलहरी चल रही थी। रात्रिमें सोनेके समय महाराजजी ने प्रतिदिन ओढ़नेवाली पतली ऊनी चादर ओढ़ ली। भीष्ण ठंडमें वहाँ खड़े ब्रह्मचारीने एक कंबल लाकर उढ़ाना चाहा। महाराजश्री ने कहा कि यह कंबल मेरे पास रख दो, अभी आवश्यकता नहीं है। आवश्यक होनेपर ओढ़ ली जायगी। उसी दिन मुझे महाराजश्री के किसी अंतरङ्ग भक्तसे मालूम हुआ कि महाराजश्रीका यह नियम है कि वे सदा एक ही चद्दर ओढ़कर सोया करते हैं। पर महारा अपने इस वैराग्यपूर्ण आन्तरिक भावको किसीके भी समक्ष परिलक्षित नहीं होने देना चाहते थे। उस दिन मुझे यह अनुभूति हुई कि वैराग्यकी परिपक्वताका दर्शन जो यहाँ हो रहा है, वह सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ ही है। महाराजजीका यह स्वभाव था कि वे अपने विषयमें प्रायः कोई चर्चा नहीं करते, पर प्रसंगवश कभी-कभी कुछ बातें सामने आ जातीं।

एक बार मैं नारदघाटमें कुछ स्वाध्यायके निमित्त महाराजके पास बैठा था। उसी समय हरी पत्तियोंको पीसकर बनी हुई देखनेमें भांग-जैसी एक गोली महाराजने जलके साथ ग्रहण की। मैंने कौतूहलपूर्ण दृष्टिसे महाराजकी ओर देखकर पूछा- 'यह क्या है महाराज?' स्वामीजीने कहा- 'यह पीसी हुई नीमकी पत्तीकी गोली है, इसे चैत्र कृष्णमें १५ दिन लेनेसे रक्त स्वच्छ रहता है।' मेरे शरीरमें थोड़ा कम्पन-सा हुआ। मैंने कहा- 'महाराज। नीमकी तो एक पत्ती भी बड़ी कड़वी होती है, यह आप कैसे लेते हैं?' महाराजने कहा- 'इसका कोई स्वाद थोड़े ही लिया जाता है, इसे तो गलेके पास जीभपर रखकर पानीसे निगल जाते हैं।' इसी संदर्भमें महाराजने बताया कि पहले जब ये दक्षिणकी पैदल यात्रामें थे तो वहाँ भिक्षाकी कोई व्यवस्था न होनेसे इसी तरह आटेकी गोलियाँ बनाकर पानीके साथ निगल जाते थे। वहाँ श्रीमार्कण्डेयजी ब्रह्मचारी भी बैठे थे। उन्होंने पूछा कि 'महाराज, आटेकी गोलियोंसे पेटमें आँव नही हो जायगा?' तब महाराजने कहा- 'भाई! मैं इसे एक दिन छोड़कर दूसरे दिन लेता था। पेटकी जठराग्निमें सब भस्म हो जाता था। आँव तो अधिक खानेपर तथा पेट भरे रहनेपर होता है।' मैंने पुनः जिज्ञासा की कि एक दिन छोड़कर क्यों लेते थे? इसपर महाराजजीने कहा 'यह इसलिये कि कम-से-कम एक दिन भिक्षाकी कोई चिन्ता न रहे और निश्चिन्तता रहे।'

निर्जल एकादशी-व्रत

महाराजजी नियमके अटल थे। प्रत्येक एकादशीको उनका निर्जल व्रत रहता। मार्गमें या कहीं भी भीषण-से-भीषण गर्मी या आपत्कालमें भी वे एकादशीको जल ग्रहण नहीं करते। एक बार वाराणसीमें केदारघाटपर महाराजश्री विशेष रूपसे लंबे समयतक अस्वस्थ हो गये। कई दिनोंकी चिकित्साके बाद स्वास्थ्यमें कुछ सुधार हो रहा था, परंतु कमजोरी अत्यधिक थी। इसी समय एकादशी तिथि निकट आ रही थी। वैद्यजी ने निर्जल व्रतके लिये स्पष्ट मना कर दिया था। महाराजको यह अनुमान हुआ कि एकादशी तिथि मुझे नहीं बतायी जायगी। तब उन्होंने दर्शनार्थ आनेवाले विद्वानोंसे एकादशी तिथिकी सम्पुष्टि की तथा अपने निकट रहनेवालोंको यह निर्देश दिया कि एकादशीको मेरा व्रत खण्डित मत करना। तदनुसार महाराजने उस दिन भी एकादशीका निर्जल व्रत ही किया, परंतु उनके शरीरकी अवस्था निर्जल-व्रतके लायक थी नहीं, शाम होते-होते कमजोर स्वास्थ्यके कारण जल न लेनेसे चेतनामें भी कमी होने लगी। सब लोग चिन्तित थे। महाराज किसी भी स्थितिमें जल लेकर निर्जल-व्रत तोड़नेको तैयार नहीं थे। संयोगवश सायंकालके बाद पञ्चाङ्गके अनुसार द्वादशी तिथि आ गयी थी। महाराजकी शारीरिक स्थितिको देखते हुए ब्रह्मचारीने रात्रिमें ही महाराजको बताया कि एकादशी पूरी हो गयी। अब द्वादशी के पारणके लिये दूध तैयार है। महाराजने अपनी अर्धचेतनावस्थामें दूसरा दिन समझकर ही पारण स्वीकार कर किया। इस प्रकार महाराजके स्वास्थ्यकी रक्षा की जा सकी।

इसी तरह एक बार वाराणसीके सुप्रसिद्ध चिकित्सक श्रीगंगासहायजी पाण्डेयने महाराजश्रीको दूधका कल्प प्रारम्भ कराया। कल्पमें दूधकी मात्रा प्रतिदिन बढ़ायी जाती है। इस कल्पमें ७-८ लीटरतक दूधकी मात्रा पहुँच चुकी थी। संयोगवश बीचमें ही एकादशी आ गयी। कल्पके मध्यमें निर्जल व्रत सम्भव नहीं था। अब यह प्रश्न उठा कि निर्जल-व्रत छोड़ा जाय या कल्प। महाराजने इस समय भी अपना व्रत नहीं छोड़ा और उन्होंने कहा कि किसी भी स्थितिमें एकादशीका निर्जल-व्रत नहीं छोड़ सकता। इससे वैद्यजी नाराज भी हुए, परंतु महाराजने एकादशी व्रतका नियम नहीं तोड़ा। व्रतकी रक्षाके लिये बीचमें ही कल्प-क्रिया छोड़नी पड़ी। एकादशीकी ही तरह जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि व्रत भी महाराजके कठिन होते थे। जन्माष्टमीको रात्रि १२ बजेकी आरतीके बाद महाराज केवल तुलसीका प्रसाद ग्रहण करते, फलाहारका भोग दर्शनार्थी भक्तोंमें वितरण कर दिया जाता।

मोटरकारकी यात्रा

प्रारम्भमें महाराजश्री पैदल ही चलते थे। कभी आवश्यकता होनेपर नौकासे भी यात्रा करते थे, परंन्तु यान या किसी सवारीसे नहीं करते थे। आगे चलकर धर्म-रक्षार्थ जब सार्वजनिक जीवनमें महाराजश्रीका प्रवेश हुआ तक महाराजश्रीके संन्यास-गुरु ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीब्रह्मानन्दजी महाराज तथा अन्य लोगोंके विशेष आग्रह करनेपर महाराजने दूरकी यात्राके निमित्त मोटरपर चढ़ना स्वीकार कर लिया। इसीलिये वे रेल आदिके द्वारा कभी यात्रा नहीं करते थे। कभी-कभी उन्होंने वायुयानसे भी यात्रा की, परन्तु बादमें वायुयानकी यात्रा भी बंद कर दी। कारण, उसमं सिगरेट आदि पीनेपर प्रतिबंध नहीं था। मोटरकारकी यात्रामें महाराजके नित्य-नियम तथा भजन आदिके निर्वाहमें स्वतन्त्रता रहती थी। वे गाड़ीको रोककर समयानुसार सब कार्य कर लेते थे। उनके नियमित कार्यक्रममें किसी प्रकारकी बाधा भी नहीं होती थी। इसलिये उन्होंने बादके दिनोंमें दूरकी यात्रा मोटरद्वारा ही की।

तुलसी-प्रसादकी विशेषता

तुलसी-प्रसादमें महाराजकी अनन्य आस्था थी। वे एकादशीके निर्जल-व्रतमें भी तुलसीदल ग्रहण करनेका निषेध नहीं करते। एक बार काशीमें श्रीवृन्दावनबिहारी-भवनमें महाराजश्रीके पास अनन्तश्री जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज तथा पुरीपीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवजी महाराज ठहरे हुए थे। प्रात:कालीन पूजाके बाद पुरीपीठाधीश्वरने पेय पदार्थ (ठंढई)-का भगवान्‌को भोग लगाया तथा स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजसे किंचित् स्वीकार करनेका आग्रह किया। पर उन्होंने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया, कारण कि उनका भी यह नियम था कि वे दिनमें १२ बजे एक बार भिक्षा करते, इसके पूर्व कुछ भी नहीं लेते। पुरीके श्रीशंकराचार्यजीने विशेष आग्रह किया और कहा कि आप स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं भी इसे ग्रहण नहीं करूँगा। वहाँ महाराजश्री भी बैठे थे तथा दोनों महात्मा अपनी बातपर अड़े थे। इसपर महाराजश्री ने यह निर्णय दिया कि इसमें से तुलसी निकालकर इन्हें दे दो। तुलसी-प्रसाद लेनेसे आपकी और इनकी दोनोंकी बात पूरी हो जायगी। महाराजका यह निर्णय दोनोंने स्वीकार किया। स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजको ठंढईमेंसे तुलसी-प्रसाद निकालकर दिया गया और उन्होंने महाराजश्रीकी बात मानकर उसे ग्रहण किया।

नियमकी प्रतिबद्धता

महाराजजीके जीवनमें नियमकी प्रतिबद्धता निरंतर थी। अधिक मात्रामें ज्वर इत्यादिके रहनेपर भी वे तीन बजेके पूर्व उठकर एक बार स्नान करके प्रातः पूजापर अवश्य बैठ जाते। भले ही अस्वस्थताके कारण अधिक देर न बैठ सकें तथा पुनः विश्राम करने लगें, परंतु उनका समयपर उठनेका नियम था। अस्वस्थताके कारण भी वे उठनेमें आलस्य-प्रमाद नहीं करते।

एक बार महाराजश्री विशेषरूपसे अस्वस्थ हो गये। पाँच दिनतक लगातार उनकी बाह्य-चेतना शून्य-सी रही। फिर भी वे अचेतावस्थामें भगवन्नाम एवं रामचरितमानसकी चौपाइयोंका उच्चारण करते रहे। केदारघाट-स्थित आवासमें उनकी आयुर्वेदिक चिकित्सा चलने लगी। छठे दिन हठात् उनकी चेतना लौट आयी। एकाएक स्वतः सर्वप्रथम उन्होंने यही कहा कि 'मेरी पूजा लगाओ।' उनकी वाणी सुनकर सेवकोंको आश्चर्य हुआ। पाँच दिनोंकी अचेतावस्थाके बाद अचानक वे बोल उठे- 'मेरी पूजा लगाओ' यह आश्चर्य था। सेवकोंने कहा- 'महाराज! आपके भगवान् तो पूजाके निमित्त नीचे मन्दिरमें विराज रहे हैं।' यह सुनकर उन्हें भी आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा कि ऐसा क्यों? तब उन्हें उनकी अचेतावस्थाकी सब बातें बतायी गयीं। तब उन्हें अपनी अस्वस्थताका आभास हुआ। उसी समय तत्काल उन्होंने भगवान्‌को अपने पास मँगाया तथा अपने सांन्निध्यमें ही किसी अन्य ब्राह्मणद्वारा पूजन सम्पन्न कराया। इस प्रकार वे अपनी चेतनावस्थामें अपने भगवद्विग्रहको स्वयं से दूर नहीं रख सकते थे।

एकमात्र भगवान्नामका सहारा और काशीका आश्रय

यह उस समयकी बात है कि जब पूज्य स्वाकी श्रीकरपात्रीजी महाराज अपना चातुर्मास्य काशीमें सम्पन्न कर रहे थे। एक दिन वे अपनी कुटीमें बैठकर कोई पुस्तक देख रहे थे। मैं भी उनके पास बैठा हुआ कुछ आध्यात्मिक प्रश्न पूछ रहा था। पूज्य स्वामीजी महाराज बीच-बीचमें समाधान करते जाते थे। उसी समय मेरे मनमें एक बात आयी और मैंने महाराजश्रीसे पूछा कि श्रीमद्भवद्गीतामें (९/२२) भगवान्‌ने यह कहा है- 'जो व्यक्ति अनन्यभावसे मेरी भक्ति करता है और उपासना करता है, उसके योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तिके रक्षण)- का मैं यत्नपूर्वक वहन करता हूँ'-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

परंतु लोकमें इसके विपरीत बहुत सारे उदाहरण देखनेको मिलते हैं। जो परिवार पूर्णतः भगवद्विश्वासी हैं और जहाँ अनन्य भावसे भगवान्‌की पूजा, उपासना एवं कथा, सत्संग आदि चलते रहते हैं, उन परिवारमें भी कभी-कभी अनायास विपरीत परिस्थितियाँ देखकर आश्चर्य होता है। महाराजने मेरा आशय तो समझ ही लिया था। ये एक मिनट मौन रहकर बोले-'भाई! तुम्हारा यह प्रश्न तो अत्यन्त प्राचीन है। एक बार लक्ष्मणने महाराज श्रीरामसे कहा कि मैं दैवको समाप्त कर दूँगा।' लक्ष्मणकी बात सुनकर भगवान् राम हँसे और बोले- 'लक्ष्मण! दैवको तुम समाप्त कर सकते हो, पर यह तभी कर सकते हो जब तुम्हें यह मालूम हो जाय कि यह दैव (प्रारब्ध) है।' वास्तवमें दैवकी जानकारी तो फल-बलसे ही होती है अर्थात् जब घटना घट जाती है तभी प्रारब्धका पता लगता है और व्यक्ति यह समझता है कि यह हमारा दैव था। यह सब चर्चा चल ही रही थी कि इसी बीच एक नवागन्तुक व्यक्ति वहाँ आकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने महाराजश्रीसे निवेदन किया कि 'स्वामीजी!' मेरे भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं है।' तत्काल महाराजश्रीके मुखसे यह शब्द निकला कि 'भगवान्‌के नाम का स्मरण करो, उनकी कृपासे ही इसी व्यवस्था होगी।'- ऐसा कहनके कुछ क्षण बाद महाराजश्री मेरी ओर मुख करके बोले-'देखो! मैं यह बात ऊपर-ऊपरसे नहीं भीतरसे कह रहा हूँ। इस संसारमें तो कोई तत्त्व है नहीं। किस क्षण क्या हो सकता है? इसे कोई जानता नहीं। यदि कोई सार है तो वह है एकमात्र भगवन्नामका सहारा और दूसरा काशीका आश्रय।' इतना कहते-कहते स्वामीजी महाराज भाव-विह्वल हो गये। जिस समय महाराजद्वारा यह बात प्रस्तुत की गयी, उस समय उनकी भाव-भङ्गिमाओंसे मुझे ऐसा परिलक्षित हुआ मानो अपने जीवनकी साधनाओंका अनुभव और सम्पूर्ण शास्त्रों एवं सत्संगोंका सार उनकी इस वाणीसे प्राप्त हो रहा है।

वृन्दावनमें सत्संग

होलीके दिनोंमें फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षमें महाराजजी प्रतिवर्ष वृन्दावन जाते थे। वहाँ रमणरेतीमें धानुका-निवासमें रुकते तथा लगभग एक सप्ताह व्रजके भक्तोंको आनन्दकन्द सच्चिदानन्द व्रजेन्द्रनन्दन मदनमोहन श्यामसुन्दरकी प्रेममयी कथाका रसास्वादन कराते थे। वृन्दावनके रसिक भक्त-संत कथावाचक और विद्वद्‌गण महाराजजीकी कथा-सुननेके लिये पधारते। महाराजजी भी कथारसमें विभोर हो जाते। कभी-कभी तो भक्तिप्रेमरसमें वे इतना विह्वल हो जाते कि कथा कहनेकी स्थिति भी नहीं रह जाती।

रमणरेतीमें प्रभुपाद भक्तिवेदान्त स्वामीके द्वारा एक भव्य मन्दिरका निर्माण किया जा रहा था। जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय जगत्के सभी भक्तजनोंको रहनेकी पूजा-पाठ करनेकी सुविधा दी गयी थी। वे लोग स्वामीजी महाराजसे उस मन्दिरका उद्घाटन कराना चाहते थे। जिसके लिये उनके प्रमुख शिष्यके द्वारा भक्ति-वेदान्त स्वामी प्रभुपादकी ओरसे साग्रह अनुरोध किया गया था। पर महाराजजीने स्वीकार नहीं किया और कहा-पहले सिद्धान्तपर विचार कर लेना चाहिये। आपकी संस्थाके द्वारा विदेशी जनोंके यज्ञोपवीत-संस्कार कराये जाते हैं तथा संन्यास आदि दिलाया जाता है। जबकि शास्त्रके द्वारा उनके कल्याणकी दृष्टिसे उन्हें ये सब करनपेका अधिकार नहीं है, वे अधिक-से-अधिक नाम-कीर्तन एवं नाम-जपके ही अधिकारी हो सकते हैं। इस विषयपर महाराजश्रीने शास्त्रीय प्रमाण भी उनके समक्ष प्रस्तुत किये।

काशीमें निवासका निर्णय

मेरे पूज्य पिताश्री और मेरे पूज्य ताऊजी दोनोंमें एक बार विवाद छिड़ गया। सन् १९५७ में श्रीकाशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें मेरा नाम एम.ए. (संस्कृत) में लिखाया गया। उन दिनों मेरे पूज्य पिताजीकी इच्छा परिवारसहित काशीमें ही निवास करनेकी थी। जीवनयापनकी दृष्टिसे यहाँ व्यापार करनेकी योजना सोची जा रही थी। पूज्य ताऊजीने काशीमें व्यापार करनेका शास्त्रीय दृष्टिसे निषेध किया। शास्त्रीय प्रमाण भी प्रस्तुत किया। पूज्य पिताजी तथा ताऊजीका संयुक्त परिवार था। पूज्य पिताजीने ताऊजीसे काशीमें रहनेका आग्रह किया, पर वे यहाँ रहनेके लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने यह शर्त रखी कि जो भी विद्वान् या संत-महात्मा अपने दैनिक जीवनयापनके कार्योंमें गङ्गाजलका प्रयोग करता हो, नलके जलका प्रयोग न करता हो-ऐसे किसी भी व्यक्तिसे इसका निर्णय कराया जा सकता है। इसके लिये ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजको पंच माना गया। वे जो निर्णय कर देंगे वह दानों पक्षोंको मान्य होगा। ताऊजीने व्यापार न करनेके पक्षमें अपना शास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत किया तथा पिताजीने व्यापार करनेके पक्षमें अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'शास्त्रोंमें काशीवासकी सर्वोत्कृष्ट महिमा है, परंतु वैश्यके लिये भिक्षा-वृत्ति तो विहित है नहीं, जीवनयापनके लिये व्यापारके अतिरिक्त वैश्यके लिये और क्या हो सकता है? पूज्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजने इसपर दो दिनोंतक विचार किया औश्र अन्तमें यह मामला स्वामी श्रीकरपात्रीजीके पास भेज दिया और कहा इसका निर्णय उनसे ही कराना चाहिये। महाराजने भी दोनों पक्षोंको सुना और अन्तमें यह निर्णय दिया कि काशीवासके निमित्त जीवनयापानके लिये तथा भोग-विलासकी भावना

बिना रखे अनासक्तभावसे साधु-संतों-महात्माओं और भारतीय संस्कृतिकी सेवाको लक्ष्य बनाकर व्यापार करनेमें दोष नहीं होगा। महाराजने यह भी कहा कि काशीवासका तो इतना अधिक महत्त्व है, जिसके संबन्धमें शास्त्रोंमें यहाँ तक लिखा गया है कि 'हाथ-पैर तोड़कर भी काशीमें निवास करते हुए मृत्युकी प्रतीक्षा करनी चाहिये।' अतः काशीवासके उद्देश्यसे जीवन-यापनके लिये साधनरूपमें व्यापारका आश्रय वैश्य ले सकता है, परंतु अर्थोपार्जन भोग-विलासके लिये नहीं होना चाहिये।

काशीमें शरीर-त्यागका संकल्प

काशीमें महाराजश्रीकी अटूट श्रद्धा थी। वे यह मानते थे कि जन्म-जन्मान्तरकी साधनाओंके बाद भी त्याग-वैराग्य और तप आदि साधन-सम्पन्न योगियोंको जो वस्तु दुर्लभ है, वही 'मोक्ष' काशीमें शरीर त्यागने मात्रसे प्राप्त होता है। महाराजश्रीकी यह मान्यता थी कि काशीमें भगवान् विश्वनाथके द्वारा मुक्तिका सदाव्रत चलता है। वे कहा करते-जैसे कोई अभ्यागत किसी अन्न-सत्र अथवा मालपूआ, खीर, पूड़ी आदिके भण्डारकी पंक्तिमें बैठ जाय तो उसे मालपूआ आदि रुचिकर भोजन बिना प्रयासके स्वतः प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार भूतभावनके इस मुक्तिक्षेत्रमें जिसका वास हो जाय, वह अनायास ही जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसलिये वे सदा काशीमें निवासके लिये कहते, कारण कि मङ्गलं मरणं यत्र...।

महाराजश्रीका यह नियम था कि वे प्रतिवर्ष चातुर्मास्य काशीमें ही करते, कारण यति-संन्यासी चातुर्मास्यकालमें दो मासतक किसी भी परिस्थितिमें एक स्थानकी सीमा पार नहीं करते अर्थात् नगरकी सीमासे बाहर दूसरे स्थानपर नहीं जाते। इसलिये पिछले २०-२५ वर्षोंमें दूसरे स्थानपर चातुर्मास्यके आग्रहको महाराजजीने कभी स्वीकार नहीं किया, सदैव वाराणसीमें ही श्रावण और भाद्रपद-दो मास चातुर्मास्यके रूपमें व्यतीत किया। वैसे उन्होंने स्पष्टरूपसे अपने ब्रह्मचारीको यह आदेश भी दे रखा था कि कहीं भी किसी समय मेरे अस्वस्थ होनेपर गाड़ी तत्काल काशीकी ओर मोड़ देना। उनका यह मानसिक संकल्प था कि शरीर-त्याग काशीमें ही करना है। काशीमें केदारखण्डमें शरीर-त्यागकर में विशेष महत्त्व मानते थे।

शास्त्रानुसार सम्पूर्ण काशीमें तीन खण्ड हैं-विश्वनाथखण्ड, ॐकारखण्ड और केदारखण्ड। नक्शेमें सबकी सीमाएँ अलग-अलग दिखायी गयी हैं। इन सभी सीमाओंमें शरीर-त्यागमात्रसे मुक्ति प्राप्त होती है। परंतु विश्वनाथखण्ड और ॐकारखण्डमें शरीर छूटनेसे मोक्षसे पूर्व पापोंकी निवृत्तिके लिये भैरवी यातना भोगनी पड़ती है। यह अत्यधिक कठिन यातना है, परन्तु केदारखण्डमें शरीर छूटनेसे भैरवी यातना भी नहीं

भोगनी पड़ती। ढुण्ढिराज-गणेशजी केवल भयादोहनके द्वारा प्राणीके पापोंकी निवृत्ति कर देते हैं और वह मुक्त हो जाता है। इसीलिये महाराजश्रीने काशीमें केदारेश्वर महादेवके ठीक बगलमें गङ्गातटपर एक स्थान प्राप्त किया, जिसे उन्होंने 'वेदशास्त्रानुसंधानकेन्द्र' के नामसे स्थापित किया, पर इसे आजकल 'करपात्रीधाम' कहा जाता है। इस स्थानपर गङ्गाकी ओर एक मन्दिरकी स्थापना की गयी, जिसमें महाराजश्रीने अपने सभी आराध्य देवोंकी संस्थापित किया। नर्मदासे प्राप्त शुभ्र वर्णके सुन्दर शिवलिङ्ग मन्दिरके मध्यमें स्थापित किये गये। इनकी जलहरीमें चारों दिशाओंमें गणेश, दुर्गा (पार्वती), विष्णु और सूर्य भगवान्‌की स्थापना की गयी। सामने सिंहासनपर मध्यमें श्रीराम-पञ्चायतन, भगवान् श्रीराधाकृष्ण, भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी स्थापना हुई। इस प्रकार महाराजश्रीने मन्दिरमें पञ्चदेवोंको संस्थापित किया तथा यह नियम बनाया कि कम-से-कम १७ पाव अन्नका भोग प्रतिदिन एक समय लगाया जाय। भोगके साथ-साथ बलिवैश्वदेव एवं गोग्रास आदिकी शास्त्रविहित प्रक्रिया भी पूरी की जाय। साथ ही एक व्यक्तिका भोजन गोमाताको तथा एक व्यक्तिका भोजन गङ्गा माताको समर्पित किया जाय।

इस स्थानके संबंधमें महाराजश्रीका आन्तरिक भाव यह भी था कि शरीर-त्याग केदारखण्ड-स्थित गङ्गाके तटपर इस स्थानमें ही किया जाय। शरीर-त्यागके क्षणोंमें शास्त्रद्वारा निर्धारित समस्त विधियोंपर महाराजका पूर्ण ध्यान था और वे उसे आवश्यक भी मानते थे। शास्त्रका यह निर्देश कि आकाशमें अर्थात् भूमितलसे ऊपर दूसरी मंजिल अथवा मचान आदिपर मृत्यु नहीं होनी चाहिये। इस बातपर महाराजका पूर्ण ध्यान था। एक बार वे किसी यात्राके समय मार्गमें विशेष अस्वस्थ हो गये, तत्काल महाराजजी काशी केदारघाट-स्थित भवनमें ले आये गये। वहाँ उन्होंने इसी दृष्टिसे स्थान उपयुक्त न होनेपर भी नीचेके तलमें ही रहना स्वीकार किया। एक बार महाराजजीने मुझे यह भी आदेश दिया था कि ऊपरके तलपर, जिस कमरेमें महाराज निवास करते थे, वहाँ एक व्यक्तिके लायक चौकी बना दी जाय, जो नीचेके तलसे ऊपरके तलतक ठोस रहे। भीतर पोल न रहे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि महाराजकी यह सब अन्तिम समयकी पूर्व व्यवस्था है। इसी बीच काशीके एक सम्मानित पण्डित किसी दि महाराजश्रीसे मिले और उन्होंने शास्त्रमें प्रमाणित एक श्लोक महाराजश्रीको दिखलाया। जिसका आशय यह था कि काशीमें यदि ऊपरके तलमें भी देहान्त हो जाय तो कोई दोष नहीं है। इस प्रमाणको देखनेके बाद ऊपरके तलमें शरीर न त्यागनेकी बात महाराजके मनसे निकल गयी। उन्होंने यह मान लिया कि काशीमें शरीर कहीं भी छूटे तो कल्याणमें कोई बाधा नहीं।

एक बार स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजीने स्वामीजी महाराजके पास शास्त्रोंमें प्रमाणित कए श्लोक लाकर दिखया, जिसका आशय था कि सूर्योदयके बाद और सूर्यास्तके

पूर्व रुद्राक्षकी मालापर भगवतीका जप नहीं करना चाहिये। महाराजने शास्त्र-प्रमाण देखकर इसे भी स्वीकार कर लिया। एक दिन इसी संदर्भमें मेरे समक्ष श्रीमहाराजजीने कहा-निरन्तर शास्त्राध्ययन आदि होते रहनेपर भी शास्त्रकी कोई नयी बात अभी भी सामने आ जाती है जो पहले जानी हुई नहीं है। इसी क्रममें मैंने महाराजश्रीसे पूछा कि गायत्री-मन्त्रका जप सूर्योदयके बाद दिनमें रुद्राक्षकी मालापर किया जा सकता है या नहीं? कारण, गायत्री मन्त्रके भी तो देवी-मन्त्र ही है। इसपर महाराजजीने उत्तर दिया कि गायत्री मन्त्रके द्वारा अपने इष्टदेवका ध्यान होता है, इसलिये इसका जप रुद्राक्षकी मालापर करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

भावके भूखे हैं भगवान्

श्रीमहाराजजीने बातया कि भगवान्‌के मन्दिरमें अथवा पूजामें भोगकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि भावके बिना भगवान् भोग भी स्वीकार नहीं करते। कारण, वास्तवमें भगवान्‌को किसी वस्तुकी आवश्यकता तो है नहीं, वे तो प्रेम और भावनाके भूखे हैं। इसलिये जो भी सामग्री बने वह सम्पूर्ण सामग्री भगवान्‌के सामने रखनी चाहिये और भोग लगाते समय मानसिक रूपसे यह भावना करनी चाहिये कि मैं अपने प्रभुको छप्पन प्रकारके व्यञ्जनोंका भोग निवेदन कर रहा हूँ, इसी क्रममें विभिन्न भोग-सामग्रियोंको मानसिक रूपसे अपने प्रभुके समक्ष निवेदित करना चाहिये। इसीके साथ महाराजश्रीने भगवानकी एक दूसरी प्रक्रिया प्रस्तुत करते हुए बताया कि भोग लगाते समय अत्यन्त दीनभावसे अपने प्रभुसे यह प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! आपने शबरीके बेरको ग्रहण किया, सुदामाके तंदुलको स्वीकार किया और विदुरकी पत्नीके केलेके छिलकेको भी प्रेमपूर्वक खाया तो फिर मेरे इस तुच्छ भोगको भी स्वीकार करें।' इस प्रकार दैन्यभावसे प्रार्थना करके प्रभुको आरोगवाना चाहिये। इस तरह भावनापूर्वक भोग लगानेसे ही भगवान् उस भोगको ग्रहण करते हैं।

भोगके साथ राग

एक संदर्भमें महाराजजीने कहा कि मन्दिरमें भोगके साथ रागकी भी व्यवस्था करनी चाहिये। मैंने पूछा- 'महाराज! राग क्या है?' महाराजने बताया कि जैसे भगवान् प्रेमपूर्वक भोग लगाया जाता है, वैसे ही प्राचीन मन्दिरोंमें संगीत-स्वरोंमें भजन, कीर्तन और स्तुति भी सुनायी जाती है। विशेषकर वल्लभ-सम्प्रदायके मन्दिरोंमें

तो प्रायः यह व्यवस्था रहती ही है। महाराजने मुझसे कहा कि ऐसा कोई भजनानन्दी संगीतज्ञ जो काशीवासकी दृष्टिसे रहना चाहे तो उसे केदारघाटके मन्दिरमें रखा जा सकता है। जिसके द्वारा राग-रागिनीकी सेवा भगवान्‌के समक्ष नियमित रूपसे चलती रहे। इसीलिये मन्दिरोंमें भगवान्‌के प्रसादके निमित्त 'भोग-राम' शब्दका प्रयोग होता है।

काशीकी महिमा

काशीकी महिमाका वर्णन करते हुए वे सदा कहते कि-

'असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम्।
काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शम्भुसेवनम्।।'

इस असार संसारमें चार बातें ही सारभूत हैं-

(१) गङ्गाका जल- गङ्गाका एक विन्दु जल भी मनुष्यको तारने एवं उसका कल्याण करनेमें समर्थ है। अतः दैनिक जीवनमें जिन्हें गंङ्गाकी उपलब्ध है, उनके सौभाग्यका कहना ही क्या? गङ्गाकी यह उत्तरवाहिनी धारा काशीमें ही उपलब्ध है।

(२) सत्पुरुषोंका संग- जीवनको ऊपर उठानेके लिये सत्संगकी बड़ी महिमा है। संत, महात्मा और सत्पुरुषोंकी संगति प्राप्त हो जाय तो इसको परम सौभाग्य मानना चाहिये। काशीमें यह परम सुलभ है।

(३) काशीका वास- भूतभावन भगवान् विश्वनाथकी पुनीत नगरी काशीमें निवास करना अत्यधिक महत्त्वकी बात है। जन्म-जन्मान्तरके तप एवं साधनासे जो गति योगीश्वरों और मुनीश्वरोंको नहीं प्राप्त होती-दुर्लभ है, वह केवल काशीवाससे व्यक्तिको प्राप्त हो जाती है।

(४) भगवान् शिवका पूजन- जीवनमें भगवदाराधनकी मुख्य महिमा है। काशीमें साक्षात् सदाशिव भूतभावन भगवान् विश्वनाथ विराजते हैं। अतः काशीवासियोंको स्वाभाविक रूपसे भगवान् विश्वेश्वरके अर्चन-पूजनका अवसर प्राप्त है। अतः (१) गङ्गाका जल, (२) सत्पुरुषोंका संग, (३) काशीका वास और (४) भगवान् शिवका पूजन-ये चारों ही सारभूत बातें काशीमें उपलब्ध हैं, अन्यत्र नहीं।

पञ्चकोशी परिक्रमा

अन्तिम वर्षोंमें महाराजश्री प्रतिवर्ष काशीकी पञ्चकोशी यात्रा भी करते। उनके साथ सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें भक्तमण्डली जाती। मार्गमें यात्राके क्रममें **'हर हर महादेव शम्भो काशी विश्वनाथ गङ्गे'** यह कीर्तन चलता रहता। इसके अतिरिक्त

मार्गमें वार्तालाप आदि करना अमूल्य समयका अपव्यय माना जाता था। इसके साथ ही वे जहाँ ठहरते वहाँ काशी-रहस्य और काशीखण्डकी कथा एवं सत्संगका कार्यक्रम भी चलता। उनका यह विश्वास था कि –

अन्यदेशे कृतं पापं वाराणस्यां विनश्यति।
वाराणस्यां कृतं पापमन्तर्गेहे विनश्यति।।
अन्तर्गेहे कृतं पापं पञ्चक्रोश्यां विनश्यति।
पञ्चक्रोश्यां कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।।

अन्यत्र कहीं भी किया हुआ पाप वाराणसीमें नष्ट हो जाता है, किंतु वाराणसीमें किया गया पाप अन्तर्गृहकी यात्रासे समाप्त होता है। अन्तर्गृहकी यात्राके क्रममें यदि कोई पाप बन जाय तो उसका विनाश पञ्चकोशी-यात्रासे हो जाता है, किंतु पञ्चकोशी यात्राके क्रममें किसीसे कोई पाप बन जाय तो वह वज्रलेप हो जाता है। इसीलिये वे साथ चलनेवाले लोगोंको निरन्तर सावधान रखते कि मार्गमें क्रोध, परनिन्दा, असत्य-भाषण तथा किसीके प्रति कोई दुष्टभाव आदि पापकर्म न बन जाय तथा नियम-संयमका पूर्ण पालन होता रहे। काशीको अखण्ड ज्योतिर्लिङ्ग, साक्षात् भगवान् शिवका विग्रह मानकर इसकी परिक्रमा की जाय। यात्राक्रममें काशीकी सीमाके भीतर मल-मूत्रादिका त्याग भी वर्जित रहता। इसलिये पञ्चकोशी-मार्गमें चलते समय दाहिनी ओर काशीकी सीमा मानी जाती है। जिधर थूकना, मल-मूत्रका त्याग करना एवं स्नानादि करना भी वर्जित रहता। प्राचीनकालसे मार्गके पड़ावोंपर जो भी धर्मशालाएँ बनी हैं, वे सभी सड़कके बायीं ओर स्थित हैं, जहाँ परिक्रमा कृत्य सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार काशीमें महाराजश्रीकी अविचल आस्था थी। इसके साथ ही काशीवास करनेवालोंके लिये वे पञ्चकोशी-परिक्रमा करना भी आवश्यक मानते थे।

ज्योतिष्मत्कल्प

एक बार किसी सज्जनने महाराजको ज्योतिष्मत्कल्पकी विधि लाकर दी और बताया कि उत्तराखण्डके किन्हीं महात्मासे उन्हें प्राप्त हुआ है। वह एक वर्षका प्रयोग था। उसकी फलश्रुति अत्यन्त आध्यात्मिक थी, जो उल कल्पको करेगा वह त्रिकालदर्शी-सर्वद्रष्टा योगी, सर्वज्ञ और विष्णुस्वरूप होगा। इस प्रकारकी कई चमत्कारी बातें फलश्रुतिमें लिखी थीं। महाराजजीने कहा कि शास्त्रमें इसका वर्णन मिलनेपर ही मैं इसे कर सकता हूँ। खोज की गयी और अन्ततोगत्वा शास्त्रोंमें इसका वर्णन भी प्राप्त हुआ। महाराजने कल्प करनेका निश्चय कर लिया। प्रमुख वैद्योंकी गोष्ठी बुलायी गयी। कल्पकी विधि और प्रक्रियापर विचार-विमर्श हुआ।

कुछ वैद्योंने इस कार्यमें अपनी असमर्थता प्रकट की; क्योंकि कल्पविधिमें कुछ समयतक घोर मूर्च्छाका प्रकरण था। वैद्योंने इस सम्बन्धमें अपनी अनुभवहीनताके कारण यह समझा कि यदि विधिवशात् महाराजजीकी चेतना वापस न लौटी तो आयुर्वेदपर बड़ा भारी कलंक लग जायगा। पर महाराजका निश्चय तो दृढ़ था, उन्होंने कुछ विशिष्ट वैद्योंकी सहायतासे अपनी जिम्मेदारीपर इसे करनेका निर्णय ले लिया। नवीन श्रीकाशी-विश्वनाथ-मन्दिर, विश्वनाथ-घाट (मीरघाट)-में गङ्गातटपर कल्पके लिये एक विशेष प्रकारकी, कुटीका निर्माण कराया गया। जंगलोंमें ज्योतिष्मतीलताकी खोज प्रारम्भ हुई। जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज उन दिनों संन्यासीरूपमें महाराजके निकटतम लोगोंमें थे, उन्होंने जंगलोंमें तथा गाँवोंमें जाकर ज्योतिष्मतीका पता लगाया और फिर उसका अर्क निकाला गया। कल्पविधिके अनुसार उस कुटीमें महाराजने मौन होकर निर्जन-एकान्तवास किया तथा विधिके अनुसार ज्योतिष्मती-अर्कका सेवन भी प्रारम्भ कर दिया। आहाररूपमें एक बार तिन्नीका चावल लेते। इन दिनोमें महाराजजीसे किसीका मिलना सम्भव नहीं था। कल्पके क्रममें कुछ ही दिनों बाद महाराजजीको मूर्च्छाकी आशंका प्रारम्भ हो गयी। उन्हें स्वतः यह आभास होने लगा कि आगे क्रम चलनेपर मूर्च्छा होनी निश्चित है। इन आशंकाओंसे अवगत होनेपर वैद्योंने विचार-विमर्शकर यह निर्णय लिया कि सर्वप्रथम इस कल्पका प्रयोग महाराजके साथ करना उचित नहीं है। अतः सबने एक स्वरसे आगे कल्प न चलानेका आग्रह किया। अन्ततोगत्वा महाराजने भी सबकी प्रार्थना स्वीकार कर ४० दिनोंतक कल्पका प्रयोग करनेके बाद कल्प-कुटीसे बाहर आ गये। यह महाराजश्रीका एक विलक्षण प्रयोग था। उन दिनों इस प्रयोगके कई संस्मरणात्मक अनुभव भी महाराजजीने सुनाये।

शास्त्र-रक्षामें तत्पर

महाराजजी सबके कल्याणके लिये शास्त्रकी ही प्रमाण मानते थे। इसलिये उनके जीवनका सम्बल था-'शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी रक्षा।' जीवनपर्यन्त निर्भीकतापूर्वक उन्होंने इसका निर्वाह भी किया। शास्त्रकी रक्षाके लिये सरकार के लाठी-डंडे तथा गोलियोंकी भी उन्होंने कभी परवाह नहीं की। तत्कालीन 'हिन्दू कोड बिल' और 'गोहत्या' के विरोधमें उन्होंने कारागारकी कठिन यातनाओंको भी सहन किया। उन दिनों गांधीजीके स्पृश्यता-निवारण-आन्दोलनके कारण देशमें तथा समाजमें स्पर्शास्पर्शकी भावना समाप्त होने लगी। सरकारकी ओरसे मन्दिरों के गर्भ-गृहमें हरिजनोंका प्रवेश आन्दोलनके रूपमें कराया जाने लगा। देशमें ऐसा वायुमण्डल और वातावरण बन गया

कि कोई व्यक्ति इन सबका विरोध करनेका साहस भी नहीं करता। महाराजश्रीने सनातनियोंको संगठित कर शास्त्रानुसार अशास्त्रीय बातोंका विरोध सार्वजनिक रूपसे करना प्रारम्भ कर दिया। इस कठिन समयमें सनातनधर्मियोंको धर्मकी रक्षामें स्वामीजीके नेतृत्वका सम्बल प्राप्त हो गया।

सनातनधर्म-विजय-महोत्सव

स्वामी दयानन्द सरस्वतीके निर्वाणके १०० वर्ष पूरे होनेपर आर्यसमाजने उनका शताब्दि-समारोह मनाया और यह घोषणा की कि स्वामी दयानन्दके अनुयायी आर्यसमाजी विद्वान् शास्त्रार्थमें, दिग्दिगन्तमें विजय करते हुए काशी पधार रहे हैं। यहाँ अवतारवाद, मूर्तिपूजा और श्राद्धादि रूढ़ियोंका खण्डन करेंगे जो चाहें उनसे शास्त्रार्थ कर सकते हैं। महाराजश्री इन चुनौतियोंको कब सहन कर सकते थे। उन्होंने तुरंत इस चुनौतीको स्वीकार करते हुए कहा कि धार्मिक क्षेत्रोंमें भी पञ्चशीलका सिद्धान्त मानना चाहिये। अपनी-अपनपी आस्था-मान्यता और विश्वासके अनुसार सबको अपना धार्मिक कार्य सम्पन्न करनेका अधिकार है। पर किसीके धर्ममें हस्तक्षेप और आक्रमण को कभी सहन नहीं किया जा सकता, अतः उसका प्रतिकार किया जायगा और सिद्धान्तकी रक्षाके लिये उन्होंने शास्त्रार्थ करना भी स्वीकार किया। यह बात सारे देशमें फैल गयी। देशके कोने-कोनेसे संत-महात्मा, आचार्य और विद्वान काशी पधारने लगे। सबको यह विश्वास था कि स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके रहते शास्त्रार्थमें कभी सनातनधर्मी पराजित नहीं हो सकते। आर्यसमाजके पंडालके निकट ही 'सनातन-धर्म-विजय-महोत्सव' का भी एक विशाल पंडाल बना। प्रारम्भमें तो उस पक्षके लोग शास्त्रार्थके लिये तैयार नहीं हुए, बादमें उनमेंसे कुछ लोगोंने शास्त्रार्थका प्रयास किया, पर वे महाराजके समक्ष शास्त्रार्थमें टिक कहाँ सकते थे। अन्तमें महाराजश्रीने निष्कर्ष-रूपमें शास्त्रीय सिद्धान्तोंका प्रतिपादन और सभी प्रश्नों एवं शंकाओंका समाधान प्रस्तुत किया। काशीकी सड़कोंपर, गलियोंमें, घरोंमें सब ओर शास्त्रार्थ ही चर्चा चलती रहती। सात दिनोंतक यह विचित्र समाँ बँधी रही। यह महाराजके जीवनकालका एक ऐतिहासिक आयोजन था।

महाराजजीका यह स्वभाव था कि वे शास्त्रके विरुद्ध कुछ भी सुनना नहीं चाहते थे। कोई कितना भी निकटतम व्यक्ति क्यों न हो, यदि वह शास्त्रीय सिद्धान्तोंके विरुद्ध कुछ कहता है या लिखता है तो महाराज तत्काल उसका खण्डन करते और उस बातका युक्ति और तर्कसहित शास्त्रके पक्षमें उत्तर भी देते।

आक्षेपोंके समाधानमें ग्रन्थ-रचना

कुछ विशिष्ट व्यागणोंने एक बार महाराजश्रीको कामिल बुल्केकी लिखी हुई 'रामकथा' लाकर दी तथा कामिल बुल्केद्वारा विभिन्न रामायणोंका संदर्भ देकर भगवान् राम और भगवती सीतापर जो आक्षेप किये गये थे, उस ओर ध्यान आकृष्ट किया। तब महाराजजीने तत्काल उन सभी आक्षेपोंका उत्तर लिखा तथा जिन रामायणोंका संदर्भ बुल्केने दिया था, उन सभी रामायणकी पुस्तकोंको देखकर रामायणसे सम्बन्धित जो भी शंकाएँ उपलब्ध थीं, उन सबका निराकरण एवं समाधान 'रामायण-मीमांसा' नामक पुस्तक लिखकर किया। इसी प्रकार आचार्य रजनीशकी 'सम्भोगसे समाधिकी ओर' तथा 'समाजवाद और पूँजीवाद' पुस्तक किसीने महाराजके हाथमें दे दी। महाराजजीने उसे पढ़ा और तत्काल उसका उत्तर लिखे बिना वे रह नहीं सके। बादमें उन्होंने मुझसे यह कहा कि अब मैं इनकी कोई पुस्तक नहीं देखूँगा, क्योंकि इन सबके उत्तर देनेमें व्यर्थ समय बर्बाद होता है। शास्त्रीय सिद्धान्तोंके विपरीत देशभक्ति, राष्ट्रवाद और राजनीतिसे सम्बन्धित विचारधाराओंका खण्डन किये बिना महाराज रह नहीं सकते थे। इस सम्बन्धमें स्वातन्त्र्य वीर सावरकर तथा गुरु गोलवलकरजीके विचारोंका महाराजश्रीने 'विचारपीयूष' नामक ग्रन्थ लिखकर खण्डन किया है।

धर्मके प्रचार-प्रसारमें गीताप्रेसके योगदानकी चर्चा

धर्मके प्रचार-प्रसार और उसकी रक्षाके लिये महाराजकी चिन्ता स्वाभाविक थी। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका तथा भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके देहान्तके बाद कुछ दिनोंके लिये गीताप्रेसके कार्योंमें शिथिलता आने लगी थ, पुस्तकोंका अभाव होने लगा था। बाजारमें अधिक मूल्यमें गीताप्रेसकी पुस्तके बिकने लगीं। एक दिन स्वामीजी महाराजने मुझसे कहा- 'तुमसे कुछ आवश्यक बात करनी है।' महाराजकी बात सुनकर मैं थोड़ा गम्भीर हो गया और मैंने महाराजसे कहनेके लिये निवेदन किया। महाराजश्रीने कहा- 'मैं सुनता हूँ कि आजकल गीताप्रेसकी स्थिति ठीक नहीं है। इस संस्थाके द्वारा धर्मका बहुत बड़ा कार्य हुआ है, उधर तुम्हें ध्यान देना चाहिये।' मैंने उत्तरमें कहा- 'महाराज! मैं क्या ध्यान दे सकता हूँ। वहाँ तो एक ट्रस्ट बना हुआ है, जो वहाँके कार्यका संचालन करता है। मेरा तो कोई सम्पर्क है नहीं।' इसपर महाराजने कहा कि नहीं, तुम चाहोगे तो ध्यान दे सकते हो। तबसे मेरे मनमें गीताप्रेसके कार्योंमें लगावमें वृद्धि होने लगी। इस प्रकार गीताप्रेसके कार्योंमें महाराजका अत्यधिक स्नेह

एवं अनुराग था। वे कहते थे कि सनातनधर्मके प्रचार-प्रसार एवं सुरक्षामें गीताप्रेसका बड़ा योगदान है। अतः इस संस्थाको उन्नतिके शिखरपर पहुँचना चाहिये और इसकी सुरक्षा होनी ही चाहिये।

एक बार प्रसंगवश महाराजने कहा कि जब जयदयालजी और भाईजी थे तो वे मुझसे मिलते थे और उन्हें शास्त्रीय सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिये डाँटता-फटकारता रहता था, फिर भी वे लोग बराबर मेरे पास आते थे और परामर्श करते थे। परंतु अब तो वहाँ कोई पूछनेवाला ही नहीं है, किसको क्या कहा जाय।

इन्हीं दिनों एक बार महाराजने किसी प्रसंगमें कहा कि इस समय गीताप्रेसमें शास्त्रको समझनेवाले और जाननेवाले केवल स्वामी रामसुखदासजी ही हैं। जब स्वामी रामसुखदासजी महाराज 'कल्याण' के सम्पादक बने तो महाराजश्रीको अत्यधिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा- 'अच्छा हुआ कि उन्होंने 'कल्याण' को सँभाल लिया' और जब वे हटे तो महाराजश्रीको कष्ट हुआ। उन्होंने कहा 'वे क्यों हट गये, उन्हें तो 'कल्याण' का सम्पादक रहना चाहिये था।'

पूज्य सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका तथा भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रति महाराजश्रीके हृदयमें अत्यधिक स्नेहका भाव था। उन्होंने एक बार सेठजीके संबंधमें किसी प्रसंगमें कहा कि जयदयालजी संत थे। वे बाहर-भीतरसे एक थे। उनके-जैसा सहिष्णु होना बहुत कठिन है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके लिये भी उन्होंने एक बार कहा कि वे पूर्ण धर्मनिष्ठ, चतुर, विचारक और भक्त-हृदय थे।

इस प्रकार महाराजश्रीका हृदय गीताप्रेसके धर्मकार्योंमें और उसके प्रहरी कार्यकर्ताओंके साथ संलग्न था।

संन्यास-धर्मकी दीक्षा प्राप्त करनेके अधिकारी

ऋषिकेशकी झाड़ियोंमें परमार्थ-निकेतनकी पहाड़ीपर एक साधु स्वामी शंकरानन्दजी रहते थे। उन्होंने स्वामी अखण्डानन्दजीसे संन्यास ग्रहण किया था। पूर्वश्रममें वे वैश्य कुलके थे। वे एक प्रबुद्ध साधक थे। निरन्तर भगवद्भजन और स्वाध्यायमं संलग्न रहते थे। शास्त्रान्वेषणका उन्हें शौक रहता था। महाराजश्री जब कभी ऋषिकेश पधारते थे तो वे घंटों उनके पास जाकर शास्त्र-संबन्धी अपनी शंकाओंका समाधान करते। एक बार स्वामी शंकरानन्दजीने मुझसे कहा कि 'यदि स्वामी श्रीकरपात्रीजीसे मेरी पहले मुलाकात हो जाती तो मैं संन्यास कभी ग्रहण नहीं करता। स्वामी करपात्रीजी शास्त्रीय दृष्टिसे ब्राह्मणेतरको संन्यास ग्रहण करनेका अधिकारी नहीं मानते। उनकी दृष्टिसे लिङ्ग-संन्यास अर्थात् संन्यासकी दीक्षा ग्रहण करनेका अधिकार

ब्राह्मणको ही है। ब्राह्मणेतर जन भी ज्ञानमार्गमें प्रविष्ट होकर संन्यास-धर्मकी साधना तो कर सकते हैं और इसका लाभ भी उन्हें प्राप्त होगा, परंतु संन्यासकी दीक्षा तथा संन्यासी-वेश आदि धारण नहीं करना चाहिये।'

एक बार स्वामी शंकरानन्दजी का एक पत्र मुझे वाराणसीमें मिला। जिसमें उन्होंने कुछ अपनी समस्या लिखी। महाराजश्रीसे उसका उत्तर माँगा। उन्होंने लिखा कि 'वे भण्डार एवं क्षेत्रसे भिक्षा ग्रहण करते हैं, परन्तु वहाँकी अपवित्रता आदि त्रुटियोंको देखकर उनकी इच्छा होती है कि वे स्वयं अपना भोजन बना लेवें। क्या वे ऐसा कर सकते हैं?' ऐसा उन्होंने महाराजश्रीसे पूछा था। महाराजश्रीने उत्तर दिया कि 'संन्यासीको अग्निस्पर्शका अधिकार नहीं है। अतः स्वयंपाकी होनेका समर्थन नहीं किया जा सकता। उन्हें तो भिक्षा ही ग्रहण करनी चाहिये।'

नामजपसे समस्याका समाधान

कुछ समय बाद स्वामी शंकरानन्दजीका एक दूसरा पत्र मिला। जिसमें उन्होंने नव-विवाहिता भक्त महिलाकी समस्या लिखकर भेजी। उस महिलाका विवाह कुछ ही समय पूर्व हुआ था। वह जिस व्यक्तिसे विवाह करना चाहती थी, उसके अभिभावकोंने उससे विवाह न कर किसी दूसरे व्यक्तिसे जो इंजीनियर थे तथा सौम्य प्रकृतिके थे, विवाह कर दिया तथा उनसे उसे किसी प्रकारकी असुविध भी नहीं थी। परंतु वह महिला कहती थी कि वह व्यक्ति जिससे वह विवाह करना चाहती थ, उसके मनसे निकलता नहीं। सत्संग आदि विचारधाराओंसे युक्त होनेके कारण वह यह भी समझती थी कि किसी अन्य पुरुषकी स्मृति उसके अकल्याणका ही कारण बनेगी। परंतु उस व्यक्तिको भूलना उसके वशकी बात न थी। उस महिलाने उसका उपाय स्वामी शंकरानन्दजीसे पूछा और शंकरानन्दजीने पत्रद्वारा इसका समाधान महाराजश्रीसे जानना चाहा। महाराजश्रीको मैंने पत्र पढ़ा दिया। उन्होंने यह उत्तर दिया कि उस महिलाको निरन्तर नामजपका साधन करना चाहिये। चलते-फिरते, उठते-बैठते सब समय नामजप करनेसे यह बात मनसे निकल जायगी। यह इसका अमोघ साधन है। मैंने यह बात शंकरानन्दजीको पत्रद्वारा सूचित कर दी।

मेरा नहीं रामका चित्र चाहिये

महाराजद्वारा रचित 'रामायण-मीमांसा' पुस्तकके प्रकाशनका भार मेरे ऊपर ही था। पुस्तक प्रायः छपकर तैयार हो चुकी थी, परंतु जिल्द आदि बाँधना बाकी था।

महाराजने एक दिन मुझसे पूछा कि इस पुस्तकके तैयार होनेमें विलम्ब क्यों हो रहा है? मैंने उत्तर दिया कि महाराज, कुछ लोगोंकी यह भावना है कि इस पुस्तकमें आपका एक चित्र भी दिया जाय। चित्रके बननेमें कुछ विलम्ब होनेके कारण पुस्तक तैयार नहीं हो पायी। यह सुनकर महाराज कुछ विचलित-से हुए और उन्होंने तत्काल कहा कि 'खबरदार!' इस विषयमें मैं जैसा कहूँ वैसा करना, दूसरोंका कहा न करना। यदि चित्र देना है तो भगवान् रामका पञ्चायतन चित्र देना चाहिये न कि मेरा चित्र।

आत्म-प्रशंसासे विमुख

श्रावण शुक्ल द्वितीयाकी महाराजश्रीके जन्म-दिवसपर भक्तोंने वर्षगाँठ मनानेका निश्चय किया। वाराणसीमें धर्मसंघ-शिक्षा-मण्डलमें एक विशाल जनसभाका आयोजन किया गया। जिसमें सुमेरुपीठके शंकराचार्य तथा काशीके मूर्धन्य विद्वान् सम्मिलित हुए। स्वामीजी महाराजको भी वहाँ आमन्त्रित किया गया। लोगोंके विशेष आग्रहपर वे सभामें भी पधारे। उस सभामें महाराजके व्यक्तित्व एवं कृतित्वकी प्रशंसामें विद्वानाके व्याख्यान हो रहे थे। महाराजश्री कुछ देरतक तो वहाँ बैठे, लेकिन सभाके बीचमें ही बिना कुछ व्याख्यान दिये उठकर चले आये। बादमें उन्होंने कहा- 'यह सब कार्यक्रम मेरे समक्ष होना उचित नहीं।'

महाराजकी इन भावनाओंसे उनकी निरपेक्षता और साधुता स्पष्ट प्रतीत होती थी।

विदेशयात्रा प्रसंग

एक बार चर्चामें महाराजने मुझसे कहा कि चिन्तन होना तो कोई बुरा नहीं, पर जब किसी बातका अभिनिवेशपूर्वक चिन्तन होता है तो ऐसा लगता है कि किसी प्रारब्धके दोषसे ही ऐसा हो रहा है। कभी-कभी इस प्रकारकी स्थिति हम लोगोंकी भी हो जाती है। मैंने उत्सुकतापूर्वक महाराजकी ओर देखकर पूछा- 'ऐसा क्यों होता है महाराज?' महाराजश्रीने कहा कि 'शास्त्रके विपरीत जब कोई बात सामने आती है, तब यह स्थिति हमारी भी हो जाती है।' उदाहरणमें उन्होंने कहा कि 'श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्रीका एक लेख जिसमें शास्त्रीय दृष्टिसे विदेश-यात्राका समर्थन किया गया है, जो मुझे देखनेको मिला। तबसे जबतक मैंने इसका उत्तर नहीं लिखा तथा उस संबन्धमें माधवाचार्यजीसे बातचीत नहीं हुई तबतक यह स्थिति बनी रही।' विदेश-यात्रा संबन्धमें महाराज यह कहते कि आज तो प्रायः पण्डित और सनातनधर्मी सभी विदेश-यात्रा करते हैं। मैं किसे मना करता हूँ। अपनी कमजोरियोंके कारण शास्त्रके विपरीत कोई

व्यकित आचरण कर सकता है, परंतु यदि उसे वह शास्त्रसम्मत सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है तो वह घोर अन्याय है। सत्पुरुषोंकी ईमानदारीपूर्वक अपनी कमजोरियोंको स्वीकार करते हुए शास्त्रका यथार्थ प्रतिपादन करना चाहिये। जिससे आनेवाली पीढ़ीको शास्त्रके वास्तविक अर्थको समझनेमें भ्रम पैदा न हो। महाराजश्रीने तत्काल विदेश-यात्रापर कई लेख लिखे, जिसमें शास्त्रीय दृष्टिसे विदेश-यात्राका निषेध प्रतिपादन किया गया। संसद्-सदस्य सेठ गोविन्ददासजीने महाराजश्रीसे धर्म-प्रचारार्थ विदेश-यात्राके लिये विशेष आग्रह किया तथा उनके नियमानुकूल व्यवस्था और प्रबन्ध करनेकी जिम्मेदारी भी स्वयं लेनी चाही, परंतु महाराजने इसे कतई स्वीकार नहीं किया। विदेश-यात्राके प्रायश्चितके संबन्धमें महाराजका यह निर्णय था कि प्रायश्चितके द्वारा पारलौकिक शुद्धि तो की जा सकती है, परंतु लौकिक शुद्धि नहीं हो सकती।

मन्दिर-मर्यादाका संरक्षण तथा श्रीकाशी-विश्वनाथकी स्थापना

मन्दिर-प्रवेशके संबन्धमें भी महाराजका मत स्पष्ट था। वे हरिजनोंके हृदयसे हितचिन्तक थे। एक बार कानपुरमें 'अखिल भारतवर्षीय धर्मसंघ' का महाधिवेशन चल रहा था। उत्तर प्रदेशके मुख्यमन्त्री बाबू सम्पूर्णानन्दजी वहाँ पधारे। महाराजश्री भी वहाँ उपस्थित थे। सम्पूर्णानन्दजीने अपने भाषणमें हरिजन-प्रवेश आदि बातोंकी चर्चा की। उनके भाषणके बाद महाराजने बड़ी युक्तिपूर्वक सभी बातोंका उत्तर दिया और कहा कि अपने शास्त्र सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणका उपाय बताते हैं तथा अधिकारानुसार उनके कर्तव्य का निर्देश करते हैं। जिनसे उनका वास्तविक कल्याण होता है। दृष्टान्तरूपमें महाराजने कहा- 'यदि कोई डॉक्टर किसी दुधमुँहे बच्चेके लिये गन्ना खाना लाभकारी बताता है तो उसके अभिभावक गन्नेको मूलरूपमें उस बच्चेको नहीं खिला सकते। गन्नेका रस निकालकर उसका कन्द तैयार करना होगा तथा उस कन्दका सत् देनेपर ही बच्चेको गन्नेका लाभ मिल सकेगा। यदि उसे गन्ना खिलाना चाहेंगे तो वह खा भी न सकेगा और उसे कष्ट भी होगा। इसी प्रकार यदि कोई अन्त्यज मन्दिरके शिखरपर दर्शन करता है और मन्दिरकी बाह्य सेवा करता है तो उसे शास्त्रानुसार वही फल मिलेगा जो किसी ब्राह्मणको मन्दिरके भीतर रहकर जप-तप-व्रत-नियम, सेवा-पूजा-अर्चा करनेसे मिलता है। अतः शास्त्रानुसार ही चारों वर्णोंको मन्दिरमें सेवा, उपासना करनी चाहिये।'

इन दिनों मन्दिरोंमें हरिजन-प्रवेशका एक आन्दोलन चलाया जा रहा था। जुलूस निकालकर हरिजनोंको गर्भमन्दिरोंमें प्रवेश करानेकी चेष्टाकी जा रही थी। महाराजश्रीने सार्वजनिक रूपसे इस आन्दोलनका प्रतिरोध किया तथा नेताओंको भी यह

समझानेका प्रयास किया था कि यह कार्य देश, राष्ट्र और हरिजनोंके हितमें नहीं है। कारण कि शास्त्रानुसार इससे मन्दिरकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। अहिल्याबाईद्वारा संस्थापित पुराने काशी-विश्वनाथ-मन्दिरमें जब भी प्रवेशके निमित्त हरिजनोंका समूह आया तब महाराजश्री तथा उनके भक्तगणोंने निर्भिकतापूर्वक धरना दिया और इसका विरोध किया। परंतु अन्ततोगत्वा पुलिसके बलपर गर्भ-मन्दिरमें एक दिन प्रवेश हो ही गया।

महाराजका यह भाव था कि सभी मन्दिररोंमें भगवान्‌के गर्भमन्दिरको प्राङ्गणसे अलग रखा जाय, सभी वर्ण-आश्रमके लोग बाहर प्राङ्गणसे ही भगवान्‌का दर्शन-आराधना करें तथा गर्भमन्दिरके भीतर किसीका प्रवेश न हो। मन्दिरमें अर्चा-पूजा शास्त्रविधिके अनुसार केवल पुजारियोंद्वारा पवित्रतासे सम्पन्न हो, जिससे आजके सामाजिक परिवेशमें कानूनकी भी रक्षा हो जाय; साथ ही शास्त्रानुसार मन्दिरकी मर्यादाका भी रक्षण हो सके। इस व्यवस्थाके निमित्त महाराजश्रीने पुराने 'काशी-विश्वनाथ-मन्दिर' में अत्यधिक प्रयास किया। प्रारम्भमें तो कुछ समयतक इस प्रकारकी व्यवस्था चली। बादमें सरकार तथा पंडोंने मिलकर यह व्यवस्था समाप्त कर दी और मन्दिरकी मर्यादाको भी भङ्ग कर दिया। तब महाराजश्रीने देशके मूर्धन्य विद्वानों एवं पण्डितोंकी सभा बुलायी। जिसमें विचार-विमर्शके बाद यह निर्णय हुआ कि चूँकि श्रीकाशी-विश्वनाथका मूल मन्दिर (ज्योतिर्लिङ्ग) आज भी उपलब्ध नहीं है। मुगलकालसे अबतक चार मन्दिरोंकी स्थापना हो चुकी है। अहिल्याबाईद्वारा स्थापित यह मन्दिर भी चौथा मन्दिर है। अतः शास्त्रानुसार मन्दिर-मर्यादाके रक्षण हेतु नये मन्दिर 'श्रीकाशी-विश्वनाथ' की स्थापना बड़े समारोहके साथ की गयी। काशीके विद्वान् पण्डितोंने नर्मदामें बाण-गङ्गासे शास्त्रविधिके अनुसार अनुष्ठानपूर्वक शिवलिङ्ग प्राप्त किया तथा उसमें श्रीकाशी विश्वनाथका आवाहन और प्रतिष्ठा विधि-विधानसे की गयी। यहाँ आज भी महाराजद्वारा निर्धारित शास्त्रीय नियमानुसार पूजा-अर्चाकी व्यवस्था है तथा सबको गर्भमन्दिरके बाहरसे दर्शन-पूजनका समान अधिकार है। जो भारतवर्षके सभी मन्दिरोंके लिए शास्त्र-मर्यादाका एक आदर्श प्रस्फुटित करता है।

महाराजकी संनिकटताका मुझे यह लाभ मिला कि सामान्य बातचीतके क्रममें कभी-कभी सत्संगकी इतनी अमूल्य बातें प्राप्त हो जातीं जो अन्यत्र दुर्लभ थीं।

साधुको स्वावलम्बी होना चाहिये

एक बार स्वाभाविकरूपसे महाराजने कहा कि 'साधुको स्वावलम्बी होना चाहिये।' कुछ ही क्षण बाद पुनः बोले- 'हम कभी भी अपने ठाकुरजीको साथ लेकर जा सकते हैं। हमें किसीकी अपेक्षा नहीं है।' मैंने धृष्टतापूर्वक महाराजजी से पूछा-

'यह कैसे हो सकता है महाराज! जब आपके ठाकुरजी आपके साथ रहेंगे तो उनकी पूजा-अर्चा तथा भोग-रागकी सामग्री भी साथ रखनी पड़ेगी। फिर इन सामगियोंको साथ ले जानेके लिये किसी ब्रह्मचारी या सेवककी आवश्यकता भी होगी ही।' तब महाराजजीने उत्तर दिया कि तुम हमारी पूजा नहीं जानते हो। हमारी पूजा जंगलमें भी हो सकती है। गंङ्गाजी तो सर्वत्र प्राप्त हैं ही। गङ्गागलसे भगवान्का स्नान होाग, करेंगे वहीं हमारे भगवान् भी पायेंगे। परंतु जहाँ सब साधन उपलब्ध हैं वहाँ षोडशोपचार, राजोपचार, चतु-षष्ट्युपचार-ऊँची-से-ऊँची पूजा होती है। इस प्रकार महाराज कभी किसीपर अवलम्बित नहीं थे।

स्वल्प साधुतासे भी कल्याण

एक बार काशीमें स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज वृन्दावन विहारी भवनमें महाराजश्रीसे मिलने आये। उन्होंने बातचीतके सिलसिलेमें महाराजश्रीसे कहा कि आजकल साधु बहुत कम होते जा रहे हैं और जो साधु होते हैं उनमें साधुता भी कम होती जा रही है। महाराजने उत्तर दिया कि स्वल्प साधुतासे भी कल्याण हो सकता है, पर साधुता हो तो सही अर्थात् मनुष्यमें कुछ भी साधुता होनी तो चाहिये ही-तभी वह उस पथपर आगे बढ़ सकता है।

साधुके लिये कलंक

किसी संदर्भमें महाराजजीने कहा कि कभी-कभी साधुकी पुस्तकोंमें, तकियोंमें तथा बिछावन आदिमें रुपये-पैसे निकलते हैं। यह साधुके लिये कलंक है।

कर्तव्य-पालनमें समयका विभाजन आवश्यक

एक बार मैंने जिज्ञासा की कि महाराज! मनमें यह समझते हुए भी कि संसार नश्वर है और यह प्रपञ्च साथ नहीं जायगा, इसलिये पूरा समय भगवच्चिन्तन आराधना तथा सेवामें ही लगाया जाय, परन्तु गृहस्थ-जीवनकी जिम्मेदारियों को देखते हुए यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। अतः इससे कैसे छुटकारा मिले। तब महाराजने कहा कि प्राचीन लोग अपने समयका विभाजन करके ही सब कार्य करते थे। इतनी देर व्यापारका कार्य करना है, इतनी देर सत्संग-स्वाध्याय, पूजा-अर्चा तथा सेवा करनी

है। साधकको समयका विभाजन कर उसके अनुसार अपनी साधना सुदृढ़ करनी चाहिये। सभी कार्य घड़ीकी नोकपर कर्तव्य-रूपसे करना ही उचित है। महाराजने यह भी कहा कि यदि जंगलमें जाकर भी घरका चिन्तन बना रहे तो इसकी अपेक्षा घरमें रहकर भगवान् का चिन्तन करना ही कल्याणकारी है।

स्नेहीजनोंमें भगवद्बुद्धि भगवान्‌की पूजाका अमोघ साधन

बातचीतके क्रममें एक बार महाराजने बताया कि अपने धर्मशास्त्रोंमें मनुष्यके कल्याणके लिये भगवत्सेवा, आराधना-पूजनकी बड़ी सरल विधियोंका प्रतिपादन है। घरमें पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पौत्र और बन्धु-बान्धवोंमें मनुष्यका स्वाभाविक स्नेह-प्रेम होता ही है तथा मोह-ममताके वशीभूत होकर उनकी सेवा-अर्चा भी करनी ही पड़ती है। यदि इन पारिवारिक सदस्योंमें मोह-ममताकी जगह भगवद्बुद्धि कर ली जाय, वृद्ध माता-पिताको माता अन्नपूर्णा एवं भगवान् विश्वनाथका स्वरूप मान लें, पतिको परमेश्वर, पुत्रको मदनमोहन श्यामसुन्दर, लाडले पौत्रको लड्डूगोपाल, पुत्रवधूको राधारानी, कुमारी कन्याको भगवती जगदम्बा-इस प्रकार यदि भावना बना ली जाय तो पारिवारिक जनोंके निमित्त किये गये सभी कार्य स्वतः भगवान्‌की पूजामें परिवर्तित हो सकते हैं। महाराजश्रीने कहा कि जब पत्थरकी मूर्तियोंमें भगवान्‌की पूजा हो सकती है तो सचल-सजीव स्नेही जनोंमें भगवद्भाव हो जानेपर भगवान्‌की पूजा क्यों नहीं हो सकती।

अतिथि-सत्कार मुख्य धर्म

एक बार मैंने महाराजजी से पूछा कि जैसे जप, स्वाध्याय, तप ब्राह्मणका मुख्य धर्म है, इसी प्रकार वैश्यका विशेष धर्म क्या है? तब महाराजने उत्तर दिया कि 'अतिथि-सत्कार।' कोई अतिथि घरमें आ जाय तो भोजन-जल इत्यादिसे उसका सत्कार करना चाहिये। यदि भोजन करनेके समय आ जाय तो पहले अतिथि को भोजन कराकर पुनः बादमें स्वयं करे। यहाँतक कि भोजन करनेके पूर्व यथासम्भव कुछ समयतक दरवाजेपर खड़े होकर अतिथिकी प्रतीक्षा भी करनी चाहिये।

एक बार चन्द्रग्रहणके समय महाराजश्री काशीमें ही थे। चन्द्रग्रहणका सूतक लग चुका था। एक पण्डित महाराजश्रीसे मिलने बाहरसे पधारे। वे महाराजके पूर्व परिचित थे। महाराजने पूछा-'आपके लिये भोजन बनवा दिया जाय?' पण्डितजीने उस समय भोजनके लिये अस्वीकार कर दिया। मैंने बादमें महाराजसे पूछा कि

'ग्रहणके सूतकमें तो भोजन करना निषिद्ध है। आपने पण्डितजीसे भोजनके लिये क्यों पूछा?' तब महाराजने उत्तर दिया कि 'भोजन न करनेकी बात पण्डितजीके विचारनेकी है। अपना कर्त्तव्य तो उनसे पूछना ही है।'

यथार्थ उद्देश्य-निर्धारणसे ही सफलता

एक बार किसी भक्तने मेरे समक्ष महाराजसे प्रश्न किया कि संतकी संनिधि प्राप्त हो जानेपर जीवनमें परिवर्तन होना चाहिये, परंतु लोकमें इसके विपरीत बात दिखायी पड़ती है। वर्षोंतक संतकी संनिधि और सेवासे भी सांसारिक वासनाएँ और आन्तरिक दुर्गुण समाप्त नहीं होते। इसका एक उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत किया। तब महाराजने उसके उत्तरमें एक कथा सुनायी। 'एक राजा थे और उनकी एक रानी थी। एक दिन अकस्मात् राजाका देहान्त हो गया। राज्यभरमें शोककी लहर छा गयी, रानी परम पतिव्रता सती-साध्वी और तत्त्वज्ञानसे युक्त थी। राजाकी अन्त्येष्टिके लिये चन्दनकी चिता लगायी गयी, जिसपर रानी अपनी गोदमें राजाको लेकर बैठ गयी। राज्यकी सम्पूर्ण शोकाकुल प्रजा राजाकी अन्त्येष्टि देखने उमड़ पड़ी। उसी क्षण चितापर बैठी रानपीने अपनी प्रजाको सान्त्वना देनेके लिये एक सुन्दर व्याख्यान दिया, जिसमें ब्रह्मके यथार्थ-स्वरूपका निरूपण करते हुए आत्मा अजर-अमर-नित्य और शाश्वत है तथा मन-बुद्धि-अहंकार-संयुक्त यह शरीर और यह संसार अनित्य एवं नश्वर है। अतः इसके लिये कभी शोक करना उचित नहीं। उस जनसमुदायमें रानी के गुरुजी भी उपस्थित थे। यह सब सुनकर उन्हें अत्यधिक आश्चर्य हो रहा था। दो मिनटकी एकान्त वार्तामें उन्होंने रानीसे कहा कि 'तू शिष्या तो मेरी ही है। मैंने ही तुझे पढ़ाया है। परंतु तुम्हारी इतनी ऊँची स्थिति कैसे बन गयी, जबकि मेरेमें तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ' तब रानीने उत्तर दिया- 'यह तो ठीक है कि मैं शिष्या आपकी ही हूँ। परंतु मुझे शिष्या बनानेमें या पढ़ानेमें आपका लक्ष्य क्या था?' तब गुरुजीने कहा कि 'मेरा उद्देश्य तो भौतिक सुख-समृद्धि और धन-अर्जन करना ही था।' रानीने पूछा कि आपका यह उद्देश्य पूरा हुआ या नहीं? गुरुजीने उत्तर दिया कि यह उद्देश्य तो मेरा पूरा हो गया। मुझे सभी प्रकारके भौतिक साधन और समृद्धियाँ प्राप्त हैं। इसपर रानीने कहा कि 'आपका लक्ष्य भौतिक समृद्धि अर्थोपार्जन था, जबकि मेरा लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति और भगवत्प्राप्ति था। अतः आपको अपने लक्ष्यके अनुसार और मुझे अपने लक्ष्यके अनुसार सफलता प्राप्त हुई।' इस प्रकार महाराजश्रीने यह दृष्टान्त देकर बताया कि उद्देश्यके अनुसार ही फलकी प्राप्ति होती है। इसलिये यदि कोई उत्कृष्ट कार्य भी निकृष्ट उद्देश्यके लिये किया जाय तो उसका परिणाम भी उत्कृष्ट नहीं हो सकता।

इसलिये कोई व्यक्ति संत-महात्माओं एवं गुरुजनोंकी सेवा अपने भौतिक स्वार्थकी पूर्तिके उद्देश्यसे करता है तो स्वार्थपूर्ति हो जाती है, परंतु महात्माकी संनिकटताका आध्यात्मिक लाभ जो मिलना चाहिये वह उसे नहीं मिल पाता।

अच्छे धनकी अच्छी बरक्कत

'बेईमानी, चोरी तथा अन्य तरीकोंसे कमाये हुए धनकी बरक्कत भी वैसी ही होती है तथा सत्यता और ईमानदारीसे कमाया हुआ धन कभी घटता नहीं।' इस संदर्भमें महाराजने पद्मपुराणकी एक कथा प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'एक बार राघवेन्द्र भगवान् रामचन्द्रने अपनी आयोध्यामें ब्रह्मपुरीका आयोजन किया। ब्रह्मपुरीमें सम्मिलित होनेके लिये दूर-दूरसे ब्राह्मणोंकी टोलियां पधारने लगीं। भूतभावन भगवान् विश्वनाथको जब यह मालूम हुआ कि आज राघवेन्द्रने ब्रह्मपुरीका आयोजन किया है तो कौतूहलवश वे भी एक वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारणकर किसी ब्राह्मणकी टोलीमें शामिल हो गये और भगवान् रामकी ब्रह्मपुरीमें पहुँच गये। भगवान् गघवेन्द्र तो स्वयं अन्तर्यामी थे ही। उन्होंने उस बूढ़े ब्राह्मणको मनमें पहचान लिया तथा यह समझ लिया कि भगवान् सदाशिव मेरी परीक्षा करने यहाँ पधारे हैं। उन्होंने उस वृद्ध ब्राह्मणका विशेष ध्यान रखा। ब्रह्मपुरीकी पंगत पड़ी तो भगवान् राघवेन्द्रने स्वयं उस वृद्ध ब्राह्मणके पादपद्मोंका जलद्वारा अपने कोमल हस्त-कमलोंसे प्रक्षालन किया और एक अलग आसनपर उन्हें विराजमान कराया। भोजन-सामग्री परोसनेका कार्य प्रारम्भ हुआ। उस वृद्ध ब्राह्मणकी पत्तलमें सामग्री परोसते ही समाप्त हो जाती। कोई सामान बचता ही नहीं। सभी परोसनेवाले उस बूढ़े ब्राह्मणकी पत्तलको भरनेमें लग गये, पर पत्तल तो खाली-की-खाली ही नजर आती। यह सब देखकर भगवान् राघवेन्द्र चिन्तित हुए। महलमें चिन्ता व्याप्त हो गयी और यह समाचार भगवती जगज्जननी जानकीके पास अन्तर्महलमें पहुँचा कि एक ऐसे वृद्ध ब्राह्मण पधारे हैं, जिनकी पत्तलपर सामग्री परोसते ही साफ हो जाती है। यह भगवान् रामकी प्रतिष्ठाका प्रश्न बन गया। भगवती जानकी भी चिन्तित हो गयीं। परन्तु जैसे भगवान् राघवेन्द्रके पास सदाशिव पधारे थे, वैसे ही पराम्बा भगवती जानकीके पास माँ अन्नपूर्णा भी बैठी थीं। श्रीजानकीजीने श्रीअन्नपूर्णाजीसे अनुरोध किया माँ! उन वृद्ध ब्राह्मणको आप स्वयं अपने हाथोंसे परोसें तभी प्रतिष्ठा बचेगी। सभी परोसने-वाले वहाँसे हटा दिये गये। माँ अन्नपूर्णाने स्वयं अपने हाथसे भगवान् विश्वनाथको परोसना प्रारम्भ किया। माँ अन्नपूर्णाने पत्तलमें एक लड्डू परोसा। भगवान् विश्वनाथ खाते-खाते थक गये, पर वह समाप्त नहीं होता था। श्रीअन्नपूर्णाजीने सभी मिठाइयाँ

एक-एक परोसीं। भगवान् खाते-खाते अघा रहे थे। माँने दुबारा परोसना चाहा तो सदाशिवने स्पष्ट मना कर दिया। कारण, उनकी पत्तल खाली ही नहीं हो रही थी, वैसी ही भरी थी।' महाराजने कहा कि जिस प्रकार भगवती अन्नपूर्णाद्वारा भगवान् सदाशिवकी पत्तलमें परोसी गयी मिठाई बार-बार खानेपर भी कभी घटती नहीं उसी प्रकार अच्छी नीयतसे कमाया हुआ धन कितना भी खर्च करनेपर घटता नहीं और खराब नीयतसे अर्जित धन कभी ठहरता नहीं, साथ ही दु:खका कारण भी बनता है। इसलिये अच्छे धनकी अच्छी बरक्कत होती है।

भोग्य-लक्ष्मी और दृश्य-लक्ष्मी

लक्ष्मीका वर्णन करते हुए महाराजने एक दृष्टान्त सुनाया और कहा- 'एक भक्तने लक्ष्मीकी उपासना प्रारम्भ की।' कुछ समय पश्चात् भगवती लक्ष्मी प्रसन्न होकर प्रकट हो गयीं और बोली-'वर माँगो।' भक्तको मनमें लक्ष्मीकी कामना तो थी ही, उसने संकोचपूर्वक कहा- 'मैं लक्ष्मी चाहता हूँ।' भगवतीने पुन: पूछा- 'कौन-सी लक्ष्मी चाहते हो?'- दृश्य-लक्ष्मी या भोग्य-लक्ष्मी!' वह लक्ष्मी-भक्त असमंजसमें पड़ गया, समझ नहीं पा रहा था कि किस लक्ष्मीका वरण करूँ। तब उसने कहा- 'माँ! यह दृश्य-लक्ष्मी क्या है और भोग्य-लक्ष्मी क्या है?' इसपर भगवतीश्रीने उत्तर दिया- 'दृश्य-लक्ष्मी तो यह है कि तुम्हारे पास धनकी कोई कमी नहीं रहेगी, अपरिमित धन होगा, पर उस धनका तुम समुचित उपभोग नहीं कर सकोगे। वह धन केवल तुम्हारे संतुष्टि और दर्शनमात्रके लिये ही होगा।' यह सुनकर वह लक्ष्मी-अभिलाषी भक्त आश्चर्यचकित हुआ और उसने पूछा- 'धन रहनेपर उपभोग क्यों नहीं कर सकूँगा। भगवतीने कहा-'उपभोग न कर पानेकी विभिन्न परिस्थितियासँ तुम्हारे सामने स्वत: प्रकट हो जायँगी, चाहनेपर भी तुम्हारेमें उपभोगकी सामर्थ्य नहीं रहेगी और तुम लक्ष्मीका उपभोग भी न कर सकोगे।' भक्तने पुन: पूछा- 'माँ! भोग्या-लक्ष्मी क्या है?' इसके उत्तरमें भगवती लक्ष्मीने कहा- 'दृश्य-लक्ष्मीके न होनेपर भी समय-समयपर आवश्यकतानुसार उच्चकोटिके सभी पदार्थ उपभोगके लिये उपलब्ध रहेंगे। समयपर किसी भी वस्तुका अभाव नहीं होगा। संसारकी सभी भोग्य सामग्रियाँ भी उपलब्ध रहेंगी और उसे भोगनेका सामर्थ्य भी प्राप्त होगा-यही भोग्या-लक्ष्मी है।' यह सुननेके बाद भक्तने प्रार्थना की- 'माँ! मुझे तो भोग्या-लक्ष्मी और दृश्य-लक्ष्मी दोनों चाहिये।'

त्याग-वैराग्य जितना अधिक हो उतना ही उत्तम

श्रीनन्दनन्दनानन्द सरस्वती (शास्त्री स्वामी) पूर्वाश्रममें जिनका नाम नन्दलाल शास्त्री था, वे पहले संसद्-सदस्य भी थे। महाराजश्रीसे काशीमें संन्यास ग्रहण कर रहे थे। संन्यास-ग्रहणके समय सभी वस्तुओं तथा शरीरके वस्त्रोंका त्याग करना पड़ता है। लोक-लज्जा-निवारणार्थ गुरु एक लँगोटी, धारण करा देते हैं। महाराजने मुझे संकेत किया कि इनके लिए दो लँगोटी, दो अचला, एक कंबल और एक तकिया मँगा देना। मैंने महाराजजी के निर्देशानुसार सब सामान बनवाकर संन्यास-ग्रहणोपरान्त शास्त्री स्वामीको देना चाहा। शास्त्री स्वामीने अस्वीकार कर दिया और कहा कि 'मैंने क्या इन वस्तुओंके लिये संन्यास लिया है, मुझे इनकी क्या आवश्यकता है। मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिये। महाराजश्रीसे मैंने उनकी सब बातें कह दी। महाराजने उत्तर दिया कि बड़ा अच्छा है, त्याग-वैराग्य तो जितना अधिक हो उतना ही उत्तम है। उन वस्तुओंको अपने पास घरमें सुरक्षित रख दो।

मुझे यह देखकर थोड़ा आश्चर्य हुआ कि महाराजने एक बार भी शास्त्री स्वामीसे उन वस्तुओंको पुनः लेनेका आग्रह नहीं किया। दूसरे दिन प्रातःकाल किसीने स्वामीजी महाराजसे आकर कहा कि बिना वस्त्र खाली जमीनपर सोनेके कारण शास्त्रीजीके पूरे शरीरमें दर्द होनेसे वे उठ नहीं पाते। शरीर जकड़ गया है। तब महाराजने पुनः मुझे बुलाया और कहा कि उन वस्तुओंको भेज देना। महाराजने किसीके द्वारा उनके पास उन वस्तुओंको पुनः भेजा। इस बार उन्होंने स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन शास्त्री स्वामीने मुझसे कहा कि मुझे ऐसा लगा कि लक्ष्मणने जैसे शबरीके बेरका तिरस्कार किया, बादमें वे ही बेर संजीवनी बूटीके रूपमें उन्हें ग्रहण करने पड़े, उसी प्रकार आपकी उन वस्तुओंको मुझे भी शरीर-रक्षाके लिये औषधरूपमें स्वीकार करना ही पड़ा। यह उनका कृपापूर्ण आन्तरिक भाव था।'

योग-साधनामें संयमकी अनिवार्यता

एक बार ब्रह्मचारी-वेशमें राजस्थानके एक व्यकित वृन्दावन विहारी-भवनमें महाराजके पास ही आकर कई दिनोंसे ठहरे हुए थे। महाराजकी संनिधिमें रहकर लंबी यौगिक साधना करनेकी योजना बना रहे थे। एक दिन वृन्दावन विहारी-भवनके निचले हिस्सेमें पंजाबी बन्धुओंका कोई समारोह हो रहा था, जिसमें डिनर पार्टीका आयोजन था। विभिन्न खाद्य-सामग्री टेबुलपर सजी थी। राजस्थानके ब्रह्मचारी महोदयका यह सब देखकर मन चल गया और उन्होंने महाराजके ब्रह्मचारी श्रीमार्कण्डेयजीसे

खानेकी अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने उन पंजाबी बन्धुओंसे कहकर उन्हें भोजन करा दिया। महाराजको जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने तत्काल उसी दिन राजस्थानी ब्रह्मचारीको वहाँ से विदा किया। मेरे पूछनेपर महाराजने कहा कि 'यौगिक साधना' तो बहुत आगेकी बात है। खान-पानपर संयम तो बहुत प्रारम्भकी ही बात है। हम लोग भी बाहर दुकानोंमें मिठाई और नमकीन आदि विभिन्न सामग्रियां सजी हुई देखते हैं तो उसमें वनम-जैसी अरुचि रहती है। जब खान-पानकी इच्छानुसार उनका कोई नियन्त्रण नहीं है तो यौगिक साधनाकी बात तो दिवा-स्वप्नमात्र ही है।

साधुका बाह्य और अन्तर्जीवन

काशीमें उन दिनों नीचीबाग-स्थित पोस्ट ऑफिसके बरामदेमें एक स्थूलकाय व्यक्ति नंग-धड़ंग पड़े रहते थे। उनका शरीर स्थूल होनेपर भी अत्यधिक आकर्षक था। चेहरेपर निरन्तर अद्भुत आभा थी, जिसमें एक विचित्र मस्ती झलकती रहती थी। सड़कपर चलनेवाले लोगोंका स्वभाविक आकर्षण उनकी तरफ होता था। २-४ मिनट रुककर लोग उनके कार्यकलापोंको देखते थे। वे जाड़ा, गर्मी और बरसात सभी मौसमोंमें दिगम्बर रहते। ओढ़ने और बिछानेका भी कोई कपड़ा उनके पास नहीं रहता था। वे अत्यन्त मितभाषी थे। उनकी भाषा कोई समझता भी नहीं था। मेरा प्रतिदिनका वह मार्ग था। कुछ क्षण रुककर मैं प्रायः उन्हें कौतूहलपूर्वक देखता था। वे पड़े-पड़े कुछ लिखते रहते। कोई पैसा देना चाहता तो उससे कहते पोस्टकार्ड ले आओ। पहले तो मैंने समझा कोई भिखारी होगा, पर बादमें उनके लक्षणोंसे लगा कि वह कोई संत भी हो सकते हैं। कई लोग रात्रिमें आकर उनकी सेवा किया करते थे, पैर दबाते, वे निःस्पृहभावसे पड़े रहते। वे सबको समान रूपसे देखते और मुसकराते रहते। मैंने उनकी चर्चा तथा उनकी सब बातें महाराजश्रीसे निवेदन की। महाराजने बड़े गौरसे उनकी बातें सुनी, पर कुछ उत्तर नहीं दिया। महाराज जब कभी कहीं से काशी पधारते तो यदा-कदा उनके बारेमें कुछ पूछ लेते और मैं उनके प्रति अपने अनुभवोंको सुना देता। अन्तिम बार एक दिन महाराजने पूछा- 'क्या हाल है तुम्हारे नीचीबागवाले महात्माका?' मैंने कहा- 'महाराज! उनका तो काशीवास हो गया, पर इधर उनकी बड़ी नीची स्थिति हो गयी थी।' महाराजने उत्सुकतापूर्वक मेरी ओर देखा। मैंने कहा कि पहले तो वे दिगम्बर रहते थे, अब गंजी और जाँघिया पहन लिया था तथा जनेऊ, भी धारण कर लिया था, शरीरसे काफी दुर्बल भी हो गये थे। महाराजने एक ही बात कही कि हम लोगोंकी दृष्टिमें बाह्य बातोंका कोई महत्व नहीं है। महाराजकी इस बातको सुनकर उस दिन मुझे यह बात समझमें आयी कि शास्त्रोंमें वर्णित लक्षणोंके

आधारपर महाराजश्री भी उन्हें एक सिद्ध संतके रूपमें स्वीकार करते थे। महाराजजीकी दृष्टिमें ऐसे और भी लोग काशीमें हो चुके थे, जिनका ऊपरी जीवन तो विक्षिप्त-जैसा था पर भीतरसे वे उच्चकोटिके सिद्ध संत थे।

अन्तःकरणकी साधुता ही सच्ची साधुता

अयोध्यामें एक संत हैं- 'श्रीमधुकरिया बाबा'। जोधपुरके एक साधुने मेरी उनसे भेंट करायी और मुझे संकेत किया कि आप चाहें तो सत्संग की बातें पूछ सकते हैं। मैंने कुछ चर्चा चलायी तो मधुकरिया बाबाने सत्संगकी बहुत अच्छी-अच्छी बातें सुनायी। इसी संदर्भमें उन्होंने अपनी एक सत्य घटना सुनाते हुए कहा कि एक दिन किसी भक्तने भीगे हुए चने मुझे दिये, जिसे मैंने पा लिया। उन सज्जनने मेरे मना करनेपर भी और चने मुझे दे दिये और कहा कि इसे ले जाइये फिर पा लीजियेगा या और किसीको खिला दीजियेगा। मैं संकोचमें लेता आया। रात्रि हो चुकी थी। मेरे मनमें बार-बार यह बात आती थी कि कल इस चनेका क्या उपयोग करूँगा, कभी सोचता था स्वयं खा लेंगे, कभी यह विचार आता था कि किसीको खिला देंगे, कभी सोचता था इसे लेनेकी क्या जरूरत थी। इसी उधेड़बुनमें रात्रि बीतने लगी, नींद नहीं आयी। रात्रिके जब दो बज गये तो मैंने सोचा कि अब तो उठनेका समय होने लगा, पर नींद नहीं आनेसे भजनमें भी विघ्न होनेकी सम्भावना हो रही है। मैं कुछ चिन्तित भी हुआ। उसी समय मुझे यह प्रेरणा हुई कि नींद नहीं आनेका कारण ये चने तो तुम्हारी झोलीमें रखे हैं, वे ही हैं। वे बाबा तुरंत उठे और वहाँ सरयूजीमें उन चनोंको तुरंत प्रवाहित कर दिया। तब उन्हें थोड़ी देर बहुत अच्छी नींद आयी और वे निश्चिन्त भावसे सोये। कुछ ही समयके अन्तरालमें ठीक इसी प्रकारकी एक दूसरी घटना भी उनके साथ घटी। एक महानुभावने एक रुपया बाबाके हाथमें दिया और कहा-बाबा! इसका कुछ ले लेना। बाबा कुछ निर्णय नहीं कर सके। रुपया हाथमें लिये हुए अपने स्थानपर भगवान्‌के लिये रखेंगे फिर मनमें दूसरा विचार आया कि बाल-भोग ही आ जाय तो क्या हर्ज है। रात्रि हो चुकी थी। निद्रादेवीकी प्रतीक्षामें बाबा लेट चुके थे। परंतु मानसिक विचारोंकी शृंखला चल रही थी। एकाएक बाबा चौंक पड़े और सावधान होकर मनमें विचार किया कि आज भी तुम्हारी उस दिनवाली दशा होनेवाली है। जिस प्रकार उस दिन रात्रिमें दो बजेतक नींद नहीं आयी, उसी प्रकार आज भी यह एक रुपया नींदको हराम करना चाहता है। बाबा उठे और पासके एक कुएँमें उन्होंने रुपयेको डाल दिया और आकर निश्चिन्त-भावसे सुखपूर्वक सोये। यह सत्य घटना मधुकरिया बाबाने स्वयं अपने मुखसे सुनायी। मैंने भी सब बात महाराजश्रीको सुनायी

और उनसे पूछा कि महाराज! संसारमें तो जिन लोगोंको जितना अधिक पैसा-रुपया अपने पास होता है उनको उतनपी ही अच्छी नींद आती है, पर अवधके संत श्रीमधुकरिया बाबाको एक रुपया भी नींदमें बाधक क्यों बन गया? यह बात समझमें नहीं आती। इस प्रश्नके उत्तरमें आँखमें अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तु भी महान् पीड़ाका कारण बनता है जबकि शरीरके दूसरे अङ्ग पीठ आदिपर कोड़ेकी मारसे भी उतना अधिक कष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण जितना अधिक शुद्ध है उसे किंचित् संसार भी उतना ही अधिक कष्टप्रद प्रतीत होता है पर जो सांसारिक वातावरणमें घुले-मिले हैं, उनका अन्तःकरण उतना शुद्ध नहीं है उन्हें संसारकी जटिलताएँ उतनी कष्टप्रद प्रतीत नहीं होतीं; बल्कि उन्हें उन्हीं सांसारिक पदार्थोंमें सुखाभासकी अनुभूति होने लगती है। अतः जन्म-जन्मान्तरकी साधनाओंसे जिनका अन्तःकरण निर्मल हो चुका है ऐसे साधु पुरुषोंको सांसारिक वस्तुके रूपमें एक रुपया भी कष्टदायक हो सकता है जबकि संसारमें रचे-पचे लोगोंको लाखों-करोड़ों रुपये प्राप्त कर भी संतोष नहीं होता। महाराजश्रीकी यह बात सुनकर मेरी शंकाका समाधान प्रायः हो गया।

आत्मशक्तिकी दृढ़ताने भयंकर रोगोंका बिना उपचार दूर किया

एक बार चातुर्मास्य-कालमें अचानक महाराजश्रीके पेटमें भयंकर पीड़ा शुरू हो गयी। वे अत्यधिक बेचैनीका अनुभव करने लगे। महाराजने कहा कि एक सौ बिच्छूके डंक मारनेसे जो पीड़ा हो सकती है, वही पीड़ा अभी मेटमें है। मेरे पूछनेपर महाराजने बताया कि एक बार मुझे एक बिच्छूने डंक मारा था, उस समय मुझे जो पीड़ा हुई थी, उसे अनुभवके आधारपर मैंने यह बात कही। काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय तथा अन्य स्थानोंसे डॉक्टरोंने आकर परीक्षण किया और पित्तकी थैलीमें कुछ गड़बडी पायी, जिसके आधारपर पेट खोलकर गॉल्ड-ब्लेडरका ऑपरेशन करनेकी बात डॉक्टरोंकी ओरसे निश्चित की गयी। इन्जेक्शन तथा दवाएँ डॉक्टरोंकी ओरसे निश्चित की गयीं। इन्जेक्शन तथा डॉक्टरी दवाओंके प्रयोगसे पेटके दर्दमें राहत मिलनेका आश्वासन भी डॉक्टरोंने दिया। पर महाराजश्रीपर इन बातोंका कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने तो अपने नियमानुसार आयुर्वेदिक औषधिका ही सेवन किया। दीक्षितजी वैद्यकी पुड़ियासे ही वे २४ घंटेमें स्वस्थ हो गये। ऑपरेशन आदि करानेकी चर्चा भी दुबारा नहीं चली।

इसी प्रकार एक बार महाराजके कानमें भी भयंकर पीड़ा होने लगी। डॉ. एस.नाथ जो महाराजश्रीके पास भक्त भी थे, उन्होंने कानका परीक्षण किया और इन्जेक्शन देकर दर्दको तुरंत ठीक करनेका आश्वासन दिया। साथ ही यह आश्वासन भी

दिया कि इंजेक्शनमें किसी प्रकारकी निषिद्ध वस्तुओंका सम्मिश्रण नहीं होगा। पर महाराजने यह स्वीकार नहीं किया और कहा कि यह तो ठीक है, परंतु एक बार यदि सूई ले लूँगा तो आगे फिर इसकी शृंखला प्रारम्भ हो जायगी। अन्तमें अन्य उपचारोंसे ही कानकी पीड़ा भी समाप्त हो गयी।

एक बार महाराजको हॉइड्रोसलका ऑपरेशन कराने की स्थिति आ गयी। सर्जन सूई देकर स्थान शून्य करना चाहते थे, पर महाराजने बिना सूई तथा बिना डॉक्टरी औषधिके प्रयोगके ही ऑपरेशन कराना स्वीकार किया। यह ऑपरेशन महाराजश्रीकी आत्मशक्तिके आधारपर ही सम्पन्न हो सका। सर्जन डॉक्टर भी महाराजकी नियम-प्रतिबद्धता और आत्मशक्तिको देखकर चकित थे। ऑपरेशनके समय जो अनुभव हुए उन्हें भी महाराजने कभी प्रसंगवश सुनाया था।

भारतीय संस्कृति और सनातनधर्म एक ग्रन्थ

वाराणसीमें एक दिन महाराजश्रीके एक भक्त बाहरसे दर्शनके लिये सपरिवार आये हुए थे। महाराजसे बातचीत चल रही थी। उन सज्जनने कहा कि महाराजजी अपने धर्ममें कितने ही ग्रन्थ हैं। चार वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा सैकड़ों उपनिषद् ग्रन्थ हैं। अठारह महापुराण, कई उपपुराण, स्मृतियाँ तथा निबन्ध-ग्रन्थ हैं। भारतीय संस्कृति और सनातनधर्मको समझनेके लिये कोई एक ऐसा ग्रन्थ होना चाहिये, जिसे पढ़कर सनातनधर्मकी सम्पूर्ण बातोंकी जानकारी हो जाय। यह सुनकर महाराजश्रीने तत्काल उत्तर दिया कि यदि भारतीय संस्कृति और सनातनधर्मकी पूर्ण जानकारीके लिये कोई एक ही पुस्तक पढ़ना चाहते हो तो गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी रामचरितमानस पढ़ो। उसमें पूरे सनातनधर्म एवं संस्कृतिका दर्शन हो जायगा। महाराजकी यह बात विशेष प्रेरणादायक थी।

श्रीरामचरितमानसेमें महाराजश्रीकी अविचल श्रद्धा थी। एक बार उन्होंने कहा-गोस्वामी तुलसीदासजीका रामचरितमानस इतना शास्त्रसम्मत है कि उसकी किसी चौपाई पर रेखा नहीं खींची जा सकती। उनका आशय यह था कि शास्त्रीय दृष्टिसे यह पूर्ण निरापद ग्रन्थ है।

वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति

श्रावण शुक्ल सप्तमीपर प्रतिवर्ष तुलसी-जयन्तीका आयोजन श्रीतुलसीमानस-मन्दिर तथा तुलसीघाट-स्थित गोस्वामी तुलसीदासजीके अखाड़ेमें होता है, जहाँ

महाराजश्री प्रायः प्रतिवर्ष पधारते थे। इस अवसरपर एक बार स्वामीजीने भक्तिका विवेचन करते हुए बताया कि भक्ति दो प्रकारकी होती है–वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति। वैधी भक्ति तो वह है, जिसमें शास्त्रविधिके अनुसार अपने आराध्यकी सेवा-पूजा और उपासना की जाय। रागानुगा भक्ति वह है कि व्यक्ति अपने आराध्य इष्टके बिना एक क्षण भी न रह सके–

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतरा क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।।

(श्रीमद्भागवत ६/११/२६)

जैसे पंखरहित पतंग-शावक अपनी माँको पानेके लिये व्याकुल रहते हैं, जैसे क्षुधार्त वत्सतर (छोटे गोवत्स) माँका दूध चाहते हैं, किंवा परदेश गये हुये प्रियतमसे मिलनेके लिये प्रेयसी विषण्ण होती है, हे कमलनयन। मेरा मन आपको देखनेके लिये वैसे ही उत्कण्ठित होता है।

इस प्रकार प्रगाढ़ प्रेमकी पराकाष्ठा ही रागानुगा भक्ति है।

भक्तके साथ भगवान् स्वतः आ जाते हैं

एक बार तुलसी जयन्तीके अवसरपर तुलसीघाटमें महाराजने कहा कि यदि भगवान्‌के भक्तको हृदयमें धारण कर लिया जाय तो भगवान् स्वतः हृदयमें आ जाते हैं। कारण, भक्तके हृदयमें भगवान् रहते ही हैं, इसलिये भक्तका प्रवेश जब हृदयमें होता है तो भगवान् भी प्रविष्ट हो जाते हैं। श्रीहनुमान्‌जी महाराजका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए महाराजश्रीने कहा कि तुलसीदासजी महाराजने इसीलिये रामभक्त श्रीहनुमानलालजीसे हनुमानचालीसामें पाठके अन्तमें यह प्रार्थना की–

'पवन तनय संकट हरन मंगल मूरति रूप।
राम लखन सीता सहित हृदय बसहु सुर भूप।।'

भगवान् राम, लक्ष्मण और भगवती सीताके साथ आप मेरे हृदयमें विराजमान् हों। प्रभुसे यही वरदान माँगा। इस प्रकार भगवद्भक्तकी महिमाका वर्णन महाराजश्रीके द्वारा हुआ।

महाराजजी हँस पड़े

एक बार मैंने महाराजजीसे पूछा कि साधु-संन्यासीका रुपये-पैसेका दान देना तथा उन्हें लेना, दोनों ही शास्त्रामें निषिद्ध है। आवश्यकतानुसार साधुको वस्तु

देनेका ही विधान है, परंतु आजकल तो बिना पैसे लिये साधु-संन्यासीका भी काम चलता नहीं। ऐसी स्थितिमें क्या करना चाहिये? इसपर महाराजजीने दो मिनट सोचकर कहा कि आजकल पैसे बिना काम चलता नहीं, इसलिये पैसा देना पड़े तो वस्तुका उद्देश्य बनाकर सीके निमित्त पैसा देना चाहिये। इसी संदर्भमें मैंने महाराजश्रीको अयोध्याकी एक रोचक घटना सुनायी। अयोध्यामें कटरिया बाबा एक अच्छे महात्मा थे। उनकी आयु एक सौ वर्षसे भी अधिक थी। महाराजश्री भी उनसे परिचित थे। भगवन्नामोच्चारणका उनका बड़ा अच्छा अभ्यास था। जिह्वासे, तालुसे, कण्ठसे तथा हृदयसे थे उच्चस्वरमें भगवन्नामका उच्चारण करते थे तथा कभी-कभी अपने भक्तोंको भी यह प्रक्रिया बताते थे। सरयूजीके किनारे नया घाटपर उनका एक स्थान भी बना है। एक दिन मैं अयोध्यामें सरयूजीका स्नान कर उनके स्थानपर गया तथा कुछ रुपये भेंटरूपमें उनके सामने रखे तो बाबाने अपने चिमटेसे उठाकर उस भेंटको अपनी झोलीमें डाल दिया। मैंने विचार किया कि शायद ये रुपये-पैसेका हाथसे स्पर्श नहीं करते होंगे। इसीलिये उन्होंने चिमटेसे अग्निकी तरह उठाकर झोलीमें रक्खा। मैंने यह बात महाराजको बतायी तो उन्होंने कुछ कहा तो नहीं पर वे इस बातपर बहुत हँसे।

दम्भसे दूर

महाराजश्रीमें लोक-दिखावेकी प्रवृत्ति नहीं थी। एक मठाधीश आचार्यकी चर्चा चली। उनके यहाँ साइनबोर्ड लगा था कि यहाँ रुपया-पैसा चढ़ाना मना है। पर उनके ठाट-बाट बहुत थे। रुपयोंका आवागमन भी था ही। उनके कुछ भक्त गुप्त रूपसे धन दे जिससे उनका काम चलता। पर वे सार्वजनिक रूपमें रुपया आदि नहीं लेते। यह बात महाराजको कम पसंद थी। जब रुपयेके बिना काम नहीं चलता तो केवल जनताको दिखानेके लिये रुपये नहीं लेना यह 'दम्भ' भी हो सकता है। त्याग-वैराग्य तो पूर्णरूपसे होना ही श्रेयस्कर है।

एक बार किसी भक्तने महाराजश्रीके ठाकुरजीको विराजमान करानेके लिये ५० तोलेके सोनेसे बना एक सुन्दर स्वर्ण-सिंहासन भेंट किया। इस प्रकार भगवान्‌के भोग-राग तथा पूजन आदिके लिये स्वर्ण-पात्र भी कुछ भक्तोंने बनवाये। उन दिनों पराम्बा भगवती राजराजेश्वरी त्रिपुरासुन्दरीकी राजोपचार-पूजा महाराजद्वारा सम्पन्न होती थी, जो विशेष दर्शनीय थी। कई दिनों बाद एक बार ब्रह्मचारीकी असावधानीसे स्वर्णसिंहासन तथा स्वर्णपात्र चोरी हो गये। इस घटनासे भक्तोंके क्षोभ होना भी स्वाभाविक था। कुछ अन्तरंग भक्तोंने भगवान्‌के लिये स्वर्ण-सामग्रियोंके प्रयोगके सम्बन्धमें भी महाराजके समक्ष विभिन्न शंकाएँ प्रस्तुत कीं। महाराजने निःस्पृहभावसे

यह उत्तर दिया कि जब मैं पैदल यात्रा करता था तथा गाड़ी आदिपर नहीं बैठता था, तब हमारे भगवान् भी काष्ठके सिंहासनपर विराजमान रहते थे तथा काष्ठादिके पात्रोंमें ही उनकी पूजा और भोग-राग भी होते थे। पर जब मैं मोटर-गाड़ी आदिका प्रयोग करने लगा तो मेरे भगवान्‌को भी स्वर्ण-सिंहासनमें क्यों नहीं विराजमान कराया जाय। पूजा-अर्चामें भक्ति-भावनाकी दृष्टिसे स्वर्णादि पात्रोंकी सार्थकता और महिमा तो मात्र भगवत्सेवामें ही है। जहाँतक चोरी होनेकी बात है, यह तो संसारकी प्रकृति है। यहाँ कुछ ऐसे भक्त हैं तो श्रद्धापूर्वक स्वर्णादिके सिंहासन भगवान्‌के निमित्त अर्पण करते हैं, परंतु कुछ ऐसे भी लोग हैं जो चोरीसे उन्हें उठा ले जाते हैं। दोनोंको ही अपने किये हुए कर्मोंका फल मिलता है। अपने ठाकुरजीको तो इससे कोई अन्तर होना नहीं है, पर बादमें महाराजजीने विचारकर ठाकुरजीके सभी स्वर्णनिर्मित पात्रोंको श्रीकाशी-विश्वनाथ तथा अन्य मन्दिरोंमें समर्पित कर दिया तथा अपने ठाकुरजीकी पूजामें रजन-पात्रोंतकका ही प्रयोग करना उचित समझा।

व्यङ्ग्य-विनोदमें शिक्षाप्रद बातें

एक बार महाराजने विनोदपूर्वक एक कथा सुनायी। एक साधुका आश्रम था, जिसमें एक चेला भी रहता था। वह भगवान्‌का भक्त था। उसकी यह प्रकृति थी कि जब आश्रममें एकान्त रहता तो वह आसनारूढ़ होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा और भक्तिमें ध्यानरूढ़ हो जाता और जब आश्रममें गुरुजीसे मिलने तथा दर्शन आदिके लिये बाहरके लोग आते तो वह चेला अपनी पूजा-पाठ छोड़कर आश्रमके अन्य कार्य करने लग जाता। इस बातसे गुरुजी महाराज बहुत नाराज होते और अपने चेलेपर बिगड़ते हुए कहते कि जब सब लोग चले जाते हैं तो फिर किसको पूजा-पाठ दिखाता है। जब आश्रमें दर्शनार्थी और मिलने-जुलनेवाले आते हैं तब तो तू इधर-उधरका काम करने लगता है और जब कोई नहीं रहता तो ध्यान लगाकर बैठ जाता है। यह तुम्हारा कितना मूर्खतापूर्ण कार्य है। पूजा-पाठ तो आश्रमकी शोभा है। पूजा-पाठ करना है तो भीड़के समय करना चाहिये, जिससे दूसरोंपर भी असर पड़े। अकेले-निर्जनमें करनेसे क्या लाभ? महाराजके इस व्यङ्ग्यात्मक विनोदपूर्ण कथनसे मुझे ऐसा लगा कि कभी आश्रम तथा मठोंमें भी गुरु बहिर्मुखी प्रवृत्तिके हो सकते हैं जो वास्तविक ज्ञानसे विमुख होते हैं तथा साधना और भगवत्संनिकटतासे उनका कोई सरोकार नहीं रहता। वैसे गुरुसे सत्-शिष्योंको आध्यात्मिक प्रेरणा तो मिलनी दूर रही, उसकी साधनामें कोई प्रगति होनेमें भी कठिनाई हो सकती है। ऐसे लोगोंका एक ही लक्ष्य होता है कि अधिकाधिक लोगोंको बाह्याडम्बरके द्वारा अपनी ओर आकृष्ट किया जाय।

इस प्रकार महाराज कभी-कभी व्यङ्ग्यात्मक विनोदपूर्ण बात सुनकर भी शिक्षाप्रद उपदेश देते थे। एक दिन महाराज प्रसन्न-मुद्रामें बोले कि अयोध्याके कुछ आश्रमोंमें वैरागी साधुओंके भण्डारे चलते हैं, वहाँकि नियुमानुसार मंगलवारको श्रीहनुमान्‌जी महाराजके भोगका लड्डू उन साधुओंको वितरित किया जाता है। कई साधु तो लड्डूके लिये इस मंगलवारकी प्रतीक्षा भी करते हैं। इसके साथ ही उन आश्रमोंमें एकादशीके दिन व्रत रखा जाता है तथा क्षुधा-निवृत्तिके लिये एक समय कुछ फलाहार दे दिया जाता है। यह एकादशी-व्रत पंद्रहवें दिन होता है जबकि मंगलवार इर सप्ताह आता है, परंतु जिस दिन एकादशी होती है इस दिन कुछ साधु आपसमें बात करते हैं कि 'ससुरी एकादशी सिरपर चढ़ी रहती है और मंगलवारका पता भी नहीं रहता।' महाराजके इस व्यङ्ग्यपूर्ण वचनमें साधुवेशमें रहनेवाले भोजन-भट्ट लोगोंकी प्रकृतिका आभास मिलता है।

साधुमें स्वाभाविक आकर्षण

किसी प्रसंगमें महाराजने एक बार बताया कि साधुमें उनका जन्मजात आकर्षण था। बाल्यावास्थामें घरके पास कोई भी साधु आ जाता तो वे सब कुछ छोड़कर उनके पास चले जाते और स्नेहपूर्ण दृष्टिसे उसे देखते। साधुको देखकर उनके मनमें अत्यधिक उल्लास होता और यह बात मनमें आती कि मैं भी इसी प्रकार साधु बन जाता। मैंने पूछा कि महाराज बाल्यावस्थामें तो यह स्थिति थी, पर बादमें उनके सम्पर्कमं आनेपर क्या स्थिति बनी। तब वे बोले-बादमें तो साधुवेशमें रहनेवालोंके भी गुण-दोष सामने आने लगे और उनकी मीमांसा भी होने लगी।

महाराजश्री यह भी कहते थे कि हमारे पास कई ऐसे युवक और किशोरावस्थामें ब्रह्मचारी-वेशमें भी लोग आते हैं तथा साधु बननेकी इच्छा प्रकट करते हैं, परंतु अपनी ओरसे हम कभी भी उन्हें साधु बननेकी प्रेरणा नहीं करते। यथासम्भव गृहस्थ बननेकी ही प्रेरणा करते हैं। यदि वह अविवाहित होता है तो उसे विवाह करनेका परामर्श देते हैं। सद्‌गृहस्थ होकर धर्माचरण करना भी कम महत्त्वकी बात नहीं है। संसारसे उत्कट वैराग्य और परमात्मामें अविचल आस्था होनेपर ही व्यक्ति साधु बनने योग्य होता है। महाराजकी इस बातका तात्पर्य मैंने यह समझा कि यदि अन्तःकरणमें थोड़ी भी संसारकी वासना छिपी होती है तो वह साधुके लिये पतनका कारण बन सकती है। इसलिये साधुको और सद्‌गृहस्थको निरन्तर सत्संगकी आवश्यकता है।

पूर्ण श्रद्धावान्‌को ही साधुके निकट रहना चाहिये

किसी संदर्भमें महाराजजीने अपने एक भक्तसे कहा कि साधु या गुरुके संनिकट रहनेका अधिकारी केवल वही व्यक्ति है, जिसमें पूर्ण श्रद्धाका समावेश हो। जो पूर्ण श्रद्धावान् नहीं होता उसे महात्माके अत्यन्त संनिकट रहनेसे पद-पदपर शंका और अश्रद्धा होनेकी भी सम्भावना हो सकती है, जिससे उसका कोई लाभ हो नहीं सकता। इसलिये वैसे लोगोंको मध्यम भावसे ही महात्माका आश्रय लेना चाहिये अर्थात् सत्संग-कथा-वार्तामें सम्मिलित होना चाहिये, जिससे उसकी श्रद्धामें कमी नहीं आये।

मौकेकी सूझ

बातचीतके क्रममें एक दिन महाराजश्रीने कहा कि 'देखो! मौकेपर जो चूक जाता है, वह फिर लौटता नहीं। मौकेपर किये गये किसी भी कार्यका महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है। इस संदर्भमें महाराजजीने एक कथा सुनाते हुए कहा कि उद्दालक नामके एक ऋषि थे। अकस्मात् उनके पिताका देहान्त हो गया। मुनिने अपने पिताकी अन्त्येष्टि चन्दनकी लकड़ीकी चितापर करनेका विचार किया, पर चन्दनकी लकड़ीकी चितापर करनेका विचार किया, पर चन्दनकी लकड़ी उनके पास तो थी नहीं, वे धर्मराज युधिष्ठिरके यहाँ पहुँचे और उनसे चन्दनकी लकड़ीकी याचना की। धर्मराजके पास चन्दनकी लकड़ीकी तो कमी नहीं थी, परंतु अनवरत वर्षा होनेके कारण लकड़ी गीली थी। मुनिने कहा कि मुझे तो चन्दनकी सूखी लकड़ी चाहिये। इससे धर्मराज युधिष्ठिरको अपनी असमर्थता व्यक्त करनी पड़ी। वहाँसे मुनि राजा कर्णके पास पहुँचे। वहाँ भी अनवरत वर्षा होनेके कारण चन्दनकी गीली लकड़ी ही उपलब्ध थी, परंतु मुनिने कहा कि मुझे तो चिताके लिये चन्दनकी सूखी लकड़ी चाहिये। इसपर राजा कर्णने अपने दरबारियोंको बुलाकर यह आदेश दिया कि चन्दनसे बने मेरे सिंहासनको तुरंत खोल दिया जाय तथा इसे काटकर चिताके लिये इसकी लकड़ी मुनि-बालकको दे दी जाय। दरबारियोंके पूछनेपर राजा कर्णने कहा कि चन्दनकी लकड़ीका सिंहासन तो फिर बन जायगा; परंतु चिताका कार्य तो अभी ही होना है। इस प्रकार मुनि बालकको अपने पिताकी चिताके लिये चन्दनकी सूखी लकड़ी प्राप्त हो गयी। महाराजने कहा कि धर्मराज युधिष्ठिरके पास भी चन्दनका ही सिंहासन था तथा वे राजा कर्णसे कम दानी भी नहीं थे। परंतु मौकेपर जो सूझ राजा कर्णको आयी वह युधिष्ठिरको नहीं आ सकी इसलिये दानवीरकी उपाधि राजा कर्णको ही प्राप्त हुई, धर्मराज युधिष्ठिरको नहीं। अतः मौकेपर किये गये कार्यका बड़ा महत्त्व है।

मैं अपनी दुकान समेट रहा हूँ और वे लगा रहे हैं

वैसे तो महाराजजीकी प्रवृत्ति प्रारम्भसे ही अन्तर्मुखी थी, परंतु जनकल्याणके लिये धर्म-रक्षार्थ लोक-संग्रहकी दृष्टिसे जागतिक कार्योंमें भी जो अभिरुचि महाराजने ली, वह विवेकपूर्वक योजनाबद्ध थी। इस जीवनमें कितने समय कौन-सा कार्य सम्पन्न करना है सब महाराजश्रीकी बुद्धिमं निर्धारित था।

एक बार एक जैन मुनि वाराणसी पधारे। वे लगभग एक मासतक वाराणसीमें ठहरे। कई प्रकारके चमत्कार उन्होंने यहाँ दिखाये। अखबारोंमें भी उनके चमत्कारोंकी प्रशंसा छपा करती। उनका नागरिक अभिनन्दन भी किया गया। महाराजश्री भी उन दिनों वाराणसीमें ही थे। उनसे भी उनके चमत्कारोंकी चर्चा होती थी। महाराज भी कौतूहलपूर्वक उनके चमत्कारोंकी बात सुनते। एक दिन अकस्मात् जैन मुनि महाराजजीसे मिलने श्रीवृन्दावन विहारीभवन पधारे। रात्रिमें महाराजने मुझसे कहा कि आज जैन मुनि आये थे। मैंने पूछा- 'उनसे क्या बातचीत हुई।' महाराजजीने कहा कि वे कहते थे कि 'आपका सहयोग हमें मिल जाय तो हमलोग भारतीय संस्कृतिके उन्नयनके लिये बहुत कार्य कर सकते हैं और भारतीय संस्कृतिकी बहुत उन्नति हो सकती है।' मैंने महाराजजीसे कहा कि 'इसमे हर्ज भी क्या है, यदि वे अपने सिद्धान्तोंके अनुसार कार्य करें तो उन्हें सहयोग देनेमें क्या कठिनाई है?' तब महाराजने कहा कि 'भाई! उनका-हमारा मेल कैसे बैठ सकता है- जैसे तुम लोग सबेरे अपनी दूकान लगाते हो और शामको अपनी दुकान समेटते हो वैसी ही वे तो अपनी दूकान लगा रहे हैं और मैं समेट रहा हूँ। तब दोनोंका मेल कैसे बैठ सकता है। महाराजकी यह बात सुनकर मैं चंकित रह गया और सोचने लगा कि महाराजश्रीके कार्यक्रम कितने योजनाबद्ध हैं। जीवनका कितना क्षण किस कार्यमें लगाना है, यह विवेकपूर्वक विचारकर ही वे निर्धारित करते थे।'

बिना कष्ट प्रारब्धका भोग

एक बार महाराजश्रीने मोटरद्वारा वाराणसीसे वृन्दावनके लिये प्रस्थान किया। महाराजजीकी गाड़ी प्रायः रात्रिमें ही चलती थी तथा रात्रि एक बजे उनके जागरणके समय रोक दी जाती थी। कानपुरसे आगे कुछ दूर पर रात्रिमें गाड़ीका एक्सीडेन्ट हो गया। गाड़ी किसी वृक्षसे टकरा गयी। गाड़ी तो पूरी तरह नष्ट हो गयी। महाराजश्रीको भी चेहरेपर कुछ चोट आयी। महाराजश्री उस समय पीछेकी सीटपर शयन कर रहे थे। वहां आस-पासके गाँववालोंकी भीड़ लग गयी। भीड़के लोगोंने महाराजको जगाया। महाराजजी जब वृन्दावनसे वाराणसी लौटे तब उनका चेहरा देखकर मुझे अत्यधिक

आश्चर्य हुआ कि महाराजश्रीको इतनी चोट कैसे लग गयी। तब महाराजने मुझे मोटर-दुर्घटनाकी सब बातें बतायीं तथा कहा कि इस बार मुझे यह अनुभव हुआ कि कभी-कभी भगवान् बिना कष्ट हुए ही प्रारब्धका भोग भुगता देते हैं। महाराजजीने बतया कि एक्सीडेन्टके समय तो मैं नींदमें ही था। बाहरके लोगोंने जब मुझे उठाया तब मुझे मालूम हुआ की गाड़ीका एक्सीडेन्ट हो गया है। महाराजको देखनेसे ऐसा लगता था कि उन्हें काफी चोट आयी है। पर उन्होंने कहा कि इस बार मुझे इस चोटसे कोई कष्ट या दर्दका अनुभव नहीं हो रहा है, यद्यपि उसको ठीक करनेका उपचार चल रहा था। भगवत्कृपासे गाड़ीके नष्ट हो जानेपर भी ड्राइवर और साथ बैठे ब्रह्मचारी को भी चोट नहीं आयी। वे लोग भी सुरक्षित बच गये। यह सब स्वामीजी की साधना और प्रभु-कृपाका ही फल था।

अस्वस्थतामें अन्तर्मुखी वृत्ति

एक दिन प्रातःकाल वृन्दावन विहारीभवनमें अपनी साधनामें संलग्न सूर्य-नमस्कार करते हुए महाराजश्री अचेत हो गये। उन्हें तत्काल केदारघाटस्थित वेदशास्त्रानुसंधान-केन्द्रपर ले जाया गया, जो महाराजद्वारा संस्थापित स्थान है। महाराजकी विशेष अस्वस्थताके कारण देशके कोने-कोनेसे दर्शनार्थ आनेवालोंका ताँता लग गया। महाराजका उपचार पं. ब्रजमोहनजी दीक्षितद्वारा आयुर्वेदिक पद्धतिद्वारा चलता रहा। डॉक्टरी दवा देनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं था। इक्कीस दिनोंतक लगातार महाराजश्रीकी अचेतनावस्था बनी रही। इन दिनों महाराजको बाह्य ज्ञान एकदम नहीं था। वे किसीको भी पहचानते नहीं थे, परंतु बीच-बीचमें रामायणकी चौपाई बोलते जाते- '**जय जय गिरिबर राजकिसोरी...।**' इस अर्धालीको उन्होंने कई बार दोहराया तथा राम-नामका उच्चारण भी महाराजद्वारा होता रहता। ये सब घटनाएँ विलक्षण थीं। ऐसा लगता था कि महाराजश्रीने अपनी बाह्य चेतनाको समेटकर कुछ समयके लिये अन्तर्मुखी वृत्ति धारण कर ली है। परंतु भक्तजन इसे समझ नहीं पा रहे थे। सभी चिन्तित थे। पुरीपीठाधीश्वर शंकराचार्य निरंजनदेवतीर्थजी महाराज तत्कालीन ज्योतिष्पीठाधीश जगदुरु स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज, सुमेरु पीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वाकी शंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज, शास्त्री स्वामी तथा महाराजके अन्य भक्तगण वहाँ निरन्तर उपस्थित रहते। दर्शनार्थ बाहरसे आनेवाले भक्तोंको भी ताँता बँधा रहता था। २१ दिनोंतक यह क्रम चलता रहा। २१ दिनोंके बाद अचानक महाराजकी चेतना लौट आयी। चेतना लौटनेपर महाराजने सर्वप्रथम कहा- 'मुझे विष्णुसहस्रनाम सुनाओ।' यह सुनाया गया। इसके बाद ही महाराजने कहा- 'गजेन्द्रमोक्ष

सुनाओ।' भक्तोंमें प्रसन्नता की लहर छा गयी। सभी आनन्दमग्न हो गये। महाराज बिस्तरपर उठकर बैठ गये तथा पाठ सुननेकी इच्छा व्यक्त की। यद्यपि कुछ समय उन्हें सुनाया भी गया तथा भक्तजनोंने आग्रह किया कि महाराजजी आप सो जायँ। वैद्यजीने विश्राम करनेको कहा है। इन सबका महाराजश्री दार्शनिक भाषामें आध्यात्मिक उत्तर देते थे, जिसे सुनकर सभी लोग आश्चर्यचकित हो जाते थे। वे कहते–'हाँ भाई! ठीक कहते हो, जीव अबतक सोया है, उसे जगना चाहिये।' उनसे जब विश्रामके लिये कहा गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'विश्राम तो भगवत्स्मरण और भगवच्चिन्तनमें ही है।' महाराज जब स्तोत्रादि सुनानेका आग्रह बार-बार करते तब यह समझकर कि इससे मानसिक श्रम अधिक पड़ेगा, उनसे निवेदन किया गया कि वैद्यजीने स्तोत्र आदि सुनाने के लिये मना किया है। तब महाराजश्रीने कहा– 'तब तो वैद्यजीको कोई दूसरा रोगी खोजना चाहिये।' इस प्रकार अन्तर्मुखी वृत्तिसे बहिर्मुखी वृत्तिमें आनेपर भी महाराजजीमें आध्यात्मिक भावना ही प्रधान थी।

देखो! उस नाड़ीका क्या हाल है जिस नाड़ीमें राम-नाम चलता हो

इन्हीं दिनोंमें एक बार कलकत्तासे पधारे हुए महाराजके ही एक भक्त कविराज श्रीसीतारामजी शास्त्री वैद्यने महाराजकी नाड़ीका परीक्षण करना चाहा। इसके लिये उन्होंने महाराजकी नाड़ी अपने हाथमें ली। महाराजने पूछा कि क्या देखते हो। तब उन्होंने कहा–महाराज, मैं आपकी नाड़ी देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने उत्तर दिया– 'देखो उस नाड़ीका क्या हाल है, जिस नाड़ीमें राम-नाम चलता हो। महाराजकी यह बात सुनकर कविराजजी स्तब्ध रह गये। उन्होंने भक्तजनोंसे कहा–जिस नाड़ीमें राम-नाम चलता हो, उस नाड़ीको देखनेकी मेरी क्या ताकत है?'

महाराजकी परमहंसी अवस्था

लोकदृष्टिसे महाराजश्रीके स्वास्थ्यमें धीरे-धीरे सुधार होने लगा। महाराजश्रीके सभी भक्तगण जो बाहरसे भी पधारे हुए थे, महाराजसे मिलनेके लिये उत्सुक थे। महाराज सबसे मिले और उन्होंने सबको आशीर्वाद भी दिया। परंतु महाराजश्रीके स्वभाव, कार्य-कलाप और चर्यामें परिवर्तन दिखायी देने लगा। उनकी अन्तर्मुखी-वृत्ति स्पष्टरूपसे मुखरित हो रही थी। पहले जहां उन्होंने धर्मके प्रचार-प्रसार और सुरक्षामें राष्ट्र, समाज, राजनीति और देश-सेवामें स्वयंको समायोजित कर रखा था, वहां अब उन्होंने सब ओरसे स्वयंको समेटकर एकमात्र भगवदीय वृत्तियोंमें नियोजित

कर दिया। अब महाराजके पास संसारके कार्योंमें समय व्यतीत करनेके लिये अवकाश नहीं था। भक्तजन भी मिलने आते, दर्शनार्थियोंकी भीड़ रहती तब भी महाराज दो-चार मिनटसे अधिक वहाँ अधिक ठहर नहीं पाते। वे उठकर अपने कक्षमें चले जाते और भगवच्चिन्तनमें संलग्न हो जाते। पहले वे मिलनेवालोंसे 'पधारो' कहकर जानेका संकेत भी कर देते थे, पर अब किसीको भी जानेके लिये नहीं कहते, बल्कि स्वयं ही उठकर अपने एकान्त कक्षमें चले जाते। पहले कभी-कभी अपने निकटतम भक्तजनोंसे उनकी विशेष गलती पर नाराज भी हो जाते। यहांतक कि उनसे भाषण करना भी बन्द कर देते। पर अब महाराजने अपनी ओरसे सबको क्षमा करना भी बन्द कर देते। पर अब महाराजने पास निःसंकोच भावसे आ सकते थे तथा कुछ भी बोल सकते थे। महाराजश्रीके स्वभावमें स्पष्ट बदलाव मालूम पड़ता था। अब उन्हें किसी व्यक्तिमें दोष-दर्शन नहीं होता। बच्चों-जैसा स्वभाव बन गया था। वे किसीकी भी निन्दा-स्तुति सुननेको तैयार नहीं थे और न इसका उनपर कोई प्रभाव था। उनकी परमहंसी अवस्था बन चुकी थी। सासांरिक राग-द्वेषरहित अजातशत्रुके रूपमें वे सबको उपलब्ध थे। बाह्य ज्ञान उनका सीमित हो चुका था। अब वे अन्तर्जगत्में विचरण करने लगे। आवश्यक बहिर्मुखी कार्योंके लिये भक्तजनोंका एक मण्डल सहायतार्थ प्रस्तुत था।

महाराजश्रीने यह निर्णय लिया कि केदार-क्षेत्रकी सीमासे बाहर नहीं जायँगे। वैद्योंके परामर्शनुसार कुछ दूरीका भ्रमण भी महाराज केदार-क्षेत्रमें ही करते। अब वे तुलसीका का एक छोटा गमला, गङ्गाजल और अपने भगवान्को निरन्तर साथ रखते। भ्रमण आदिके कार्यक्रममें भी यह सब साथ ही रहता। तुलसीका गमला, गङ्गाजल और भगवान्को दो व्यक्ति साथ लेकर चलते। महाराजका यह विश्वास था कि शरीर किसी भी समय जा सकता है। अन्तिम समयमें गङ्गाजल, तुलसी और शालग्राम निकट रहने चाहिये। इसीलिये महाराज इन्हें निरन्तर साथ रखते थे।

एक बार संत श्रीडोंगरेजी महाराजने काशीमें कथा करनेकी इच्छा व्यक्त की। ज्ञानवापीपर फाल्गुन शुक्ल तृतीयासे कथाका कार्यक्रम निश्चित हो गया। उनकी यह भावना थी कि महाराजश्रीके द्वारा कथाका उद्घाटन कराया जाय। मैंने महाराजीसे निवेदन किया कि डोंगरेजी महाराजकी यह इच्छा है कि उनकी कथाका उद्घाटन आपके द्वारा होना चाहिये। महाराजश्रीने अनायास तुरंत यह उत्तर दिया- 'मुझे समय कहाँ है? मुझे तो अब जाना है।' इतना कहकर महाराज कुछ संभले और बोले- 'डोंगरेजी महाराज एक महान् संत हैं। उनकी कथा तो मैं भी सुनूँगा। मैंने कहा- 'महाराज! आपको तो अब आदमी सुहाता ही नहीं। कथामें तो भीड़ रहेगी। आप कैसे सुन सकेंगे' तब महाराजश्रीने कहा-'हाँ भाई!' यह तो तुम ठीक कहते हो। आजकल मुझे कोई नहीं सुहाता। पर तुम लोग तो हमारे हाथ-पैर हो, इसलिये कोई बात नहीं रहती। पर मेरे स्थानपर ध्वनिविस्तारक यन्त्र लगा देना, उससे मैं भी कथा सुन लूँगा।'

मौनी अमावस्यापर प्रयाग-प्रवास

महाराजश्रीका नियम था कि वे कहीं भी रहें पर साथ कृष्ण ३० (मौनी अमावस्या)-पर वे प्रयागराज त्रिवेणी-संगमपर अवश्य पधारते थे तथा कम-से-कम लगभग एक सप्ताह वहाँ निवास भी करते थे। संगम-क्षेत्रमें अखिल भारतवर्षीय धर्मसंघकी औरसे विशाल पण्डाल बनता था, जिसमें महाराजश्रीका प्रवचन होता था तथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक शंकाओंका समाधान महाराजके द्वारा किया जाता था। देश-विदेशके लोग वर्षभरकी अपनी धार्मिक शंकाओं और प्रश्नोंको सँजोकर यहाँ लाते और उनका शास्त्रीय समाधान प्राप्त कृतकृत्य हो जाते।

इस बार काशी न छोड़नेका संकल्प होनेके कारण महाराजश्री पहली बार मौनी अमावस्यापर प्रयागराजमें अनुपस्थित रहे।

महाराजश्रीका महाप्रयाण

इन दिनों महाराजश्रीका स्वास्थ्य तो सामान्य रूपसे दुर्बल था ही, परंतु माघ शुक्ल दशमीकी एकाएक महाराजकी एक आँखमें असह्य पीड़ा प्रारम्भ हो गयी। डॉक्टरोंने इसे 'ग्लूकोमा' का प्रकोप बताया थि इसके ठीक होनेके लिये आपरेशनकी आवश्यकता बतायी। दो दिनोंके बादका समय ऑपरेशनके लिये निर्धारित कर लिया गया। माघ शुक्ल एकादशी शुक्रवारकी रात्रिमं केदारघाट-स्थित भवनमें महाराजश्रीसे मेरी डेढ़ घंटेतक विभिन्न विषयोंपर बातचीत हुई। उस समय महाराजश्री आँखकी असाध्य पीड़ासे पीड़ित थे। आँखकी चिकित्सासे सम्बन्धित कुछ वार्तालाप चल रहा था। इसी बीच स्वामी जगन्नाथानन्द सरस्वतीजी जो महाराजके ही शिष्य थे, उन्होंने आँखकी पीड़ाके सम्बन्धमें महाराजसे कहा कि आपको तो कोई पीड़ा है नहीं। कारण कि आप तो न शरीर हैं, न इन्द्रिय हैं, न मन हैं और न बुद्धि हैं। आप तो सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, तब आपको पीड़ा कैसे हो सकती है? तब महाराज कुछ हँसे और विनोदके स्वरमें बोले-'हाँ भाई! मैं भी वेदान्तकी ये सब बातें बहुत कहता हूँ, पर जब अपनेपर पड़ता है, तब मालूम होता है। इसके बाद ही महाराजने लगभग पंद्रह मिनट तक वेदान्तका एक सारगर्भित व्याख्यान बड़े सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया, जिसे सुनकर वहाँ उपस्थित हम सभीलोग भाव-विह्वल हो गये। वह अमूल्य टेप तो हो नहीं सका और अब मुझे स्मरण भी नहीं है। यह महाराजश्रीका अन्तिम व्याख्यान था।'

उस दिन महाराजश्रीसे विभिन्न विषयोंपर चर्चा हुई। वार्ताके क्रममें महाराजने कहा कि अब हम लोग इस समयकी संस्थाओंके योग्य नहीं हैं। इस संसारके लायक

हम लोग नहीं हैं। तब मैंने कहा–महाराज! आप ऐसा क्यों कहते हैं? अभी आपको बहुत कार्य करना है। पर महाराजजीने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा कि नहीं, अब जानेका विचार है। यहाँका सब कुछ देख लिया, अब तो वहाँ (परलोक)–का सब देखना है।

एक दिन बाद माघ शुक्ल त्रयोदशी रविवारको प्रातः लगभग ८ से ९ बजेके बीचमें महाराजश्री स्नान–पूजासे निवृत्त होकर केदारघाट–स्थित भवनमें ऊपर मंजिलके अपने पूजा–कक्षामें बैठे दुर्गासप्तशतीका पाठ सुन रहे थे। उसी समय अनायास बिना किसी पूर्वाभासके महाराजश्री अपने नश्वर शरीरका परित्याग कर ब्रह्मीभूत हो गये। महाराजजीने किसी समय एक प्रसंगमें कहा था कि संत–महात्माओंको शरीर एकान्तमें छोड़ना चाहिये, जहाँ कोई न हो। ऐसा लगा कि अन्तिम समयकी महाराजकी यह भावना भी पूरी हो गयी। कारण, उस समय कक्षमें पाठकर्ताके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था।

अनायासेन...

महाराजश्रीकी ब्रह्मीभूत होनेकी सूचना बिजलीकी तरह सर्वत्र फैल गयी। उन दिनों प्रयागराजमें संगम–तटपर माघमेला और सत्संग चल रहा था। देशके कोने–कोनेसे पधारे संत–महात्मा और आचार्योंके शिविर वहाँ लगे थे। ज्यों ही यह समाचार वहां पहुंचा, सामान्यजनोंमें शोककी लहर व्याप्त हो गयी। शिविरोंके कार्यक्रम प्रायः स्थगित कर दिये गये। प्रायः सभी पण्डालोंमें ध्वनि–विस्तारक यन्त्रद्वारा महाराजके कर्तृत्व और जीवनपर व्याख्यान होने लगे। मैं भी उसी दिन प्रातः काशीसे प्रयागराजके लिये प्रस्थान कर चुका था। वहाँ पहुंचनेपर संगम–तटपर अवस्थित अपने कैम्पमें मेरे पूज्य पिताजीने रुँधे कण्ठसे यह समाचार सुनाया। अचानक यह सुनकर मैं भी स्तम्भित रह गया। हम सब लोग तत्काल शिविर उठाकर वहाँसे काशीके लिये प्रस्थान कर गये।

महाराजश्रीके ब्रह्मीभूत होनेका समाचार रेडियो और टी.वी. द्वारा प्रसारित हो जानेके कारण सर्वत्र फैल गया। महाराजके पार्थिव शरीरके अन्तिम दर्शनार्थ देश–विदेशके संत–महात्माओंका ताँता केदारघाट–स्थित गङ्गातटपर लग गया। संत प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, पुरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य, ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य तथा अन्य सम्प्रदायोंके आचार्यगण वहाँ समुपस्थित हो गये। धार्मिक जगत्में एक अन्तर्व्यथा जैसी स्थिति बन गयी। दूसरे दिन प्रातःकाल टाउनहालके मैदानसे एक शोभायात्रा निकाली गयी। जिसमें एक गाड़ीपर वैकुण्ठयान सजाकर महाराजका पार्थिव शरीर अवस्थित किया गया। यानपर सभी आचार्य अवस्थित थे। बैण्डबाजे और घुड़सवारोंके

साथ लाखोंकी संख्यामें धार्मिक जनता महाराजश्रीकी अन्तिम यात्रामें साथ चल रही थी। 'धर्मकी जय हो! अधर्मका नाश हो! प्राणियोंमें सद्भावना हो। विश्वका कल्याण हो! गौ माताकी जय हो! अनन्तश्री करपात्रीजी महाराजकी जय हो! हर हर महादेव!' के नारेसे आकाश गूँज रहा था। नगरका पूरा बाजार और कामकाज उस दिन बन्द था। गङ्गातटपर पहुँचकर महाराजश्रीका पार्थिव शरीर यानसे उतारा गया और नौकाओं एवं बजरे (कमरेदार बड़ी नाव)-पर अवस्थित किया गया। जनता भी विभिन्न नौका और बजरोंपर सवार हो गयी। महाराजश्रीका षोडशोपचार पूजन वैदिक विधिसे सम्पन्न हुआ। शंखद्वारा ललाटपर ब्रह्माण्डका परिच्छेदन किया गया। अन्त्येष्टिका सब कार्य पुरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीनिरंजनदेवतीर्थजीने स्वयं अपने हाथोंसे किया। संगमरमर-प्रस्तरकी मंजूषामें महाराजश्रीका पार्थिव शरीर अवस्थित कर, केदारेश्वरके समक्ष गंगाकी मध्यधारामें महाराजश्रीको जलसमाधि प्रदान की गयी। वहाँ उपस्थित जनसमुदायने अश्रुपूरित नेत्रोंसे आध्यात्मिक जगत्के मार्गदर्शक अभिनव शंकराचार्य 'करपात्रस्वामी' को अपनी अन्तिम विदाई दी। भक्तजनोंने तथा आचार्योंने तत्काल गङ्गाकी मध्यधारामें कूदकर अवभृथ-स्नान किया। कुछ भक्तजनोंने घाटके किनारे सीढ़ियोंपर उतरकर स्नान किया। शास्त्रकी यह मान्यता है कि किसी महान् संत, संन्यासी तथा गुरुकी जसमाधिके अनन्तर तत्काल उस नदीमें स्नान करनेका अनन्त पुण्य होता है। संन्यासीके शवको स्पर्श करनेपर अपवित्रता भी नहीं होती। कारण, वे नारायणस्वरूपमें अवस्थित होते हैं। और्ध्वदैहिक कार्योंके अनन्तर माहेश्वर-बलि, पार्वण श्राद्ध, भण्डारा आदि सभी कार्य पूर्ण शास्त्रीय विधिसे सम्पन्न कराये गये। इस प्रकार अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराजकी जीवन-लीलाका संवरण होकर सदा-सर्वदाके लिये पटाक्षेप हो गया।

व्यक्तिके जीवनकालमें उसकी महत्तासे सामान्यजन पूर्णतः परिचित नहीं हो पाते। महाराजश्री अपने जीवनकालमें भक्तोंके लिये तथा सर्वसामान्यजनोंके लिये अत्यधिक सुलभ थे। लीला-संवरणके बाद उनके भक्तजनोंने यह अनुभव किया कि वे एक महान् संत, विचारक, शास्त्रज्ञाता, महापुरुषसे रहित हो गये हैं। जिसकी पूर्ति 'भूतो न भविष्यति' के रूपमें असम्भाव्य ही है।

अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज एक युगपुरुष थे। एक जीवनमें इन्होंने जितना कार्य सम्पन्न किया, वह किसी सामान्य व्यक्तिके वशकी बात नहीं थी। ऐसा लगता था कि पूर्वजन्मकी विद्या तथा तपस्या इनके साथ पूर्णरूपसे संलग्न थी। गृहस्थीसे लेकर विरक्तिकी सम्पूर्ण यात्रा इन्होंने एक मंजिलके रूपमें तय की। प्रारम्भिक दिनोंमें ये बहुत थोड़े ही दिन गृहस्थीमें रह सके। जन्मजात साधुताके कारण इन्हें साधु बननेकी प्रेरणा अदृश्य शक्तिद्वारा बाल्यावस्थासे ही प्राप्त थी। अल्प समयमें ही इन्होंने विद्यार्जन किया। एक बार जो ग्रन्थ सुनते या पढ़ते, वह उन्हें सहज ही आत्मसात् हो जाता। शास्त्रकी गुत्थियोंको वे स्वयं सुलझाते। इनके

विद्यागुरु स्वामी श्रीविश्वेरानन्दजी महाराज भी इनकी असीम प्रतिभाको देखकर आश्चर्यचकित थे। तत्कालीन ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु स्वामी श्री ब्रह्मानन्दजीने भी महाराजकी प्रतिभाको पहचाना और प्रयासपूर्वक इन्हें दण्ड ग्रहण कराया। उन दिनों इनमें वैराग्यकी पराकाष्ठा थी। गङ्गा-किनारे एक लँगोटी लगाकर रहते, सवारीपर चलते नहीं, कई दिनोंपर भिक्षामें केवल दूध 'कर' द्वारा ग्रहण करते। बादके दिनोंमें सनातनधर्मकी रक्षामें वे एक सजग प्रहरीके रूपमें भारतवासियोंको प्राप्त हुए। देशमें सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय और धार्मिक नीतियोंमें शास्त्र-विपरीत किसी भी आचरणका उन्होंने दृढ़तासे विरोध किया। यहांतक कि इसके लिये जेलकी यातनाएँ भी सहन की। वास्तवमें सामान्यजन उनके बाह्यस्वरूपसे ही परिचित हो सके। उनके अन्तःस्वरूपको बहुत थोड़े लोग पहचान पाये।

यह प्रतीत होता था कि महाराजश्रीके जीवनका सम्पूर्ण कार्य योजनाबद्ध रूपमें है। गृहस्थीके बाद तपोमय साधनापूर्ण जीवन, धर्मसंघकी स्थापना, यज्ञ-युगका प्रारम्भ, सर्ववेद-शाखा-सम्मेलन, धार्मिक महाधिवेशन, रामराज्य परिषद्के द्वारा राजनीतिमें प्रवेश, हिन्दू कोड बिलका प्रबल विरोध तथा गो-हत्या-बंदी आँदोलनका संचालन आदि संपूर्ण कार्य महाराजश्रीके द्वारा सार्वजनिक जीवनमें सम्पन्न हुए। देशमें धार्मिक जगत्की महान् विभूतियोंको एक मंचपर लानेका श्रेय महाराजश्रीको ही था।

उन दिनों राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके सर संघ-संचालक श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवरकरजी भी स्वामीजीसे मिले। उनकी यह भावना था कि हिन्दू संगठनको सुदृढ़ करनेकी दृष्टिसे हिन्दू जगत्के सभी नेता एक मंचपर आ जायँ तथा स्वामीजी महाराजका आशीर्वाद जनसंघको प्राप्त होता रहे। परंतु वर्णाश्रम-व्यवस्था और मर्यादाके विपरीत राजनीति महाराजश्रीको स्वीकार नहीं थी। वे मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके रामराज्यकी शासनपद्धतिके अनुसार शास्त्रीय विधिसे भारतमें राज्य-शासन-संचालनके पक्षधर थे और इसीमें वे जगत्का कल्याण मानते थे। अतः इस संदर्भमें कोई समझौता होना सम्भव नहीं था।

जीवनके उत्तरार्धमें महाराजश्रीने धर्मके बहिर्मुखी कार्योंसे स्वयंको समेटना प्रारम्भ कर दिया। अब महाराजश्रीकी रुचि लेखन-कार्यकी ओर अधिक हो गयी। महाराजश्रीने वेदपर भाष्य लिखना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम 'वेद-भाष्य-भूमिका' नामक एक वृहद् ग्रन्थकी रचना महाराजके द्वारा हुई। जिसमें लगभग एक हजार पृष्ठ हैं। इस ग्रन्थमें महाराजने वेदसे सम्बन्धित अबतकके सभी प्रकारके आरोपोंका एवं आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दके सम्पूर्ण आक्षेपोंका निराकरण करते हुए प्राचीन ऋषिमहर्षि-प्रणीत परम्परा-प्राप्त सिद्धान्तोंका बड़े समारोहसे प्रतिपादन किया। इस ग्रन्थका विमोचन वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयमें, वहाँके चान्सलर काशिराज डॉ. विभूतिनारायण सिंहके द्वारा सम्पन्न हुआ। श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन-संस्थानकी

ओरसे इस ग्रन्थका प्रकाशन हुआ। तदनन्तर महाराजश्रीने सम्पूर्ण शुक्ल यजुर्वेदपर भाष्य-टीकाका प्रणयन किया। ऋग्वेदपर भाष्य लिखा। वेदपर भाष्य महाराज स्वयं लिखते थे। एक दिन केदारघाट-स्थित भवनकी छतपर बैठे महाराज वेदपर भाष्यपर लिख रहे थे। मैं भी वहाँ पहुँच गया। बातचीतके क्रममें मैंने महाराजश्रीसे पूछा कि महाराज इसे लिखनेमें बहुत समय लगता होगा। स्वामीजी महाराजने उत्तर दिया-हा! भाई बड़ा समय लगता है। जितनी बातें मेरी बुद्धिमें हैं वे एक जीवनमें लिखी नहीं जा सकतीं। यदि मेरे पास आठ सुबुद्ध पण्डित लिखनेवाले हों और मेरे संकेतके अनुसार लिखते चलें तब शायद कुछ ग्रन्थ तैयार हो सकते हैं। विद्यारण्य स्वामी आदिने इसी प्रकार इतने ग्रन्थोंका प्रणयन किया होगा।

पर आश्चर्यकी बात यह है कि महाराजके द्वारा इस रूपमें भी जो ग्रन्थ लिखे गये वे सम्पूर्ण ग्रन्थ अबतक प्रकाशित नहीं हो सके। महाराजद्वारा लिखित ऋग्वेद-भाष्य अभी भी अप्रकाशित ही है।

रामनवमीपर प्रतिवर्ष महाराज प्रायः अयोध्या पधारते थे। वहां सरयूतटपर स्थित लक्ष्मण-किलामें प्रायः महाराज ठहरते। भक्तिभावसे समन्वित रामनवमी-समारोहके कार्यक्रमोंमें भाग लेते। एक बार मैं भी महाराजश्रीके साथ अयोध्यामें था। छोटी छावनीके महंत श्रीनृत्यगोपालदासजी महाराज स्वामीजीके पास पधारे और अपने स्थानपर पधारनेके लिये निवेदन किया। महाराजने स्वीकृति दे दी और दूसरे दिन सायंकाल वहाँ पधारे भी। मैं भी साथ था। स्थानपर अयोध्याके प्रायः सभी उच्चकोकटिके संत महात्मा एवं महंत उपस्थित थे। महाराजश्रीसे कुछ आशीर्वचन प्रदान करनेका निवेदन किया गया। महाराजश्रीने प्रभुके रूप-लीला-गुण और धामपर एक अत्यन्त सारगर्भित प्रवचन लगभग ४५ मिनटतक किया। कभी-कभी उत्कृष्ट श्रोताओंके बीच प्रवचन भी उतना ही उत्कृष्ट हो जाता है। महाराजश्रीके वचनोंको सुनकर कभी-कभी अहसास होने लगता था कि ये अद्भुत बातें ग्रन्थोंमें भी प्राप्त नहीं है। पर दुर्भाग्यकी बात यह थी कि उन प्रवचनोंके कैसेट भी तैयार नहीं किये गये। यह बात किसीके ध्यानमें नहीं आयी। इस कार्यक्रममें महंत श्रीनृत्यगोपालदासजीने महाराजसे यह अनुरोध किया कि महाराज! वाल्मीकि रामायणमें कई शंकाएँ और प्रश्न उठते हैं। उन सबका समाधान आपके द्वारा पुस्तकरूपमें कर दिया जाय तो बड़ा लाभ होगा। स्वामीजी महाराजने उत्तर दिया कि रामायण-मीमांसामें हमने प्रायः सभी बातें लिख दी। वहांसे लैटनेके अनन्तर एक दिन वाराणसीमें मैंने महाराजश्रीसे प्रार्थनाकी कि वाल्मीकिरामायणके प्रश्नोंका उत्तर लिखनेके लिये श्रीनृत्यगोपालदासजीने अनुरोध किया था तो इसे क्यों नहीं लिख दिया जाय? स्वामीजीने उत्तर दिया-रामायण मीमांसामें तो प्रायः सभी बातें आ ही गयी हैं। तब मैंने कहा-महाराज जी, वाल्मीकिरामायणसे सम्बन्धित एक अलग पुस्तक बन जाय तब भी क्या आपत्ति। महाराजने इसे स्वीकार करते हुए कहा कि

ठीक है। नृत्यगोपालदासजीको एक पत्र लिख दो कि वे पूर्वपक्ष लिखकर भेज दें। मैंने फिर कहा–इसकी क्या आवश्यकता है? पूर्वपक्ष तो आपको भी सब मालूम ही होगा। तब महाराजने कहा कि ऐसा नहीं होगा। पूर्वपक्ष भी हम ही करें और उत्तर भी हम ही लिखें, यह उचित नहीं है। तुम उन्हें पत्र लिख दो, वे सुबुद्ध हैं, पूर्वपक्ष भेज देंगे। मैंने अयोध्या उनके पास पत्र तो लिखा, पर संयोगवश उनका उत्तर प्राप्त नहीं हुआ और कुछ ही दिन बाद महाराज अस्वस्थ हो गये।

महाराजश्रीकी आस्था गोस्वामी तुलसीदासद्वारा रचित श्रीरामचरितमानससे जुड़ी थी। मैंने एक दिन अनुरोध किया कि महाराज! श्रीरामचरितमानसपर भी आपके द्वारा एक व्याख्या लिख दी जाय तो बड़ा अच्छा रहेगा। स्वामीजीने कहा कि इसपर कई व्याख्याएँ लिखी जा चुकी हैं। तब मैंने कहा–महाराज, आपके द्वारा इसकी व्याख्या हो जाय तो बड़ा लाभ होगा। तत्काल तो महाराजने उत्तर नहीं दिया, परंतु कुछ ही समय बाद महाराजने मुझसे कहा कि तुम रामचरितमानसपर व्याख्या लिखने–को कहते थे, सो लेखन–कार्यके लिये किसी व्यक्तिको ठीक करो, जो मेरे बोलनेपर लिख लिया करे। महाराजश्री वेद–भाष्य तो स्वयं लिखते और विश्रामकालमें रामचरितमानसकी व्याख्या बोलकर किसी अन्यसे लिखवाते। महाराजने मुझसे कहा कि पहले मैं अयोध्याकाण्डपर लिखवा रहा हूँ, इसके बाद बालकाण्ड प्रारम्भ करूँगा। पर कुछ ही समय बाद महाराज–के अस्वस्थ हो जानेके कारण यह कार्य अधूरा रह गया और जितना लिखा गया वह भी महाराजश्रीके ब्रह्मीभूत होनेके बाद उपलब्ध नहीं हुआ।

महाराजश्री लगभग ७४ वर्षकी आयुमें ब्रह्मलीन हो गये। मुझे ऐसा लगता है कि कम–से–कम यदि १० वर्ष महाराजजीका जीवन और रहता तो भारतीय संस्कृतिको आलोकित करनेवाले कई ग्रन्थ महाराजश्रीके द्वारा प्रणीत मार्गदर्शनके रूपमें प्राप्त हो जाते, पर विधिका विधान तो कोई नहीं जानता।

महाराजश्रीकी अलौकिक प्रतिभाका दिग्दर्शन एक बार उस समय हुआ जब वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयमें दर्शन–विषयपर एक व्याख्यान–माला महाराजश्रीद्वारा पन्द्रह दिनोंतक चली। यह व्याख्यान सायंकाल प्रतिदिन दो घंटे विश्वविद्यालय–परिसरमें होता था। काशीकी विद्वन्मण्डली और पण्डितगण इसे सुननेके लिये दूर–दूरसे पधारते थे। मैं भी प्रायः जाता था। महाराजश्री लगभग डेढ़ घंटे दर्शनपर बोलते थे। अन्तमें लगभग आधे घंटे श्रीकृष्णपर उस दर्शनको घटाते हुए उनकी मधुर लीलाओंका दिग्दर्शन भी कराते। मैंने महाराजश्रीसे पूछा भगवान् श्रीकृष्णपर आप क्यों बोलते हैं? तब महाराजश्रीने उत्तर दिया कि इसलिये बोलता हूँ कि तुम लोग चले जाओ। कहीं व्याख्यान–कक्ष खाली न हो जाय। पंद्रह दिनोंमें महाराजजीने सम्पूर्ण आस्तिक और नास्तिक–दर्शनोंपर व्याख्यान दिया। एक दिन वे उस दर्शनका समारोहपूर्वक प्रतिपादन करते और दूसरे दिन उतनी ही दृढ़ता–प्रबलताके साथ आवश्यकतानुसार उसका

खण्डन और उसकी समीक्षा भी करते। महाराजश्रीकी विलक्षण प्रतिभाको देखकर विद्वद्गण अत्यन्त विस्मित थे। वे परस्पर वार्ता करते कि हम सबने जीवनभर पढ़ा और पढ़ाया, परंतु स्वामीजीके समक्ष लगता है जैसे सब कुछ भूल जाते हैं। यह विद्या तो इस जन्मकी नहीं, किसी पूर्व जन्मकी तपस्याकी विद्या है। उन दिनों महाराज वृन्दावन विहारी-भवनमें निवास करते थे। मैंने तो यह भी देखा कि वे व्याख्यानके पूर्व कोई ग्रन्थावलोकन भी नहीं करते। मैं भी आश्चर्यचकित था कि रामायण, भागवत और महाभारतकी कथा तो प्रायः निरंतर करनेका अवसर मिलता है, परंतु द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अद्वैत तथा बौद्ध, जैन एवं चार्वाक तथा न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनोंपर बिना कोई ग्रन्थ देखे इस प्रकारका सारगर्भित व्याख्यान किसी अलौकिकताका ही द्योतक है। व्याख्यानमालाके अन्तिम दिन महाराजश्री अपने व्याख्यानका उपसंहार कर रहे थे। उनकी शब्दावली स्वभावतः कुछ क्लिष्ट हो गयी थी उसी समय आचार्य बद्रीनाथ शुक्लने, जो उन दिनों न्याय-विभागके अध्यक्ष थे, महाराजश्रीको धीरेसे संकेत किया कि महाराज, व्याख्यान कुछ सरल किया जाय। यह सुनकर महाराजश्री कुछ मुस्कराये, फिर उन्होंने व्याख्यानको कुछ सरल करनेका प्रयास भी किया। व्याख्यानके अन्तमें विद्वन्मण्डली इतनी भावविह्वल थी कि वहाँ महाराजश्रीका षोडशोपचार-पूजनकर वेद भगवान्‌की आरती उतारी गयी। विश्वविद्यालयके तत्कालीन उपकुलपति डॉ. गौरीनाथ शास्त्रीजी तो उस आरतीके शंख और वाद्य-ध्वनिके साथ बंगाली परम्पराके अनुसार नृत्य करने लगे। वहाँ एक विचित्र समाँ बँध गयी और वह एक अद्भुत दृश्य था।

महाराजश्रीकी आस्था साधन-भजनमें बहुत थी। एक बार गोरक्षा-आन्दोलनके समय एक मौनी बाबा महाराजश्रीसे आकर मिले। मैं भी वहाँ पर था। उन्होंने कहा- मैं गो-हत्या-बंदीके हेतु अनिश्चितकालके लिये उपवास (अनशन) करूँगा। उन दिनों वे मानस-मन्दिरमें ठहरे थे। महाराजने कहा कि उपवासके साथ-साथ भगवान्‌का भजन भी अवश्य करना। भजनके बिना केवल उपवास सार्थक नहीं है। एक बार जब अस्वस्थताकी अवस्थामें वृन्दावन विहारी-भवनमें थे तो एक भक्तने महाराजश्रीको एक कीर्तन सुनाया-

हे आशुतोष जगदीश हरे, जय पार्वतिनाथ दयालु हरे।
गोविन्द हरे गोपाल हरे, श्रीकृष्ण द्वारकानाथ हरे॥

-यह कीर्तन महाराजको अत्यन्त पिय लगा और वे निरन्तर इस कीर्तनको करते और स्वयं भी सुनते।

एक बात बड़ी विलक्षण थी। महाराजश्रीके भक्तोंको यह मालूम नहीं था कि सगुण साकार-रूपमें महाराजके इष्ट कौन हैं? प्रायः सब लोग अनुमानके आधारपर ही विभिन्न कल्पनाएँ करते। महाराजकी मुख्य उपासना तो 'श्रीविद्या' की थी ही। उत्तर

भारतमें 'श्रीविद्या' की उपासनाका प्रचार-प्रसार महाराजश्रीके द्वारा ही सम्पन्न हुआ। इस संदर्भमें महाराजने उपासनाके लिये 'श्रीविद्यानलाकार' पुस्तकका भी प्रणयन किया तथा अधिकारीजनोंको 'श्रीविद्या' की उपासनामें दीक्षित भी किया। राजराजेश्वरी भगवती त्रिपुरासुन्दरीका सहस्रार्चन और राजोपचार-पूजन महाराजजीके द्वारा कभी-कभी बड़े समारोहके साथ होता। कुछ भक्तजनोंका यह अनुमान था कि महाराजकी आराध्या षोडशी पराम्बा भगवती त्रिपुरासुन्दरी हैं। जब महाराज श्रीमद्भागवतमें 'रासपञ्चाध्यायी' पर व्याख्यान करते और राधाकृष्णके अलौकिक प्रेम तथा गोपियोंकी भक्ति-भावनाका वर्णन करते तो कुछ भक्तोंके मनमें यह बात आती कि महाराजके इष्ट मदनमोहन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्रका गुणगान तथा प्रभुके विवाहोत्सवमें मिथिलाकी गलियाँ अयोध्याके लक्ष्मणकिलाधीश श्रीसीतारामशरणजीके द्वारा बड़े चावसे महाराज जब सुनते, तब ऐसा लगता कि महाराजके इष्ट श्रीसीतारामजी ही हैं। महाराज जब अपने प्रवचनमें सदाशिव भूतभावन भगवान् विश्वनाथकी महिमाका वर्णन करते तो भक्तोंमें यह धारणा होती कि सदाशिव विश्वेश्वर ही महाराजश्रीके इष्ट हैं। वैसे महाराजने वार्ताके किसी प्रसंगमें मुझसे यह कहा था कि मेरे बचपनके संस्कार श्रीसीतारामजीके ही हैं। पर मैं महाराजके इष्टके संबन्धमें कोई पक्की धारणा नहीं बना सका था। एक बार जब अन्तिम दिनों अपनी अस्वस्थावस्थामें कुछ समयके लिये वृन्दावन विहारी-भवनमें निवास कर रहे थे तो उनकी सेवामें श्रीहनुमानप्रसादजी धानुका और उनकी पत्नी भी वहाँ उपस्थित थे। उन दिनों महाराजकी परमहंसी अवस्था थी। बच्चों-जैसा सरल स्वभाव था। धानुकाजीकी पत्नीने महाराजश्रीसे आग्रहपूर्वक पूछा कि महाराज, आपके इष्टदेव कौन हैं? यह आजतक हमलोगोंको मालूम नहीं हो सका। आज आपको यह बताना होगा। महाराजने पहले तो डाँटा और कहा इससे तुम्हें क्या मतलब है। पर विशेष आग्रह करनेपर महाराजके श्रीमुखसे यह बात निकली कि देखो-भगवान् श्रीराजाराम मेरे चारों ओर उपस्थित हैं-यही मेरे इष्टदेव हैं। तुम सब लोग इन्हें प्रणाम करो।

महाराजश्रीका जीवन कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी एक संगम था। वे लोकसंग्रहकी दृष्टिसे सत्कर्म और धार्मिक कृत्योंको स्वयं करनेमें अग्रगण्य थे तथा दूसरोंको भी इसके लिये प्रेरित करते थे। अग्निहोत्रादि कर्मोंका लोप न हो, इस दृष्टिसे उन्होंने पं. श्रीजोषणरामजी पाण्डेय, जो पहले धर्मसंघ-शिक्षामण्डलमें प्राध्यापक भी थे-उन्हें प्रेरित कर आहिताग्नि बनाया। उन्होंने और भी कई लोगोंको इसके लिये प्रेरित यिका। उपासनाके क्षेत्रमें वे अलौकिक थे। भक्तिभावसे युक्त उनकी उपासना प्रगाढ़ थी। वे भगवान्‌की भक्तिको सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करते। ज्ञान तो महाराजश्रीका विलक्षण था ही, उनकी अलौकिक प्रतिभाका साक्षात्कार जिन लोगोंको हुआ, उन्हें उनमें पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी आस्था सुदृढ़ हुई। कारण, विद्वानोंकी यह धारणा थी कि

महाराजश्रीकी यह विद्या पूर्वजन्मकी तपस्याके बिना प्राप्त नहीं हो सकती है और पूर्वजन्मका अस्तित्व स्वीकार होनेपर हिन्दूधर्ममें अवस्थित पुनर्जन्मका सिद्धान्त स्वतः सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार महाराजश्रीका जीवन भारतीय संस्कृति और सनातनधर्मका एक आदर्श दृष्टान्त था। उनके जीवनकालमें एक क्षणके लिये भी जिन्हें महाराजश्रीका सांनिध्य प्राप्त हुआ, वे परम सौभाग्यशाली हैं। भगवान् श्रीशंकराचार्यके शब्दोंमें –

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

संसारमें तीन बातें अत्यन्त दुर्लभ हैं– १. मनुष्य–जीवन प्राप्त करना (चौरासी लाख योनियोंको भोगकर मानव–योनिमें जन्म लेना), २. मुमुक्षा अर्थात् इसी जन्ममें जन्म–मरणके बन्धनसे मुक्त होनेकी सुदृढ़ इच्छा (इसी जीवनमें परमात्माप्रभुकी प्राप्त करनेकी दृढ़ भावना) और ३. महापुरुषकी संनिधि (जीवनमें किसी महापुरुषका सांनिध्य अथवा सत्संगकी प्राप्ति)।

उपर्युक्त तीनों बाते जीवके कल्याणके सोपान हैं। महाराजश्रीकी संनिधि जिन्हें प्राप्त हुई, उन्हें यह सौभाग्य सुलभ हुआ।

कतिपय संस्मरण

इस दास को भगवत्कृपा से कुछ समय महाराज श्री का वाराणसी में सान्निध्य का अवसर भगवत कृपा से प्राप्त हुआ। उसके कुछ संस्मरण अविस्मरणीय है, जिन्हें पाठको से सहभागिता करना चाहूँगा।

एक बार महाराज श्री एकादशी व्रत था। प्रत्येक एकादशी को निर्जल ही रहता था। रात को नौ बजे लगभग अभिषेक के बाद मैं पास खड़ा था और कोई नहीं मुझे पीने के लिए गंगा जल देने को कहा मैं एक मिनट किंकतव्यविमूढ़ हो गया फिर धीरे स्वर में मैंने निवेदन किया एकादशी है तब महाराज श्री ने कहा अरे विस्मरण हो गया। नहीं देना। मैं आश्चर्य में पड़ गया रात हो रही है दिनभर जल तक नहीं लिया फिर भी अन्दर कोई तकलीफ नहीं। ब्रह्मसूत्र की भामती टीकाकार की सी स्थिति थी महाराज श्री की।

महाराज श्री ने केदार घाट में नीचे मन्दिर बनवाया। सभी देवताओं के श्री विग्रह पधराये थे। उसका एक ट्रस्ट श्री रामकृपेश्वर के नाम से बनना प्रस्तावित था। इस ट्रस्ट की वैधानिक औपचारिकताएं जगद श्री स्वरूप एडवोकेट इलाहाबाद वालो का सौंप रखी थी। जिसे आयकर कार्यालय में भी पंजीकरण करवाया था। बहुत दिन से काम सम्पन्न नहीं हो रहा था। जन्माष्टमी के दिन दारु को महाराज श्रीने इस सन्दर्भ में काशी से इलाहबाद जाकर वकील साहब से इस विषय में बात करने की आज्ञा दी। मैं उस दिन उनसे इलाहबाद में मिला प्रतिष्ठित वकील थे। उनके नीचे भी कई जूनियर वकील कार्यरत थे। ट्रस्ट के सन्दर्भ में मैंने उनसे प्रगति की जानकारी चाही। कहा मुझे महाराज श्री ने भेजा है। वकील साहब का कथन था, महाराज जी मंदिर सार्वजनिक प्रवेश नहीं चाहते। आयकर कार्यालय के लाभ प्राप्त करने हेतु लिखना पड़ेगा। हम बिना किसी भेदभाव के सार्वजनिक रूप से कार्य करेंगे। दोनों बाते एक साथ नहीं हो सकती। मैंने निवेदन किया कि यह बात आप महाराज श्री से स्पष्ट कर दे। तब उन्होंने मुझे कहा सुप्रीम कोर्ट तक बहस करता हूँ, परन्तु जब महाराज श्री के सामने बैठता हूँ तो जो वे कहते है। बस हाँ के अलावा कुछ कहने का साहस नहीं होता। मैंने वापस आकर महाराज श्री को सारी बात बताई, महाराज श्री हंस पड़े, मूर्खता की बात है। हमें सिद्धान्तों से समझौता नहीं करना। चाहे लाभ मिले या नहीं। एक अवसर पर महाराज श्री का सम्मान किया गया, जब सभा के बाद महाराज श्री गाड़ी में बैठे तो सम्मान पत्र

गाड़ी में रखा जाने लगा। महाराज श्री ने मना कर दिया। यह सब तुम लोगों के सुखार्थ है, हमें इससे कोई लेना-देना नहीं।

१९६२ के चीन युद्ध के समय महाराज श्री ने कहा, भारत को परमाणु हथियार बनाना चाहिए। एक बार जब महाराज श्री अस्वस्थ हो गये उनकी ब्राह्य चेतना नहीं रही। परम पूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य निरंजन देव जी महाराज श्री की सेवा में थे। वे गेट पर स्वयं बैठते थे। वैद्य दीक्षित जी का इलाज चल रहा था। वैद्यजी ने मना किया, ऐसी कोई वार्ता न करे जिससे महाराज श्री के दिमाग पर जोर पड़े। सिर्फ एक आदमी को अन्दर रखा जाता ताकि महाराज श्री उठे-बैठे तो सहारा दिया जा सके। इस दास को भी निर्धारित समय में सेवा में अन्दर रहने का जगद्गुरु जी ने आज्ञा दी। इस अवसर जितनी बार महाराज के सम्मुख होता पूछते तुम कब आये। कहते कुछ कथा सुनाओ। जब मैंने कहा महाराज श्री मैं आपको क्या कथा सुना सकता हूँ। महाराज श्री का उत्तर था अरे रामचरित मानस सुनादो। उस समय महाराज श्री को कोपीन तक ब्राह्य ज्ञान नहीं था। अन्त में मैंने जगद्गुरु जी से निवेदन किया कि कुछ कथा महाराज श्री को किसी विद्वान द्वारा सुनाई जाये। यह इनकी खुराक है, अन्त में वैद्यजी से परामर्श कर अन्त में एक विद्वान को श्रीमद्भागवत एक घन्टा सुनाने का निर्णय हुआ। विद्वान की जरा भी त्रुटि को महाराज श्री तत्काल सुधारते इससे सिद्ध हुआ भले ब्राह्य वृतियां बराबर न हो परन्तु आन्तरिक वृतिया यथावत् सही थी। महाराज श्री इस अवस्था में भी आचार शुद्धि का पूरा पालन करते थे। इस अवस्था में महाराज श्री अक्सर निम्न रामचरित मानस की चौपाई दोहराते थे-

जय जय गिरवर राज किशोरी
जय महेश मुख चन्द्र चकोरी

एक बार सन्त दक्षिण से पधारे। उन्होंने महाराज श्री को अपनी लिखी भक्तमाल कथा दिखलाई। महाराज श्री ने प्रवचन के समय उन्हें अपने समान आसन दिया। बड़ी प्रशंसा व सम्मान दिया।

झूलो के समय महाराज श्री शयन से पूर्व ठाकुर जी को झूला कर फिर सोते थे।

श्री चरण किंकर

वेदों की शास्त्रता का मूल

[आजकल आधुनिक विचारकों द्वारा बड़े समारोहपूर्वक यह उद्घोषित एवं उपस्थापित किया जाता है कि 'सब बराबर, सबके अधिकार बराबर, विशेषत: ईश्वरीय स्थान, धर्म, धर्मशास्त्र, धर्मस्थान, धर्माचारण, धर्मानुष्ठानादि में ईश्वर के बनाये सभी मनुष्यों का समानाधिकार है'-प्रत्यक्षत: यह वाक्य आपात रमणीय प्रतीत होता है। परन्तु मनीषियों द्वारा जरा गहराई से विवेचन करते ही मान्यता की यह प्राचीन बालू की दीवार की तरह ढह जाती है। स्वामी जी ने वेदों में सबके अधिकार-औचित्य की चर्चा बड़े मौलिक, तात्विक एवं अकाट्य ढंग से प्रस्तुत की है जिसे पढ़कर बुद्धिमानों की बुद्धि एवं मनीषियों की मनीषा चमत्कृत हो उठती है; विचारकों की बुद्धि को तात्विक भोजन प्राप्त होता है। मननशील पाठक प्रस्तुत लेख पढ़ कर स्वयं मनन करें, अनुभव करें।]

सर्वस्रष्टा, सर्वशास्ता के वचन शास्त्र हैं, जो भी ऐसे जीवन हों, वे ही प्रमाण हैं। जो ऐसे नहीं हैं, उनका प्रमाण्य दुर्घट ही है। यद्यपि, सभी देशों तथा सम्प्रदायों का अभिमान ऐसा ही है कि हमारा धर्मग्रंथ परमेश्वर का ही वाक्य है और परमेश्वर के ही किसी अधिकारी द्वारा हमें प्राप्त हुआ है, तथापि थोड़ा सा ही विवेचन करने पर यह विदित होता कि जहाँ अधिकार की चर्चा न हो, वह परमेश्वर-वचन कैसे कहा जा सकता है? अधिकारी के भेद से शास्त्रोपदेश में भेद होना चाहिए। एक कर्म या एक ही ज्ञान में सभी अधिकारी नहीं हो सकते। मनुष्यों में, पशुओं में सर्वत्र योग्यता और अधिकार के भेद से कर्म के भेद देखे जाते हैं। अश्व, गौ, गर्दभ इन सभी के कर्मों में पार्थक्य देखा जाता है। भोजन, पान आदि तो पशु साधारण ही कर्म हैं, परन्तु मनुष्यता के कर्म और मनुष्यता में भी विशिष्ट विशिष्ट समाजों की विशेषता के मूलभूत कर्म औरज्ञान कुछ और ही होते हैं। शास्त्रच्युतों का जहाँ अधिकार है, उसे शास्त्र कैसे कहा जा सकता है? जहाँ दूसरों को बलात्कार या छद्म से दूसरे शास्त्रों या धर्मों से हटाकर अपने शास्त्रो या मतों में मिला लेना धर्म बतलाया गया है, वह शास्त्र नहीं कहा जा सकता। एक दूसरे की निंदा, अपनी प्रशंसा करके किसी तरह लोगों को फँसाना ही अपना लक्ष्य रहता है। अपने शास्त्रों और मतों में सभी यही कहते हैं कि ''परलोक या परमात्माप्राप्ति का हमारा ही निर्दिष्ट मार्ग हैं, अन्य मार्गो में बड़े ही विघ्न बाधाएं हैं। कोई किसी देश, किसी मत, किसी जाति का क्यों न हो, इन मतों और शास्त्रों में सभी का

अभिनवशङ्कर, ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी का अभिषेक करते हुये

वेदोद्धारक श्री करपात्र स्वामिनः

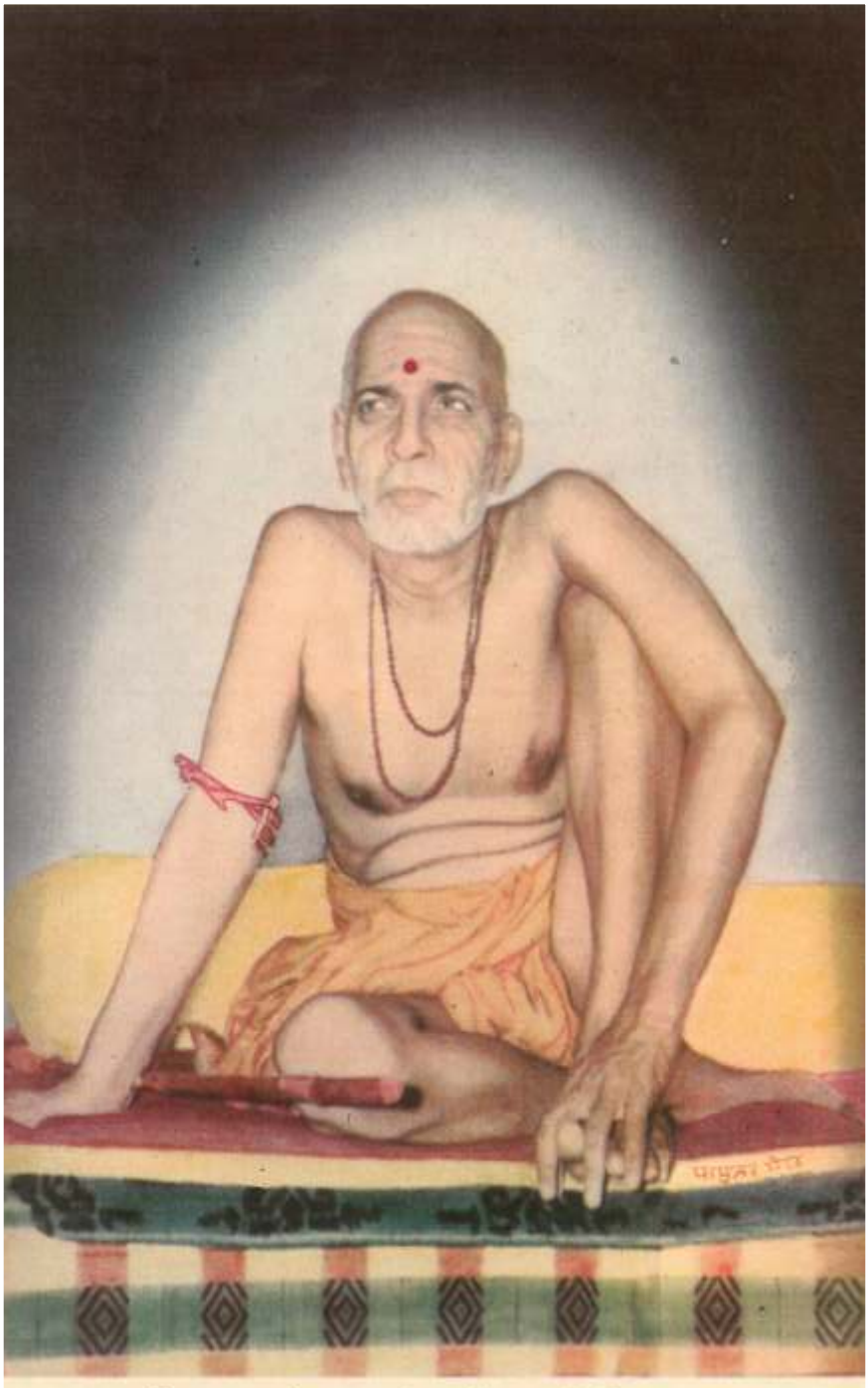

यतिचक्र चूड़ामणि अनन्त श्री स्वामी करपात्री जी महाराज

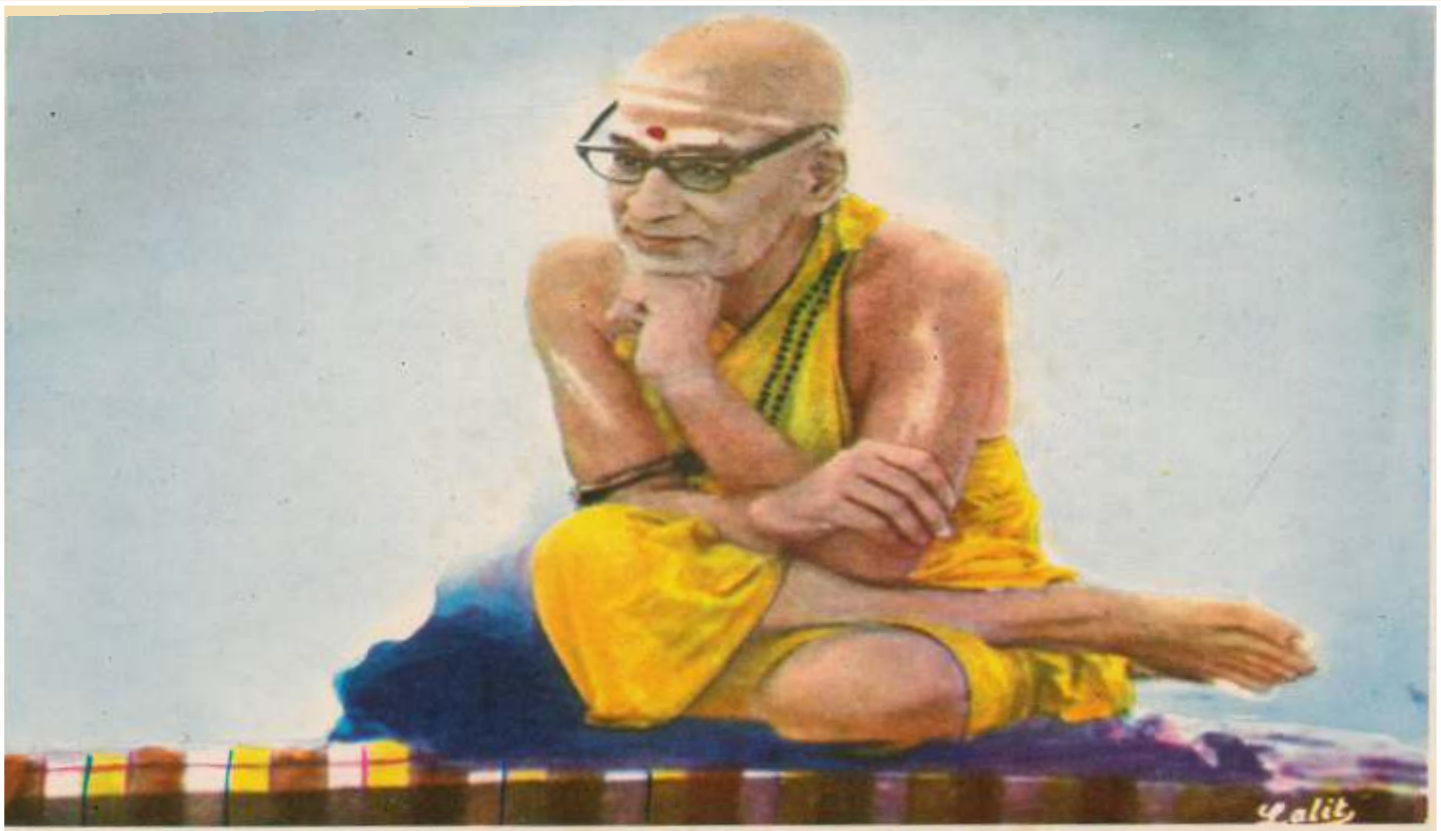

भारतीय राजनीति के चाणक्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

प्रवेश हो सकता है। जो भी कोई इन मतों में प्रवेश करने का तैयार हो, उसे उसी क्षण इनके यहाँ स्वीकृति मिल जाती है। अधिकार-अनधिकार की चर्चा तो इनके यहाँ है ही नहीं, परन्तु वैदिकों में तो अधिकार की पदे-पदे चर्चा देखी जाती है।''

ब्राह्मण के बाजपेयादि कर्म क्षत्रिय के लिए अग्राह्य हैं और क्षत्रिय के राजसूयादि कर्मों में ब्राह्मणों का अधिकार नहीं है। यज्ञानधिकारी के कानों में भी वेद-शब्द नहीं पड़ना चाहिए, ऐसा वैदिकों का आदेश है, फिर किसी को बलात्कार या छद्म के अपने सम्प्रदाय में मिलाना कैसे सम्भव है? वैदिकता परमेश्वरदत्त है, मनुष्यकृत नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रियादि द्विजाति वेदाधिकारियों से भिन्न कोई भी, किसी तरह भी द्विजाति या वेदाधिकारी नहीं बनाया जा सकता। शैव भरसक वैष्णवों को शैव बना ले हैं, वैष्णव भी भरसक शैवों को वैष्णव बना लेते हैं। अतः यहाँ भी शैवत्व, वैष्णवत्व मनुष्याधीन है, परन्तु वैदिकता या द्विजातित्व कथमपि मनुष्य के अधीन नहीं हो सकता। वैदिक-धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय और क्षत्रिय ब्राह्मण नहीं बन सकता। फिर बाह्य ब्राह्मणादि बन जायें और वैदिक हो जायें इसकी तो चर्चा ही क्या? अतः जैसे पशुता, मनुष्यता पर ईश्वरदत्त है, वैसे ही द्विजातित्व और वेदाधिकार भी भगवद्दत ही है। हाँ वेद और वेदानुयायी शास्त्रों ने द्विजातियों, एकजातियों (शूद्रों) तथा मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ जिन उपायों तथा धर्मों का उपदेश किया है, उन्हें अपनी अपनी योग्यता तथा अधिकार के अनुसार जानकर चलने से मनुष्यमात्र का कल्याण हो सकता है। यही वेदों की उदारता है। अधिकार-अनधिकार का विवेचन न करके सबका सर्वत्र अधिकार जानना उदारता नहीं, अपितु उच्छृङ्खलता का पोषण है।

कुछ लोगों का कहना है कि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सबका अधिकार होता है, इसलिए वेद यदि परमेश्वर-निर्मित हैं, तब तो इनमें सभी का समानाधिकार होना चाहिए। यदि वेद में सबका अधिकार नहीं है, तो वेद शास्ता का वचन कब हो सकता है? यदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में सर्वाधिकार मान्य हैं, तब तो वे ही शास्ता के वचन समझे जाने चाहिए। परन्तु यह कथन असङ्गत है। यदि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सभी का समान अधिकार हो, तो फिर संसार से दायभाग का विचार हीउठ जाना चाहिए। तब तो हर एक स्त्री हर एक की पत्नी और हर एक पुरुष पत्नी का पति होना भी सम्भव है। परस्यापहरण नाम की भी कोई वस्तु नहीं रह सकेगी। जब सभी में सबका स्वत्व है, तब या तो सभी परस्वापहारी हों या सभी इस दोष से रहित ही समझ जायेंगे। परमेश्वर निर्मित भी मुक्ताफल में क्या काक अधिकारी हो सकता है? इसलिए अधिकार चर्चा मिटाना उच्छृङ्खलता का ही पोषण है। विश्वशास्ता के वेद वचन श्रोता वक्ता का जो धर्म बतलाते हैं, उन धर्मों का उल्लंङ्घन करने से दोनों का ही दण्ड मिलना अनिवार्य है। अतः वेदों में अधिकार की चर्चा उनकी शास्त्रता अर्थात शास्ता के वचन होने का मूल है।

***

वेद पदार्थ

[स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ लोगों में किन्ही अंशों में यह जिज्ञासा जागृत हुई है कि आखिर वेद क्या है? अथवा वेदों में क्या है? अनेक वैदिक, अवैदिक, देशी, विदेशी लेखकों ने अपने-अपने ढंग से इस पर विचार भी प्रकट किये हैं जो एकांग है, संकुचित है अपूर्ण हैं। वेद पुरुष, धर्म सम्राट् स्वामी श्री करपात्री जी ने यों तो इस विषय पर अनेक वृहद् ग्रंथों का प्रणयन किया है जिनके गहन-गम्भीर अध्ययन करने से ही वेद सम्बन्धी ज्ञान प्राप्ति सम्भव है। परन्तु ग्रंथ के कलेवर को दृष्टि में रखते हुए यहाँ स्वामी जी द्वारा लिखित यह अत्यन्त लघुकाय लेख जिज्ञासुओं की जिज्ञासा निवृत्ति हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है। -स.]

यह प्रश्न उठता है कि आखिर वेद है क्या? कुछ लोग ईश्वरीय ज्ञान को ही वेद बतलाते हैं। परन्तु यह ईश्वरीय ज्ञान यदि प्रसिद्ध ऋग्वेदादि से भिन्न है, तो कोन है? यदि वह अप्रत्यक्ष है, तो वह अस्मदादिकों के किस काम का है और उनकी मान्यता का क्या अर्थ है? कुछ लोग ज्ञान को ही वेद कहते हैं। परन्तु साधारण ज्ञान से तो समस्त संसार के ही व्यवहार होते हैं। इसमें भी वेद और उसकी मान्यता का कोई प्रश्न नहीं होता। यदि यर्थाथ ज्ञान को वेद कहें, तो यथार्थ ज्ञान कौन और कैसे उत्पन्न होता है? इसी प्रसङ्ग में तो वेद प्रामाण्य पर विचार ही चलता है। कुछ अर्वाचीनों की राय में ''विद सत्तायां'', ''विद ज्ञाने'', ''विद लाभे'' इन तीन धातुओं से 'वेद' शब्द की सिद्धि होती है, इसलिए सत्ता, ज्ञान और लाभ को ही वेद कहना चाहिए। उनका कहना है कि ये ही तीनों पदार्थ सम्पूर्ण विश्व के मूल हैं, अतएव वेदत्रयी से ही विश्व की उत्पत्ति होती हैं। इनके सिद्धांतों के अनुसार प्राचीन-अर्वाचीन दार्शनिकों ने आचार्य-परम्परा से जिस वेद-राशि की वेद नाम रखा है, वेद-तत्व तो उस से पृथक् ही है।

कुछ लोगों का कहना है कि ''हम आश्चर्यचंकित होकर देख रहे हैं हिमालय से लेकर कन्याकुमारी पर्यत, अटक से कटक तक के सभी विद्वान उपलब्ध ऋग्वेदादि संहिता ग्रंथों को वेद समझ रहे है। यही शब्द संग्रह उनकी विशाल दृष्टि में वेद पदार्थ ही है। उनकी दृष्टि में पुस्तकोपात्त शब्दात्मक मंत्रों से अतिरिक्त ऐसा कोई वेद पदार्थ नहीं है, जो विश्व का उपदान बन सकता हो।'' उनके मत में ऋग्यजुः साम तथा अथर्व के बिना किसी तत्व की सृष्टि ही नहीं होती। यही ''अनन्ता वै वेदाः'' का रहस्य है। ''विद्यते-वेत्ति-विन्दति'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सत्ता, चेतना और आनन्द ही वेद शब्द से सूचित होते हैं। सत्तोपलब्धि ऋक्, चेतनोपलब्धि यजु, आनन्दोपलब्धि साम है। उनकी राय में प्रसिद्ध वेद में उपपत्ति (विज्ञान)-प्रधान वचन ही श्रुति या वेद है। वही परम प्रमाण है। विधायक, निषेधक, वेदभाग वेद या श्रुति नहीं, प्रत्युत धर्म-पुस्तक या

स्मृति है। इसलिए विधि प्रतिषेधात्मक ''अहरह:सन्ध्यामुपासीत'' इत्यादि वचन स्मृति के ठहरते हैं। उपपत्ति प्रधान वाक्यों का संग्रह विद्या पुस्तक है, यही वेदशास्त्र कहलाता है। ''वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्रतवाश्रमे वसन्'' इस मनु के वेदशास्त्र से विज्ञान शास्त्र ही अभिप्रेत है, ''श्रुतिस्यु वेदोजिनेय:'', ''प्रमाणं परमं श्रुति'' इत्यादि स्थानों में श्रुति शब्द से उपपति वाक्य विज्ञान शास्त्र ही गृहति है।

परन्तु ''शास्त्रगम्य धर्म है'', ''कार्य्य-अकार्य्य की व्यवस्था में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है'' इत्यादिवचनों से तो विदित होता है कि शब्दराशि ही शास्त्र है। 'वेदशब्देभ्य: एवादी', 'शब्द इति चेन्नात: प्रभवात्', 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादि श्रुतिसूत्रों से भी आचार्य परम्परा से अधीयमान शब्दराशि ही वेद कहा जाता है। 'आपस्तम्ब' भी मन्त्र और ब्राह्मण को ही वेद कहते हैं- 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वदनामधेयम्।' उदयानाचार्य्य प्रभृति शिष्ट पुरुषों ने भी वेद के यही लक्षण किये हैं-'अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वेसति महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वं वेदत्वमं' अर्थात् मूल कोई प्रमाणांतर न मिलता हो और जो शिष्टपरिगृहीत हो, वही वाक्य समूह वेद है। अन्य विद्वानों ने भी कहा है कि शब्द एवं शब्दमूलक अर्थापत्ति आदि प्रमाणों के द्वारा ही जिस का अर्थ अवगत हो, जिसके पढ़ने से पारलौकिक सुख उत्पन्न हो एवं जो जीवों से बना हुआ न हो, वह प्रमाणरूप शब्द राशि ही वेद है। प्रत्यक्षादिसिद्ध अर्थ को प्रतिपादन करने वाले अर्थवाद आदि का भी परमतात्पर्य विध्यर्य की स्तुति में ही है। अत: विधिवाक्य के बिना उन का यह अर्थ अवगत नहीं हो सकता-''शब्दातिरिक्तशब्दोपज्जीविप्रमाणातिरिक्तञ्च यत्प्रमाण, जज्जन्यप्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो य: प्रमाणशब्दस्तत्वं वेदत्वम्।''

आदित्य वेद हों या सत्, चित्, रत वेद हो तो उनका प्रमाणकोटि में प्रवेश कैसे हो सकता है, क्योंकि प्रमाण के कारण को ही प्रमाण कहा जा सकता है। अन्यथा अपरिगणति प्रमाण हो जाते है। वैसे तो उपासना के लिए शब्द-अर्थ का अभेद सिद्धांत में मान्य है। आदित्यादि में त्रयीदृष्टि भी उपासनार्थ संगत है। जैसे योषित् में अग्नि-बुद्धि, पृथ्वी में ऋक्-बुद्धि, अग्नि में सामबुद्धि, वैसे ही वाक्-प्राण में भी ऋक्-साम की बुद्धि उपासनार्थ मान्य है। यदि प्रमाणभूत ऋगादि शब्दराशि से भिन्न चाहे जो कुछ भी वेद हैं, तो फिर प्रत्यक्षादि से न सिद्ध होने वाले धर्म, ब्रह्म तथा नाना प्रकार के पदार्थ किंवा आदित्यादि का वेद होना आदि ही किस प्रमाण से सिद्ध हो सकता है? जिस शब्दराशि के आधार पर इन सब बातों को सिद्ध किया जाता है, उनका ही प्रामाण्य क्यों और कैसे होगा? क्या यह तर्कशास्त्र की तरह यौक्तिक अर्थ प्रतिपादन करता हैं? यदि यह मान्य है, तो याग विशेष एवं फल विशेष का कार्यकारणभाव किस युक्ति से सिद्ध होगा? अतएव यही कहना पड़ता है कि आचार्य परम्परा से अधीयमान, शिष्टपरिगृहीत, अनादि, अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मणात्मक ऋगादि शब्दराशि ही वेद है।

सद्शास्त्र : सन्मार्ग : साधु

सर्वशास्ता परमेश्वर के विश्वानुग्रह वचन होने से वेद-शास्त्र ही मुख्य शास्त्र हैं। सर्वमान्य सार्वभौम गीता जैसे ग्रन्थों को भी वेद ही शास्त्र रूप से मान्य है। गीता में वेदों के अतिरिक्त और किसी की भी चर्चा शास्त्र के सम्बन्ध में नहीं की गई है। यथा- ''ऋक्-साम-यजुरेवच'',''वेदानां सामवेदोऽस्मि'',''त्रैगुण्यविषयावेदाः'',''नाहं वेदैर्न तपसा'', ''वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्यः'', -इन वचनों में वेदों की ही चर्चा हैं। .....वेद एवं वेद से अविरूद्ध स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सद्ग्रन्थ ही शास्त्र हैं और इन शास्त्रों से प्रतिपादित एवं अविरुद्ध मार्ग ही सन्मार्ग है। इस दृष्टि से शास्त्रोक्त एवं शास्त्र से अविरूद्ध भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, वर्णाश्रम-धर्म, राज-धर्म,समाज-धर्म, ये सभी सन्मार्ग है। संक्षेप में, कह सकते हैं कि लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति का शास्त्र-कथित या शास्त्र-अविरोधी उपाय ही सन्मार्ग है। निर्दोष, सत्य, सुन्दर एवं कल्याणमय वैदिक मार्ग ही सन्मार्ग है।

अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के अधिकारानुसार स्रौतस्मार्त एवं तदविरूद्ध मार्ग पर चलने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, ब्रह्चारी, गृहस्थ, वनस्थ, सन्यासी, अधिक क्या, संसार के सभी स्त्री-पुरुष साधु हैं। शास्त्रानुमोदित सन्मार्ग पर आरूढ़ रहने वाले इन साधुओं की रक्षा करने के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। दुष्कृतियों का विनाश और धर्म संस्थापन भी इन्हीं के परित्राण में उपयुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी वेद ही गीता-सम्मत शास्त्र ठहरता है।

वैसे लोक संस्कार न होने से प्राणी लौकिक वस्तु को नहीं देख सकता, वैसे ही शास्त्र-संस्कार न होने से वह शास्त्रीय वस्तु को भी नहीं देख सकता। जैसे- दिव्य अजनादिकों के द्वारा संस्कार सम्पन्न चक्षु वाले पुरुष को भूगर्भ में छिपे हुए रत्नादि का विज्ञान होता है; वैसे ही, शास्त्र-संस्कार वाले ही शास्त्रीय-वस्तु को निर्विवाद देख सकते हैं। ईश्वर, जीव, जगत्, धर्म एवं तत्त्व, इन पाँच तत्वों का जहाँ सम्यक् रूप से निरूपण हो वही 'शास्त्र' है। अथवा जिससे हित का उपदेश हो वही शास्त्र हैं। वैसे तो अर्थ, काम आदि का भी उपदेश हितोपदेश है; अतएव अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, आदि भी प्रख्यात ही हैं। परन्तु धर्म और ब्रह्म तथा तदुपयुक्त पदार्थों का सम्यक् निर्णय जहाँ हो वही शास्त्र हैं। विवेकियों में ही शास्त्रों का आदर एवं पालन होता है। अविवेकियों मे अपने-अपने मनोरथों के अनुसार भिन्न-भिन्न तर्कों का ही सम्मान होता है।

श्री स्वामी जी का मत है कि -''एक भी वेद रहस्यज्ञ जिसे धर्म बतलाता है वही धर्म है, दस हजार यज्ञों का भी कथन धर्म में प्रमाण नहीं माना जा सकता। .....लोक में सिवा प्रतारण के बहुमत के ढकोसले में और कुछ नहीं हैं। जो सिद्धान्त

आज बहुमत में मान्य है, कल वही अमान्य हो जाता है। जनसमूह ने जिन व्यक्तियों को बल देकर आज विजय कराया, कल दूसरे प्रतिभाशाली व्यक्ति पाकर उन्हीं को फांसी पर लटका दिया। फिर रोगस्वरूप एवं ओषधि-उपचार आदि में बहुमत का क्रू मूल्य हो सकता है? यहाँ तो विज्ञ चिकित्सक के सामने सहस्त्रों अन्य व्यक्तियों की कोई सुनवाई नहीं। जीव असर्वज्ञ है और सभी असर्वज्ञ किसी सर्वज्ञ की अपेक्षा रखते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर 'शासक' हैं, उनका 'शासन' ही अकृत्रिम वचन रूप वेद हैं, उन अनादि, अपोरुषेय मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद एवं तन्मूलक स्मृति-पुराणादि सद्ग्रन्थों में वर्णित वैदिक मार्ग ही कल्याण का निष्कष्टक मार्ग है।''

वर्तमान उल्वण वातावरण में आज शास्त्रों के अध्ययन की परमावश्यकता है।

***

सर्व कल्याणकारी वेद

[वेद जैसे गम्भीर विषय पर लिखित अपने इस लेख में स्वामी करपात्री जी महाराज ने बड़े ही मौलिक रूप से वदों की सर्वकल्याणकारिता का अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में विवेचन किया है। वैदिक भाषा और सामान्य संस्कृत भाषा के भेद को प्रकट करते हुए संस्कृत भाषा को देवभाषा एवं सामान्य-सर्वसाधारण द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा को मानुषी भाषा के रूप में प्रयुक्त किया है। स्वामी जी का कथन है कि -वेदों के उच्चारण श्रवण और अग्निहोत्रादि कर्मों में शुद्ध द्विजाति-पुरुषों को ही अधिकार है, अशौचग्रस्त तथा पतित त्रैवणिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) व्रात्यों का उक्त कार्यों में अधिकार नहीं है। अन्त में स्वामी जी ने मुस्थापित किया है कि 'देश-जाति-पक्षपात के बिना यथाधिकार वेद सर्व कल्याणकारी हैं, थे किसी के पक्षपाती नहीं।' -पाठक स्वयं देखें]

वेदाध्ययन आचार्य्यपूर्वक ही है। जैसे गुरुओं ने अध्ययन किया है, वैसे ही अध्येता अध्ययन करना चाहते हैं। स्वतन्त्र पहला कोई भी वदों का अध्येता नहीं है। कोई भी वेदों का कर्ता निश्चित नहीं है, प्रत्युत वेदों की नित्यता सिद्ध होती है। इस प्रकार वेदों की ही शास्त्रता एवं मान्यता सिद्ध है।

वेद ही सार्वदेशिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे किसी देश विशेष की भाषा में नहीं है। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण है, वैसे ही उसका वेद भी सर्वसाधारण की भाषा में ही है। अन्यान्य धर्मग्रंथ भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं में है। कहा जा सकता है कि वेद भी तो आर्यों की संस्कृत मातृभाषा में ही है, फिर वे ही कैसे सार्वदेशिक हो सकते है? परन्तु यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि संस्कृत भाषा देवभाषा है, मानुषी भाषा नहीं। इसीलिए वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकाण्ड में संस्कृता वाक् का मानुषी वाक् से पृथक् उल्लेख है। श्री हनुमानजी सोचते हैं कि मुझे अवश्य ही मानुषी वाक् बोलनी चाहिए, दूसरी तरह से महाभागा श्री जानकी को समझाया नहीं जा सकता ''अवश्मेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्। मया सान्त्वयितु मजिन्दिता।।'' यदि मैं ब्राह्मण की तरह संस्कृतावाक् बोलूंगा, तो मुझे रावण समझकर श्रीसीतामाता भयभीत होंगी-''यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्य माना मां सीता भीता भविष्यति।।'' द्विजातियों की भी संस्कृत निजी भाषा नहीं किन्तु देवभाषा ही है। ब्राह्मण शब्दशास्त्राभ्यासी

होने के कारण ही संस्कृता वाक् बोलते थे। इसीलिए 'नैषध' में यह लिखा है कि भिन्नदेशीय राजाओं के संस्कृत भाषा बोलने के कारण देवताओं की पहिचान नहीं हुई– ''सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि।''

इसके अतिरिक्त वेद देवभाषा संस्कृता वाक् में भी नहीं है, इसीलिए शब्दों में लौकिक तथा वैदिक दो प्रकार के संस्कार होते हैं। लौकिक संस्कार लोक तथा वेद दोनों में ही बराबर है। वे व्याकरणादि–सूत्रों के ही अनुसार होते है। इसीलिए शाब्दिकों का कहना है–''छन्दसि दृष्टानुविधि:'' छन्द में दृष्ट लक्ष्य के अनुसार ही संस्कार मान्य हैं। व्याकरण में वैदिकी प्रक्रिया पृथक् है, अत: वहाँ लक्ष्य का ही प्राधान्य है, संस्कार का नहीं। वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दों से नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दों से नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक वाक्यों का स्वरूप और अर्थ निरुक्त एवं प्रातिशाख्य से ही नियमित है, संस्कृत वैसी नहीं है अत: वेदभाषा संस्कृतभाषा से भी विलक्षण है। यह दूसरी बात है कि उसके साथ कुछ तुल्यता अधिक मिल जाय। इसीलिए वेद किसी के पक्षपाती नहीं है।

जैसे भगवान् सर्वत्र समान है, वैसे ही उनका वैदिक धर्म भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्र का परम उपकारी है। परन्तु पूर्वकथनानुसार अधिकारविशेष निर्णय इनका असाधारण गुण है। जैसे कोई औषधि का किन्हीं यन्त्रों तथा पात्रों के सुपरिणाम और उन्हीं का दूसरे मन्त्रों तथा पात्रों में दुष्परिणाम होता है, वैसे ही उन विचित्रशक्ति सम्पन्न वैदिक शब्दों तथा कुछ कर्मों का कहीं सुपरिणाम और कहीं दुष्परिणाम भी हो जाता है। उसी स्थिति के आधार पर ही वेदों के उच्चारण, श्रवण और अग्निहोत्रादि कर्मों में शुद्ध द्विजाति पुरुषों को ही अधिकार है। अशौचग्रस्त तथा पतित त्रैवर्णिकों या व्रात्यों का उक्त कार्यों में अधिकार नहीं है। अधिकार–विवेचन में पक्षपातशून्य केवल हितकामना से ही नियम है। राजसूय यज्ञ में केवल क्षत्रिय का अधिकार है, ब्राह्मण–वैश्य का नहीं। वैसे ही वैश्यस्तोम में केवल वैश्य का ही अधिकार है। इसी तरह किसी में स्थकार का ही और किसी में स्थपति का ही अधिकार है। ब्राह्मण को मद्यबिन्दुपान में ही मरणांत प्रायश्चित है, औरों को वैसा नहीं। ब्राह्मण को सर्वत्याग, क्षत्रिय को साम्राज्य को भी नरक, स्वधर्मनिष्ठ अन्त्यज को भी दिव्यलोक प्राप्ति, यह सब केवल वस्तुस्थिति का अनुसरण है। माता शिशु के हाथ से ईख छीन लेती है, परन्तु मिसरी दे देती है। क्या यहाँ द्वैष है?

कहा जा सकता है कि श्रवणादि के अनाधिकारियों को श्रवणादि द्वारा वेद अनुपकारक होने से वेदों में विषमता जा जायेगी। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि धनुष आदि के धारण करने में असमर्थों के लिये धनुष–धारण का निषेध और कटु औषधि से भीरु लोगों के लिए उन औषधों का निषेध जैसे विषमता का मूल नहीं होता, वैसे ही अनाधिकारियों के लिए वेद तथा तदुक्त कर्मों का निषेध अनुचित नहीं है। कहा जा

सकता है कि जैसे योग्यता-सम्पादन के अनन्तर बालकों का भी अधिकार है तो वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान द्वारा जन्मान्तर में द्विजत्व-सम्पादन से यहाँ भी अधिकार हो ही जाता है। परन्तु जैसे जड़, अन्ध, षण्ढ, बधिर, उन्मत्त, मूक आदिकों में श्रवणादि का लौकिक सामर्थ्य नहीं है, जैसे ही कुछ असामर्थ्य शास्त्र से ही गम्य है। जैसे लौकिक सामर्थ्य सबको नहीं है, जैसे ही अलौकिक सामर्थ्य भी सबको नहीं है। पुराणों द्वारा वेदार्थ-ज्ञान, शम-दमादि मानव सामान्य धर्मों तथा सर्वशास्त्रफल भगवद्भक्ति और ज्ञान में मनुष्यमात्र का अधिकार है और उसी के द्वारा सबका परमकल्याण भी होता है। भगवन्नामादि वैदिक धर्म से मनुष्य तो कौन चलाये, गृध्र, बन्दर, भल्लूक तक को परम सद्गति हुई और होती है "पाई न केहि गति पतित-पातल रामभज सुनु शठ मना।" अतः स्पष्ट है कि देश जातिपक्षपात के बिना यथाधिकार वेद सर्वकल्याणकारी है।

***

[सन्ध्या, सूर्यार्घ्य, गायत्रीजप, श्राद्ध-तर्पण आदि वर्णाश्रमानुसार कर्म-धर्मों का पालीन करते हुए भगवान के नाम का जप या कीर्तन करने वाला प्राणी परमकृतार्थ होता है। नाम या मन्त्र का जप, भगवान का ध्यान, उनके नाम-स्वरूप व गुणों का महात्म्य वर्णन करते हुए वेद-उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि सद्ग्रन्थों का अधिकारानुसार अध्ययन करना-यही प्राणियों के परमकल्याण का मार्ग है।]

-**'स्वामी करपात्री जी'**

संस्कृति

[आजकल संस्कृति शब्द के साथ बड़ा खिलवाड़ हो रहा है। विभिन्न विचारकों ने पृथक्-पृथक् परिभाषाएं की हैं संस्कृति की। परन्तु विश्लेषण करने से प्रायः सभी एकांगी ठहरती हैं, स्वामी श्री करपात्री जी ने वैदिक शास्त्रीय आधार पर संस्कृति की बड़ी सुन्दर सर्व ग्राह्य सर्वमान्य, तर्कयुक्त एवं मौलिक व्याख्या करते हुये निरूपण किया है कि भारतीय संस्कृति सनातन है, अनादि है, अनन्त है। अनादि अपौरूषेय वेद एवं तदाधारित शास्त्रों के अनुसार आचार, विचार, परम्परा को संस्कृति, सभ्यता मानना ही संगत है।]

कहा जाता है कि सारे संसार में आजकल सांस्कृतिक संघर्ष चल रहा है। सभी अपनी संस्कृति की रक्षा तथा उसके प्रचार और दूसरे की संस्कृति का नाश करने पर तुले हैं। संस्कृति के नाम पर भीषण जनसंहार हो रहा है। पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में संस्कृति की चर्चा बराबर चलती रहती है। विचारशील विद्वान् भारतीय संस्कृति को ही सर्वोच्च बतलाते हैं। पर कहीं यह नहीं बतलाया जाता कि उस संस्कृति का आधार क्या है और उसका स्वरूप किससे जाना जा सकता है। इस पर विचार करने के पहले एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। आजकल की पद्धति के अनुसार शब्दों के अर्थ समय-समय पर कई कारणों से बदलते रहते हैं। यदि यही बात है तो फिर मतभेद भी अनिवार्य है। परन्तु अपने यहाँ दूसरा ही सिद्धांत है। वैदिकों के मत में शब्द नित्य हैं। और उनका अर्थ के साथ सम्बन्ध भी नित्य है। अतएव, उनमें अनिश्चिय सन्देह तथा विवाद के लिए कोई स्थान ही नहीं है इस तरह 'संस्कृति' और 'सभ्यता' भी दोनों ही निश्चित शब्द हैं और उनका अर्थ भी निश्चित है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातु से क्तिन्' प्रत्यय होने पर 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है, 'सम्यक् शोभन कृति' और इसी संस्कृति के भीतर 'सभ्यता' भी आ जाती है। खान में उत्पन्न होने वाले हीरक और मणिक्य में संस्कार द्वारा उनकी दिव्य शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या तत्कार्य्यात्मक प्रपञ्चनिमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कार द्वारा व्यक्त की जाती है। तथाच आत्मा को प्रकृति के निम्न स्तरों से मुक्त करके क्रमेण ऊपर के स्तरों से सम्बन्धित करने या प्रकृति के सब स्तरों से मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त साम्राज्य सिंहासन पर सभासीन कराने मे उपयुक्त जो कृतियाँ हैं। वहीं 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती है अर्थात् सांसारिक निम्न स्तर की सीमाओं में

आबद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल जो कृति है, वही 'संस्कृति' है। व्यापक दृष्टि से कह सकते है कि लौकिक, पारलौकिक, नैतिक, धार्मिक, वैयक्तिक, सामूहिक अभ्युत्थान के अनुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारों की शोभन हलचल या रहन सहन ही 'संस्कृति' है। अतः सभ्यता भी संस्कृति का एक देश होने के कारण उसी में अन्तर्भूत समझी जानी चाहिए, क्योंकि सभा में वही साधु-अच्छा समझा जा सकता है, जिसके संयत और शोभन व्यवहार होंगे। किनके सन्निधान में, कहाँ, किससे कैसे बोलें, कैसे बैठें इस विषय में जो कुशल है, वही 'सभ्य' है। अब यह प्रश्न उठता है कि सब प्रकार की कृतियों (कर्मों) का सम्यक्त्व, असम्यक्त्व और सौष्ठव असौष्ठव कैसे जाना जाय और किस कसौटी पर उनकी भलाई बुराई की परख की जाय, जिससे कि उन कर्मो या रहन सहन, आचार विचारों को आत्मोत्थान के अनुकूल मानकर उन्हें संस्कृति कहा जाय?

इसका मोटा एवं अविप्रतिपन्न उत्तर यही है कि जिस राष्ट्र, जाति या सम्प्रदाय में जो महापुरुष या ग्रन्थ प्रायेण सर्वमान्य हुए हों, उन्हीं के आधार और उपदेश को ही कसौटी पर परखा जाता है। अतएव, वेद शास्त्रपरीक्षित तदनुसारी रहन सहन, आचार विचार ही वैदिक संस्कृति है। ईसाई, मुसलमानों के यहाँ भी उनके महापुरुष या धर्म ग्रंथों के आधार पर ही उनके रहन सहन, आचार विचार का सौष्ठव, सम्यक्त्व निश्चित किया जाता है। उनके कर्मों और कृत्तियों की भी भलाई बुराई की कसौटी उनके धर्मग्रंथ में ही है। यह अवश्य है कि भिन्न भिन्न जातियों एवं समाजों की कुछ रूढ़ियों से भी संस्कृति अछूती नहीं बची है, संस्कृतियों में साङ्कर्य्य फैल गया है, बहुत से आचार-विचार, रहन-सहन हिन्दुओं के मुसलमानों में और उनके हिन्दुओं में आ गये हैं। भाषा, साहित्य और व्यवहारों के सङ्घर्षों से कुछ दिन संस्कृतियों का सङ्घर्ष और फिर किसी में साङ्कर्य्य एवं किसी संस्कृति का नाश तक हो जाता है। अतएव, 'हमारी संस्कृति खतरे में है' इस प्रकार की आवाजे आ रही हैं। ऐसी दशा में संस्कृति का शुद्ध स्वरूप उन उन जातियों एवं सम्प्रदायों के निश्चित धर्मग्रंथों के ही आधार पर प्रकृतियों को सोच समझ कर उनके आत्मोत्थान के लिए उपयुक्त ही रहन सहन को नियमों से परिष्कृत कर देने पर ही संस्कृति स्थिति होती है। देश, काल, व्यक्ति और उनकी प्रकृतियाँ विचित्र हैं। उनको जानकर प्राकृत स्वाभाविक चेष्टाओं में कितना नियमन करना युक्त है, यह अल्पज्ञ जीवों को निर्णीत होना दुःशक ही है। यद्यपि चितसत्त्व सर्वार्थ प्रकाशन में समर्थ है, तथापि राजस, तामस भावों के उद्भव से ज्ञान शक्ति कुण्ठित रहती है। तपस्या, योगादि सद्धर्मो के अनुष्ठान से राजस तामस भावों के दूर होने से निरावरण विशुद्ध सत्व होने से ज्ञान शक्ति विकसित होती है। फिर भी जबकि अविशुद्धसत्वप्रधान अविद्या जीव की उपाधि है अथवा तमःप्रकृति समुद्भूत पञ्चभूतों में ही अन्तकरण का उद्भव है, तब पूर्ण ज्ञानशक्ति का विकास जीव में होना कठिन

है। यदि कोई अपने प्रधान ग्रंथ के रचयिता और संस्कृति के निर्णायक को ईश्वर कहे, तो दूसरे भी अपने ग्रंथकार या संस्कृति संस्थापक को वही कह सकते हैं। फिर जो अभी प्रयोगशाला में किसी प्रयोग का अनुभव कर रहे हैं, उनके निर्धारित नियमों से संस्कृति सभ्यता का निर्णय कैसे हो सकता है? यदि सभी संस्कृतियाँ ईश्वर से प्रतिष्ठापित हो, तो फिर उनमें आकाश पाताल का अन्तर क्यों देखा जाता है? देश काल अधिकारी के भेद से यदि संस्कृतियों की व्यवस्था हो, तब तो बात दूसरी है। फिर जहाँ एक सिद्धांत दूसरे सिद्धांत को मूल से खोद फेंकना चाहता है, उसे देश का सर्वनाशक समझता है, वहाँ समन्वय की आशा को दुराशा के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? अत: अनादि वेद शास्त्र एवं तदनुयायी धारणा ध्यान समाधिसम्पन्न महर्षियों के सिद्धांत पर ही शुद्ध सर्वोपकारक संस्कृति स्थिति होती है। अतएव बहुत सी संस्कृतियां और सभ्यताएं उत्पन्न होकर नष्ट हो गयीं और बहुत सी उत्पन्न हो रही हैं। परन्तु अपने यहां परमेश्वर और जीव के समान ही अनादिसिद्ध वेद शास्त्र के अनुसार लोक परलोक के नैतिक तथा धार्मिक अभ्युदय के अनुकूल सामूहिक, वैयक्तिक देहादि के रहन सहन, आचार विचार ही संस्कृति हैं। इसीलिए वह इतनी व्यापक है कि उसमें सब प्रकार सभी हलचलों पर नियन्त्रण किया है। अतएव यहाँ सामाजिक, वैयक्तिक, नैतिक और धार्मिक आचारों के क्षेत्र अत्यन्त भिन्न नहीं है, किन्तु सब का ही सब के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि सभी व्यापारों में पद पद पर पुण्य पाप, आचार विचार की व्यवस्था है। वस्तुत: मानव जातिमात्र के लिए वैदिक संस्कृति कल्याणकारिणी है, क्योंकि इसमें अधिकार की चर्चा बहुत है। सभी प्राणियों को सुविधापूर्वक लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय एवं नि:श्रेयस के लिए अवकाश रखा गया है।

विचार करने से मालूम होगा कि संस्कृति या सभ्यता के भिन्न-भिन्न अर्थ उपुर्यक्त अर्थ में अन्तर्भूत हो जाते हैं। यदि ज्ञानवृद्धि सभ्यता है या नागरिकता सभ्यता है, तो यहाँ भी तात्पर्य यथार्थ ज्ञान और योग्य शिक्षा से ही है। परन्तु ज्ञान की यथार्थता और शिक्षा की योग्यता जानने के लिए यदि कसौटी की अपेक्षा पड़ेगी, तो प्रथम भिन्न-भिन्न देश के महापुरुषों के ग्रंथ और फिर अन्त में वेद की ही शरण लेनी होगी। लौकिक उन्नति ही यदि सभ्यता या संस्कृति मानी जाय, तो भी यह अवश्य ध्यान रखना होगा कि ऐसी लौकिक उन्नति परिणाम में सर्वसांहारिणी न हो। जो आगन्तुक उन्नति रहीसही पुरानी उन्नति का भी नाश कर डाले, वह उन्नति नहीं अर्थात् अनर्थानुबन्ध, अधर्मानुबन्ध, निरनुबन्ध अर्थ 'अर्थ' नहीं, किन्तु यह तो 'अर्थाभास' ही है,। धर्मानुबन्ध, अर्थानुबन्ध अर्थ ही यथार्थ अर्थ है, वही स्थिर तात्विक उन्नति है। देश, काल, परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य संस्कृति पर पड़ता है, परन्तु भिन्न भिन्न कृत्तियों के सम्यक्तव का निर्णय इतने ही से नहीं होता। किसी परिस्थिति में कितने ही प्रमादी पुरुष अपनी दृष्टि से आत्मसंयम न कर सकने के कारण अनुचित कृतियों को भी उचित मान लेते हैं।

अत: किसी भी देश के काल, जाति, परिस्थिति में वही कृति आचार विचार, रहन सहन संस्कृति हो सकती है, जो सम्यक् समीचीन, शोभन या साध्वी है और जिसका लोक परलोक दृष्टि से दुष्परिणाम नहीं है। अभ्युदय और नि:श्रेयस के प्रतिकूल न होकर जो अनुकूल ही हो, वही कृति 'संस्कृति' है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार की समस्त चेष्टाओं, कृत्तियों की भलाई बुराई तथा उनके तात्कालिक या कालांतरभावी सुपरिणाम या दुष्परिणाम का बोध जीवों के लिए दुष्कर है, क्योंकि उनमें कुछ न कुछ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोष होते ही हैं। इसलिए किसी भी कृति के सुपरिणाम दुष्परिणाम, सम्यक्त्व असम्यक्त्व के निर्णय में सन्देह नहीं। परन्तु किस शास्त्र या संस्कृति के निर्माता या द्रष्टा परमेश्वर है इसका निर्णय पूर्वकथानुसार अत्यन्त कठिन है। अत: ईश्वर के समान ही अनादि, अपौरुषेय वेदों से ही किसी भी देश, काल परिस्थिति में किन्हीं भी कर्मों की भलाई, बुराई, सुपरिणाम दुष्परिणाम का निर्णय करना युक्त है।

दूसरी दृष्टि से भी देखें, तो विदित होगा कि यदि शासक या माता पिता अपनी प्रजा और पुत्र को असत्कर्मों या असत् कृतियों का निषेध करके सम्यक् सत्कर्मों या सत्कृतियों में प्रवृत न करें, तो यह उनका दोष अवश्य समझा जायेगा। ऐसी स्थिति में यह जगत् केवल अनियन्त्रित स्वतन्त्र जड़ प्रकृति का विकास नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता एवं सब के माता पिता भगवान के नियन्त्रण में ही है, तब उनको अवश्य ही सृष्टि के जीवों के लिए ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदय और नि:श्रेयस के उपयुक्त सम्यक् सत्कर्मों या कृतियों का उपदेश करना चाहिये। जितनी अनेक संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, सबका काल और इतिकृत है। कोई डेढ़ हजार वर्ष की, कोई दो हजार वर्ष की मानी जाती है। यदि उन्हीं को परमेश्वर निर्दिष्ट संस्कृति मानें, तो यह सन्देह अवश्य होगा कि उससे पहले के जीवों के उद्धार का ध्यान परमेश्वर ने क्यों नहीं रखा? यह तो विषमता होगी कि डेढ़ दो हजार वर्ष के जीवों के कल्याण का मार्ग बतलाया गया, पुराने लोगों के लिए नहीं। जब सभी संस्कृतियों के पीछे एक धर्मग्रंथ मानना पड़ता है, जैसे इस्लाम संस्कृति के पीछे कुरान, ईसाई संस्कृति के पीछे बाइबिल तथा वैदिक संस्कृति के पीछे वेद को मानना ही चाहिए। जब आधुनिक भी वेद को सबसे प्राचीन ग्रंथ मानते है और उसकी सादिता में कोई प्रमाण और युक्ति नहीं है तथा अनादिता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, तब उसको अनादि एवं अपौरुषेय मानने में क्या आपत्ति है? अत: भगवान के नि:श्वास और विज्ञानभूत, नित्य, निर्दोष वेदों के अनुसार ऐहिक आमुष्मिक अभ्युदय और नि:श्रेयस में अनुकूल, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार के सम्यक् सुपरिणामवाले सत्कर्म ही 'संस्कृति' हैं। इन्हीं से आत्मा का संस्कार होता है। और वह उपद्रवों, अनर्थों से उन्मुक्त होकर स्वस्वरूपभूत परमानन्द साम्राज्य सिंहासन पर समासीन होता है। आर्थिक, नैतिक व्यवसायिक,

धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक, आचार, विचार, रहन सहन वेदादिशास्त्र के अनुकूल या अविरुद्ध होकर संस्कृति के भीतर संगृहीत हो जाता है। ऐसी दशा में वेद और उनके आधार पर निर्मित शास्त्र ही हिन्दू संस्कृति के आधार समझे जा सकते हैं और उन्हीं से उसके स्वरूप का निर्णय हो सकता है।

कई लोग कहते है 'कि संस्कृति यह दृष्टि है जिससे समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टिनिक्षेप करता है। समुदाय की वर्तमान और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है। जो आज की अनुभूति है। वह कल संस्कार के रूप में अवशिष्ट रह जायेगी। कल की अनुभूति सम्भवतः दूसरे ढङ्ग की होगी। इसलिए दृष्टिकोण बदल भी जायेगा। लकड़ी पत्थर के समान संस्कृति निश्चल, एकरस नहीं, वह तो बदलती रहती है। अतएव राष्ट्र की संस्कृति और आज की कितनी अपूर्ण परिभाषा है। अनुभूतियाँ भ्रम और प्रमा भेद से द्विविध होती हैं और दोनों से ही संस्कार भी उत्पन्न होते हैं, फिर सबको ही संस्कृति क्यों न कहा जाये। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक घटनाओं से तदनुकूल सुख-दुःख की विविध अवस्थाएँ हो सकती है। उन-उन परिस्थितियों के भी सम्यक्-असम्यक् दूषणभूत, भूषणभूत, प्रमारूप, भ्रमरूप अनुभूतियाँ तदनुसारिणी ही संस्कृतियाँ भी होती रहेंगी। ऐसी स्थिति में संस्कृति की रक्षा आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः कोई सम्यक्ता, असम्यक्ता, दूषणता, भूषणता, भ्रम-प्रमा की कसौटी तो होनी चाहिये। वह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम को छोड़कर और व्यावहारिक नहीं हो सकती।

कुछ लोग 'प्राकृतिक विधान के अनुरूप संस्कार की हुई पद्धति को संस्कृति' कहते हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि प्राकृतिक विधान क्या है? यदि वेदादि शास्त्र को प्राकृतिक विधान कहें, तो यद्यपि वह सिद्धान्ततः अभिमत हो सकता है, तथापि प्रतिपन्नों के लिये ये शब्द अवश्य भ्रामक है। प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट विधान प्रयत्न के बिना ही सब पर लागू होते हैं। पर वेद-शास्त्रों पर विश्वास, उनका अध्ययन, तदनुसार आचरण आदि तो दृढ़प्रयत्नसाध्य होते हैं। भोजन, पान व्यवायादि स्वाभाविक प्राकृतिक विधान समझे जाते हैं, वे ही सर्वत्र सुलभ भी है। इसी तरह संस्कार की हुई पद्धति 'संस्कृति है' यह अंश भी अस्पष्ट है। संस्कार की हुई पद्धति संस्कृत कही जा सकती है, स्वयं संस्कृति कैसे बन सकती है? संस्कार और संस्कृति में एकार्थता स्पष्ट प्रतीत होती है। 'संस्कृति अनुभवजन्य ज्ञान के और सभ्यता बुद्धिजन्य ज्ञान के आधार पर निर्भर है' यह भी बात असङ्गत है, कारण अनुभव, बुद्धि और ज्ञान ये पर्यायवाचक शब्द हैं। इनके आधार पर विभेद-सिद्धि अशक्य है।

कुछ लोगों ने 'परम्परागत अनुस्यूत संस्कार कहा है।' यदि यह प्रामाणिक वैदिक परम्परा है, तो ठीक है, अन्यथा फिर तो 'परम्परा' विशेषण की ही क्या

आवश्यकता? इसी तरह कुछ लोग 'वस्तुत: विभिन्न संस्कृतियों की खिचड़ी को ही भारतीय संस्कृति कहते हैं और उसको 'हिन्दू-संस्कृति' नाम से बोधित करना चाहते हैं।' जैसे भारतीय दर्शन से सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शन ही अभिप्रेत होते हैं, वैसे ही विशेषता भारतीय संस्कृति में हिन्दू-संस्कृति ही परिलक्षित होती है। आध्यात्मिकता, धार्मिकता, त्यागभावना, पुनर्जन्म-विश्वास आदि हिन्दू-संस्कृति की विशेषताएँ हैं। वस्तुत: मिश्रित या दूषित संस्कृति ही यदि भारतीय संस्कृति मान ली जाये, तब उपर्युक्त बातें अवश्य ठीक हो सकती हैं। प्रमाण कसौटी पर कसी जाने पर तो दूषण-भूषण संस्कृति-विकृति का स्पष्ट भेद व्यक्त होना ही गुण है। इस तरह की और भी परिभाषाएँ हैं।

संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ सज्जन कहते हैं कि ''बहुसंख्यक जनता या जाति एक प्रकार के ही संस्कारों से परिप्लुत रहती है। एक जैसे संस्कारों के मूर्तरूप को ही संस्कृति कहते हैं, जिसकी व्यञ्जना वेश, भाषा, आचार, व्यवहार तथा रीति-रिवाज आदि से होती है। यह संस्कार परम्परा रूप से आते हैं।'' उनका यह पक्ष यहाँ तक ठीक हो सकता है, परन्तु आगे यह जो कहा जाता है कि ''धर्म, मजहब और मत अनेक हो सकते हैं, पर संस्कृति एक देश की एक ही हो सकती हैं।'' इस मत में केवल पुरुषों के नाम, भाषा और साधारण बाह्य व्यवहार ही संस्कृतिपदवाच्य हो सकते हैं। परन्तु यह अप्रामाणिकहै। स्पष्ट कहा जा चुका है कि सभी आचार या संस्कार संस्कृति पद का अर्थ नहीं हो सकते, किन्तु प्रामाणिक, सम्यक् भूषणभूत आचार या संस्कार संस्कृतिपदवाच्य हैं। विद्या और आचार की शिथिलता से होने वाले अपव्यवहार या अपसंस्कार संस्कृतिपदव्यपदेश्य नहीं हो सकते। ''यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहार: कुलस्थिति। तथैव परिपाल्यासौ यदा यशमुपागत:।।'' इस वचन के अनुसार देशाचार, देशव्यवहार, कुलाचार की रक्षा की व्यवस्था है। इस आचार, व्यवहारों में भी जो शास्त्रानुसारी हैं, वे धर्म हैं, जो विरुद्ध है व अधर्म ही हैं। एक देश में रहते हुए भी यदि लोगों के धर्म विभिन्न हैं, धर्मग्रंथ विभिन्न हैं तथा मूल धर्मग्रंथ की भाषाएँ भिन्न हैं, उनके देवताओं के नाम भिन्न हैं, तब तो अवश्य उनके नामों, व्यवहारों, भाषाओं पर उनका प्रभाव पड़ेगा ही। अफ्रीका, अमेरिका के रहने वाले हिन्दू को भी अपने धर्म, अवतारों, देवताओं तथा ग्रंथों से स्नेह होगा, वह तदनुसार ही व्यवहार करेगा, नाम रखेगा, तदनुसारिणी भाषा को महत्व देगा। भले ही व्यवहार के लिये वह वहाँ की भाषा बोले, परन्तु घर में अपनी ही भाषा बोलेगा। फिर यदि उन लोगों से उपर्युक्त व्यवहार छोड़ने को कहा जायेगा, तो क्या यह उन्हें अच्छा लगेगा? ''आत्मन: प्रतिकूलानि परेयां न समाचरेत्'' अर्थात् जो अपने को प्रतिकूल हो, वैसा दूसरों के साथ भी नहीं बर्तना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रिय नियम है कि किसी भी राष्ट्र में अल्पसंख्यकों को अपनी संस्कृति और धर्मरक्षा की स्वतन्त्रता होती है। फिर कोई भी देश अपने यहाँ के अल्पसंख्यकों पर धर्म, संस्कृति लादने का प्रयत्न कैसे करेगा?

कुछ सज्जन कहते हैं कि ''जिस से मनुष्य का जीवन सुधरे, यह शिक्षा-दीक्षा संस्कृति है। किसी देश एवं जाति के पुरातन अभ्यासों, स्वभावों (आदतों), प्रथाओं, रहन-सहन आदि को उस देश की संस्कृति कहा जाता है। उसी से उस देश का चरित्र निर्माण होता है। मानवात्मा को उन्नत करना सभी संस्कृतियों का लक्ष्य हैं। बहुत संस्कृतियाँ सदृश भी होती हैं, परन्तु देश, काल, पात्र की परिस्थितियों एवं संस्कृतियों के प्रेरकों, आदर्श की विभिन्न अपेक्षाओं के कारण उनमें विभिन्नताएँ भी रहती हैं।'' इस पक्ष में भी प्रमाणों के आधार पर यदि यह विभिन्नताएं सङ्गत हैं, तब तो ठीक ही है, अन्यथा उतने अंशों में उन्हें विकृति ही समझना चाहिये। **''गार्भैर्होमैर्जातिकर्म चौड़ामौञ्जीनिबन्धनैः। वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।। स्वाध्यायेन वेदैर्होमैस्त्रेविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।।''** अर्थात् गर्भ को पवित्र करने वाले होम, जातकर्म, चूड़ाकर्म, मौञ्जीबन्धन आदि संस्कारों से द्विजों के वैजिक और गार्भिक दोष नष्ट हो जाते हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम, वेदत्रयी का अध्ययन एवं तदनुकूल कर्म, देव, ऋषि, पितृतर्पण, प्रजोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के द्वारा शरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है। इन वचनों से सिद्ध होता है कि जिन कर्मों से दोषों का दूरीकरण और गुणों का आधान हो, वही संस्कार या संस्कृति है। **''संस्कारो संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा''** (शां. भा.) इस दृष्टि से भी देह इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, अन्तरात्मा को निर्दोष बनाकर भूषित, अलङ्कृत एवं गुणवान् बनाना संस्कार है। प्रकृतिबद्ध आत्मा को निम्न स्तरों से उठाकर मुक्त, अनन्त चिदात्मपद पर प्रतिष्ठित करना संस्कृति है।

कई लोग वेष-भूषा, बोलचाल को सभ्यता कहते हैं। अन्तःकरण, अन्तरात्मा के दोषों को दूर कर भूषित करने को संस्कृति कहते हैं और वह संस्कृति एक ही हो सकती है, वह है मानव संस्कृति। देश, जाति, सम्प्रदाय तथा धर्म के भेद से उसका भेद नहीं हो सकता। यहाँ भी यदि दोष और भूषण का स्वरूपज्ञान और दोष दूरीकरण, भूषणधान के प्रकार को किसी मुख्य प्रमाण के आधार पर समझें, तो अवश्य निर्भय ठीक हो सकता है। यदि प्रत्यक्षानुमान से अतिरिक्त अपौरुषेय वेद ही उक्त प्रमाण है, तब तो अवश्य ही वैदिक संस्कृति को ही मानव संस्कृति भी कह लिया जाये तो कोई आपत्ति नहीं। यदि प्रमाण पृथक् पृथक् होंगे और उनके द्वारा भूषण, दूषण की परिभाषा और निराकरण, आधान के प्रकार भिन्न-भिन्न होंगे, तब तो अवश्य ही संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न सिद्ध होंगी। अतः वस्तुतः वैदिक संस्कृति के ही मुख्य संस्कृति होने पर भी जब तक विभिन्न धर्म, दर्शन और प्रमाणग्रंथ विद्यमान हैं, तब तक विभिन्न वेष-भूषा, विभिन्न संस्कार आदि का होना अनिवार्य ही है।

कुछ लोगों के सिद्धान्तानुसार आचार, विचार मुख्यरूप से यही दो वस्तुएँ संस्कृति है। विचार के बिना आचार निष्प्राण रहता है, आचार के बिना विचार मनोराज्यमात्र अकिञ्चित्कर होता है। वस्तुतः संक्षेप तथा विस्तार इन दो प्रकारों से वस्तुतत्व का वर्णन किया जाता है। यदि संक्षेप से कहे, तब तो सम्यक् भूषणभूत शास्त्रोक्त कृति (हलचल) संस्कृति है। लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस की हेतुभूत देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की शास्त्रोक्त, शास्त्राविरुद्ध सम्यक् भूषणभूत कृति, चेष्टा, व्यापार हलचल संस्कृति है। शास्त्रोक्त आचार, विचार भी फलतः उपर्युक्त वस्तु ही ठहरता है। उसी को अधिक विस्तार से कहना पड़े तो कह सकते हैं कि धर्म, दर्शन, इतिहास, वेष-भाषा, भूषा, कला तथा सदाचार (रीति-रिवाज) इन विभिन्न स्वरूपों में संस्कृति का वर्णन किया जा सकता है। परन्तु सभी में सम्यक्ता-असम्यक्ता भूषणता-दूषणता की कसौटी प्रमाण रही है। जो प्रत्यक्षानुमानगम्य है, उसकी सम्यक्ता, प्रत्यक्षानुमानगम्य हो सकती हैं। परन्तु प्रत्यक्षानुमानगम्य विषयों की सम्यक्ता, दूषणता आदि अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक आप्त शास्त्रों से गम्य होती है। यद्यपि अनेक देशों और जातियों में अपने अपने अङ्ग के प्रत्यक्षानुमान तथा पौरुषेय ग्रन्थ प्रमाण माने जाते हैं, तदनुसार ही उनके धर्म आदि का निर्णय होता है, फिर भी भारतीयों, हिन्दुओं में पौरुषेय ग्रन्थों में पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा करणापाटवादि दूषणों की सम्भावना होने से वे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माने जाते। अतः ईश्वर का निःश्वासभूत अपौरुषेय, अकृत्रिम मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद ही रूपविषय में चक्षु के समान धर्म-ब्रह्मविषय में स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है। पौरुषेय आर्ष ग्रन्थ प्रत्यक्षानुमानमूलक अथवा अपौरुषेय वेदमूलक होने से ही प्रमाण माने जाते हैं। सम्प्रदायाविच्छेद एवं अस्मर्यमाणकर्तृक होने से वेदों की अपौरुषेयता व्यक्त होती है। इस दृष्टि से धर्म, दर्शन, इतिवृत्त आदि सभी को वदोक्त या वेदाविरुद्ध अवश्य होना चाहिये। तभी वे सब संस्कृतिपदवाच्य हो सकेंगे। प्रत्यक्षानुमान तथा उपर्युक्त शास्त्रविरुद्ध धर्म, दर्शन, इतिवृत्त वेषभूषा, भाषा, कला, सदाचार (रीति रिवाज) सभी कुसंस्कार या कुसंस्कृति ही हैं और दोषवत् त्याज्य हैं। अतएव चैत्यवन्दन, तप्तशिलारोहणादि धर्म, देहादि अहङ्कारान्तात्मवादबोधक दर्शन, पाश्चात्यों द्वारा वर्णित आधुनिक इतिवृत्त, म्लेच्छीय भाषा, भूषा कला, रीतिरिवाज आदि वैदिकों की संस्कृति नहीं हैं। धर्म के भीतर निषेकादि श्मशानान्त ४८ संस्कार आ जाते हैं। गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म नामकरण, चूड़ाकर्म, अन्नप्राशन, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, अन्याधान, अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोमादि, श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्रादिप्रोक्त विविध कर्मकलाप, विविध उपासनाएँ ज्ञान, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सभी आश्रम तथा तदुचित ज्ञान, कर्मोपासनादि सभी धर्म हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वोत्तर मीमांसा आदि दर्शनों, रामायण, भारत, पुराण, तन्त्रागमादि विविध धर्मग्रन्थों द्वारा कर्म, उपासना

(योगाभ्यास), तत्वज्ञान के विविध सोपान वर्णित हैं। चतुर्दश विद्या, चतुःषष्ठि कलादि सब उसी के उपोद्वलक हैं। काव्य, सङ्गीत, शिल्प, चित्रादि तथा विभिन्न वेषभूषा, भाषा आदि भी परम्परया धर्म उपासना एवं तत्त्वज्ञान मे ही पर्यवसित हैं। सर्वात्मदर्शन अनेक भेद भिन्न भवगद्भक्ति, योगाभ्यास ऋतम्भरा प्रज्ञा, निर्विकल्प समाधि, पातित्य, वैधव्य, सतीत्व धर्म, पितृभक्ति, भातृस्नेह, पुनर्जन्मवाद, अवतारवाद, निष्कामकर्मयोग, त्यागनिष्ठा, पतिसहगमन आदि भारतवर्ष की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। भारत के धर्म, दर्शन, व्याकरण, साहित्य, शिल्प आदि भी अनुपम है। एक एक की व्याख्या में बड़े बड़े ग्रन्थ हैं। संक्षेप में प्रत्यक्षानुमान तथा आगमगम्य सभी सम्यक् कृति आचार, विचार तथा तदुपयोगी तत्फलभूत वस्तुएँ संस्कृतिशब्दार्थनिविष्ट हैं।

यद्यपि वस्तु स्थिति यही है कि सत्य में भेद नहीं, सत्य सबके लिये समान ही होता है, गणित के नियम सब के ही लिये समान हैं। जैसे रज्जु में रज्जुरूप एक ही ज्ञान यथार्थ होता हैं, उसमें सर्प, धारा, माला आदि अनेक ज्ञान अयथार्थ ही होते हैं। वैसे ही धर्म संस्कृति तथा आत्मयाथात्म्य एक ही ढङ्ग का हो सकता है, उसमें विशेषण अनावश्यक है। इसी दृष्टि से जैमिनि ने धर्म को धर्ममीमांसा में केवल 'अथातो धर्मजिज्ञासा' कहा गया है। जैसे हिन्दू सत्य, मुस्लिम सत्य यह भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म आदि भेद नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी जैसे सत्य मानने की कोई कसौटी होती है, वैसे ही धर्म ब्रह्मात्मादि जानने की भी कोई कसौटी होनी चाहिये। यदि कुछ लोग अनादि अपौरुषेय वेद को कसौटी मानते हैं तो कुछ लोग अपने अपने अन्य धर्मग्रन्थों को कसौटी मानते हैं। इसीलिए उसमें भेदकल्पना भी अनिवार्य हो जाती हैं। फिर भले ही देश काल परिस्थिति भेद से उसमें अवान्तर भेद हो। अतः उस वैदिक विधान के अनुसार धर्म, संस्कृति तथा आत्मा की एकरूपता होनी ठीक ही है। तथापि जब किसी भी तरह अनेक धर्मग्रन्थों, धर्मों, संस्कृतियों के भेद चल पड़े हैं, तब वैदिक संस्कृति में भी विशेषण लगाना चल पड़ा। इस रीति से धर्म, संस्कृति आदि सत्य की भाँति अविभाज्य रहने पर भी जब तक उनका सर्वमान्य एक आधार सिद्ध न हो जाए, तब तक अनुभव सिद्ध भेद का अपलाप करना अनुचित है। सर्वमान्य आधार निश्चित होने के पहले भले ही स्वाभिमत आधार के अनुसार किन्हीं विशिष्ट विचारों, आचारों तथा सत्य तत्वों की संस्कृति कहें, परन्तु वह अन्य को मान्य नहीं हो सकती।

प्रत्यक्षानुमानम्य पदार्थों में भी यद्यपि मतभेद रहता है, फिर भी उनमें बहुत अंशों में एकता हो सकती है। परन्तु आगमगम्य अर्थों में अधिक कठिनाई पड़ती है, क्योंकि चक्षुरादि प्रमाणों के समान आगमन अविप्रतिपन्न और एकरूप नहीं है। कुछ लोग आगम को मानते ही नहीं, कुछ लोग आप्तवचन आगम को मानते हुये भी आप्त अनाप्त के सम्बन्ध में विप्रतिपन्न होते हैं। जो लोग ईश्वरीय वेदादि शास्त्रों के विश्वासों

और तदर्थ निर्णय को समान पद्धति के विश्वासी हैं, उनके लिये अवश्य ही संस्कृति एक ही और सर्वदा, सर्वथा, सर्वत्र एक ही हैं। देश काल परिस्थिति भेद से उसकी भिन्नता भी एकता के अन्तर्गत ही होती है। फिर वहाँ प्राचीन, अर्वाचीन, भारतीय, चीनी, ईरानी, सोवियत या हिन्दू, मुस्लिम आदि विशेषण उपयुक्त नहीं है।

कुछ लोग देश के आधार पर संस्कृति का भेद मानते हैं, परन्तु आधुनिक राजनीतिक दृष्टिकोण से सीमाएँ बदलती रहती हैं। परन्तु उनकी अपेक्षा धर्मादिमूलक जातिव्यवस्था कुछ स्थिर होती ही है। यदि भारत में रहने वाले सब लोगों को हिन्दु संस्कृति या भारतीय संस्कृति मानने को बाध्य किया जाए, तब तो पाकिस्तान में रहने वालों को इस्लामी संस्कृति या पाकिस्तानी संस्कृति मानने को बाध्य किया जा सकता है। इस तरह हिन्दू पाकिस्तान या इङ्गलैन्ड आदि में रहकर अपनी संस्कृति का पालन न कर सकेगा।

कुछ लोग 'विश्वसंस्कृति' का नाम लेते हैं, परन्तु उसका आकार, लक्षण, प्रमाण वे नहीं बतला सकते। विश्व में मानव, अमानव सबकी संस्कृति का नाम लेना है, तो भी अनुगम लक्षण होना ही चाहिये। 'विश्वमानव संस्कृति' कहना हो तो भी अर्वाचीन सर्वत्र शास्त्रों ने तो आहार निद्रा, भय, मेथुन, नर, वानर, मानव, दानव सबका बराबर कहा हैं, धर्म ही मानव की विशेषता बतलायी है। फिर तो धार्मिकता ही 'मानवी संस्कृति' है और उस धार्मिकता का एक आधार हो, तो एक ढंग की धार्मिकता होगी। आधार भिन्न हो। तो धार्मिकता भी भिन्न होगी और इसी भेदाभेद में संस्कृति का भी भेदाभेद होगा।

बहुत से लोग प्राचीन संस्कृति का आदर करते हैं, बहुत से नवीन संस्कृति का ही सम्मान करना चाहते हैं बहुत से दोनों का समन्वय करना चाहते हैं, बहुत से केवल वैज्ञानिक संस्कृति को ही महत्व देना चाहते हैं। इन सब लोगों की दृष्टि में लौकिक उन्नति, विविध साधन-सम्पन्नता, संघटन, सामञ्जस्य एवं शान्तिप्रियता ही संस्कृति हैं। इसी विशेषता को जिस देश, जिस काल या जिन साधनों से समझते हैं, उन उन देश, काल, साधनों के नाम में संस्कृति को विशेषित करते हैं। जिस से चिढ़ है, उसकी अवहेलना करते हैं। इसी आशय से कई लोग भारतीय संस्कृति का आदर कतरे हुए भी हिन्दू संस्कृति से चिढ़ते हैं। यदि प्रमाण की कसौटी पर इन बातों का वे विचारन करें, तो लौकिक-पारलौकिक उन्नति, उनके साधनों तथा तदुचित देश, काल का ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है, अन्यथा भ्रान्ति और राग-द्वेष ही हाथ लगता है।

अतएव जो लोग आगे बढ़कर धर्म की परवाह न करके कहते हैं कि आस्तिक हो, नास्तिक हो, चार्वाक हो, वेदान्ती हो, यहाँ के सभी निवासी हिन्दू है। यह बात प्रादेशिक दृष्टि से सत्य हो सकती है, परन्तु जब धर्म सम्बन्ध आवश्यक नहीं, तब मुसलमान, ईसाई भी वहाँ का निवासी होने मात्र से हिन्दू कहा जायेगा, उसके

मानने-न-मानने का कोई प्रश्न ही नहीं आता। जो चार्वाक या नास्तिक है, उसके लिए पुण्यभूमि भी पृथक् हो सकती है; जैसे अधम-उत्तम कोई हरिण हरिण ही होगा, वैसे ही किसी देश का शेर या हाथी उस देश के नाम से ही व्यवहृत होगा, वह चाहे अधम हो या उत्तम। यदि वेदादि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्म-ब्रह्मादि तत्वों की विशेषता हिन्दुत्व से सम्बन्धित करना चाहते हैं, तो फिर उनकी उपेक्षा करके ही हिन्दुत्व की परिभाषा नहीं की हा सकती। वेदादि शास्त्र, रामायण, भारत, इतिहास, मन्वादि धर्मशास्त्रों को एक समान आधार मानकर उन्हीं की मध्यस्थता से मतभेद मिटाकर ही कपोतों एवं मधुमक्षिकाओं के समान एकमत होकर सफलता प्राप्त की जा सकती है। गुणाधान, दोषापनयनरूप संस्कार के लिये मिले-जुले गुणों-अवगुणों का पहचानना-विवेचन करना बिना वेदों के नहीं हो सकता। इसीलिये शास्त्रों में हिन्दू के साथ वेद तथा धर्म का सम्बन्ध अनिवार्य बतलाया गया है। ''हिन्दुधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिन:।'' ''हीनत्वं दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये'' (मेरुतन्त्र, प्रकाश २३), ''यवनैरवनि: क्रान्ता हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्। कलिना वेदमार्गोऽयं बलिना कवलीकृत:'' (शार्ङ्गधरपद्धति), ''बलिना कलिनाऽऽच्छन्ने धर्मे कवलिते कलौ। यवनैरवनि: क्रान्ता हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्'' (कालिकापुराण), 'हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्। हेतिभि: शत्रू वर्गञ्च स हिन्दुरभिधीयते' (पारिजातहरण नाटक), उपर्युक्त सभी वचनों के आधार पर वेदादि शास्त्र एवं तदनुसारी निबन्धविश्वासी धर्मनिष्ठ हो या तदाधारित राजकीय नियमों, कानूनों से शासित ही हिन्दू सिद्ध होता है। विचारस्वातन्त्र्य मान्य होने पर भी वेदादि शास्त्रानुयायियों में आचारस्वातन्त्रय नहीं है। विचारों में भी जो विचार प्रमारूप हैं, उसे ही कार्यान्वित करने का अधिकार होना चाहिये। इसलिए आचार की दृढ़ता का महत्व है। बालक अपने विचारों के अनुसार सांप और आग को पकड़ना चाहता है, परन्तु उसे वैसा नहीं करने दिया जा सकता। सभी लोग प्राय: अपने विचारों और आचारों को ही श्रेष्ठ तथा अन्य लोगों के आचार-विचारों को अपकृष्ट समझते हैं, इसीलिये सब पर उसी को लादना चाहते हैं। भले ही वे हितैषिता के नाते ही ऐसा करते हो, फिर भी ऐसी हितैषिता लोगों के लिये अवश्य उद्वेजक होती है। विचार के द्वारा किसी को किसी सिद्धान्त में निष्ठा हो जाये यह दूसरी बात है।

कुछ लोगों का मत है कि 'सम्' और 'कृति' का अर्थ सदाचार है। समान विचार से अनुप्राणित प्राणिसमूह सभा है। सभा में दक्ष (साधु) पुरुष 'सभ्य' कहा जाता है। सभ्य का भाव, विचार सभ्यता कहलाती है। कुछ सज्जन ब्राह्य चाकचिक्य को सभ्यता कहते हैं। भोजन, पान, विश्राम, व्यवाय, गमनागमन के चमत्कारपूणर्ज्ञ, सुन्दर, रोचक, आकर्षक प्रकार और कला, स्वच्छता, वस्तु, भोजन, पात्र, मकान, वस्त्र, यान की चमक-दमक को सभ्यता कहते हैं। संगीतकला, चित्र, शिल्प, राजनीति आदि की विशेषताओं को संस्कृति कहते हैं।

प्रथम अर्थ संस्कृति, सभ्यता इन दोनों संस्कृत के शब्दों के आधार पर है ओर अंशतः ठीक है, परन्तु दूसरा अर्थ 'कल्चर', सिविलाइजेशन् इन अंग्रेजी शब्दों के आधार पर किया गया है। खेत जोतना, बोना और परिष्कृत करना तथा सभा में बैठने योग्य साफ-सुथरा बनाना ही उन शब्दों का अभिप्राय हो सकता है। प्रथम व्याख्या में यदि कृति का अर्थ बाह्यचेष्टा ही लिया जाये तभी विचार संस्कृति से पृथक् अवशिष्ट रह सकता है। पर यदि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की प्रत्येक चेष्टा या कर्म को 'कृति' कहा जा सकता है, तब तो सम्यक् आचार-विचार सभी संस्कृति पद के ही अर्थ हो जाते हैं। सभ्यता के 'तल्' प्रत्यय का अर्थ भाव ही है, परन्तु भाव शब्द का अर्थ तो सत्ता है, विचार नहीं। प्रकृतिजन्य पदार्थबोध में प्रकारीभूत अर्थ ही भाव कहा जाता है फिर भी घटत्व का घटभाव अर्थ है। उसका पर्य्यवसान घटाकारेण परिणत मृत्तिका में ही हो जाता है। फिर संस्कृति के 'क्तिन्' का भी तो भाव ही अर्थ है। फलतः अनादि, अपौरुषेय वेद एवं तदाधारित शास्त्रों के अनुसार, आचार, विचार, परम्परा को संस्कृति, सभ्यता मानना असंगत नहीं। आस्तिक्य, आत्मवाद हिन्दु धर्म के मुख्य स्तम्भ हो ही सकते हैं।

यदि यह जगत् जड़ प्रकृति की हलचल, विद्युत्कणों के संघर्ष या अकस्मात् परमाणुओं के एकत्रित होने से ही नहीं बना, यदि इसका रचयिता एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, तो उस सर्वज्ञ के नित्य विज्ञान में अनुविद्ध वैदिक शब्दों को नित्य मानना ही होगा। योग, साङ्ख्य की दृष्टि से भी चित्तसत्व सर्वार्थावभासनसमर्थ है। तामस आवरण से वह प्रतिरुद्ध रहता है। प्रमाणवृत्ति एवं योगाभ्यास से जितना तामसभाव का बोध होता है, सत्व विकसित होता है, उतना ही ज्ञान व्यापक हो जाता है। सर्वज्ञ परमेश्वर तो सर्वदा ही सर्वज्ञ रहता है, परन्तु सृष्टिकाल में तामस दोषों का कम विस्तार होने से सत्वाधिक्य के कारण ज्ञान, बल, वीर्य की अधिकता पायी जाती है। योगज विशेषता भी प्रसिद्ध ही है। सर्वज्ञ परमेश्वर का वह वेद ही विश्वव्यवस्था का विधान है। परमेश्वर उसे ही ब्रह्मदेव तथा अन्यान्य ऋषियों को प्रदान करते हैं। न केवल वैदिक ज्ञान ही, अपितु वैदिक शब्द भी अपौरुषेय एवं नित्य है। संस्कृत के शुद्ध शब्द भी नित्य ही है। वैदिक ज्ञान और शब्द तो परम्परा से प्राप्त होते ही है। सामान्यतया मूल ज्ञान और शब्द भी परम्परा से ही प्राप्त होते ही हैं। इसीलिए शिक्षा तथा सम्पर्क से ही ज्ञान और शब्द प्राप्त होते हैं। वैदिक शब्द और तदुक्त कर्म जन्ममूलक जाति के आधार पर व्यवहृत होते हैं। जैसे किसी विशिष्ट रस का निर्माण और स्थापन किसी विशेष यन्त्र और विशेष पात्र की अपेक्षा रखता है, अन्यत्र विकृत हो जाता है, वैसे ही किसी विशिट प्रकार के रजोवीर्यनिर्मित विशिष्ट रक्त तथा विशिष्ट बनावट वाले कण्ठ-ताल्वादि की अपेक्षा से ही वेद का अध्ययन और वैदिक कर्म का अनुष्ठान हो सकता है। अन्यत्र लाभ के बदले हानि होती है। इसीलिये मुख, बाहु, ऊरु, पादज ब्राह्मणादि

को जन्मना विलक्षणता मानकर वर्णाश्रमधर्म हिन्दू संस्कृति में मान्य होता है। आजकल के वैज्ञानिकों ने भी विभिन्न देशों के मनुष्यों में रंग, रूप, बनावट के भेद से कुछ जाति भेद माना है, साथ ही उनके रक्तों का भी वैलक्षण्य माना है। यह वैलक्षण्य प्रथम चार एवं नव, फिर सैंकड़ों प्रकार का मान लिया गया है। उनके उच्चारण में भी भेद स्वाभाविक हो गया है, जैसे कई रक्त के लोगों से शुद्ध दकार का उच्चारण नहीं बन पाता। जन्मना वर्णव्यवस्था तो इससे भी सूक्ष्म हैं। एक देश में उत्पन्न होने पर भी एक रूप, रंग तथा बनावट के होने पर भी सूक्ष्म ब्रह्मणादि की मुख बाहु आदि शक्तियाँ और विशेषताएँ शास्त्र, शिष्टोपदेश तथा परम्परा से ही विदित होती है। यही जन्मना वर्णाश्रमानुसारी भारतवासी हिन्दू, अथवा भारतशब्दवाच्य है। आज की प्रसिद्ध जातियाँ, उनकी संस्कृतियाँ तथा धर्म और उनकी दुनिया ही छः सात हजार वर्ष के भीतर के हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति और धर्म तो सनातन है, अनादि एवं अनन्तहैं। अब तो पदार्थविज्ञानियों ने चालीस लाख वर्ष की,भूगर्भविशेषज्ञों ने भूमिस्तरों और समुद्रक्षारता के अनुसार दस करोड़ तथा रेडियम के तत्त्ववेत्ताओं ने सात अरब, पचास करोड़ वर्ष की पृथ्वी को बतलाया है। चार लाख बत्तीस हजार वर्ष का कलि, उससे द्विगुण द्वापर, उससे द्विगुण त्रेता, उससे द्विगुण कृतयुग, ऐसी हजार चतुर्युगी का दिन, उतनी ही बड़ी रात्रि और ऐसी दिन-रात की सौ वर्ष की आयु वाला ब्रह्मा होता है। सहस्र ब्रह्मायु विष्णु की एक घड़ी होती है। १२ लाख विष्ण्वायु रुद्र की आधी कला होती है। हस तरह अनादि, अनन्त हिन्दू वैदिक संस्कृति के सामने अपरिगणित वार प्रपञ्च की सृष्टि और प्रलय होते ही रहते है।

(संस्कृति के बारे में महाराज श्री ने पांच लेख लिखे थे। उनको एकत्र कर दिया है। इससे पाठक को भारतीय संस्कृति का स्पष्ट ज्ञान होगा।)

***

आस्तिकवाद और विश्वशान्ति

[आज भौतिकवाद में आकण्ठ निमग्न वर्तमान मानव समाज में धर्म और ईश्वर के प्रति एक अनास्था सी व्याप्त है। प्राचीन भारतीय साधारणतः धर्मनिष्ठ परलोक एवं ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्थावान होता था अतः अन्तर बाह्य उभय प्रकार से प्रायः सन्तुष्ट रहता हुआ शांतिपूर्वक सहज स्वाभाविक जीवन यापन कर लेता था। परन्तु आज स्थिति ठीक इसके विपरीत हो गई है, जिसके फलस्वरूप चहुं ओर अशांति, असंतोष, आतंक, घृणा एवं हिंसा का प्रचार प्रसार हो रहा है। स्वामी जी ने बड़ी सरल सुबोध तर्कयुक्त शैली में प्रतिपादित किया है कि आस्तिकवाद से ही विश्व में शांति, सुव्यवस्था एवं न्याय कि स्थापना हो सकती है। प्रजा सन्तुष्ट रह सकती है। उनके वचनों का पालन कर पाठक लाभ उठावें।]

''असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदु।।''

समस्त विश्व का अधिष्ठानभूत परब्रह्म परमात्मा नहीं है, परलोक नहीं है तथा उसकी प्राप्ति का साधन धर्म एवं तदबोधक प्रमाणभूत शास्त्र नहीं है ऐसा समझने वाला व्यक्ति स्वयं असत् हो जाता है। उसके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार की समस्त चेष्टाएं पशुओं की चेष्टाओं के समान ही होती हैं। उसके लिए पशुता एवं मानवता में कुछ भी भेद नहीं रह जाता, क्योंकि आहार निद्रा भय और मैथुन यह सब तो मनुष्यों के समान ही पशुओं में भी होते हैं, धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जोकि मनुष्य को पशु से विलक्षण सिद्ध करती है। यदि ईश्वर एवं धर्म की भावना मनुष्य में न हुई तब तो वह भी पशुतुल्य ही है। इतना ही क्यों, वह तो पशु से भी निकृष्ट कोटि में परिगणित होता है। इसी लिए महानुभावों ने उसे उसे शृंगपुच्छविहीन पशु कहा है–'सो नर पशु बिनु पूंछ विषाना'। मशक और मक्षिका आदि के उपद्रवों को दूर करने में पुच्छादि से पशु को सहायता मिलती है परन्तु शृङ्गपुच्छविहीन पशु को अधिकाधिक सन्ताप ही सन्ताप रहता है। इसी तरह धर्मविहीन मनुष्य की स्थिति होती है।

परमात्मतत्व का अस्तित्व निश्चित रहने पर ही उसकी प्राप्ति की रुचि एवं उत्कण्ठा हो सकती है और सभी धर्म का अनुष्ठान और पाशविक उच्छृङ्खलता मिटाने का प्रयत्न हो सकता है। धर्मानुष्ठान से ही सांसारिक उन्नति भी हो सकती है। साम्राज्य,

स्वराज्य, धनधान्यादि सभी सुख एवं तत्सामग्रियाँ धर्म के ही फल हैं। धर्म के न रहने पर वे कुछ भी नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में प्राणी तृण के समान नगण्य, अतएव असत्प्राय हो जाता है। जब तक प्राणी में कर्तव्याकर्तव्य, हेय-उपादेय धर्म-अधर्म और आत्मा-अनात्मा की विवेक बुद्धि रहती है, तभी तक वह सच्चा पुरुष कहलाने का अधिकारी होता है। उक्त विवेक बुद्धि के सम्पन्न होने या नष्ट हो जाने पर पुरुष कहलाने का अधिकारी भी नहीं रहता। अतएव बुद्धि के नाश से पुरुष नाश कहा गया है - 'बुद्धिनाशत्प्रणश्यति'। यों भी जैसी भावना से भावित मतिवाला प्राणी होता है, वैसी ही स्थिति हो जाती है। अतः 'नहीं है परमेश्वर', 'नहीं हैं ब्रह्म'- ऐसी भावना वाला व्यक्ति 'नहीं' ही जैसा हो जाता है। इसके विपरीत 'अस्ति ब्रह्म' ऐसी बुद्धि वाला पुरुष सत् (सन्त) हो जाता है।

'सर्वाधिष्ठान परब्रह्म तत्व है' ऐसी बुद्धि होने से उसकी प्राप्ति के लिए धर्म एवं तद्बोधक शास्त्र का अवलम्बन करना होता है। तदर्थ पाशविक उच्छृङ्खल व्यापारों का परित्याग करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अधर्म-परिवर्जन अवश्य होगा, जिससे शूकर-कूकरादि योनियों की प्राप्ति नहीं होती धर्म के सेवन से दिव्य योनियों की प्राप्ति होती है, ब्रह्मनिष्ठ होने से प्राणी ब्रह्म ही हो जाता है। 'अस्ति ब्रह्म' ऐसी बुद्धि रखने वाला अस्ति हो, सन्त ही हो जाता है। अतएव श्रुतिमाता ने आशा की है कि 'अस्तीत्येवोपिलब्धव्यः।' ईश्वर और परलोक में विश्वास रखने वाला व्यक्ति अत्याचार, अन्याय और अधर्म से डरता है। जब प्राणी साधारण व्यक्ति के सामने भी पाप करते हुए संकोच करता है, तब सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, सबके हार्दिक भाव-कुभाव के भासक भगवान् से कौन से दोष एवं पाप छिपाये जा सकते हैं? इस दृष्टि से आस्तिकवाद ही विश्व में शांति एवं सुव्यवस्थापन कर सकता है।

पाणिनी ने ''अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः'' इस सूत्र से यह दिखलाया है कि -

''अस्ति दिष्टं परलोक इत्येतद् मतिर्यस्यासावास्तिकः,
नास्ति दिष्टं परलोक इत्येतद् मतिर्यस्य स नास्तिकः।''

परलोक है ऐसी बुद्धि जिसकी है, वह आस्तिक है। परलोक नहीं है ऐसी जिसकी मति है, वह नास्तिक है किसी न किसी रूप में परलोक पर विश्वास करने वाले लोग पर लोक में अशान्ति दुःख न हो इसलिए पापों और अन्यायों से बचने का भाव अवश्य ही रखेंगे। मनु ने वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहा है-'नास्तिको वेदनिन्दकः।' फिर भी उपर्युक्त पाणिनिमत से मनु की उक्ति का विरोध नहीं है। परलोक होने न होने की कल्पनाएं यदि निराधार है, तब तो आस्तिक-नास्तिक शब्दों का अर्थ भी काल्पनिक ही होगा। अतः परलोकविषयिणी भ्रमात्मिका मति जिसकी है, वह आस्तिकाभास है। प्रमारूपा मति जिसकी है, वही आस्तिक है। परन्तु जब परलोक

की सत्ता स्वरूप और उसकी प्राप्ति के विषय में तथा अस्तित्व व नास्तिक के विषय में में अनेक मतभेद उठते हैं, तब कौन माना जाय और कौन न माना जाय, है एक कठिन समस्या है। यदि इस विषय के सभी ग्रंथ या ग्रंथकार सर्वज्ञ समझे जायें, तो मतभेद क्यों? यदि कोई ही सर्वज्ञ हैं, तो 'कौन सर्वज्ञ कौन अल्पज्ञ' इसका निर्णय कैसे हो? अतः अनादि जीव, जगत् पर शासन करने वाले अनादि परमेश्वर की शासनपद्धतिरूप अनादि वेदों को ही मुख्य प्रमाण मानना उचित है। उनको संसार के सभी ग्रंथों से प्राचीन आज भी माना जा रहा है। वैदिकों की दृष्टि से वेद अपौरुषेय हैं, अतः भ्रमप्रमादादि पुरुषाश्रित दोषों से उन्हें दूषित नहीं कहा जा सकता। वे सहजश्वास के समान बुद्धि एवं प्रयत्न की अपेक्षा नहीं करते, अतएव अकृत्रिम हैं। उन्हीं से सच्चे परलोक एवं उसकी प्राप्ति के साधनों एवं प्रतिबन्धों को ठीक ठीक जाना जा सकता है। उनको न मानने वाला ठोक परलोक नहीं समझ सकता। अतः वेद का सम्मान करने वाला आस्तिक और उन्हें न मानने वाला नास्तिक होता है।

सभी व्यक्तियों, समाजों एव राष्ट्रों को जब तक हृदय से परलोक का भय और ईश्वर का डर न होगा, तब अवश्य ही उनमें सङ्घर्ष रहेगा। दूसरों के क्षेत्र, वित्त, कलत्र, भवन, हस्ति, अश्व और रथ आदि आनन्द सामग्रियों को देखकर ईर्ष्या होना स्वाभाविक है। गिरोह बनाकर उनके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करके छीनने का प्रयत्न होना भी स्वाभाविक है। इन्हीं भावनाओं से साम्यवाद, समाजवाद आदि की सृष्टि होती है। परन्तु आस्तिकवाद की यही विशेषता है कि वह सभी प्राणियों को अपनी-अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रखता है।

धर्मभावना से मजदूर, मिल मालिक, किसान, जमीदार, उत्तम, मध्यम और निम्न सभी श्रेणियों के सभी प्राणियों के लिए शांति, संतोष के साथ अपनी-अपनी उन्नति का मार्ग खुला रहता है। धर्म सम्बन्धहीन सम्पूर्ण वाद संकीर्णता के ही कारण होते है। किसी में धनिकों के ही लिए स्थान है, मजदूरों तथा किसानों को नहीं, किसी में मजदूरों को ही स्थान है, पूंजीपतियों को नहीं। परन्तु आस्तिकवाद में धर्म के बन्धन में सभी बँधे होते हैं। अतः कोई भी किसी पर ज्यादती नहीं कर सकता, इसीलिए महर्षियों ने सर्वशासक उग्र क्षेत्र का भी शासन करने के लिये धर्म की आवश्यकता समझी। सैनिकशक्तिसम्पन्न सम्राट् किवा महाबलवान् कोई अन्य व्यक्ति ही निर्बल प्राणियों के वित्तों एवं सुन्दर कलत्रों पर आक्रमण कर सकता था, परन्तु एक धर्म का ही भय उन्हें रोकता है।

आज भूखों के गिरोह पूंजीपतियों और राजाओं के धन छीनने के लिए आन्दोलन रचते हैं। पूंजीपति मर मिटना पसन्द करते हैं, परन्तु कुछ देना नहीं चाहते। पहले की स्थिति विलक्षण थी। धनिकवर्ग सम्पूर्ण सम्पत्ति को परमेश्वर की धरोहर मानते थे, अपने को केवल रक्षक या कर्मचारी मानते थे। धर्म रक्षा, राष्ट्ररक्षा

एवं भूखों के कष्ट दूर करने में अपनी सम्पत्ति का उपयोग कर अपने को धन्य-धन्य समझते थे। इतना ही क्यों, गरीब से गरीब भी भोजन के समय अतिथि की प्रतीक्षा करते थे, अतिथि मिलने पर आदर से सत्कार करते थे, न मिलने पर खिन्न होते थे। अतिथि पाने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे, घर में धन होने पर बहुदक्षिण यज्ञों का अनुष्ठान का प्रचार रहता था। रन्तिदेव विकट क्षुधा से पीड़ित रहकर भी श्वपाक एवं श्वान तक का आतिथ्य करने से उपरत नहीं हुए। स्वयं भूखे रहकर भी अन्न से दु:खी लोगों के क्षुधादि कष्टों को मिटाया जाता थ। प्राणिमात्र दूसरों के कष्ट दूर करने तथा सुख शांतिसम्पादन के लिए व्यग्र रहते थे। सभी दूसरों को देना ही चाहते थे, लेने से सभी बचना चाहते थे। प्रतिग्रह में समर्थ होकर भी लोग प्रतिग्रह से बचने का प्रयत्न करते थे। आज भी ग्रामीण, खानदानी शूद्र तक दूसरे की वस्तु लेने में हिचकता है। वह अपनी गाढ़ी कमाई के ही धन का उपयोग करना चाहता है, बिना परिश्रम सेंतमेत की वस्तु तथा बिना हक की वस्तु को हराम की वस्तु समझता है। सब जीव परमेश्वर के अंश, परमेश्वरस्वरूप ही हैं, इस तरह की भावना से सर्वत्र भ्रातृभाव या परमात्मभाव फैला रहता था। देनेवाले सर्वथा देने का प्रयत्न करते थे, लेने वाले बचते थे। संसार में 'गृहाण गृहाण - नेति नेति' 'ले लो-नहीं नहीं' का कोलाहल मचा रहता था।

आज ठीक उसके विरीत 'देहि देहि - नेति नेति' 'दो दो-नहीं नहीं' का कोलाहल मच रहा है। भूखों का गिरोह कहता है- हम लेंगे और अवश्य लेंगे, लूट-खसोटकर, मार-काटकर लेंगे ही। पूँजीपति कहते हैं- हम चाहें मर जाएं, जहन्नुम में चले जाएं, परन्तुं कुछ भी नहीं देंगे। आस्तिकवाद में सम्राट लोग भी राजसूय, अश्वमेघ, सर्वस्वदक्षिण आदि यज्ञों में अपने धन को प्राय: वितरण करते थे। यज्ञों में धन, रत्न, वस्त्र, अन्न आदिको का इतना दान होता था कि याजक तृप्त हो जाते थे। रामचन्द्र के यज्ञ में इतना दान हुआ कि महाभागा वैदेही के हाथ में केवल सौभाग्यचिह्न लाल डोरा ही रह गया। इस रूप से आवश्यक शास्त्रविरुद्ध सभी वाद आस्तिकवाद में आ जाते थे।

जब तक शुद्ध आस्तिकवाद चलता रहता है, राजा, प्रजा और अमीर, गरीब सभी एक दूसरे का हित चाहते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं, दूसरों को वस्तुओं को देखकर उन्हें ईर्ष्या नहीं होती। वे जानते हैं कि बिना हक और बिना परिश्रम के दूसरों की सम्पत्ति को लोभ की दृष्टि से देखना पाप है। अन्यायपूर्वक दूसरों का माल हराम का माल है, संसार में सब अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगते हैं। अपने कर्मों से ही कोई सम्राट, स्वराट्, धनी-मानी होता है, अपने कर्मों से ही कोई दीन दरिद्र एवं राग-द्वेषपरिप्लुत होता है। कर्मों से ही कोई शूकर, कूकर, कीट और पतङ्ग बनते हैं, कोई देवता, दानव और मानव होते हैं। आस्तिक दरिद्र यह सोचता है कि

अपने कर्मों से ही हम दरिद्र हैं, अपने कर्मों से ही अमुक-अमुक लोग धनवान हैं। किसी के धन पर सुख-सामग्री पर ईर्ष्या करना पाप हैं, उसे लोभ की दृष्टि से देखना अनुचित है। धन की इच्छा से धर्म और उपासना में ही लगना उचित है।

लोक में न्याययुक्त मार्ग से लखपति, कोटिपति, अरबपति आदि बनने में कोई आपत्ति नहीं रहती, परन्तु चोरी, डाका या अन्याय से लक्षपति बनने की भावना वाले प्राणी को हवालात की हवा खानी पड़ती है। इसी तरह सन्मार्ग से धनवान होने में कोई बाधा नहीं परन्तु विमार्ग से धनी बनने का प्रयत्न कभी इष्ट नहीं होता।

एक पिता के चार पुत्र है। पिता ने अपनी सम्पत्ति चारों के लिए बराबर विभक्त कर दी। उनमें से कोई पुरुषार्थ द्वारा बढ़कर कोटिपति बन जाता है और कोई प्रमाद से कौड़ीपति हो जाता है ऐसी स्थिति में पुनरपि कौड़ीपति का कोटिपति से धन लेकर उसकी बराबरी का प्रयत्न करना सिवा ईर्ष्या के और कुछ भी नहीं।

वस्तुत: धर्म के ह्रास हो जाने पर सर्वदा ही सङ्घर्ष होते हैं और समाज को अनेक शासन-पद्धतियाँ ढूँढनी पड़ती हैं यह एक तरह का चक्र चल पड़ता है। पूंजीपतियों और राजाओं में धर्मभावना की कमी होने से इन्द्रियों पर स्वाधीनता नहीं रह जाती, भोग-विलास में अधिक आसक्ति होने से शरीर एवं इन्द्रियों में निर्बलता आ जाती है। मन और बुद्धि भी उचित संकल्प तथा निर्णय में समर्थ नहीं रह जाते। धर्मबुद्धि की कमी से संयम की भी कमी हो जाती है। सम्पत्ति को भगवान की धरोहर समझकर जनता के हित में उसका उपयोग न करके अपने भोगों में लगाया जाता है। ऐसी स्थिति से राजा-प्रजा और अमीर-गरीब में मनमुटाव होने लगता है। भोगासक्त होने से निर्बल अमीरों में सन्तानों की कमी होने लगती है। निम्न श्रेणी के अयोग्य दत्तकों में प्राचीन परम्परा का उदारभाव न होने से वे और भी न्याय और संयम की उपेक्षा करके भोगासक्त होते हैं। प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिए ही वेन के शरीर को मन्थन करके पृथु आविर्भाव का प्रयत्न किया गया, किसी दूसरे को शासनसूत्र नहीं दिया गया था।

अस्तु, इस तरह भोगासक्त निर्बल धनपतियों में सन्तानों की कमी और गरीबों में संतानों में अधिकता हो जाती है। धर्मविमुख अमीर गरीबों से न्याय अन्याय का विचार न करके धनसंग्रह करते जाते हैं। उधर अधिक सन्तान वाले गरीब भूखों मरते हैं, वस्त्र और मकानों के लिए तरसते है। संसार का धन सिमट कर थोड़े से अमीरों के हाथ में आ जाता है। दुनिया का बहुत बड़ा गरीब मानवसमाज अन्न, वस्त्र एवं मकान, आदि से विहीन होकर दु:ख पाने लगता है उस समय बड़े लोगों की अश्व, रथ, गज, धन, धान्यादि सुख सम्पत्तियों को देखकर समाज में ईर्ष्या फैल जाती है। गरीबी के कारण लोगों में धैर्य छूट जाता है। दरिद्रता एवं दीनता के कारण धर्मभावना कमजोर हो जाती है। आवश्यक जीवननिर्वाह सामग्री न मिलने से चोरी, व्यभिचार की मात्रा भी

बढ़ने लगती है। फिर वे सहज धर्मभीरु गरीब भी दूसरों की सम्पत्तियों को छीन लेने के लिए गिरोह बनाकर आन्दोलन करने लग जाते हैं।

धर्मविहीन अमीर यह नहीं समझते कि सम्पत्ति का परमफल यही है कि उससे धर्म, समाज तथा राष्ट्र की रक्षा की जाये, भूखों एवं दु:खियों का दु:ख मिटाया जाय। ग्राम के चारों ओर आग लगने या महामारी फैलने से एक घर सुख की नींद नहीं सो सकता। जब समाज एवं राष्ट्र के लोग भूखों मरते हों, तो एक कोटिपति का सुख खतरे से खाली कदापि नहीं रह सकता। दोनों के संघर्ष में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद मिट जाता है और फिर कुछ दिन के लिए साम्यवाद चल पड़ता है। राजा-प्रजा, अमीर-गरीब सबको समानता का प्रयत्न होता है। उसके विरोधियों का सर्वनाश किया जाता है। परन्तु सृष्टि की विचित्रता अनिवार्य है। प्राक्तन धर्म एवं अधर्म की विचित्रता से प्राणियों तथा उनके सुख-दु:ख एवं तत्सामग्रियों में भी विचित्रता होती ही है। सब की समान बल, बुद्धि, योग्यता न होने से फिर दाम और आराम में भी भेद हो ही जाता है। शासन, सुव्यवस्थापन, संरक्षण हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में सर्वत्र काम, दाम, आराम में भेद हो ही जाता है। फिर निश्चय किया जाता है कि लोकमत के अनुसार योग्य शासक एवं प्रबन्धक निश्चित किये जायें और उनके दाम, आराम का कुछ अधिक ध्यान रखा जाय और उनका सालभर में या तीन साल में परिवर्तन होता रहे। जो कोई बहुमत से योग्य समझा जाय, उसे शासक या प्रबन्धक बनाया जाय और लोकसम्मत व्यक्ति को ही उच्च पद दिये जायें। बस इसी दृष्टि से इसे लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र या किसानों तथा मजदूरों का राज्य कहा जाता है।

कुछ दिनों बाद समाज के विद्वानों को यह समझ में आने लगता है कि अल्पज्ञ लोकमत से योग्य व्यक्ति का निर्णय नहीं होता। कुछ प्रचारक, प्रवक्ता एवं पत्र-पत्रिकाओं से ही लोकमत बनाया जाता है। लोक का निजी मत क्या है इसका निर्णय नहीं हो पाता। लोक की कोई निश्चित स्थिति नहीं। कभी का लोकमत ईसा जैसे महापुरुषों को फाँसी देने में विश्व का कल्याण समझता है, कभी का लोकमत उनके पूजन में कल्याण समझता है। कभी ईश्वर और धर्म के सम्मान में कल्याण समझा जाता है, कभी का लोकमत उनको काला मुँह करके निकालने की घोषणा करता है। ऐसी स्थिति में लोकमत के आधार पर वास्तविक लोकहित का निर्णय नहीं हो सकता। अतएव चुनावों में राष्ट्र का कितना धनक्षय होता है, कितने ही व्यक्तियों को प्राणों की भी बाजी लगानी पड़ती है। अत: विशेषज्ञों के मत के सामने लोकमत का मूल्य उसी तरह अकिंचित्कर है, जैसे रूप के विषय में एक नेत्रवान् के सम्मुख अरबों, खरबों नेत्रविहीनों का मत अकिंचित्कर होता है। यह सोच-समझकर ही कोई व्यक्ति अधिनायक बन बैठता है और वह बार-बार चुनाव को पद्धति को मिटाकर कुछ

विशेषज्ञों की सम्मति व सम्पत्ति से भिन्न प्रबन्धकों को नियुक्त करता है। अधिनायक अनुकूल हुआ तब तो ठीक ही है, अन्यथा वह भी बिना नियामक (ड्राईवर) की मशीन है। अन्यिन्त्रित शक्तिसम्पन्न अधिनायक से राष्ट्र को वैसा ही खतरा है, जैसा कि वेन अदि सम्राटों से पूर्वकाल में हुआ था। परन्तु प्रजा की आराधना से यदि वह युक्त हुआ, तब तो अनुरक्त प्रजा उसका सम्मान करती है। अन्त में पुत्र पौत्रादिपरम्परा का भी राज पर अधिकार बन पड़ता है।

सर्वथा धर्मात्मा एवं आस्तिक द्वारा ही विश्व में शान्ति एवं सुव्यवस्था होती है। अतः फिर से जब आस्तिकवाद, ईश्वरवाद सम्मानित होता है और पक्षपातशून्य अनादि, अपौरुषेय वेदों के अनुसार राजा-प्रजा, अमीर-गरीब सभी अपने-अपने धर्म को पालने लगते हैं, तब समाजहित राष्ट्रहित एवं विश्व के हित की भावना स्वयं बन जाती है। अन्याय, अत्याचार, परोत्पीड़न से जब अपने आप ही घृणा उत्पन्न हो जाती है, तब तो फिर सर्वत्र शान्ति ही शान्ति विराजने लगती है, उस स्थिति में अन्यायी एवं अत्याचारी को सताने का भाव नहीं रहता, किन्तु अन्याय, अत्याचार से उसका अहित होगा, इसलिए उसके अन्याय, अत्याचार मिटाने के लिए ही उसे दण्ड दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि संसार में अत्याचार, अन्याय मिट जाता है और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रहती। फिर तो दण्ड केवल संन्यासियों के हाथ में ही रह जाता है- 'दण्ड यतिन कर भेद जहं'। तभी सच्ची शान्ति व्यवस्थापित होती है। चराचर जगत् सब कुछ परमेश्वरस्वरूप या सब कुछ परमेश्वर का अंश है इस भावना के बन जाने पर ही सच्चे साम्यवाद की भी स्थिति होती है। हाँ, केवल व्याख्यान में कहने की बात न हो, हो मन की सच्ची भावना। आस्तिकवाद होने से ही प्रजा का न्यायपूर्वक नियन्त्रण हो सकता है, अन्यथा कैसा भी शासनविधान क्यों न हो, उसके कार्यान्वित करने में गड़बड़ी हो ही सकती है।

राजकीय कर्मचारी कहाँ तक किसके पीछे रहकर नियन्त्रण कर सकेंगे? फिर धर्म भावना न रहने पर राजकीय कर्मचारियों के भी न्यायान्याय देखने के लिए पृथक्-पृथक् पुरुषों को नियुक्त करना पड़ेगा, फिर उनके नियन्त्रण के लिये भी इसी तरह व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि कहीं भी आस्तिकता न होगी तो किसी भी अभियोग का सच्चा साक्षी ही न मिल सकेगा। न्यायाध्यक्ष साक्षी को धर्म की याद दिलाकर उससे कहता है- ''यमो वैवस्वतो राजा हृदि सर्वस्व धिष्ठितः तेन चेदविवादत्ते मा गङ्गा मा कुरून् गमः''। वैवस्वत राजा यम सबके हृदय में विराजमान यदि उनके साथ विवाद न हो अर्थात् प्राणी उनकी ओर से सच्चा हो, तो उसे गङ्गा और कुरुक्षेत्र जाने की आवश्यकता नहीं रहती। अभिप्राय यह है कि साक्षी को न्यायाध्यक्ष के सामने सच्चाई के साथ ही बोलना चाहिए। तस्मात् यह स्पष्ट है कि आस्तिकवाद से ही विश्व में

शान्ति, सुव्यवस्था एवं न्याय की स्थापना हो सकती है। अमीर-गरीब, राजा-प्रजा सभी अपना कर्तव्य पालन तभी दत्तचित्त होकर कर सकते हैं और आस्तिकवाद में ही सन्तुष्ट रह सकते है।

***

शास्त्र पर विश्वास करके यदि हम स्वधर्मानुष्ठान करे, तो ऐसा कोई भी दुर्घट पदार्थ नहीं, जिसे हम प्राप्त न कर सकें। इस समय राष्ट्रोद्धार का मुख्य प्रश्न सामने हैं। उसके लिए यदि हम कुछ नहीं कर सकते, तो भी ईश्वराराधन कर ही सकते हैं, जबकि इस समय हमारे पास पर्याप्त अस्त्रबल नहीं, शस्त्रबल नहीं, बाहुबल नहीं, संगठनबल नहीं, बोद्धबल नहीं, परिस्थिति में तर्क-वितर्कों को दूर फेंककर दत्तचित्त होकर सबको ईश्वराराधन करना चाहिये। हम यह नहीं कहते कि अन्य साधनों का उपयोग न किया जाय किन्तु जब अन्य साधन पास में नहीं, तब आखिर किया ही क्या जाय? और यह सबसे हो भी नहीं, सकता कि घर में आग लगी हो और मन्दिर में बैठकर माला फेंरे, दुर्गापाठ करें। हो भी सकता है पर इसके लिये अटल विश्वास की आवयकता है। पुरुषोत्तम, परब्रह्म, सर्वान्तरात्मा भगवान में पूर्णविश्वास वाला व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है। भगवान उसकी सहायता अवश्य करते हैं। पर साधारण स्थिति वालों के लिये तो ''मामनुस्मरयुद्धय च'' का ही मार्ग सर्वोत्तम जान पड़ता है।

क्या धर्म निष्फल है

[लोगों ने आज यह दृढ धारणा बना ली है कि धर्म-कर्म में क्या रखा है? धर्मात्मा व्यक्ति प्राय: दु:खी रहते है जबकि अर्धमरत व्यक्ति मौज उड़ा रहे हैं। अत: वर्तमान समय में धर्म मनुष्य के कार्यों मे बाधक ही है आदि। पूज्य स्वामी जी ने धर्मराज युधिष्ठिर एवं महारानी द्रौपदी के प्राचीन ऐतिहासिक संवाद के माध्यम से उक्त विचारधारा का बड़े मार्मिक एवं तर्कपूर्ण शैली में खण्डन करते हुए धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुष्ठान करते रहने का प्रतिपादन किया है। आज सब समाज में धर्मविहीन वातावरण है, राज्य धर्मनिरपेक्ष है, साहित्य धर्मविरोधी है, व्यक्ति व्यक्ति धर्म के नाम से नाक भौ सिकोड़ता है – स्वामी जी बड़े समारोह पूर्वक सनातन धर्म पक्ष का प्रबल समर्थन करते हुए स्पष्ट उद्घोषित करते है कि धर्म और ईश्वर की उपेक्षा न करो, स्वधर्मानुष्ठान करो और ईश्वर को प्रणाम करो। लेख पढ़कर स्पष्टत: मन में धर्मभावनाओं का उदय होता है आप स्वयं अनुभव करो।]

धर्मात्माओं को दु:खी, उपेक्षित तथा भग्नमनोरथ देखकर, कितने लोगों को यह धारणा हो गई है कि धर्म से कुछ काम नहीं निकलता बल्कि होते हुए कार्य में भी धर्म अड़चन डालता है।

इस विषय में एक प्राचीन इतिहास है। धर्मराज युधिष्ठिर की पत्नी द्रोपदी ने जब वनवास कृत दु:ख से तप्त होकर कहा, ''देव! आप को धर्म बहुत प्रिय है। धन, राज्य, पत्नी, बन्धु और जीवन सब कुछ आप का धर्मार्थ ही है। मैंने सुना था कि धर्म रक्षक नरेन्द्र का धर्म ही रक्षण करता है, परन्तु वह धर्म आपकी रक्षा क्यों नहीं कर रहा है। जैसे छाया पुरुष का अनुगमन करती है, वैसा ही आपकी बुद्धि धर्म का अनुगमन करती है। आप कभी अपने बराबर या छोटों का भी अपमान नहीं करते, फिर श्रेष्ठों के अपमान की तो बात ही क्या? समस्त भूमण्डल का साम्राज्य प्राप्त करने पर भी आपको अभिमान नहीं हुआ। आपके यहाँ स्वाहा, स्वधा, हन्तकार एवं विविध पूजाओं से देव, पितर, ब्राह्मण, यतियों का सम्मान, श्रौतस्मार्त अनेक कर्मो का अनुष्ठान होता रहता है। राजन! फिर भी आप पर ऐसी विपत्ति क्यों आती है?

देव! शीलवान श्रीमान आर्य वृत्ति-कर्षित होकर वे क्यों दु:खी होते है और दुष्ट लोग क्यों सुखी होते हैं? आप की विपत्ति और दुर्योधन की सम्पत्ति देखकर मेरे मन में विधाता के प्रति गर्हणा उत्पन्न होती है। जो क्रूर शास्त्रों का

उल्लंघन कर अधर्म को बढ़ाता है, उसे वैभव देने से विधाता को क्या लाभ होता है? यदि किया गया कर्म कर्त्ता को फल देता है, तो अवश्य उसके रचयिता ईश्वर को भी फल मिलना चाहिये। यदि वह अपने विचित्र ऐश्वर्य के प्रभाव से कर्मों से बच जाता है, तब तो फिर बल की प्रधानता रही। दुर्बल का तो फिर साथी दैव भी नहीं होता। अतः धर्म कथा सब ऐसी ही हैं। पहले तो प्राणियों को धर्म में श्रद्धा नहीं होती, होने पर भी धर्मात्मा के सामने विलक्षण विपत्तियों को देखकर सचमुच बड़े-बड़े धीरों के भी चित्त विचलित हो उठते है।''

श्री युधिष्ठिर ने कहा, ''देवि! यद्यपि तुम्हारे वचन चित्र शोभन एवं सुकुमार है, तथापि नास्तिक्य भावों से युक्त हैं। राज पुत्रि! हम कर्म फल की आकांक्षा से धर्म नहीं करते। कर्तव्य बुद्धि से यज्ञ, तप दानादि क्रियायें की जाती है। उनका फल हो या न हो। गृहमेधी का जो कर्तव्य है, वही यथाशक्ति करता हूँ। शास्त्रों की आज्ञा धीर सत्पुरुषों के आचारों को देखकर स्वभाव से ही मेरा मन धर्म में लगता है। जो व्यापार बुद्धि से धर्म द्वारा अभीष्ट प्राप्त करना चाहता है, वह वेदविदों की दृष्टि से प्रशंसनीय नहीं है। जो नास्तिकता से धर्म पर संदेह करता है, उसकी बुद्धि अपवित्र है। रानी! मैं वेद प्रामाण्य से कहता हूँ, ''धर्म पर सन्देह मत करो।'' धर्म पर शङ्का करने वाला प्राणी तिर्य्यग् योनि में जन्म लेता है और लोक वेद दोनों दृष्टि से वह गिर जाता है। वेदाध्यायी धर्मपरायण बालक भी वृद्धवत् आदरणीय है। शास्त्रोल्लघी धर्मशंकी प्राणी तस्करों से भी निन्द्य है।

रानी! धर्म का माहात्मय अभी-अभी तुमने प्रत्यक्ष देखा है। अप्रमेयात्मा चिरंजीवी मार्कण्डेय धर्म से ही इस अवस्था को पहुँचे। व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक तथा अन्यान्य ऋषिगण धर्म की महिमा से ही दिव्य ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न हैं। शाप अनुग्रह की शक्ति से युक्त एवं देवताओं से भी श्रेष्ठ है। ये लोग धर्म को ही प्रधान बतलाते हैं। अतः विधाता और धर्म पर आक्षेप नहीं करना चाहिये। बाल और अज्ञ तत्वज्ञों को उन्मत्त समझते है। धर्म शंकी किसी पर विश्वास नहीं करता। वह काम लोभ में आसक्त होकर नरक का भागी होता है।

जो आर्ष प्रमाणों का लंघन करता है, वह किसी जन्म में शांति नहीं पाता। रानी! धर्म ही संसार सागर में डूबते हुओं के लिये नाव है। स्वर्गादि परलोक प्राप्ति के लिये धर्म के सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं। यदि धर्मचारियों से अनुष्ठित धर्म निष्फल हो तब तो यह लोक अनन्त तम में डूब जाये। सब पाशविक भाव प्रवाह में बह जायें। तुम्हारी ओर धृष्टद्युम्न की अग्नि से उत्पत्ति ही लोक विलक्षण धर्म में प्रमाण है। योगसिद्धि से ऋषि गण धर्म का प्रत्यक्ष करते हैं।

कर्मणा फलमस्तीह तयैतद्धर्मशाश्वतम्।
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदर्षिर्वेद कश्यपः।।

'कर्मो का फल है' इसे कभी न भूलना चाहिये। देवि! धर्म और ईश्वर (विधाता) को मत अपमानित करो। आदर से धर्म का अनुष्ठान करो और ईश्वर को प्रणाम करो।

यह स्पष्ट है, कि जब बिना हेतु के कोई भी कार्य्य नहीं होता, तब यह विचित्र शरीर सुख-दु:ख और तत्सामग्री बिना कारण के कैसे हो सकता था? जगद्वैचित्र्य की अन्यथा अनुपपति से कर्म वैचित्र्य मानना ही पड़ता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि जैसे कार्तिक का बोया हुआ ही बीज चैत्र में फल प्रदान करता है। चैत्र का बोया हुआ तो उस समय फल न देकर कालांतर में ही फल देता है। इस दृष्टि से यह हो सकता है, कि प्राणी धर्मानुष्ठान काल में पिछले पाप कर्मों से दु:खी रहे, और अधर्मानुष्ठान काल में भी पिछले पुण्य कर्मों से जुड़ रहे, परन्तु जैसे बबूल में आम्रफल एवं आम्र में बबूल कण्टक नहीं लगता, उसी तरह अधर्म से सुख तत्सामग्री और धर्म से दु:ख और तत्सामग्री नहीं मिलती। हाँ, उग्रपुण्यों और पापों के फल शीघ्र ही होते हैं। यह भी सहस्त्रों में देखा जाता है। इसके अतिरिक्त अधर्म से मनोग्लानि और धर्म से प्रसाद तथा भावों से उत्कर्ष आदि भी प्रत्यक्ष ही देखे जाते हैं।

कितने औषध और कुपथ्य अपना सुपरिणाम और दुष्परिणाम विलम्ब में ही व्यक्त करते हैं। होमियोपैथिक औषधी छ:-छ: मास या साल-साल भरके बाद अपना गुण व्यक्त करती है। साथ ही यह भी है कि जितनी भूमि लीपने के लिए जितना जल चाहिये उससे कम जल में वह भूमि नहीं लीपी जा सकती। एक उदन्चन (गिलास) जल से महाप्रांगण का लीपना असम्भव है। वैसे ही थोड़े सत्कर्मों से दु:ख प्रापक महापापों का निवारण कैसे हो? जैसे प्रबल पराभव के लिये प्रबल मल्ल की ही आवश्यकता होती है, वैसे ही प्रबल संवेग में किये गये दुष्कर्मों की शक्ति क्षीण कर के सत्फल प्राप्त करने के लिए तीव्र संवेग से किये जाने वाले बड़े सत्कर्मों की अपेक्षा होती है।

***

किसी का अनिष्ट-चिन्तन करने से इतनी उसकी हानि नहीं होती जितनी चिन्तन करने वाले की हानि होती है। किसी भी कर्म में यदि 'समष्टि हित' की भावना रहती है तो वह महत्व कम हो जाता है। समष्टि अहित की भावना से बड़ा से बड़ा यज्ञ, तप, दान आदि निवीर्य्य हो जाता है।

भारत और नरदेह जन्म

आज चारों और अहंकार का साम्राज्य है, भौतिकवाद में आकण्ठ निमग्न स्त्री पुरुष निज स्वरूप को भूलकर, हिंसा, द्वेष, घृणा, स्वार्थ एवं पापाचार में रात-दिन निरत हैं, ऐसे घोर काल में स्वामी जी उद्विग्न जनता को शास्त्र वचनों का सदुपदेश देकर उन्हें समझाते हैं कि यह मानव देह बड़ी कठिनाई से मिला है इसे व्यर्थ में न गवांकर सत्पुरुषों के संग, सद्शास्त्रों के पक्ष एवं सत्कर्मों में लगाते हुए अपना और संसार का कल्याण करने में ही इस क्षुद्र क्षण भंगुर शरीर की सार्थकता है। इन प्रसंगों को पढ़कर सन्तप्त हृदय पाठकों को निश्चित रूप से शान्ति प्राप्त होती है।

''नृदेहमाद्य सुलभं सुदुलंभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मदानुकूलेंन न भस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।'' यह मनुष्य देह बड़ा दुर्लभ है जब प्राणो चौरासी लाख योनियों में भटकता-भटकता उद्विग्न हो उठता है तब भगवान् कृपा करके कल्याणार्थ मानव जन्म को प्रदान करते है। यह मानव देह अतिदुर्लभ होने पर भी भगवान् कृपा करके कल्याणार्थ मानव जन्म को प्रदान करते हैं। यह मानव देह अतिदुर्लभ होने पर भी भगवान् की कृपा से सुलभ हुआ है। अपार संसार समुद्र को पार करने के लिये यह मानव शरीर समर्थ जहाज है। वेद-शास्त्रमर्मज्ञ, विद्वान् आचार्य ही इस जहाज का कर्णधार अर्थात् पतवार पकड़ने वाला चतुर मल्लाह है। भगवान् कहते हैं 'ऐसा दुर्लभ शरीर रूप जहाज और आचार्य रूप कर्णधार मिल जाने पर मैं अनुकूल वायु बनकर जहाज को पार कर देता हूँ।' जो ऐसा उत्तम साज-समाज पाकर, परमेश्वरानुगृहीत होकर, आचार्योपदिष्ट शास्त्र के अनुसार शरीर को कर्मोपासना में लगाकर तत्व-साक्षात्कार करके अपार संसार समुद्र को पार नहीं कर जाता वह आत्मघाती है। 'जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सोकृत निन्दक मन्दमति आत्महन गनि जाइ।' वह प्राणि परलोक में विविध प्रकार का दु:ख पाता है-शिर धुन-धुनकर पठताता है काल और कर्म एवं ईश्वर को मिथ्या दोष लगाता है-

सो परत्र दुख पावई शिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।।

प्राणिमात्र का कर्तव्य है कि साधनधाम, मोक्षद्वार मानव देह को पाकर इसे व्यर्थ न जाने दे। इससे आत्मकल्याण एवं विश्वकल्याण का प्रयत्न करना चाहिए।

भगवान् का नाम, भगवान् का ध्यान आदि सरल सुगम उत्तमोत्तम साधन है जिनसे प्राणी सहज में आत्मोन्नति कर सकता है। एक निमिष के ध्यान से प्राणी पंक्तिपावन-पावन हो जाता है, एक नाम से अनन्त पापराशि नष्ट हो जाती है। जैसे चन्द्रोदय, मृगांक, मालती-बसन्त आदि महौषधि अतिस्वल्प (आधी रत्ती) मात्रा में भी सेवन करने से बड़ा लाभ पहुँचाती हैं, परन्तु पथ्य-परिपालन, कुपथ्य-परिवर्जन साथ-साथ अत्यन्त आवश्यक होते हैं, इसी तरह भगवत्कर्म भगवद्ध्यान्, भगवच्चरित्रश्रवणादि भक्ति अत्यन्त लाभदायक होती है, परन्तु यहाँ भी स्वधर्म का पालन अधर्म-विधर्म का परिवर्जन परमावश्यक होता है।

अतिसौभाग्य से नरजन्म की प्राप्ति तत्रापि पुमान् (पुरुष) होना, उनमें भी विप्र होना, विप्र होकर भी, दुराचारादि से बचकर वैदिक धर्मतत्पर होना बड़े ही सौभाग्य की बात समझी जाती है। फिर सगुण, 'निर्गुण ब्रह्मस्वरूप में परिनिष्ठित होना तो मानव जन्म की परम सफलता समझी जातीहै- ''जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता, तस्माद्वै दिकधर्ममार्गपरता विद्वत्वमस्मात् परम्।''

स्वधर्मानुष्ठान, भगवदुपासना, भगवतत्वसाक्षात्कार करके प्राणी अनायास ही जन्ममरणाविच्छेदलक्षणा संसृति से छुटकारा पा जाता है। इसीलिए देवता लोग भी भारत में जन्म पाने के लिये तरसते हैं और कहते हैं अहो! इन भारतवासियों ने कौन पुण्यकर्म किया अथवा भगवान् स्वयं ही उन पर प्रसन्न हो गये, जिससे कि इनका भारतवर्ष में मुकुन्द-सेवा के उपयोगी जन्म हुआ। स्वधर्मानुष्ठान भगवदाराधना का समाश्रयण करके इन्हें परगति प्राप्त कर लेने का परम अवसर प्राप्त है ''अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः। यैजन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहाहिनः।'' दुष्कर तप, यज्ञ, व्रत, दानादि से हम लोगों ने यद्यपि स्वर्ग को प्राप्त कर लिया, परन्तु जहाँ नारायण-पादपंकज का स्मरण न हो इन्द्रियों के अतिशय उत्सव (आनन्द) से भगवत्स्मृति प्रमुष्ट (छीनी जाती) हो जाती हो, उस तुष्छ स्वर्ग, जय से क्या लाभ?-

''कि दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतैर्दानादि भिर्वाद्यु जयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपङ्कजस्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्।।''

कल्पजीवी दिव्य देवताओं के पुनरावृतिवाले लोकों को पाने की अपेक्षा क्षणमात्रजीवी प्राणियों को भारतभूमि की प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि यहाँ के मनस्वी क्षणभर में हो सर्वकर्म-संन्यास करके श्री हरि के अभयपद को प्राप्त कर लेते हैं -

''कल्पायुषां स्यानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः सन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः।।''

भारत में भगवान् की कथा-सुधा की गङ्गा एवं तदाश्रित भगवद्भक्त सुलभ

होते हैं। यहाँ भगवत्संबन्धी यज्ञ, महोत्सवादि होते ही रहते हैं। यह सब चीजें जहाँ हों वहीं सर्वोत्तम स्थान है। इसके बिना इन्द्रलोक भी किसी काम का नहीं–''न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः। न यत्र यज्ञेशमखामहोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेब्यताम्।।'' जो लोग भारत में ज्ञानक्रिया, द्रव्यादिपूर्ण मनुष्य जन्म पाकर भी मोक्ष के लिए नहीं प्रयत्न करते हैं, वे लोग बन्दरों के समान पुनःपुनः बन्धनों में ही फँसते हैं– ''प्राप्ता नृजाति त्विह ये च जन्तवो ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसंभृताम्। न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते भूयो बनौका इव यान्ति बन्धनम्।''

भारत की एक बड़ी विशेषता है कि यहाँ यज्ञों में श्रद्धा से विधिसहित मन्त्रों के द्वारा दी हुई आहुति को प्रसन्नता के साथ नामरूपों से पूर्णकाम भगवान् ग्रहण करते है– ''यैः श्रद्धया वर्हिषि भागशो हविर्निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः। एकः पृथङ् नामभिराहुतो मुदा गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः।।'' माँगने वाले सकाम पुरुष को भगवान् अभिलषित वस्तुओं को प्रदान करते हैं, परन्तु ऐसा अर्थ नहीं देते जिससे बारम्बार अर्थिता बनी ही रहे। निष्काम भक्त की इच्छाओं को सर्वदा के लिये बन्द कर देने के लिये भगवान् अपने चरणकमल को उसके हृदय में प्रकट कर इच्छा का द्वार ही बन्द कर देते हैं –

''सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजताम निच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्।।''

विशेषतः गन्धर्व लोक, देव लोक में तत्त्वदर्शन में सुविधा नहीं होती। जैसे मलिन, चञ्चल जल में अस्पष्ट मुखदर्शन होता है, अथवा स्वप्न में अस्त–व्यस्त वस्तु दिखती है, वैसे ही इन लोकों में अस्पष्ट ब्रह्मदर्शन होता हैं। विषय–भोग के बाहुल्य होने पर वैराग्य का अभाव होने से इन लोकों में तत्वदर्शन अति दुष्कर होता है। बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत करने पर भी विरोचन ने उल्टा ज्ञान प्राप्त किया, एक सौ वर्ष में इन्द्र को तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ। देवता लोग चाहते है कि यदि हमारे यज्ञ, तप, दानादि सत्कर्मों का कुछ अंश अवशिष्ट हो तो प्रभु कृपा करके उसी सुकृत से भारतवर्ष में स्मृतिमत् जन्म देवें हैं, जहाँ भजन करने वाले प्राणियों का भगवान् कल्याण करते हैं –

''यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद् वर्षे हरियर्द्भजतां शं तनोति।।''

भारतवर्ष के सत्कुल में जन्म, विद्या सम्बन्ध सदाचारी जीवन बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। कुछ लोग ऐसी स्थिति में काल को दोष देते हैं। कलिकाल का प्रभाव अवश्य ही साधनों पर पड़ रहा है, तथापि भगवत्परायाण स्वधर्मनिष्ठ पुरुष को काल का कोई भी डर नहीं। अनन्त कोटि–ब्रह्मांडनायक, कर्तुमकर्तु समर्थ, प्रभु से बड़ा कोई भी नहीं। प्रभु की ओर चलने से प्रभु अनुकूल होते हैं। फिर प्रतिकूल कौन हो सकता है? यदि कोई प्रतिकूल हो भी तो क्या कर सकता है? बल्कि सज्जन लोग तो

कृतादि युगों में कलियुग में जन्म पाना चाहते थे, इसलिए कि कलि में नारायणपरायण होकर प्राणी अनायास ही भवसागर को पार कर लेता है–

''कृताविदु नरा राजन् कलाविच्छन्ति संभवम्।
कलौ नरा भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।।''

कलि में दुराचार को त्याग कर दुर्विचार को रोककर सद्विचारपूर्वकसत्कर्मानुष्ठान करते हुए भगवान् का सहारा लेने से प्राणी का अवश्य कल्याण होता है। यद्यपि प्राक्तनकर्म स्वयं–साक्षात कर्म के प्रवर्त्तक नहीं होते, तथापि संस्कार द्वारा प्रवर्तक होते हैं। विहितत्व, निषिद्धत्वाकार से कर्म सुख–दुःखादिजनक अपूर्व पैदा करते हैं, क्रियात्वेन कर्मजनक–संस्कार पैदा करते हैं, यही संस्कार प्रकृति या स्वभाव शब्द से कहा जाता है। भगवान् ने कहा है कि सभी प्राणी अपनी प्रवृतिवश होकर तदनुसार ही कर्म करता है ''सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।'' तथापि भगवान् ने कर्मस्वातन्त्र्य के लिये उपाय बतलाया है –

''इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।''

इन्द्रियों का अपने अर्थों में रागद्वेष व्यवस्थित है, उनके वश में न होना यही पुरुषार्थ का मार्ग है अर्थात् सावधानी से सत्पुरुषों का सङ्ग और शास्त्रों का सङ्ग करके पाशविक रागद्वेष मिटाकर, शास्त्रानुसार सत्कर्मो में राग एवं दुष्ट कर्मो में द्वेष करके, सत्कर्मो में प्रवृति दुष्ट कर्मों से निवृति सम्पादन करने पर प्राणी प्रकृति एवं स्वभाव पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस तरह ईश्वर, काल, कर्म को दोष ने देकर ईश्वर की कृपा से ही अपने और लोक के कल्याण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

***

वैदिक शास्त्रों में बालक के विचारों को सम्भालने का बड़ा ध्यान रक्खा गया है। स्त्रियों और बालकों के निर्मल कोमलो पवित्र अन्तःकरण में पहले से ही जो बातें अंकित हो जाती हैं, वे ही सदा काम आती हैं। चित्त या अन्तःकरण यदि अद्भुत लाक्षा (लाख) के समान कठोर होता है, तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता, और जबकि वह द्रुत लाक्षा पर मुहर के अक्षरों के समान निर्मल, कोमल, पवित्र अन्तःकरण पर उत्तम आचरणों और उपदेशों से प्रभावित होता है। अच्छे पुरुषों का 'संग' तथा सच्छात्रों के अभ्यास में ही उन्हें लगाना अच्छा है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

[सारा संसार प्रगति के नाम पर आज न जाने किस ओर दौड़ा चला जा रहा है। प्रगतिशील सुसभ्य एवं समुन्नत कहे जाने वाले मानव समाज में मानव-मूल्यों का शीघ्रता से आज अवमूल्यन हो रहा है। मानवमन इतना स्वार्थपंक में निमग्न हो गया है कि उसे दूसरों के सुख-दु:ख पर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं है आज। स्वामी-जी इस वातावरण में भी पुरातन इतिहास-पुराणादि के माध्यम से परोपकार, परदु:खकातरता, शरणागत रक्षा एवं अतिथि सत्कार आदि की बाते बड़े समारोहपूर्वक उपस्थित करते हैं। राजा शिवि इन्द्र एवं अग्नि के संवाद के रूप में स्वामी जी द्वारा अभिव्यक्त वैदिकों की विशाल धर्मपरायणता की बानगी इस लेख में पाठकों के लिए प्रस्तुत है।]

शास्त्रों में शरणागत रक्षण की महिमा बड़े ही रोचक ढङ्ग से वर्णित है। एक तरफ सांगोपांग दक्षिणा सहित सम्पूर्ण यज्ञ और दूसरे तरफ एक भी भयभीत प्राणी का परित्राण - दोनों बराबर है, बल्कि देवताओं ने तोल कर देखा तो प्राणरक्षण का ही पलड़ा भारी पड़ा। एक बार औशीनर शिवि के पास धर्म जिज्ञासा से अग्नि - कपोत (कबूतर) तथा इन्द्र - श्येन (बाज) बनकर गये। श्येन के भय से विह्वल होकर कपोत राजा शिवि के शरण गया, इतने ही में श्येन भी पहुँचा।

राजा के अंक में सुरक्षित कपोत देखकर श्येन ने राजा से कहा - राजन्! आप सभी राजाओं में श्रेष्ठ है, फिर धर्म विरुद्ध अधर्म क्यों करते हैं? आपने दान से कृतघ्नों, सत्य से अनृतवादियों, क्षमा से क्रूरकर्माओं तथा सत्कर्म से असाधुओं को जीत लिया। अपकारियों का भी उपकार करते हो। दोषों को जानकर भी उनकी उपेक्षा करके गुणों से ही अन्वेषण में तत्पर रहते हैं। मैं क्षुधा से व्यथित हूँ। कपोत मेरा समुचित भक्ष्य हैं। आप इसको शरण देकर धर्म छोड़ रहे हैं।

राजा ने कहा - तुम्हारे डर से प्राणरक्षार्थ मेरी शरण आये हुए, इस पक्षी को मेरे सदृश कौन पुरुष छोड़ सकता है? लोभ, द्वेष और भय से जो प्राणी शरण आये हुए को त्याग देता है - उसको ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है। शास्त्रों में महापातकियों के लिये भी प्रायश्चित है, परन्तु शरणागत परित्यागी के लिये कोई भी प्रायश्चित नहीं बतलाया गया। जैसे अपेन प्राण प्रिय होते हैं वैसे ही सभी प्राणियों के प्राण हैं, अत: 'मृत्युभय से त्रस्त प्राणियों की रक्षा' परमधर्म है। संसार सागर में पड़े हुए प्राणी जन्म,

मृत्यु एवं जरा आदि के उपद्रवों से क्लेश पाते रहते हैं। जिससे अपने को कष्ट होता है उससे दूसरों को भी कष्ट होता होगा– ऐसा समझकर प्राणी दूसरों को कष्ट न पहुँचावे। जैसे अपना जीवन अपने को प्रिय है वैसे ही दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय होता है– इसलिए, मैं इस भीत कपोत को कथमपि न दुँगा।

श्येन ने कहा – राजन्! आहार से सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। आहार से ही जीते हैं। दुष्कर काम भी प्राणी किसी तरह कर सकता है। परन्तु, आहार के बिना कोई भी रह नहीं सकता। कपोत मेरा आहार है। यदि यह मुझे न मिलेगा तो मेरे प्राण अवश्य चले जाएंगे। मेरे मरने पर मेरे पुत्रकलत्रादि सब मर जायेंगे। एक कपोत की रक्षा से हमारे बहुतों के प्राण लोगे। जो धर्म एक दूसरे धर्म को बाँधता हो– वह धर्म नहीं है किन्तु अविरोधी धर्म ही धर्म है। धर्म का विरोध उपस्थित है। गौरव लाघव सोचकर जो बड़ा धर्म हो उसी का अनुष्ठान करना युक्त है।

राजा ने कहा – भयभीत प्राणियों को अभयदान से बढ़कर और कोई भी धर्म नहीं है। एक प्राणी को अभयदान इतना बड़ा धर्म है कि सहस्रों ब्राह्मणों का स्वर्ण समलंकृत सहस्रों गोदान भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते। संसार में सुवर्ण, धन एवं वस्त्र आदि के दानी बहुत हैं। परन्तु प्राणियों का हितप्रद बड़ा दुर्लभ है। बड़े–बड़े यज्ञों का भी फल कभी न कभी क्षीण हो जाता हैं। परन्तु भीत को अभय देने वाले का फल कभी नहीं मिटता। तप, श्रुत, तीर्थ–सेवा आदि कोई भी कर्म अभयदान की बराबरी नहीं कर सकते। चतुःसागर पर्यन्त पृथ्वी के दान से भी विस्तृत अभयदान का फल होता है। हे श्येन! मैं राज्य छोड़ सकता हूँ। दुस्तज शरीर को भी छोड़ सकता हूँ। परन्तु भयसन्त्रस्त इस कपोत को नहीं छोड़ सकता। मेरा जो कुछ भी शुभ कर्म है, उससे मैं यही चाहता हूं कि जन्मांतरों में भी मैं प्राणियों का आर्तिनाशक बनूँ। मैं राज्य, स्वर्ग, मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहता– केवल दुःखतप्त प्राणियों का कष्ट निवारण चाहता हूँ। 'यन्ममास्ति शुभं किञ्चित्तेन जन्मनिजन्मनि भवेदमहमार्तानां। प्राणिनामार्तिनाशकं। नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवं। प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम्।' यदि मेरी यह वाणी मिथ्या नहीं है तो उसीसत्य से परमेश्वर प्रसन्न हों। विहङ्गम तुम यदि आहार चाहते हो तो इससे अतिरिक्त जो कहे वह तुम्हें आहारार्थ दे सकता हूँ।

श्येन ने कहा – राजन्! कपोत ही मेरा आहार है उसी को दो, और मुझे कुछ भी नहीं चाहये। राजन्! आप के इस धर्म में सार नहीं है आप भ्रम में न पड़िये। मेरा आहार मुझे दे दीजिये।

राजा ने कहा – विहङ्गम! कभी मैं कुशास्त्र के आधार पर नहीं चलता। दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं। यह शास्त्र से ही उपदिष्ट धर्म है। सर्व प्राणियों को दान देने से भी एक प्राणी पर दया करना बड़ा धर्म है। सर्ववेद, सर्व यज्ञ एवं सर्वतीर्थाभिषेक आदि सत्कर्म जो कुछ कर सकते हैं – वह एक भूतदया ही कर सकती है। जो लोक वाक् काय

एवं मन से सब प्राणियों का हित करते हैं, वे लोग दया के ही प्रभाव से ब्रह्मलोक जाते हैं। उठते-चलते, सोते-जागते जो भी चेष्टा भूतहितार्थ नहीं है वह पशु चेष्टित है। जो आत्मसात् प्राणियों की रक्षा करते हैं, वे लोग परमगति को प्राप्त होते हैं। मारे जाते हुए प्राणी को देखकर जो समर्थ होते हुए उपेक्षा करता है वह नरक का भागी होता है। 'प्राणिनं वध्यमानं तु यः शक्तः समुपेक्षितं स याति नरकं घोरमितिप्राहुर्मनीषिणः।' हे श्येन! तुम राज्य चाहो तो राज्य दें किंबहुना कपोत को छोड़कर जो भी कहो तुम्हें दे सकते हैं।

श्येन ने कहा- राजन्! यदि कपोत में आपका इतना दृढ़ अनुराग है तो कपोत के बराबर अपरा मांस दे दो। यह सुनकर राजा ने कहा-श्येन! यह तो आपने हम पर बड़ा अनुग्रह किया-जितना चाहिए उतना मेरा मांस लीजिये। सुजन लोग अप्रिय बात को विलम्ब से कहते हैं परन्तु यह तो मेरे लिए अत्यन्त प्रिय बात है, इसके कहने में आपने विलम्ब क्यों किया? प्रतिक्षण विनश्वर अध्रुव शरीर से जो ध्रुव धर्म का अर्जन नहीं कर लेता वह तो शोच्य एवं मूढ़बुद्धि है। यदि किसी प्राणी के उपकार में इस शरीर का उपयोग न हुआ तो खिला पिला कर इसका उपकार करना भी व्यर्थ ही है।

श्येन ने कहा-राजन्! मैं अधिक मांस नहीं चाहता तुला पर तौल कर केवल कपोत के बराबर ही अपना मांस दो।

राजा ने कहा-अस्तु, जैसा आप कहते हैं-मैं वैसा ही करता हूँ। इससे कपोत की रक्षा और आप की प्रसन्नता होगी। यह कहकर तराजू में एक पलड़े पर कपोत को रखकर दूसरे पलड़े पर अपना मांस निकाल निकाल कर प्रसन्नता के साथ राजा तौलने लगे।

साधु लोग अपने फल भोग की इच्छा को त्यागकर सर्व प्राणियों का सुख चाहते हैं। दूसरों के दुःख से ही वे दुःखी होते हैं, उनका अपना कोई भी दुःख नहीं होता।

तराजू पर पर्याप्त मांस रखने पर भी कपोत वाला पलड़ा भारी ही पड़ता गया, पुनश्च अपना मांस निकालकर राजा ने रखा। फिर भी कपोत गुरु ही ठहरा। जब निकालते निकालते सब मांस निकालकर रख देने पर भी कपोत के बराबर राजा का मांस न ठहरा, तब राजा अपने आप ही तुला पर बैठ गये। पर दुःख से कातर भूतहितैषी लोग अपने सुख की परवाह नहीं करते इसका कितना सुन्दर और ज्वलन्त उदाहरण है। जब इस तरह राजा शिवि अपने सुख-दुःख की परवाह न कर तुला पर चढ़ गये, तब देवताओं ने दुन्दुभि बजाया और फूलों की वर्षा की।

राजा की दृढ़धर्मनिष्ठा देखकर इन्द्र ने अपने रूप में प्रकट होकर कहा-राजन्! मैं श्येन के रूप में इन्द्र हूँ और यह कपोत अग्निदेव हैं। आप की धर्मनिष्ठा देखने के लिए हम दोनों आये थे। राजन्, ऐसा किसी राजा ने पहले नहीं किया न कोई आगे करेंगे। दूसरों के लिये प्राण त्याग करने से जो प्राप्ति आपको हुई वह प्राणसंश्रयलुब्ध प्राणियो के प्राणों में भी नहीं हो सकती। दूसरों का अत्यंत कल्याण करने वाली अपने सुख के प्रति निष्ठुरता धारण करने वाली अद्भुत करुणा केवल आप ही ये तरुणायमान हो रही है। अपने

कर्मपाश से सारा जगत बँधा हुआ है। परन्तु जगत को दु:ख से मुक्त करने के लिये आप करुणा से बद्ध हो रहे हो। जैसे आप सब प्रकार दोषों से मुक्त है उसी प्रकार आपको कर्तृत्व का अभिमान भी नहीं है। आपने विशिष्टों में ईर्ष्या न कर, नीचों का अपमान न कर, सदृशों से स्पर्धा न करके सर्वोत्तम कोटि को प्राप्त कर लिया। यह अन्यत्र दुर्लभ है। विधाता ने परोपकार के लिये ही आकाश में बादलों तथा भूमि में सफलद्रुमों को बनाया है। जो अपने प्राणों से दूसरे के प्राणों की रक्षा करता है वह उस परमधाम को प्राप्त होता है–जहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती। राजन्, आप ने अपने प्राणों से कृपण जन की रक्षा की है, अपना मांस दे दिया है। फिर और द्रव्यों की तो कथा ही क्या है। जीने को तो अपना ही पेट भरने वाले पशु भी जीते हैं। फिर सचमुच जीना तो उसी का है तो परार्थ जीता है। ठीक है, सन्तों का जीवन परार्थ ही होता है। चन्दन द्रुम जैसे अपने देह की शीतलता के लिए नहीं होते वैसे ही सन्त अपने उपकार के लिए नहीं; किंतु परार्थ ही उनका जन्म होता है। हे राजन्! आपकी कीर्ति अमर होगी। अब आप दिव्य रूप धर होकर चिरकाल तक पृथ्वी का पालन करके ब्रह्मलोक जायेंगे।

ऐसा कहकर इन्द्र और अग्नि अपने लोक को चले गये। राजा क्रतु से परमेश्वर का यजन करके देवता के समान विराजमान हुए। हिन्दू शास्त्रों को पढ़ने से अनेकों इतिहास ऐसे मिलते हैं, जिससे मालूम पड़ता है कि यहाँ धर्म के सामने अर्थ और काम का कोई भी मूल्य नहीं रहता था। धर्म के लिये प्राणों की परवाह नहीं की जाती थी। औशीनर, शिवि, दध्यङ्, अथर्वा तथा हरिश्चन्द्र आदिकों ने धर्म के लिए अपने प्राणों को संकट में डालकर अमरकीर्ति प्राप्त की है। यहाँ के पक्षियों ने भी अतिथि सत्कार के लिये अग्नि और लकड़ी लाकर अतिथि का शीत दूर किया। पश्चात् उसकी क्षुधा दूर करने के लिये कुटुम्ब सहित अपने आप को अग्नि में होम किया। कहाँ लोगों की इतनी विशाल धर्म प्रियता, कहाँ आज ऐन्द्रिय भोगों एवं मिथ्या तत्साधनों के प्रलोभन में धर्म का बहिष्कार। क्या एक बार फिर अपने प्राचीन इतिहासों पर गम्भीर दृष्टि डालनी समुचित नहीं है?

***

'ईश्वर का अभिव्यञ्जक शास्त्र है। शास्त्रों पर विश्वास करके एवं समुचित ढंग से उनका अध्ययन करके उनके अनुसार अनुष्ठान करना और परात्पर, पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म की उपासना करना यही कल्याण का मार्ग है।' गीता भी कहती है कि प्राणी स्वधर्मानुष्ठान द्वारा ही अभ्युदय, नि:श्रेयस, परमगति प्राप्त कर सकता है। इसीलिये हमें अपनी समस्त चेष्टाओं एवं हलचलों को शास्त्रोक्त बनाने की कोशिश करनी चाहिये।

धर्म रक्षार्थ प्रचार कार्य आवश्यक

[धर्मविहीन राष्ट्र में धर्म की बात कहने, धार्मिक संस्थान बनाने, धर्म प्रचार करने की कोई आवश्यकता नहीं; धर्म तो अंतर की वस्तु है, उसके लिए प्रचार के टण्टे में पड़ना ठीक नहीं। अथवा कलियुग में तो धर्म का पतन होना ही है अत: क्यों झमेले में पड़ा जाय या फिर धर्म तो ईश्वर ने बनाया है। वही उसकी रक्षा आदि कर लेगा आदि आदि विचार आज के पढ़े लिखे समाज में व्यक्त किये जाते हैं–परन्तु स्वामी जी का कथन है कि जैसे गर्मी की ऋतु में गर्मी के निवारण तथा शीत ऋतु में गर्मी के सम्पादन के लिए प्रयत्न आवश्यक है इसी प्रकार कलियुग में भी धर्म रक्षार्थ प्रयत्न आवश्यक ही है।.....जब कुत्ता भी जहाँ बैठता है वहाँ पूँछ से स्थान स्वच्छ कर बैठता है तो कोई धार्मिक, भक्त, ज्ञानी जहाँ रहेगा उस स्थान, देश का वातावरण शुद्ध करना चाहेगा। कर्तव्य पालन पर दृष्टि रखकर संसार को भगवत्स्वरूप समझकर परोपकार एवं सेवा भाव से, तत्ववित्त, धर्मात्मा पुरुषों का धर्म प्रचार–प्रसार करने में ही कल्याण निहित है। स्वामी जी की तर्क शैली का अवलोकन करें।]

बहुत से सज्जन आस्तिकता और प्राचीनवादिता के विरोध में आकर कहने लगते हैं कि 'सभाओं, संस्थाओं का निर्माण और धर्म प्रचार आदि धर्म के हितार्थ नहीं है। प्रचार में बहिर्मुखता आती है। धार्मिकता में अन्तर्मुखता अभीष्ट है। दूसरों को अज्ञानी समझकर उपदेश में प्रवृत्त होने से अहंकार प्राबल्य होता है, किन्तु अभीष्ट होता है अहंकार का शैथिल्य। धर्म अन्तर्मुखता का साधन है। उससे आर्थिक, राजनीतिक लाभ निकालने की बात सोचना अनुचित है। जहाँ बाहर से अपने को भीतर करना इष्ट हो वहाँ बाह्यप्रवृति बढ़ाने का कुछ अर्थ ही नहीं। समूह बनाकर प्रार्थना आदि की जाय ये सब पाश्चात्य भाव हैं।' किंतु वस्तुत: यदि शास्त्रों का पूर्णरूप से अध्ययन किया जाय तभी यह कहना सङ्गत हो सकता है कि शास्त्रों में क्या है और क्या नहीं। शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–सभी कुछ वर्णित है, अतएव प्रवृत्ति–निवृत्ति दोनों मार्ग शास्त्रों में वर्णित हैं। महाभारत की तो प्रतिज्ञा है कि जो इसमें है वही अन्यत्र है, जो यहाँनहीं वह कहीं नहीं है– 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।' शास्त्रों में जहाँ निवृत्ति मार्ग का वर्णन है वहाँ देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि – सब की चेष्टाओं का अत्यन्त निरोध तक कहा गया है। जिस समय पञ्चेन्द्रियां, मन और बुद्धि चेष्टाशून्य हो जाते हैं वही परागति है–''सदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु परमां गतिम्।।'' वहाँ शुभ–अशुभ,

सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म सभी का त्याग अभीष्ट होता है- ''त्यजेत् धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज।।'' वहाँ परोपकार, धर्मरक्षा आदि सभी वस्तुएँ उपेक्ष्य हो जाती है। स्वप्न में समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को बचाने के लिए स्वप्न की नौका या पुल की तभी तक आवश्यकता होती है, जब तक स्वप्न भंग नहीं होता। स्वप्न भंग होते ही सब कुछ बाधित हो जाता है। फिर उन बातों को महत्व देना उपहासास्पद होता है। अतिनिर्विण्ण मुमुक्षुओं, जिज्ञासुओं को भी संसार से अत्यन्त मुँह मोड़ कर आत्मजिज्ञासा में लग जाना पड़ता है। दुनिया भर में उथल-पुथल मच जाय, पुण्य-पाप और पाप-पुण्य हो जाय, सूर्य ठण्डा और चन्द्र ऊष्ण पड़ जाय, समुद्र शुष्क और मुमेरु विचूर्ण हो जाय तथा आन्तरिक विशीर्ण हो जाय, फिर भी साधक को अपने लक्ष्य से टस से मस न होना चाहिए-'प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।' फिर भी ऐसा भी पक्ष है कि जो कृपण, दुःखी प्राणियों को छोड़ कर मुक्ति भी नहीं चाहते ''नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको नान्यत्त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।'' तत्त्ववित् भी लोकसङ्ग्रहार्थ विविध कर्मों को करते हैं। जैसे बहिर्मुखदशा में भोजन, पान आदि में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही लोकसंग्रहार्थ तत्तत्कर्मों में भी प्रवृत्ति होती ही है। वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि की कर्मकाण्ड में, दुर्वासा आदि की तपस्या में, नारद आदि की गुणगान में, सनकादि, शुकादि की समाधिनिष्ठा में और चन्द्र, सूर्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवताओं की सृष्टि, स्थिति, संहार आदि में विस्तृत प्रवृत्ति होती है। फिर भी वे वस्तुतः अकर्ताअभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ही है। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाला तत्त्ववित् युक्त और कृत्स्नकर्मकृत् ही माना गया है। जैसे मरुमरीचिका में फेन-बुदबुद-तरङ्गयुक्त महासमुद्र के प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वहाँ जल त्रिकाल बाधित है, शुद्ध, शुष्क भूमि एवं मरीचिका के अतिरिक्त वहाँ 'जल' नाम की वस्तु है ही नहीं, वैसे ही अनन्त प्रपञ्च तथा कर्मकलाप के प्रतीत होने पर भी वस्तुतः तत्ववित् की दृष्टि में शुद्ध, अखण्ड ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी भासित नहीं होता।

इससे निम्न श्रेणी यह है कि जैसे गुड़ माधुर्य का अनुभवी पित्तदोष से गुड़ में कदाचित तिक्तता का अनुभव करते हुए भी उसमें कभी श्रद्धा नहीं करता, वैसे ही प्रारब्धदोष से द्वैत एवं तन्मूलक कर्मकलाप का अनुभव करते हुए भी तत्त्ववित् उसकी सारता में विश्वास नहीं करता। कथा, प्रवचन आदि के द्वारा अनादिकाल से धर्म, ब्रह्म के प्रचार की परम्परा प्रचलित है। कर्मकांड अनेक ऋत्विजादिसापेक्ष होते ही हैं। राजसूय, अश्वमेधादि बहुधन-जनसाध्य होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। बहुकर्तृक सत्रादि भी प्रसिद्ध ही है। 'अधीतिबोधाचरणप्रचारणः' यह प्रसिद्ध वचन तो अध्ययन, बोध, आचरण, प्रचारण का घण्टाघोष वर्णन करता ही है। नैमिषारण्य के अगणित महर्षियों की सूत जी द्वारा कथाश्रवणादिपद्धति भी बहुत प्रसिद्ध है। तब धर्म प्रचार आदि को धर्म हितार्थ न मानने में तुक ही क्या है?

इस पर कुछ लोग पूछ सकते है कि 'खड़े होकर व्याख्यान देने की बात तो शास्त्रों में नहीं आती।' किन्तु यह भी ठीक नहीं। राजा पृथु सभा में खड़े होकर व्याख्यान रूप में ही बोले थे। देखिये- 'तस्मिनर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः। उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव।। ऊचिवानिदमुर्वीशः सद संहर्षयन्निव।' (श्रीमद्भागवत, ४/२१। ४-१९)। कहा जाता है कि 'व्याख्यानों में ताली बजाने की पद्धति नवीन है।' पर यह भी ठीक नहीं। प्राचीन काल में प्रसन्नता में करतल ध्वनि करने की परिपाटी थी। अघासुर के मुख में ग्वालबाल प्रसन्नता से करताडनपूर्वक प्रविष्ट हुए 'वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः।' (भागवत १०। १२। २४)। निष्कर्ष यह निकलता है कि जैसे चेतन आत्मा के परतन्त्र अचेतन देहादि रहते हैं, ठीक वैसे ही यदि आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता के परतन्त्र लौकिकता एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान हैं, तो उनका उपयोग कर लेना उचित ही होगा। आज तीव्र संवेद से यदि संघटन और दक्षतापूर्वक कार्य न किया जायगा, तो धर्म, संस्कृति सभी संकटग्रस्त हो जायेंगे।

'धर्म सनातन है, नित्य है, उसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। फिर हमें उसकी रक्षा के टण्टे में क्यों पड़ना चाहिये? इसी तरह 'कलिकाल में धर्म का नाश अवश्यम्भावि है। फिर हमारे करने से क्या होगा?' ये दोनों धारणाएं अत्यन्त हानिकारक है। धर्म भव्य है, अनुष्ठानसाध्य है, उसका क्षय भी होता है। प्रवाहरूप में और अधिष्ठातृदेवरूप से वह नित्य भी है। कलि में भी उसकी रक्षा का प्रयत्न उसी तरह आवश्यक है जिस तरह ग्रीष्म में भी उष्णता-निवारणार्थ और शीत में भी उष्णतासम्पादनार्थ प्रयत्न आवश्यक होता हैं। दण्डनीति हृतायाम्। आज 'हिन्दूकोड' आदि के द्वारा वही दृश्य सामने उपस्थित है। इस दृष्टि से राजनीति की उपेक्षा बड़ी ही घातक नीति है। राजनीति के बिना धर्म विधुर होता है तो धर्म के बिना राजनीति विधवा होती है। अतः राजनीतिसहकृत धर्म एवं धर्मनियन्त्रित नीति होनी चाहिये। धर्म को राजनीति से पृथक् रखने से कल्याण होना असम्भव है यह सत्य है।

यह सच है कि जो अपने उद्धार और सुधार का प्रयत्न नहीं करता, वह अपना या देश, किसी का भी कल्याण नहीं कर सकता। स्वयं तरकर ही दूसरों को तारा जा सकता है। स्वयं भ्रष्ट हो तो वह दूसरों को भ्रष्ट करके ही रहता है। फिर भी व्यष्टि के उत्थान के साथ समष्टि के उत्थान का प्रयत्न होना आवश्यक ही है। यद्यपि संसार श्वलांगूल (कुत्ते की पूंछ) के समान टेढ़ा का टेढ़ा ही है, जैसे कुत्ते की पूंछ घृत, तैल का प्रयोग कर सीधा करने का लाख प्रयत्न करने पर भी - बांस की नली में डालकर रखने पर भी -टेढ़ी की टेढ़ी ही रहती है, वैसे ही लाख प्रयत्न करने पर भी संसार में काम किया ही है। अपरिगणित प्राणी उन प्रयत्नों से आत्मकल्याण में समर्थ हो सके हैं। पूर्ण समर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान वह परमेश्वर ही मुख्यरूप से संसार को सन्मार्गगामी

बनाने का जिम्मेदार है, जिसका यह संसार है। फिर भी वह श्वान भी बैठता है वहाँ लांगूल से स्थान को पवित्र करके बैठता है, तब कोई धार्मिक, भक्त या ज्ञानी जहाँ रहेगा, उस स्थान, देश तथा वातावरण को शुद्ध रखना चाहेगा ही। समष्टि व्यष्टि परस्पर एक दूसरे से विशेषरूप से सम्बद्ध है। समष्टि का प्रभाव व्यष्टि पर और व्यष्टि का प्रभाव समष्टि पर पड़ता ही है। पवित्र वातावरण वाले पवित्र देश, नगर में रहने से साधना में बड़ी सुविधाएँ मिलती हैं। अपवित्र वातावरण एवं अपवित्र देश, ग्राम-आदि में रहने से अनेक असुविधाएं होती हैं। मद्यपायी, वेश्यागामी, नास्तिक पुरुषों एवं कुलटा स्त्रियों के सन्निधान में रहने से उच्चकोटि के व्यक्तियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। सन्त, भगवत्परायण, परोपकारनिष्ठ, ब्रह्मात्मनिष्ठ प्राणियों के समागम से अपकृष्ट व्यक्तियों पर भी सत्प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से कर्तव्यपालन पर दृष्टि रखकर कार्य करना आवश्यक है। जगत् को भगवत्स्वरूप समझकर सेवाबुद्धि से या जगत् को भगवत्सन्तान एवं कुपथ्याभिमुख रुग्ण समझकर या सन्निपातग्रस्त समझकर उसके सम्मान-अपमान का ध्यान न कर उसकी सेवा करना उचित है। जैसे पशु के विपरीताचरण का ध्यान न रखकर किवा सन्निपातग्रस्त रोगी के विपरीताचरण, सम्मान अपमान का ध्यान न कर चिकित्सक चिकित्सा करता है, वैसे ही जनता की सेवा का भाव होना चाहिए। तत्त्ववित् के सामने शिष्यों के शतशः प्रश्न होने पर भी जिस तरह अहंकार-ममकार से लिप्त नहीं होता, प्रत्युत नाट्य एवं सिनेमा का दृश्य समझकर सर्वप्रपञ्चातीत रहता है, उसी तरह की स्थिति तत्त्ववित् लोकसंग्रही धर्मसंस्थापक की होती है। यदि वे उदात्त भाव न होंगे तब तो पदे-पदे अहंकार-ममकार का प्रसंग उपस्थित होता ही रहेगा।

***

शक्ति का स्वरूप

[शक्ति के बिना शिव भी शव है। सम्पूर्ण विश्व में शक्ति का ही साम्राज्य है। अनन्त ब्रह्माण्ड के अणु अणु में व्याप्त जो अदृश्य शक्ति है, स्वामी जी ने उसी अचिन्त्य दिव्य शक्ति का मानवीय स्वरूप इस लेख में प्रस्तुत किया है, वे लिखते हैं कि ''वेदान्त वेद्य परम तत्व ही शिव, राम, विष्णु, सूर्य्य, शक्ति आदि के रूप में प्रकट होता है, जैसे मूर्त्तिका में घटोत्पादिनी शक्ति और अग्नि में दाहिका शक्ति होती है इसी प्रकार ब्रह्म में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति है। वही निखिल विश्व की जननी है– वह अनिर्वचनीया है, वही माया शक्ति है, वह तप रूप है, वही अविद्या कहलाती है। –सारांश! जो भी कुछ देखा सुना जाता है उसके भीतर बाहर व्याप्त होकर वही पूर्ण चिति ही विद्यमान है।

उस कल्याणमयी, करुणामयी, वात्सल्यमयी, स्नेहमयी, पुत्रवत्सला माँ जगदम्बा की आराधना में ही सर्वविध कल्याण है। प्रबुद्धजन ज्ञान वर्धन करें।]

श्री भगवती ने देवी भागवत का संक्षेप में श्री विष्णु के लिये उपदेश किया है।

''सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्''

अर्थात् यह सब कुछ सनातन में ही है। मेरे से भिन्न कोई भी तत्व नहीं है। वेदान्त–वेद्य परमतत्व ही शिव तथा स्कन्द पुराण के शिवतत्व, रामायण के राम, विष्णु पुराण के विष्णु एवं वही सूर्य्य, शक्ति आदि रूप से प्रकट होता है। श्री हिमालय पर कृपा करके, करुणामयी, कल्याणयमी अम्बा ने ही अपने दिव्यस्वरूप का उपदेश दिया है :-

''अहमेवास पूर्वंतु नान्यत्किचिन्नगाधिप।''

नगाधिप! मैं ही एक सब कुछ हूँ। मेरा अनन्त अखण्ड बाह्यरूप अप्रतर्क्य एवं अनिर्देश्य है, अनौपम्य और अनामय है। उसी सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश परब्रह्म की एक स्वत: सिद्धा शक्ति है, वही माया नाम से प्रख्यात है। जैसे मृत्तिका में घटोत्पादिनी शक्ति और वह्नि में दाहिका शक्ति होती है, वैसे ही ब्रह्म में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति है। वही निखिल विश्व की जननी है। इस पक्ष में जगत भ्रान्तिमय या अध्यस्त कैसे है, प्रपञ्च की एकरूपसत्ता न होने से आरोप्यानुभव से आदित संस्कार नहीं बन सकेगा फिर भ्रान्ति या अध्यास कैसे सम्भव होगा इत्यादि शंकाओं को स्थान ही नहीं रहता, क्योंकि शक्ति द्वारा ब्रह्म की ही प्रपञ्चरूप से व्यक्ति हो जायेगी। फिर अद्वैत सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं होगा। कारण कि पारमार्थिक सद्रूप परमात्मा ही

अद्वितीय है। प्रपञ्च और उसकी जननी-शक्ति तो सत्, असत् और सदसद्, इन तीनों से विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीया है। जैसे वह्निशक्ति वह्नि से विलक्षण है, वैसे ही सत् की शक्ति सत् से विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीय है :-

''न सती सा नासती सा नोभयात्माविरोधतः।
एतद्विलक्षणा काचिद्वस्तुभूतास्ति सर्वदा।।''

ब्रह्मज्ञान द्वारा इसका बोध हो जाता है। इसलिये ब्रह्म नित्य सत् नहीं है, परन्तु उसी के कार्य्यभूत प्रपञ्च से समस्त व्यवहार बनता है, इसलिये ब्रह्म असत् भी नहीं और परस्पर विरोध होने के कारण दोनों की स्थिति असम्भव है, अतः सदसत् उभय स्वरूप भी नहीं है। अनिर्वचनीय वस्तुरूप मायाशक्ति मोक्ष पर्यन्त विद्यमान रहती है। जैसे पावक में उष्णता, सूर्य्य में किरण और चन्द्रमा में चन्द्रिका है, वैसे ही ब्रह्मात्मिका चिच्छक्तिरूपा भगवती में सहजसिद्धा मायाशक्ति है। सुषुप्ति में जैसे समस्त जीवों के व्यवहार विलीन रहते है, वैसे ही प्रलयकाल में माया के भीतर ही समस्त जीव और उनके कर्म और समस्त प्रपञ्च अभेदभाव से उसी माया में विलीन रहता है। उसी शक्ति के ही अनिर्वचनीय सम्बन्ध से निर्गुण निर्लिप्त चिच्छक्ति जगत् का बीज अर्थात् कारण रूप भी हो जाती है। उस परमतत्व के आश्रित रहने वाली माया शक्ति उसे आवृत्त करती है, इसलिये ब्रह्मशक्ति सदोष समझी जाती है। मायाशक्ति में भी विद्या और अविद्या यह दो भेद रहते हैं। उनमें विद्या विशुद्धा सत्वात्मिका होने से स्वाश्रय को व्यामोहित नहीं करती। अतः वह निर्दोष है। तम से अभिभूत सत्वयुक्त अविद्या स्वाश्रय की व्यामोहकारिणी है, इसीलिए ब्रह्म सदोष है। चैतन्य के सम्बन्ध से तद्गत चिदाभास ही चेतन प्रधान होने के कारण निमित्तकर्ता है और उसी शक्ति का प्रपञ्चरूप में परिणाम होता है, अतः समवायि कारण भी है। कोई लोग उस मायाशक्ति को ही तप कहते है। परमेश्वर उसी तप से विश्व का निर्माण करते हैं -

''स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत्'' और कोई शाखी उसे ही तम कहते हैं।

''तम आसीत् तमसा गूढमग्रे''

तम अज्ञान से ही आवृत्त होकर परमतत्त्व प्रपञ्चरूप में प्रतीत होता है। उसे ही कोई ज्ञानमाया प्रधान प्रकृति एवं अजाशक्ति भी कहते है। उसी को कोई विमर्श, कोई अविद्या भी कहा करते हैं।

''केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे,
ज्ञानं मायां प्रधानांश्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्।
विमर्श इति तां प्राहुः शैवशास्त्रविशारदाः
अविद्यामितरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिन्तकाः।।''

ब्रह्म निर्विकार साक्षी दृक् से दृश्य है, अतः जड़ है। अधिष्ठानज्ञान से उसका नाश हो जाता है, अतः असती है। एवं द्वैतजाल चैतन्य दृश्य नहीं है। यदि उसमें भी

दृश्यता हो तो वह भी जड़ हो ही जायेगा, अतः स्वप्रकाश चैतन्य दूसरे में नहीं प्रकाशित होगा।

''तस्याजडत्वं दृश्यत्वाज्ज्ञाननाशात्ततोऽसती।
चैतन्यस्य न दृश्यत्वं दृश्यत्वे जडमेव तत्।''

यह चैतन्य जैसे जड़ से नहीं प्रकाशित होता वैसे ही दूसरे चैतन्य में भी उसका प्रकाश नहीं होता। कारण, ऐसा मानने में अनवस्था होना अनिवार्य्य है। साथ ही वह अपने से भी अपना प्रकाश नहीं करता क्योंकि ऐसी स्थिति में उसमें कर्तृत्व और उसी में कर्मत्व होगा, जो संगत नहीं है। पर समवेतक्रियाफलशाली कर्म हुआ करता है। अपने आप कर्त्ता और अपने आप कर्म यह पक्ष अत्यन्त विरुद्ध है, अतः दीपक के समान वह स्वयं प्रकाशमान होकर दूसरों का प्रकाशक है, इसलिये स्वयं प्रकाश कहलाता है–

''स्वप्रकाशञ्च चैतन्यं न परेण प्रकाशितम्।
अनवस्थादोषसत्वान्न स्वेनापि प्रकाशितम्।।
कर्मकर्त्री विरोधः स्यात् तस्मात्तद्दीपवत्स्वयम्।
प्रकाशमानमन्येषां भासकं विद्धि पर्वत।।''

जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ति में दृश्य का व्यभिचार होता है, अर्थात् जागर का दृश्य स्वप्न में नहीं और स्वप्न का जागर में नहीं और इन दोनों का सुषुप्ति में नहीं, सुषुप्ति का आलम्ब जागर स्वप्न में नहीं। परन्तु इन तीनों अवस्थाओं का अखण्ड बोध या संविद् सर्वभासक रूप में नित्य अव्यभिचारी है। संविद् या बोध का व्यभिचार या अभाव कभी भी अनुभव में न आता है न आ सकता है। यदि बोध के भी अभाव का अनुभव माना जाये तो वहाँ भी वह अभाव जिस साक्षी से अनुभूत होता है, वह बोधरूप साक्षी जब विद्यमान ही है तब बोध या संविद् का अभाव कैसे कहा जा सकता है। बिन बोध या संवित् के भाव अभाव दोनों ही नहीं सिद्ध हो सकते। अतः संविद् का अभाव सिद्ध करने के लिये भी संवित्रूप साक्षी की आवश्यकता रहती ही है इसीलिये सर्वभासक स्वप्रकाश होने से चैतन्यरूप है, अवाध्य अव्यभिचारी होने से सत्य एवं नित्य है। मैं कभी न होऊँ ऐसा नहीं किन्तु सदा रहूँ ही। इस तरह प्राणियों के नितातिशय निरूपाधिक पर प्रेम का आस्पद होने से वह परमानन्दरूप है। साथ ही जब उससे भिन्न सारा ही प्रपञ्च मिथ्या ही है, तब कोई भी उसमें तात्विक सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः उनमें असंगता भी स्थित ही है। जब स्वप्रकाश संविद्रूपा भगवती से भिन्न माया और उसका कार्य्य सभी सत्, असत् और सदसत् से ये विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या है, तब फिर परिच्छेदक (भेदक या मापक) देश काल वस्तु न होने से ही अपरिच्छिन्नता (त्रिविधपरिच्छेद-शून्यता) भी सहज मैं ही सिद्ध हो जाती है। वह जो सर्वदृश्यभासक बोद्ध सिद्ध किया गया है, यह आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप ही है। धर्म मानने से आत्मा को उसका दृश्य होने से आत्मा में जड़ता आ जायेगी।

''तच्च ज्ञानं नात्मधर्मे धर्मत्वे जड़ताऽत्मनः''

यदि स्वप्रकाश आत्मा का धर्म है ज्ञान तो उसकी आवश्यकता ही क्या रहती है? यदि ज्ञान को स्वप्रकाश और आत्मा को जड़ माने सो भी ठीक नहीं, कारण कि स्वप्रकाश ज्ञान जड़ आत्मा का ही शेष या अंग हो सकता है। लोक में जड़ ही चेतन का शेष होता है यही प्रसिद्ध है। जैसे बोध या ज्ञान जड़रूप आत्मा का धर्म नहीं बन सकता वैसे ही वह चित्त बोधरूप आत्मा का भी धर्म नहीं हो सकता। कारण, चित् का चित्त से भेद ही नहीं हो सकता, फिर भेद बिना चित् चित का धर्माधर्मि भाव कैसे बन सकेगा? इसलिये आत्मा ज्ञानरूप एवं सुखस्वरूप है। यह अवश्य समझने की बात है कि जो ज्ञान और सुख नाम से प्रसिद्ध है वह अनित्य और विनाशी अन्तःकरण की वृत्तिरूप है। उसी ज्ञानाभास या सुखाभास में अविवेकियों को ज्ञान या सुख का भ्रम होता है। परन्तु इन विनाशी वृत्तिरूप ज्ञान और सुखों का प्रकाशक स्वप्रकाश अखण्ड बोध या ज्ञान ही असली ज्ञान और सुख है।

''ज्ञान अखण्ड एक सीतावर। सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।''

''चिद्धर्म त्वं तथा नास्ति चितश्चिन्नैव भिद्यते।''

वह बोध ही अत्यन्त अवाध्य होने से पारमार्थिक सत्य है और वही सब कुछ है अतः पूर्ण और असंत एवं द्वैत जाल से विवर्जित है। वही काम कर्मादि के सहित अपनी माया से ही पूर्व संस्कार के अनुसार कालकर्म के विपाक से सृष्टि की इच्छा वाला हो जाता है। जैसे कोई प्राणी पूर्व-संस्कार से अबुद्धिपूर्वक ही नींद से उठता है वैसे की आत्मा की यह सृष्टि कालकर्मसंस्कार से अबुद्धिपूर्वक ही होती है। यही जगत् बीजभूत प्रकृति से विशिष्ट मेरा स्वरूप अव्याकृत या माया शक्त कहलाता है, यही समस्त कारणों का कारण है और समस्त तत्वों का आदिभूत तत्व है, वही मायाश क्तियुक्त सच्चिदानन्द कहलाता है, वही समस्त कर्मों का घनीभूत स्वरूप ज्ञानी और इच्छाओं का आश्रय है, वही आदितत्व ह्रींकार ओंकार आदि का वाच्य तत्व है ''सर्वकर्म घनीभूत इच्छा ज्ञानक्रियाश्रयं। ह्रींकारमन्त्रवाच्यं तदादितत्वं तदुच्यते'' उसी मायाशक्तिविशिष्ट अव्यावृत से शब्दतन्मात्रस्वरूप सूक्षमाकाश उत्पन्न हुआ। उससे स्पर्शात्मक वायु और वायु से रूपतन्मात्रास्वरूप तेज और उससे रसात्मक जल, जल से गन्धात्मिका पृथ्वी उत्पन्न होती है, इन्हीं अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चभूतों के सात्विक अंश से अन्तःकरण और पञ्चज्ञानेन्द्रियां, राजस अंश से प्राण और पञ्चकर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वह सब मिलकर व्यापक लिङ्गशरीर ही आत्मा का सूक्ष्म देह कहा जाता है और पूर्वोक्त अव्याकृत ही आत्मा का कारण देह है। भूतों के तामस अंश से पञ्चीकरण मार्ग से स्थूल प्रपञ्च और विराट की उत्पत्ति होती है। भूतों के समष्टि सात्विक अंश से उत्पन्न अन्तःकरण में वृत्तिभेद से चार रूप बनाये जाते हैं। संकल्पविकल्प करते समय मन, निश्चय करते हुये बुद्धि, स्मरण करते समय चित्त और अहंकरण काल

में अहंकार कहा जाता है। प्रकृति में भी विशुद्ध सत्वप्रधाना माया और मलिनसत्वप्रधाना अविद्या कहलाती है, स्वास्थ्य को न मोहित करने वाली विद्या में प्रतिबिम्बसमन्वित अधिष्ठान ईश्वर कहा जाता है, वह स्वाश्रय के ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ सर्वानुग्राहक है। अविद्या में प्रतिबिम्ब अधिष्ठान अल्पज्ञ एवं दुखादि का आश्रयभूत जीव है। दोनों ही स्थूल सूक्ष्म कारण तीन देहों से युक्त हैं। व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण जीव के हैं, और समष्टि तीनों देह ईश्वर के हैं। व्यष्टि में कारण देहाभिमानी प्राज्ञ सूक्ष्म शरीराभिमानी तेजस और स्थूल शरीराभिमानी विश्व कहलाता है। समष्टि देहों के अभिमानी अव्याकृत, हिरण्यगर्भ एवं विराट् कहलाते हैं। ईश्वर ही नाना भोगों के आश्रयभूत विश्व का निर्माण करते हैं। भगवती ने कहा मेरी मायाशक्ति से ही समस्त चराचर विश्व बनता है, वह माया भी मुझसे पृथक् नहीं है, व्यवहारदृष्टि से जो माया और अविद्या कहलाती है वह परमार्थतः मुझसे पृथक कुछ भी नहीं है :-

''व्यवहारदृशावेयं विद्यामायेति विश्रुता। तत्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्वमेवास्ति केवलम्।।''

स्वप्रकाशारूपा भगवती ही निखिल प्रपञ्च का निर्माण करके उसमें वही प्रवेश करती है जिस तरह एक ही आकाश घटाकाश और महाकाश रूप में प्रकट होता है स्वप्रकाश चैतन्य ही विद्याशक्तिविशिष्ट ईश्वर अविद्या या अन्तःकरणविशिष्ट होकर जीवरूप में व्यक्त होता उसी अनेक उपाधिभेद से ही जीवों में नानात्व और गमनागमन सब कुछ उत्पन्न होता है। जैसे सूर्य्य भगवान् उच्चावच अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रकाश करते हैं परन्तु उनके गुणों या दोषों से वे युक्त नहीं होते, वैसे ही अखण्डबोधरूप सर्वान्तरात्मा सभी दृश्य का प्रकाशन करते है परन्तु उनके गुणों और दोषों में वे लिप्त नहीं होते। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब या रज्जु में सर्प वैसे ही शुद्धप्रकाशस्वरूप परमतत्व में समस्त प्रकाश्य परिकल्पित हैं। अतएव ईश्वर सूत्रात्मा विराट ब्रह्मा विष्णु रुद्र गौरी ब्राह्मी वैष्णवी सूर्य्य तारक तारकेश स्त्री पुमान् नपुंसक एवं शुभ अशुभ समस्त प्रपञ्च ही परात्परपूर्णतम परम तत्व ही का स्वरूप है। जो भी कुछ देखा और सुना जाता है उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर एक वही निर्विकार पूर्ण चिति ही विद्यमान है। सबको सत्तास्फूर्ति प्रदान करने वाली चिति से विमुक्त होकर जो कुछ भी है वह शून्य है, वन्ध्यापुत्र के समान है। जैसे सर्वधारा माला आदि भेदों में एक रज्जु ही अनेकधा भासित होती है वैसे ही एक चिद्रूप आत्मा ही अनेक रूप में भासित होता है। जैसे अधिष्ठान के बिना कल्पित पदार्थ की सत्ता और स्फूर्ति नहीं टिक सकती उसी तरह सच्चित्स्वरूप परमतत्व के बिना कल्पित विश्व में सत्ता और स्फूर्ति नहीं रहती। यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर्वहिश्च तत्सर्वं व्याप्याहं सर्वदा स्थिता। न तदस्ति मयात्यक्तं वस्तु किञ्चिच्चराचरं। यद्यस्ति, चेत्तच्छून्यं वन्ध्यापुत्रोपमं हितत्।

***

पातिव्रत महत्व

[नारी स्वातन्त्र्य के वर्तमान युग में प्रायः सम्पूर्ण समाज, साहित्य एवं विचारधाराएँ बड़ी तीव्रता से प्रतिकूल दिशा में बह रही है; पुरातन भारतीय समाज में नारी का बड़ा सम्मान था, उच्च स्थान था। वह भोग की सामग्री मात्र न होकर पूजनीय थी। समाज की उसे खान मान जाता था। उसकी पवित्रता पर विशेष बल रहता था। परन्तु आज समय का प्रवाह उल्टा बह रहा है जिसका परिणाम भी बुद्धिमानों से छिपा नहीं है। स्वामी जी इस भयंकर झंझावत से तनिक भी प्रभावित न होकर दृढ़तापूर्वक सनातन-शाश्वत-हितकर सिद्धान्तों को पकड़कर उनका प्रतिपादन करते रहे है। प्रस्तुत निबन्ध में कौशिक ब्राह्मण एवं उसकी पतिव्रता धर्म-पत्नी की पौराणिक आख्यायिका के द्वारा पातिव्रत धर्म के महत्व को उन्होंने प्रस्तुत किया है जिसे पढ़कर इस कामवाद-कामाचार-कामभक्षण से युक्त झुलसते समाज में शीतलता का अनुभव होता है। इस बयार का आप भी आनन्द लेकर आत्मिक लाभ प्राप्त करें।]

प्रतिष्ठान नगर में एक ब्राह्मण था उसका नाम कौशिक था। उसे अपने पूर्व जन्म के किसी कर्म विपाक से कुष्ठ रोग हुआ। ऐसी दशा में उसकी पतिव्रता स्त्री देव की तरह उसकी पूजा किया करती थी। वह उसके तलवे में तेल मलती, अंगों को दबाती, स्नान कराती, भोजन कराती, कफ, मलमूत्र, रक्त का शोधन करती, एकान्त में विभिन्न प्रकार के उपचारों एवं प्रेम सम्भाषण द्वारा अत्यन्त विनीत भाव से सदा पूजा करती थी।

स्त्री द्वारा इस भाँति सेवित पूजित रहने पर भी, यह अत्यन्त क्रोधी स्वभाववश, पद पद पर उस विचारी को बुरी तरह फटकारा करता था, परन्तु वह साध्वी इतने पर भी उसे देवता ही मानती थी। वह उस कोढ़ी पति को भी अपना सर्वस्व मानती थी। एक बार उस ब्राह्मण ने चलने में असमर्थ होने पर भी, अपनी स्त्री से कहा, कि हे धर्मज्ञे! तू मुझे उस वेश्या के घर से चल, जिसे मैंने घर बैठे अभी राज मार्ग से जाते देखा है। वह मेरी हृदय में बस गई है। उसे मैंने प्रातः काल देखा था। अब रात हो गई। अब तक वह मेरे हृदय से बाहर नहीं हो रही है। यदि उस सर्वाङ्ग सुन्दरी का मुझे आलिंङ्गन न मिला, तो यह निश्चय है कि तुम मुझे मृत देखोगी। मैं समझता हूँ, वह दुर्लभ है, तथापि काम इसकी परवाह नहीं करता। मेरी चलने की शक्ति नहीं, फिर भी वहाँ पहुँचना चाहता हूँ। यही विषम समस्या उपस्थित है।

अपने कामार्त पति के वचनों को सुनकर, वह पतिव्रता व्याकुल हो उठी और

अपने पति को कन्धे पर चढ़ा कर, धीरे-धीरे चली। रात का समय था, आकाश मेघ से ढका था, बिजली रह रह कर चमक रही थी। बिजली के प्रभाव में ही मार्ग देख कर, वह पतिव्रता अपने पति के प्रेम से चल रही थी। उसी मार्ग में एक शूली गड़ी थी, जिस पर महर्षि माण्डव्य को चोर की भ्रान्ति से चढ़ाया गया था। अन्धकार के कारण मार्ग ठीक नहीं दिखाई पड़ा, कन्धे पर चढ़े हुये ब्राह्मण के चरण से, महर्षि के अंग का स्पर्श हो गया। अत्यन्त दु:ख से आर्य महर्षि को बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने कहा, जिसने मुझे हिला कर कष्ट दिया, वह पापात्मा सूर्य्योदय होते ही मर जाये। ब्राह्मण की पत्नी ने मुनि के दारुण शाप को सुन, अत्यन्त व्यथित होकर कहा, कि सूर्य्य का उदय ही न होगा। उस पतिव्रता के वचनसे बहुत दिन तक सूर्य्य उदय ही न हुआ, निरन्तर रात्रि ही बनी रही। देवता गण भयभीत होकर सोचने लगे, कि स्वाध्याय वषट्कार स्वाहाकार के लोप हो जाने से, विश्व की किस तरह रक्षा होगी। सूर्योदय बिना, दिन रात की व्यवस्था नष्ट हो जायेगी, उसके बिना पक्ष, मास, अयन संवत्सर का ज्ञान सुतरां दुर्घट हो जायेगा।

पतिव्रता के वचन से सूर्य्योदय नहीं हो रहा है, बिना सूर्य्योदय के स्नान दान अग्निहोत्रादि क्रिया कैसे होगी। यज्ञ यागादि बिना देवताओं का आप्यायन न होगा, यज्ञादि से तर्पित हो कर देवता दृष्टि आदि द्वारा अन्न का उत्पादन करके, मनुष्यादि प्राणियों का उपकार-तर्पण करते हैं। उर्ध्ववर्षी मनुष्य नीचे से यज्ञादि द्वारा देवताओं का उपकार करते हैं, अधोवर्षी देवता ऊपर से मनुष्यों का उपकार करते हैं, इस परस्पर भावना से ही सब कल्याण के भागी होते हैं। देवता जल की वर्षा करते हैं, तो मनुष्य हविष्य की वर्षा करते हैं। जो नित्य नैमित्तिकी क्रियाओं द्वारा देवताओं को बिना अर्पण किये भोग भोगते हैं, उन पर जल, सूर्य्य, अग्नि और वायु कुपित हो जाते हैं, और उन अपकारियों की भूमि को दूषित कर देते हैं, विविध रोगों को उत्पन्न कर देते हैं, और जो देवताओं को तृप्त करके भोग भोगते हैं, देवगण प्रसन्न होकर उन्हें पर्याप्त भोग और आरोग्यादि प्रदान करते हैं।

देवताओं के ऐसे विचारों को सुनकर प्रजापति ने कहा, कि तेज से ही तेज और तप से ही तप की प्रशान्ति होती है। पतिव्रता के माहात्म्य से ही, सूर्य्य का उदय नहीं हो रहा है, सूर्य्य के उदय न होने से देवताओं और मनुष्यों दोनों की ही हानि होगी, अत: अत्रिपत्नी अनुसूया के पास जाओ। देवताओं ने जाकर ऋषि पत्नी की स्तुति की उस देवी ने प्रसन्न होकर आने का प्रयोजन पूछा। देवताओं ने प्रार्थना की, कि देवि सूर्य्य का उदय होना चाहिये। अनुसूया ने कहा, कि पतिव्रता का माहात्म्य जिस तरह से न घटे, उसी तरह से उसका सम्मान करके, सूर्य्य का आवाहन करूंगी, जिससे दिन रात की ठीक व्यवस्था हो। जिस तरह पतिव्रता के पति का नाश न हो, और सूर्य्य का उदय भी हो, ऐसा कार्य्य करूंगी आप लोग जाएं।

ऐसा कहकर वह उस पतिव्रता के मन्दिर में गई और उसके पति और धर्म का कुशल पूछा, और कहा –अपने पति को सुख देने वाली हे कल्याणि! प्रसन्न हो? तुम समस्त देवताओं से अपने पति को श्रेष्ठ मानती हो? स्त्री को पति शुश्रूषा से ही महाफल प्राप्त होता है, मनुष्य को पांच ऋण सदा ही देने चाहिये। अपने वर्णधर्म के अनुसार धन सञ्चय करके उसे सत्पात्र में दान करे, सत्य सरलता, तप, दान और दया का आचरण करे, एवं प्रतिदिन श्रद्धा सहित, राग और द्वेष रहित होकर यथा शक्ति शास्त्रोक्त कर्म करे। इस तरह प्राणी बड़े बड़े परिश्रम से प्राजापत्य आदि लोकों को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु पत्नी पति की सुश्रूषा मात्र से, पति के समस्त पुण्यों में अर्ध की भागिनी होती है। स्त्री के लिये पृथक् यज्ञ, उपवास, श्राद्ध आदि का विधान नहीं है। भर्त्ता की आराधना से ही पत्नी दिव्य लोकों को प्राप्त कर लेती है, इसीलिये हे साध्वि! तुम सदा ही भक्ति से पति की सेवा में मन लगाओ, नारी की पति ही परागति है।

अनुसूया के वचनों को सुनकर, बड़े आदर से मानकर के पतिव्रता ने कहा, कि मैं धन्य हूँ, और मेरे ऊपर देव का बड़ा अनुग्रह है, हे देवि! मेरी प्रकृति सिद्ध श्रद्धा को आपने बढ़ा दिया, यह मैं जानती हूँ, कि नारी के लिये पति के समान कोई गति नहीं है। पतिप्रीति ही स्त्री के लिये इस लोक परलोक में परमोपकार कारिणी है। पतिप्रसाद से ही पत्नी यशस्विनी होकर, इस लोक और परलोक में विविध सुख की भागिनी होती है। देवि! आप आज्ञा कीजिये, मैं और मेरे आर्य को क्या करना चाहिये।

अनुसूया ने कहा महाभागे! इन्द्र सहित समस्त देवता दुःखी होकर मेरे शरण आए हैं, आपके वचन से सूर्य्य का उदय नहीं हो रहा है, अतः दिन रात की व्यवस्था चाहते है। उसी के लिये मैं आई हूँ। दिन के न होने पर समस्त यागादि कर्मों का लोप हो जायेगा, और उसके बिना देवताओं की तृप्ति नहीं होगी, उसके उच्छेद से अनावृष्टि द्वारा जगत का उच्छेद हो जायेगा। इसीलिये हे कल्याणि! आप धैर्य धारण करके, जगत की आपत्ति को दूर करो। हे सुभगे! लोकों के कल्याण के लिये फिर से सूर्य्य उदय हो।

ब्राह्मणी ने कहा महाभागे! माण्डव्य ने मेरे पति को–ईश्वर को, बड़े क्रोध में आकर शाप दिया है, कि सूर्योदय होते ही तुम मर जाओगे। इस पर अनुसूया बोली, हे भद्रे! यदि तुम चाहो, तो तुम्हारे पति को मैं पहिले की भांति नीरोग शरीर दे सकती हूं। हे सुन्दरी! मेरे लिये पतिव्रता स्त्रियों का आराधन करना कर्तव्य हो जाता है, इसलिये मैं तुम्हारा आदर करती हूं। तपस्विनी अनुसूया ने, उस ब्राह्मणी के तथास्तु कहने पर, सूर्यदेव का आवाहन किया। उस समय उसे सूर्यार्घ्य लिये दस रात्रियाँ बीत गई थी।

तब इतने काल के बाद विकसित रक्त कमल से स्वरूप वाले भगवान् भास्कर उस मण्डल के साथ उदयाचल पर अवतीर्ण हुये।

उसी समय उस ब्राह्मणी का पति प्राणों से विमुक्त होकर, मर गया। मरते समय वह ज्योंही भूमि पर गिरने लगा, त्यों ही उसकी उस पत्नी ने उसे पकड़ लिया, गिरने नहीं दिया। इस अवसर पर अनुसूया बोली 'हे भद्रे'! तुम विषाद न करो। मेरी शक्ति को देखो, जिसे मैंने पति सेवा से प्राप्त किया है, नहीं तो मेरी इस चिर तपस्या का फल ही क्या होगा? इसके बाद उसने बड़ी दृढ़ता से कहा 'यदि मैंने रूप, शील, बुद्धि, वाक्य और मधुरता आदि सत् गुणों में अपने स्वामी के समान किसी को नहीं देखा, तो उस ''सत्य'' से यह ब्राह्मण रोग निर्मुक्त हो जाये, जीवित हो जाये और अपनी पत्नी के साथ सौ वर्ष तक रहे। यदि किसी को भी मैं अपने पति समान देवता नहीं समझती हूँ, तो इस सत्य से यह ब्राह्मण जीवित हो जाये, रोग मुक्त हो जाये। यदि सचमुच मन, वचन और कर्म से मैंने पति का आराधन किया है, तो यह मेरा उद्यम सफल हो, यह ब्राह्मण जीवित हो जावे।'

इसके बाद वह ब्राह्मण उठ बैठा, जीवित हो गया। उसका रोग जाता रहा, युवावस्था उसे मिली, उसकी कान्ति से घर चमक उठा। देवताओं की भंति वह अजर हो गया। उसी समय आकाश से पुष्प वृष्टि हुई। दिव्य बाजे बजे। देवता बड़े प्रसन्न हुये और बोले 'हे कल्याणि'! तुमने सूर्यदेव के उदय से देवताओं का बड़ा कार्य सम्पादन किया, तुम वर मांगो देवता तुम पर प्रसन्न है, तुम्हें वर देने को उद्यत हैं, तुम्हारा व्रत बहुत उत्तम है। इसे सुनकर अनुसूया बोली 'यदि ब्रह्मादि देवता मुझ पर प्रसन्न है, वर देने को उद्यत है और मैं आप लोगों के द्वारा वर देने योग्य समझी जा रही हूं, तो यह वर मिले कि – ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर मेरे पुत्र हों, और मैं अपने पति के सहित क्लेश मुक्ति के लिये योग को प्राप्त करूँ।'

ब्रह्मादिक देवताओं ने 'एवमस्तु' कहा। इस भाँति उस ब्राह्मणी ने पतिव्रत कामहात्म्य दिखलाते हुये, अपने साथ ही अपने पति का भी उद्धार किया, और भगवती अनुसूया के गर्भ से विष्णु रुद्र और ब्रह्मदेव, दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा के रूप से अवतरित हुये। पतिव्रत धर्म से इस जगत् में कुछ भी असाध्य नहीं है।

***

गौ

वेद परमात्मा के सहज स्वाभाविक रूप से निकले श्वास है, उनके या किसी अन्य के द्वारा रचित नहीं, अतः स्वतः प्रमाण हैं। वेदों द्वारा प्रतिपादित वैदिक कार्यकलाप ही धर्म है, जो समस्त संसार को धारण किये हुए हैं। वेदों में यज्ञ को मुख्य धर्म बताया गया है–'यज्ञो वैश्रेष्ठतमं कर्म'। 'यज्ञो वै विष्णुः' –देवताओं ने यज्ञ द्वारा विष्णु का पूजन किया था, वे विष्णु ही यज्ञ फल प्रदान करते हैं, जिस पर सम्पूर्ण लोक–कल्याण आधारित है। यह यज्ञ 'गौ' पर आधारित है, बिना गौ के यज्ञ कार्य सम्पादन नहीं हो सकता। ''ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधा कृतम्। एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरन्यत्र तिष्ठति।।'' –''श्रेष्ठ ब्राह्मण और गाय एक समान हैं। एक ही कुल का गाय और ब्राह्मण–इन दो प्रकार से विभाग किया गया है। यज्ञ में दोनों का उपयोग है। ब्राह्मणों में 'मन्त्र' हैं और गाय में 'हवि' है।'' यजुर्वेद में तो प्रथम मन्त्र में ही गोवृद्धि की कामना की गई है। आगे तेईसवें अध्याय में अध्वर्यु ने प्रश्न किया है कि ''कस्य मात्रा न विद्यते'' तब होता ने उत्तर दिया है कि –''गोस्तु मात्रा न विद्यते''–गाय की मात्रा–परिमाण नहीं है। कृष्ण–यजुर्वेद में कहा गया है कि–''मधुमतीः प्रदातारमाविशतानवहायास्मान्देवयानेन पथेत सुकृता लोके सीदत तन्न संस्कृतम्।''–दान दी गई गौमाता अधिभूत–शरीर से तो दान देने वाले का कल्याण करती है और अधिदैव–शरीर से यजमान के परलोक का सुन्दर परिष्कार एवम् निर्माण करती है। ऋग्वेद में बताया गया है कि –'गौ एकादश रुद्रों की माता है, वसुओं की पुत्री है और द्वादश आदित्यों की बहन है। वह प्रजाओं की प्राण है, अमृत (क्षीर) की नाभि है। अतः विवेकी पुरुषों से श्रुति का उपदेश है कि निरपराध देव मातृ स्वरूप गाय को मत मारो।' अथर्ववेद में भी गायों की शुभकामना करते हुए उनकी रक्षा की प्रार्थना की गयी है–शतपथ ब्राह्मण में 'प्राणो हि गौः' कहकर इसकी उपयोगिता बतायी गयी है। वेद ने स्पष्ट कहा है–'मा गां अनागां अतिति वधिष्ठ'– गाय निरपराध है, उसका वध मत करो। पंचम वेद–महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का उदघोष है कि–'जिस घर में गाय नहीं है वे श्मशान तुल्य है'–'धेनुर्यस्य गृहे नास्ति श्मशान सदृशं हितत्।' पुराण तो गौ महिमा वर्णन से भरे पड़े हैं। स्वयम् प्रजापति ब्रह्मदेव ने नारद जी को बताया है कि– ''अग्नि और ब्राह्मण देवताओं के लिए हवि को ग्रहण करते है, हवि (घृत) आदि गौवों से उत्पन्न होते है। गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध, गो घृत, गोदधि इन पंचगव्यों के पीने से शरीर

में पाप नहीं रहता। जैसे देवताओं में बृहस्पति पूज्य है, लक्ष्मीपति भगवान् सबसे पूज्य है; वैसे ही गाय भी सर्व पूज्य है।' गौवें घी दूध देती है, वे घृत का उत्पत्ति स्थान हैं, घृत की नदियाँ और घृतावर्त (घी के भवरों वाली) है। ऐसी गायें सदा हमारे घर रहें'' –'गायें नित्य मेरे आगे रहे, पीछे रहे। सब अंगों में मुझे गाय का स्पर्श प्राप्त हो, मैं गौवों के बीच रहूँ।' ब्रह्मदेव आगे कहते हैं कि–''गाय मनुष्य की बन्धु है, मनुष्य गाय के बन्धु हैं। गाय–रहित घर बन्धु शून्य है।'' शिक्षा, कल्प, इत्यादि छः अंगों–पदों तथा क्रमों से युक्त वेद गाय के मुख में निवास करते हैं। उसके सींगों में शिव और विष्णु, उदर में कार्तिकेय, मस्तक में ब्रह्मा, ललाट में महादेव, सींगों के अग्र भाग में इन्द्र, कानों में अश्विनी कुमार, नेत्रों में चन्द्र–सूर्य, दातों में गरुड़, जिह्वा में सरस्वती, मलेन्द्रिय में सर्वतीर्थ, मूत्र–स्थान में गङ्गा, रोम कूपों में ऋषि, मुख तथा पृष्ठ भाग में यमराज, दक्षिण–पार्श्व में वरुण तथा कुबेर, वामपार्श्व में यक्ष, मुख के भीतर में लक्ष्मी, गोमूत्र में पार्वती, चरणों के अग्र भाग में आकाशचारी देवता, शब्द में प्रजापति तथा वनों में समुद्र का निवास है। गौ के प्रतिदिन स्पर्श से महापातकों का नाश होता है। गोधूलि को सिर पर धारण करने से तीर्थ स्नान के समान पापों से मुक्ति मिलती है।

महाभारत में ही महर्षि च्यवन का कथन है कि –''गाय के समान कोई धन नहीं, गाय के दर्शन, स्पर्शन तथा कीर्तन पाप नाशक है। गाय में कभी पाप नहीं रहता। गाय से यज्ञ होता है। गाय अव्यय है तथा अमृत देने वाली है, वह सर्वपूज्य और अमृत का स्थान है, अपने तेज व शरीर से यह अग्नि तुल्य है। जहाँ गायें निर्भय होकर श्वाँस लेती हैं, वह देश सुखी रहता है।'' इस राष्ट्र के शासक महाराजा दिलीप ने नन्दिनी गौ की सेवा से रघु जैसा पुत्र प्राप्त किया। अधिक क्या! स्वयम् सर्वशक्तिमान भगवान् यहाँ आकर 'गोपाल' बने।

भारत में कभी गोहत्या नहीं होती थी। मुगलकाल में भी कानूनन गोवध बन्द था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से, अंग्रेजों के भारत आने पर उनकी भोजन सामग्री में गो मांस का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, जो बढ़ता ही गया। तद्नन्तर उनकी देखा–देखी मुसलमानों तथा ईसाइयों में भी प्रचलित हो गया। निर्बल–परतन्त्र भारतवासियों ने सदैव गोवध का विरोध किया, आन्दोलन किये, बलिदान दिए, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति तक यह होता ही रहा। कभी–कभी दंगे भी होते रहे। देश के स्वतन्त्रता–संग्राम के सभी नेताओं ने, स्वतन्त्रता मिलते ही गोहत्या–बन्दी का आश्वासन देकर, आजादी की लड़ाई लड़ी और देश की जनता ने संघर्ष में कूदकर स्वतन्त्रता प्राप्त की। परन्तु पश्चिमी सभ्यता के कुप्रभाव से, इस देश में भी खान–पान की पवित्रता घटती ही गई। इसीलिए अब गोहत्या बन्दी के महत्वपूर्ण प्रश्न को आर्थिक बनाकर धन कमाने का साधन बना लिया गया। विशुद्ध, वैदिक–धर्म, संस्कृति–सभ्यता से जुड़ा गौ का प्रश्न धन (डालर) कमाने का साधन बन गया।

आज मुसलमानों-ईसाइयों द्वारा यदा-कदा या नित्य सामूहिक कुर्बानी का प्रश्न नहीं रह गया है, बल्कि सरकार द्वारा स्थापित देश के बड़े-बड़े मशीनी बूचड़ खानों द्वारा जो नित्य गोवंश का (भारी संख्या में) वध हो रहा है। -भले ही कुछ हजार लोग (नेता-अधिकारी) इसे लाभदायक समझते हों, तदनुसार तथोक्त हिताचरण करके देश को लाभान्वित करते हों परन्तु इस धर्मप्राण, कृषि प्रधान निर्धन देश के किसान का बेटा गोवध नहीं चाहता। इस देश के मध्यम वर्ग को जीवित दुधारू गाय की आवश्यकता हैं, उसके बच्चों को दूध नसीब नहीं होता। भारत के बुद्धिजीवियों को घी-दूध-मक्खन की आवश्यकता है, जिनकी पूर्ति आज वह चाय, सिगरेट, अण्डा-मांस, मछली, मुर्गे से कर रहा है। भारत की आत्मा कराह रही है। समस्त देश का चारित्रिक पतन हो रहा है, कोई किसी की सुनता नहीं, आदेशों का अनुपालन करता नहीं, अनुशासन में रहता नहीं। मिथ्या अहंकार एवं दुराग्रह से ग्रसित होकर, गोवध-बन्दी के महत्वपूर्ण प्रश्न को जटिल बना दिया गया है।

उपर्युक्त स्थिति पर विचार करते हुए, महात्मा करपात्री ने सम्पूर्ण भारत की पैदल यात्रायों की, सभायें की, प्रस्ताव स्वीकृत कराये, प्रतिनिधि मण्डल भेजे, परन्तु शासक वर्ग ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर मौन ही धारण किए रक्खा। अन्त में, अङ्गहसा की मूर्ति गाय के लिए, सब कुछ समर्पित करने वाले इस एक लंगोटी वाले सन्यासी ने गोपाल के भरोसे 'गोहत्या बन्द हो' की माँग को लेकर २८ अप्रैल, सन् १९४७ को अहिंसात्मक सत्याग्रह छेड़ दिया। जेल यात्राएँ की। हजारों धर्मवीर जेल गए, अनेक महात्मा-गौभक्त जेल में अनशन से गोलोक-वासी हुए। पुनः मथुरा में मोर्चा स्थापित किया। सम्पूर्ण भारत में, इस युवा सन्यासी ने जन-जागरण करके सैकड़ों नगरपालिकाओं व जिला-परिषदों आदि द्वारा 'गोवध-बन्दी' के प्रस्ताव स्वीकृत कराए। अनेक राज्यों में ऐसे ही कानून बनवाये, परन्तु एक केन्द्रीय कानून के अभाव में सम्पूर्ण राष्ट्र में गौहत्या बन्द न हो सकी। पुनः दिल्ली में, सर्वदलीय गोरक्षा महाभियान समिति का गठन किया गया, जिसमें सभी दलों, मतों के नेताओं ने मिलकर आन्दोलन चलाया। अन्त में, ७ नवम्बर, सन् १९६६ को संसद भवन पर विशालतम प्रदर्शन किया गया। पुरी के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य, आदि ने आमरण अनशन किए, परन्तु शासक दल द्वारा तदर्थ समितियाँ, आदि बनाकर आश्वासनों के आधार पर आन्दोलन बन्द करा दिया गया। इसमें अनेकों की जान गयी तथा पूज्य करपात्री जी पर तिहाड़ जेल (दिल्ली) में भजन करते समय अमानुषिक (कातिलाना) हमला किया गया, जिसमें लोहे के डण्डे से उन्हें भयंकर रूप से पीटा गया, उनकी कमर नीली पड़ गयी, एक आँख की रोशनी भी जाती रही और वे तत्काल बेहोश हो गए। उपर्युक्त भयंकर व अमानवीय स्थिति के उपरांत भी गोवध बन्द नहीं हुआ। स्वामी जी ने अपने अन्य जयकारों एवं नारों में 'गो-हत्या बन्द हो' का नारा तब तक के लिए जुड़वा दिया, जब

तक सम्पूर्णत: गोहत्या-बन्दी के नारे की गूंज आप आसेतु-हिमाचल सुनेंगे। इसका श्रेय इसी संत को है। इन्होंने धर्म संघ के कार्यक्रम में गोसेवा तथा गोरक्षा को प्रमख स्थान देकर महत्व प्रदान किया।

श्री करपात्री जी ने कहा कि -''जैसे करोड़ों व्यक्ति तत्परता से लड़ने-मरने को प्रस्तुत हो जाते हैं, वैसे ही यदि परमेश्वर की आराधना में लग जायें, धर्म की जय, अधर्म का नाश, प्राणियों में सद्भावना, विश्व का कल्याण तथा गोहत्या बन्दी के पावन संकल्प से नित्य एक मिनट भी अपने-अपने इष्ट देव को करुण होकर पुकारें तो सफलता मिल सकती है। सब ही भारतवासियों को गोरक्षार्थ प्रयत्नशील होना चाहिये। गौ के प्रत्येक रोम में देवताओं का वास है। उसके दर्शन, स्पर्शन तथा सेवन से पाप क्षय होता है। गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोघृत व गोदधि पाप-शोधक, परम पवित्र वस्तुयें है। हिन्दुओं के तो प्रत्येक कर्म में गोदान का महत्व है। प्रतिदिन गो-ग्रास निकालना चाहिये। .....आज की विविध विपत्तियों का कारण गो की उपेक्षा और गोवध है। प्रत्येक गृहस्थ देवता मानका गोपालन करे। गोचर भूमि छुड़वाने हेतु सामूहिक प्रयास करें तब ही गोरक्षा हो सकती है। .....भगवान कृष्ण कहते है कि -'गोरक्षा का विशेष भार वैश्यों पर है।' सम्पत्ति-शाली वैश्य भी यदि धर्म चाहते है तो गो अवश्य रक्खें, स्वयं सेवा करें, गोशालाओं की सहायता कर सुव्यवस्था करायें। यदि कष्ट सहकर एक-एक गृहस्थ एक-एक गाय भी रख लें तो भी गो जाति की बड़ी रक्षा-सेवा हो सकेगी। गाय की सेवा व्यर्थ नहीं जाती, यह जितना खाती है उससे अधिक देती है। उसको घर में रखने से अनेक रोग-दोष ही नहीं, दुख-दारिद्र दूर होता है, परलोक बनता है। अत: श्रद्धा के साथ उसकी सेवा करो, प्रभु-स्मरण पूर्वक आलस्य-उन्माद को छोड़कर उठो और गोमाता की रक्षा करो।'

अधिक पुराने इतिहास को न दोहराते हुए, इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि-स्वामी श्री करपात्री जी का कोई निजी स्वार्थ नहीं, फिर भी लोक-कल्याण की भावना से, यह सन्यासी धर्म संघ की स्थापना काल-अर्थात्, सन् १९४० ई. से सतत इस ओर प्राण-पण से लगे है। क्या यह सुप्त जाति (समाज) कभी उनके इस ऋण से उऋण हो सकेगी।

गोवंश : संस्कृति का मूलाधार

[धर्म का आधार यज्ञ है, यज्ञ का आधार वेद मन्त्र एवं हवि है; मन्त्र ब्राह्मण में सुरक्षित है तथा हवि गो में – इन दोनों का एक ही कुल है। अतः वैदिक धर्म–कर्म आदि का मूलाधार गो एवं ब्राह्मण को बतलाया गया है। स्वामी जी ने गो हत्या बन्दी के लिये अपनी सम्पूर्ण तपस्या का संकल्पपूर्वक विनियोग करते हुए जीवनपर्यन्त तदर्थ प्रयास किये और गो रक्षा को भारत राष्ट्र की आर्थिक सुव्यवस्था केलिए अनिवार्य बतलाया। विपुल साहित्य की भी गोरक्षा एवं गोहत्या बन्दी के लिये उन्होंने संरचना की–प्रस्तुत निबन्ध में स्वामी जी ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति करते हुए सम्पूर्ण गोवंश को वैदिक संस्कृति का मूलाधार निरूपित किया है; गोप्रेमी, गोभक्त सज्जन अवलोकन करें।]

गाय का दुग्ध, दधि, घृत तक्र, स्वास्थ्यकारक एवं सर्वरोग निवारक है। गोमूत्र में गंगा तथा गोबर में लक्ष्मी का निवास है। गोमूत्र–गोबर से अनेक उदर, चर्म, रक्तादि के रोगों का निवारण होता है। अनुपम खाद निर्माण का भी गोमूत्रादि दिव्य साधन है। पंचगव्यपान देह के त्वक्, अस्थिगत दोषों के निवारण एवं आत्मशुद्धि का परम साधन है। प्रत्येक तपोयाग योगादि के पूर्व यह अत्यावश्यक है। किसी भी देवपूजा–प्रतिष्ठा में गो–दुग्धादि पंचामृत अनिवार्य है। हिन्दू संस्कृति के मूल प्रत्येक संस्कार में गोदान होना चाहिये। वैतरणी तरणार्थ गोदान तथा श्राद्ध वृषोत्सर्ग–ये हिन्दुओं के महत्वपूर्ण कर्तव्य हैं।

गाय के खुर, सींग, पुच्छ तथा रोम–रोम में अपरिगणित देवता, कुलपर्वत, तीर्थ विद्यमान होते हैं। अन्य मन्दिरों की परिक्रमा में सीमित देवताओं की परिक्रमा होती है, किन्तु गाय की परिक्रमा में सभी देवताओं, तीर्थों, कुलपर्वतों की परिक्रमा हो जाती है।

वेद, रामायण, मन्त्रादि, धर्मशास्त्र के अनुसार भारतीय संस्कृति यज्ञ भावना से ओत–प्रोत है। यज्ञ में हवि और मन्त्र का ही प्राधान्य होता है। दुग्ध, दधि, घृतादि हवि गौ में और मन्त्र ब्राह्मणों में निहित होते हैं। अनन्तकोटि ब्राह्माण्डनायक सर्वेश्वर भगवान् राम गो–ब्राह्मण के रक्षणार्थ ही नंगे पाँव वन–वन में भटके और उनके चरणबिन्दु दण्डक–कंटक–विद्ध हुए। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्द कंद ने भी श्रीमद्वृन्दावनधाम में नंगे पांव गोचारण का व्रत लेकर गोवंश का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य प्रख्यात किया।

गोवंश के नाश से सबका नाश ध्रुव है–इसी दृष्टि से दिलीप, मान्धाता, नहुष आदि नरेश उसकी रक्षा के लिए बद्धपरिकर और प्राणाहुति तर्पण के लिये सदा प्रस्तुत रहते थे। दुर्भाग्य से इस देश में शताब्दियों से गोहत्या का काला कलंक चल रहा है। इसको रोकने के लिए अनेक सत्पुरुषों ने प्रयास किया। फलस्वरूप कई बार मुगल बादशाहों ने भी शाही फरमानों द्वारा गोहत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया था परन्तु काल–क्रम से यह फिर भी चलता रहा।

गोहत्या के पक्ष की दलीले निम्न रूप से दी गई –

१– गोहत्या सम्पूर्णरूप से बन्द कर दी जायेगी तो देश के गोमांसभक्षियों को मांस प्राप्ति में बाधा पड़ेगी।

२– मारे हुए जानवरों से मिलने वाले मजबूत चमड़ों के अभाव में जूता, बूट तथा अन्य उपयोगी चर्म वस्तुओं की प्राप्ति में बाधा पड़ेगी।

३– हरएक बड़ी मशीन के चलाने में बड़े चमड़े के पट्टे अपेक्षित होते हैं। उसके बिना सभी मशीने बंद हो जायेगी।

४– अनेक चमड़ों के कारखाने बन्द हो जायेंगे एवं उनके कर्मचारी बेकार हो जायेंगे।

५– गायों–बैलों के रक्त, चर्बी तथा अतड़ियों से अनेक औषधियाँ बनती है। गोहत्याबन्दी से उक्त औषधि निर्माणों तथा उनके व्यापारों में घाटा पड़ेगा।

६– गायों–बैलों की संख्या वृद्धि से उनके लिए चारे की समस्या उठ खड़ी होगी जिसके फलस्वरूप उपयोगी अनुपयोगी सब प्रकार के गायों–बैलों का नाश होगा, अतः जैसे उपयोगी पौधों की रक्षा एवं वृद्धि के लिये अनुपयोगी पौधों का सफाया अनिवार्य है, वैसे ही उपयोगी गायों–बैलों की रक्षा के लिये अनुपयोगी गायों–बैलों का सफाया अनिवार्य है।

७– गायों–बैलों के पालन, संवर्धन नस्ल–सुधार का ही प्रयत्न करना उचित है, गोवध–निषेध का नहीं।

८– गोहत्या बन्दी कानून से मुसलमानों के धर्म एवं जीविका पर हस्तक्षेप होगा।

उपर्युक्त तर्कों पर विचार करने से उनकी निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। गोवंश का रक्षण एवं पालन सभी के लिये लाभदायक है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी के लिये दूध, दही, मक्खन, मट्ठा सुलभ होगा, इससे सभी का स्वास्थ्य समुन्नत होगा। एक गाय के मांस द्वारा एक दो दिन दस पाँच आदमियों को भोजन मिलता हैं, परन्तु उसी गाय के जीवित रहने पर उससे कई गाय एवं कई बैल प्राप्त होते हैं। स्वास्थ्यकर दूध, दही, मक्खन, मट्ठा वर्षों तक प्राप्त होते रहते हैं। कीमती खाद तथा बैलों द्वारा उत्तम अन्न की भी प्राप्ति होती है। जिसके बिना केवल मांस से प्राणी का जीवन ही नहीं चल सकता। अतः सर्वजनहिताय, अधिक स्वात्महिताय भी मांस खाने का प्रलोभन छोड़कर

गोपालन हीश्रेष्ठ हैं, गोमांस भक्षण नहीं। इसके अतिरिक्त जब गोवंश सर्वजनहितकारी होने के साथ साथ भारतीय राष्ट्र की संस्कृति, धर्म, सभ्यता तथा सम्मान का केन्द्र बिन्दु है, तब उसके मांस खाने का विचार ही राष्ट्रीयता एवं मानवता विरोधी है।

द्वितीय, तृतीय तर्क पर विचार करने पर वह भी नगण्य ही सिद्ध होता है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। काष्ठादि इन्धनों की कमी होने पर पत्थर के कोयलों का अन्वेषण हो गया। उसकी भी कमी महसूस होने पर पेट्रोल और फिर बिजली का आविष्कार हुआ। मोटरों के लिए रबड़ के टायरों का आविष्कार हो गया। इसी तरह स्वत: मरे हुये पशुओं के चमड़ में ही कोमलता एवं मजबूती लाई जा सकती है, जिससे जूत, बूट आदि का काम चल सकता है। पट्टे का भी काम निकाला जा सकता है। रबड़ से भी मजबूत पट्टों तथा अन्य रासायनिक वस्तुओं से वैसी वस्तुओं का निर्माण हो सकता है। जब गायों-बैलों के जीवन का सर्वाधिक उत्कृष्ट से उत्कृष्ट उपयोग हो सकता है, तब उक्त क्षुद्र कार्यों के लिए उनकी हत्या को प्रोत्साहन देना मूर्खता के साथ-साथ कृतघ्नता भी होगी।

चतुर्थ तर्क भी निस्सार है, कारण, अंग के लिए अंगी नहीं होता, किंतु अंगी के लिए अंग होता है। प्रसिद्ध है-

''अंजन कहा आँख जेहि फूटे।''

जब गाय-बैल की हत्या का औचित्य सिद्ध हो, तभी उसके लिए कसाईखाने एवं उसके चमड़ों के उपयोग के लिए कारखानों की उपयोगिता सिद्ध होती है। यह नहीं हो सकता कि कसाईखानों एवं चमड़ों के कारखानों की सार्थकता या उनके कर्मचारियों की बेरोजगारी दूर करने के लिये गाय-बैलें को काटा जाय।

पाँचवाँ तर्क भी इस प्रकार का है। गाय-बैल के द्वारा प्राप्त खेती की सुविधा बैल एवं खाद का लाभ परमावश्यक अन्न का साधन है। दूध, दही, मक्खन स्वयमेव एक महान औषण है। अत: उसके उक्त चर्बी आदि से औषधि निर्माण अनावश्यकही है। वैसे भी आजकल जान्तव आंगों की अपेक्षा हर एक औषधि का वनस्पतियों से निर्माण होने लगा है। अत: उन कारखानों को चालू रखने के लिये भी गाय बैल की हत्या जारी रखना उचित नहीं है।

छठा तर्क भी इसी प्रकार है। मनुष्यों के लिए अधिक अन्न उपजाने का ही प्रयत्न किया जा रहा है। जब मनुष्यों के लिए अन्न उपजेगा तो पशुओं के लिये चारा का उपजना भी अनिवार्य ही है क्योंकि बिना चारा के अन्न पैदा ही नहीं होगा। अभी तो करोड़ों रुपयों की खली, जो गायों-बैलों का चारा-आहार है, बाहर भेजी जा रही है। यदि घर में ही चारे की कमी है तो खली बाहर क्यों भेजी जाती है।

जो समझते है कि अनुपयोगी पशुओं को कत्ल करके चारे की समस्या भी हल कर लेना ठीक है, उनकी बुद्धि पर आश्चर्य ही करना पड़ेगा। ऐसे लोग यह भी

सोच सकते हैं कि लूले, लंगड़े, बूढ़े औरत-मर्दों को खत्म करके नौजवान औरत-मर्दों के अन्न-वस्त्र की समस्या हो सुलझाना चाहिये। यह सब दानवता है, मानवता नहीं। ऋषियों महर्षियों के देश में बुद्ध, महावीर, गांधी की अहिंसा-साधना की भूमि में ऐसे विचारों को कोई स्थान नहीं है।

शेष तर्क भी उचित नहीं है। केवल गोपालन, गोसंवर्द्धन मात्र से गोरक्षण नहीं हो सकता। जैसे बकरा-बकरी का पालन संवर्द्धन केवल खाने के लिये ही होता है, उसी तरह जो गोवंश हत्या पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहते, उनके यहाँ गोपालन भी केवल भोजन का ही साधन होगा। अतः गोपालन के साथ गोहत्या निरोध पर भी बल देना अत्यावश्यक है। लोग कहते हैं कि यदि हिन्दू गोपालन-गोसंवर्द्धन में लग जायें और गो विक्रय न करें तो अपने आप ही गोहत्या बन्द हो सकती है। पर वे यह क्यों भूल जाते है कि गाये केवल हिन्दू के पास ही नहीं है? अन्यों के पास भी तो हैं। अतः गोहत्या निरोध कानून के बिना पूर्ण गोहत्या बन्द नहीं हो सकती। जैसे आत्महत्या, सुरापान, भगिनी-विवाह आदि का व्याख्यान, उपदेश, लेख आदि के द्वारा निषेध होने पर भी कुछ लोग ऐसे जघन्य कार्यों में भी प्रवृत्त हो सकते हैं। उन्हें रोकने के लिए आत्महत्या निरोधक आदि कानून-आवश्यक होते हैं, उसी तरह गो-विक्रय-निषेध प्रचार करने पर भी कुछ लोग प्रलोभनवशात् विक्रय में प्रवृत्त हो सकते हैं। चीनी मिलों का विस्तार होता जाय, गन्नों की कीमत बढ़ा दी जाय और गन्ने मिलों में न भेजे जायें, किन्तु कोल्हू में पेरकर उनसे गुड़ बनाया जाय-यह उपदेश देना जैसे सफल नहीं होता, वैसे ही जगह-जगह कसाईखाने खोल दिये जायें और लूली-लंगड़ी, बूढ़ी गायों की भी कीमत बढ़ा दी जाय और फिर उपदेश दिये जायें कि लूले, लंगड़े, बूढ़े गाय-बैल भी न बेचे जायें तो ऐसा उपदेश करना निरर्थक ही होता है।

लोभ-मोह के वश होकर जनता जो काम करती है, उसे ही रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता पड़ती है। इसी दृष्टि से शराबबन्दी आदि कानून बनाये गये हैं। गोहत्या तो सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सभी दृष्टियों से अत्यन्त हानिकार है। अतः उसके निषेधार्थ सम्पूर्ण गोवंश हत्याबन्दी का कानून होना ही चाहिये।

***

परमार्थ सद्वस्तु की एकता

[सर्वसाधारण इस भौतिक शरीर को ही मानकर जानकर अपने लौकिक सांसारिक व्यवहार सम्पन्न करते-करते न जाने कहाँ को चले जाते हैं, परन्तु इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म कारणादि शरीर भी विद्यमान है जिन पर यह टिका है, जिनसे यह चलता है। यौगिक क्रियाओं के माध्यम से इन तीनों शरीरों में सामंजस्य बना रहता है।

स्वामी जी ने इस गहन गम्भीर शास्त्रीय विषय को अपनी अनुभूतियों के आधार पर भुशुण्डि-वशिष्ठ संवाद के ब्याज से संक्षेप में इस निबन्ध में रखा है। इसमें उन्होंने निरूपित किया है कि परमार्थ दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म ही अद्वितीय है, उस निर्धर्मक ब्रह्म वस्तुतः एक ही है। ब्रह्मज्ञानी, धर्मसम्राट, महान योगी, वेदान्तनिष्ठ स्वामी जी के अद्भुत लेखनी का विद्वज्जन जरा समास्वादन करें।]

शरीररूप यन्त्र में अनेकरूप से प्राण वायु का गमनागमन होता रहता है। भुशुण्डि-वशिष्ठ-संवाद के अनुसार भुशुण्डि प्राणापान के ही अनुसंधान में लगे रहते हैं-सोते, जागते, उठते, बैठते स्वाभाविक प्राणायाम होता रहता है। हृदयकमल से बिना यत्न ही जो प्राण का वाह्योन्मुख गमन होता है, वही रेचक है और बाहर से भीतर जाने वाले अपान के साथ स्वाभाविक ही पूरक हो जाता है। नासिका से द्वादशांगुल पर्यन्त बाहर निकलकर प्राण समाप्त हो जाता है। कुछ क्षण के अनन्तर ही वहीं से भीतर जाने के लिए अपान उत्पन्न होता है। प्राण एवं अपान के उत्पन्न न होने तक बाह्य कुम्भक रहता है। प्राणापान पर ही चित्त के रहने से प्राण के समाप्त होने और अपान के उदय न होने तक चित भी क्षीण रहता है। उस समय प्राणपानरहित, चितरहित अतएव देश-कालहित शुद्ध बोधस्वरूप आत्मा व्यक्त रहता है। वही निर्दृश्य अखण्ड भान ब्रह्म है। यही स्थिति आन्तर कुम्भक की भी है। बाहर से भीतर हृदय पर्यन्त जाकर अपान क्षीण हो जाता है। तब कुछ काल के अनन्तर प्राण उत्पन्न होता है। यहाँ अपानक्षय और प्राणोदय काल सन्धि में कुम्भक होता है। वहाँ भी प्राणापान, चित्त और देश काल रहित बाह्याभ्यांतर एक रस निर्भास्य शुद्ध भान व्यक्त होता है। बाह्य कुम्भक की दृष्टि में रेचक के ही अर्द्ध बाह्य भाग को पूरक कहा जाता है अर्थात हृदय से मूर्धापर्यन्त प्राणगति को रेचक और नासिका से बाह्य द्वादशांगुल पर्यन्त प्राणगति को पूरक कहा जाता है। बाहर से भीतर जाने वाले अपान में पूरकता प्रसिद्ध ही है ''अपानेऽस्तङ्गते प्राणा यावन्नाभ्युदितो हृदि। तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते। द्वादशांगुलपर्यन्ते नासाग्रसमसम्मुखे।

व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुःकुम्भकं बुधाः।'' जैसे छाया के नष्ट होने पर आतप और आतप के नष्ट होने पर छाया आती है, वैसे ही प्राण के पश्चात अपान और अपान के पश्चात प्राण आता है। प्राण के अस्त होने पर अपान के अभ्युदय के प्रथम ही वाह्य कुम्भक का आश्रय करना चाहिए। इस तरह अपान के अस्तङ्गत होने पर प्राणोदय के प्रथम ही आंतर कुम्भक का आश्रयण करना चाहिए। शनैः शनैः इसी सन्धि के विस्तृत करनेसे सम्यक्तया तत्वदर्शन होता है–''अस्तङ्गतवति प्राणं त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखः वहिःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते अपानेऽस्तङ्गते प्राणे किञ्चिद्भ्युदयोन्मुखे। अन्तः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते।।'' वस्तुतः शुद्ध चित्स्वरूप ब्रह्म ही प्राणरूप और वही अपानरूप धारण करता है। दोनों ही सन्धि में शुद्ध स्वात्मस्वरूप से वह दर्शन देता है। इसीलिए प्राणापान का मध्य शुद्ध चिदात्मा ही है, वही प्राण का प्राण, मन का मन, सत्य का सत्य, ज्योतियों का ज्योति तथा जीव का जीवन है।

देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार सब के सब वस्तुतः असत् हैं। जैसे द्वितीय चन्द्रमा न होता हुआ ही भासित होता है, वैसे ही देहादि न होते हुए भी संकल्पमात्र से भासित होते हैं। दृष्टिसृष्टिसिद्धांतानुसार केवल देहप्रत्ययकाल में ही देह रहता है। स्वप्न के संकल्पमय देह से अनेक व्यापार होते हैं, वह देह क्या सत्य है? जाग्रत मनोराज्य में जिस देह से स्वर्ग या सुमेरु की यात्रा होती है, क्या वह सत्य है? कभी-कभी स्वप्न में भी स्वप्न होता है, वहाँ कल्पित देह से ही दिशाओं, विदिशाओं में परिभ्रमण होता है, क्या वह देह सत्य है? संकल्पमयी कांता और उससे सम्बन्धित देह सब मिथ्या होते है। इसी तरह जाग्रत काल, देश तथा देहादि वस्तु सब केवल संकल्पमय ही हैं। तीव्र संवेग और दृढ़ता के साथ चिराभ्यस्त भावना स्थूलरूप धारण कर लेती है। चित्रदेह से भी यह देह अधिक अस्थिर और विनाशी है। आधि, व्याधि, परिम्लानि, क्लिन्नता, नश्वरता चित्रदेह से भी अधिक इस मांसमय देह की है। रक्षा की जाय, तो चित्रपुरुष की शोभा बहुत दिनों तक बनी रहती है, परन्तु मांसमय देह की तो कितनी भी रक्षा क्यों न की जाय, किन्तु इसका ध्रुव विनाश है। दीर्घ संकल्पजन्य यह मांसमय देह स्वप्न संकल्पजन्य देह से भी तुच्छ है, क्योंकि अल्प संकल्पजन्य देह दीर्घ दुःख से बाधित नहीं होता, परन्तु यह तो दीर्घ दुःख से दुःखी होता है–''स्वप्नसंकल्पजाद्देहादपि तुच्छतरो ह्ययम्। अल्पसंकल्पजो दीर्घैः सुखदुःखैर्न गृह्यते।। दीर्घसंकल्पजश्चायं दीर्घदुःखेन दुःखित।।''

चित्रमय, संकल्पमय, मनोराज्यमय पुरुष के क्षीण होने पर आत्मा की क्षति नहीं होती। द्वितीय चन्द्र के क्षीण होने पर, स्वप्नसंरम्भ के समाप्त होने पर भी आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता। दीर्घस्वप्नमय चित्तसंकल्पकल्पित देह के भूषित या दूषित होने पर भी चित्स्वरूप आत्मा सर्वदा असंस्पृष्ट रहता है। रज्जु में भुजंगबुद्धि के समान ही चित् में देहबुद्धि उत्पन्न हुई। कल्पान्त में अवशिष्ट चिन्मात्र ही सब कुछ है। दृश्य चैत्य अत्यन्त ही असम्भव अतएव असत् है। स्वप्नपुरतुल्य इस विश्व में सिवा शुद्ध चित् के

दूसरी वस्तु है ही नहीं। स्वप्न के घट-पटादि सभी जैसे चिद्वयोममात्र ही हैं, वैसे ही सर्गादिकाल से ही सब कुछ चिद्वयोममात्र ही है। स्वप्नजगत् की जैसे सभी वस्तु चिन्मात्र ही है। वैसे ही त्रिभुवन की सभी वस्तुएं शुद्ध संवित् ही है। त्रिकाल के भावाभाव सर्वपदार्थविषयिणी दृष्टियाँ तथा देश, काल एवं चित्त सब कुछ शुद्ध चिद्व्योममात्र है। चिन्मय तत्व ही सर्व संसार का भार है। वही प्रपञ्चारोप दृष्टि से कर्ता, भोक्ता, धारयिता है। वही इस शरीररूप पुरी में रहने वाला पुरुष तथा हृद्गुहावासी गुहेश्वर है। वह अत्यन्त विमल चित् ही जगदर्थ सम्पूर्ण क्रिया को विकासित करती है। आकाश, जीव, चित्त, कला, क्रिया, द्रव्य, षड्भावविकार, गति, प्रकाश, तम, पर्वत, अर्क, इन्द्रादि अनेक रूप में वह चित् ही चमत्कृत होती है। वही चित् कहीं चतुर्भुज, कहीं त्रिनेत्ररूप से, अनेक लीला करती है। वह चिच्चन्द्रिका ही चारों दिशाओं में प्रकाश फैलाती हुई भूतसत्तारूपिणी कुमुदिनी को विकासित करती है। महाचिद्दर्पण में ही सम्पूर्ण जगत्प्रतिविम्ब प्रतिभासित होते हैं। भास्करादि महाप्रकाश भी इसी नित्यसुखसंवित्स्वरूप चित् से ही प्रकाशित होते हैं। विमल चिच्चन्द्र में जगज्जाल शशलाञ्छन के समान प्रतिभासित होता है। कोई भी क्रिया कोई भी संकल्प इस महाचित् के अनुग्रह के बिना स्फुरित नहीं हो सकते। रसना के अग्रभाग पर विद्यमान भी रस इस चिदलोक के बिना स्फुरित नहीं हो सकता। शरीर और उसके प्रत्येक अङ्ग, क्रिया तथा इन्द्रिय, बुद्धि, मन आदि सभी चिद्व्याप्ति के बिना प्रकाशित नहीं होते। सुशीला स्त्री ही जैसे स्वप्नसंकल्पवशात् पत्यन्तरसम्बन्ध से दुशीला-सी हो जाती है, वैसे ही परमनिर्विकल्प महाचित् ही चलनोन्मुख-सी होकर देहादिरूप भी बन जाती है। वही पुरुष जो कभी शांत, देवोपम होता है कोपवशांत् क्षण में जैसे राक्षसवत् हो जाता है, वैसे ही विकल्पकलंकित महाचित् भी दोषवशात् कूटस्थ निर्विकल्प चित् से अन्य ही जैसी हो जाती है।

वही चित् आकाश परमाणु, तन्मात्रा, जीव, बुद्धि, अहंकार, मनसब कुछ बन जाती है। फिर भी सब कुछ मायिक भ्रमराज है, वास्तव में कहीं भी कोई कुछ नहीं हुआ। भ्रम के कारण द्विज अपने को चण्डाल मान लेता है, राजपुत्र व्याध बन जाता है, भ्रम के कारण ही कौन्तेय कर्ण अपने को दासीपुत्र समझकर खिन्न होता रहा है। उसी तरह अविकृत कूटस्थ चिद्ब्रह्म में अनिर्वचनीय माया के वैभव से विश्वप्रपञ्च स्फुरित होता है। अनन्त संकल्पमयी चित् जैसे ही, महाजड़ता को प्राप्त हो जाती है, जैसे जल पाषाणता को प्राप्त हो जाता है। मोह, तृष्णा, काम, क्रोध, भयादि विकारों के समावेश से अपनी अनन्तता को भूलकर वहीं परिछिन्न अनेक आकार वाली हो जाती है। दु:खदावानलसन्तप्त शोककृश वह देहमात्र को आत्मा मानकर दैन्यभाव को प्राप्त हो जाती है। पंकमग्न जीर्ण वनगजी के समान अथवा यूथभ्रष्ट मृगी के समान विवशता को प्राप्त हो जाती है। इस तरह संकट से संकट में, दु:ख से दु:ख में निपतित होती हुई नाना अनर्थों से परिष्कृत परितापानुतापिनी विचित्र अवस्था को प्राप्त हो जाती है। सर्वत:

शंकमाना अल्पतोयसरोवरस्थ मीन के समान व्याकुल होकर मृतावस्था को भी वही चित् प्राप्त होती है। बाल्यकाल में विवशता, यौवन में चिन्ता, वार्धक में अतिदु:ख का अनुभव करके मरकर कर्मवश स्वर्ग में देवी, पाताल में नागी, दैत्यविवर में आसुरी, वसुधा में मानुषी, किंबहु ना राक्षसी, वानरी, सिंही, किन्नरी, विद्याधरी, व्याली, खगी, मृगी, लता आदि अनेक अवस्थाओं में वही चित्ति गयी है और वही दिव्यरूप से शेषशायी नारायण, शिव, चन्द्र तथा सर्वभासक भास्कर भी बनी हुई है।

वही चिति कहीं रसोल्लासवती, कहीं पाषाणमोहिनी, कहीं रसवती नदी, कहीं कुमुदविस्तृति कहीं हिम, कहीं वाडव, कहीं उज्वलिताकारा, कहीं कष्टाकारा, नीला, हरिता अग्नि-महीभाव को प्राप्त होती है। सर्वात्मा एवं सर्वस्वरूप होने से सर्वरूप में एक चित् का ही सर्वत्र उपालम्भ होता है। अमृत होते हुए भी अपने को मृत मानकर, निर्दु:ख होते हुए भी सदु:खी मानकर भ्रांतिवश संसरण करना पड़ता है। संक्षेपत: चित्त के द्वारा ही चिति को संसार का अनुभव होता है। वह चित्त स्वयं ही चित् से पृथक कुछ नहीं है, चित्त-चेत्य, दृश्य-दर्शन-द्रष्टा यह सभी पाषाण तैल के सदृश अत्यन्त असत् है माता, मान, मेय, अहन्ता, त्वन्ता, अन्यता सभी आकाशांकुर के समान असत् है। आकाश में पर्वतत्व, कज्जल में शंखत्व के समान ही आत्मा में सम्पूर्ण दृश्य है। वस्तुत: अत्यन्त स्वच्छ, निर्विकल्प, अद्वितीय, परम चित् ही सब तेजों को की भासिका है। जाग्रत और स्वप्न में प्रपञ्चसंवलित, सुषुप्ति में अज्ञान साक्षिरूप में उपलब्ध होती है। नेत्र, दिप्ति, रूप और मनन, त्वक्, वायु, स्पर्श, मनन, गन्ध, घ्राण, मनन सर्वत्र इन्द्रिय और मन के व्यापार से अतिरिक्त शुद्ध संवित स्पष्ट भासमान होती है। चित् का जीव रथ है, जीव का अहंकार, अहंकार का बुद्धि, बुद्धि का मन, मन का प्राण, प्राण का इन्द्रियगण, इन्द्रियगण का देह, देह का स्पन्य स्पन्दन रूप कर्म ही रथ है। स्पन्द भी केवल प्रतिभासमात्र है। प्राण का मन का असाधारण सम्बन्ध है, प्राण की प्रेरणा से ही मन के व्यापार होते है। साथ ही मन के भी ब्रह्मलीन होने पर प्राण निस्पन्द हो जाता है। प्राण और मन के तत्त्वज्ञान द्वारा क्षीण होते ही संसार समाप्त हो जाता है।

यद्यपि यह शंका होती है कि अद्वितीय परमात्मा में द्वित्व कैसे आया? स्वत: अथवा अन्यत:। निरवयव तथा निर्विकार होने से स्वत: नहीं कहा जा सकता। द्वितीय की अप्रसिद्धि से दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। यदि निर्निमित्त ही द्वित्व का आगमन है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो तत्त्वज्ञान से भी उसका निवारण अशक्य होगा। निवारण होने पर पुन:-पुन: द्वित्व का उदय होता ही रहेगा। निर्निमित्त एक बन्धन का भी उच्छेद अप्रसिद्ध है। कथञ्चित एक का उच्छेद हो भी जाय, तो भी निर्निमित्त अनन्त बन्ध पुन:-पुन: उत्पन्न होते रहेंगे। यदि ब्रह्मशक्तिभूत माया को ही द्वित्व का निमित्त कहा जाय, तो भी यही प्रश्न होगा कि वह आगन्तुक है अथवा सहज। प्रथम पक्ष में भी स्वत: उत्पन्न है अथवा अन्य सम्बंध से। स्वत: उत्पन्न है, तब तो उससे छुटकारा असम्भव है, अत:

अनिर्मोक्षापत्ति बनी रहेगी। यदि अन्य से उत्पन्न है, तो अनवस्थादि दोष होंगे। अग्नि की उष्णता के समान सहज कहें तब भी उसका अपनयन सम्भव नहीं होगा। श्रुति ब्रह्म की एकरसता का प्रतिपादन करती है, उससे भी विरोध होगा। यदि मायाशक्ति अत्यन्त असत् है, तब तो उसके द्वारा कार्योत्पत्ति असम्भव होगी। यदि सत्य है, तो ज्ञानमात्र से उसकी निवृत्ति सम्भव न होगी। फिर भी अनिर्मोक्षापत्ति होगी। सत्वासत्व-व्यतिरिक्त तृतीय अविद्या कोई सम्भव नहीं है, क्योंकि फिर तो यह तृतीयविद्या ज्ञानोत्तरकाल में भी बनी रह सकती है। ज्ञान कारक नहीं होता, अत: ज्ञान के द्वारा भी स्वरूप-परिवर्तन सम्भव नहीं होगा। अन्य की अन्यात्मता सम्भव नहीं। ज्ञानद्वारकृत मोक्ष में विनश्वरता भी अनिवार्य रहेगी। तथापि तत्त्वज्ञान होने पर इन शंकाओं का अवकाश नहीं होता, क्योंकि जीव जगदादि द्वैतप्रपञ्च की प्रामाणिकता का प्रतिपादन सिद्धांती को इष्ट नहीं, वह तो मोह के कारण अनादिकाल से ही भ्रान्ति से प्रसक्त है, केवल अध्यारोपापवादन्याय से ही सृष्ट्यादि का वर्णन है। सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय माया एवं काम, कर्म, वासना को निमित बनाकर प्रपञ्चोत्पति सम्भव है। इसी दृष्टि से व्यष्टि-समष्टि, स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रपञ्च का वर्णन है। सब कुछ सर्वथा असत्य होने पर भी लोकप्रबोधनार्थ लौकिकवत् वर्णन किया जाता है। प्रयोजन अद्वैतशास्त्र का परमार्थ सत्त्व है, बस इसी दृष्टि से इतरवादिकल्पनाओं से इसकी उपपत्तियाँ भी उत्कृष्ट हैं। तत्त्व-परिचय हो जाने पर सबका ही अपवाद किया जाता है। अत: यदि तत्व की एकता स्वीकृत कर ली गयी तो उमसें तद्विरुद्ध द्वित्वसम्भव की शंका ही अभ्युपगम विरुद्ध और सिद्धांत-विरुद्ध भी है। परमार्थदृष्टि से ब्रह्म सर्वथा अद्वितीय है, परन्तु मायामय व्यवहार की दृष्टिसे वह शक्तिविशिष्ट है। बस इस दृष्टिभेद से सम्पूर्ण शंकाओं का समाधान हो जाता है। द्वित्व की व्यावृत्ति के लिये ही ब्रह्म में एकत्व का भी व्यवहार होता है। निर्धर्मक ब्रह्म में वस्तुत: एकत्व धर्म भी कल्पित है। अपेक्षाबुद्धि से ही द्वित्वव्यवहार भी होता है। अत: एकत्व सापेक्ष ही द्वित्व भी है। अतएव द्वित्व-एकत्व दोनों ही ब्रह्म में कल्पित ही हैं। एक ही बीज से अंकुर, नाल, स्कंध शाखोपशाखा, पुष्प, कलादि व्यावहारिक द्वैत उत्पन्न होता है। वस्तुत: विकारों के कारण से अतिरिक्त, पारमार्थिक सत्ता से अतिरिक्त व्यावहारिक सत्ता भी अस्वीकृत है। तो भी 'राहो: शिर:' के समान अभेद में ही भेदविकल्प के समान अद्वितीय ब्रह्म में ही द्वितीय का विकल्प होता है। सत् से ही विकार का उत्थान केवल भोगार्थ होता है। भोग का पर्यवसान केवल चित् में ही होता है इस दृष्टि से सर्वत्र चित् ही सार है। जब सभी जगत् ही विकल्पमात्र है, तब समुद्र के व्यावहारिक जल, तरंग, मरुमरीचिकातोय के प्रातिभासिक तरंग तथा वन्ध्यापुत्र, शशशृंगादि अत्यन्त असत् हैं। इन विभिन्न सत्ताओं की कल्पना भी अज्ञदृष्टि से ही सार्थक है। ''अपायादग्नेरग्नित्यं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं, वाचारम्भणं विकारो नामधेय'' के अनुसार विकार मात्र मिथ्या है, परमार्थ सत्तत्व सर्वथा एक ही है।

***

ज्ञान और आनन्द

['ज्ञान' और 'आनन्द' दो ऐसे शब्द है जिन्हें परिभाषा की सीमा में आबद्ध करना साहस का कार्य है। साधारण ज्ञान तो जीवमात्र को होता है इसी प्रकार सीमित आनन्द की अनुभूति भी सभी प्राणियों को होती है, हम सांसारिक प्राणी स्वल्पज्ञान एवं स्वल्पानन्द को प्राप्त करके ही अपने को कृत्कृत्य मान लेते हैं; परन्तु स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज ने न्याय-मीमांसा एवं दार्शनिक आधार पर ज्ञान और आनन्द की विवेचना की है वह अद्‌भुत है विलक्षण है, पढ़कर बुद्धिमानों की बुद्धि एवं मनीषियों की मनीषा चमत्कृत हो उठती है; पाठक धैर्य पूर्वक पढ़कर स्वयं अनुभूति कर लाभान्वित हों।]

ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रकारों की विप्रतिपत्तियों के रहते हुये भी 'अर्थप्रकाश' को ही 'ज्ञान' कहा जा सकता है। मुक्ति में यद्यपि अर्थ नहीं होता, तथापि जब अर्थ-संसर्ग सम्भव हो, तभी अर्थ का प्रकाशक अर्थ ही ज्ञान है। अतएव 'ज्ञानत्व जातिविशेष है, साक्षात् व्यवहारजनकत्व ही ज्ञानत्व है, जड़विरोधित्व ही ज्ञानत्व है, जड़ से विरुद्ध ही ज्ञानत्व है, अज्ञानविरोधित्व ही ज्ञानत्व है' आदि भी ज्ञान के लक्षण हैं। इसमें से कोई लक्षण वृतिप्रतिबिम्बित् चिदाभास में सङ्गत होता है, तो कोई अखण्ड ब्रह्मरूप ज्ञान में आता है, किन्तु अर्थप्रकाशत्व वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान एवं ब्रह्मरूप ज्ञान दोनों में ही अनुगत है।

सर्वावभासक ज्ञान ही ब्रह्म है क्योंकि यह श्रुति प्रमाण है-''तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।'' सर्वप्रेमास्पदत्व, सर्वानन्दयितृत्व ही आनन्द है। ''एष ह्येवानन्दयति''-यह ब्रह्म ही आनन्दित कराता है। यह सर्वावभासक ज्ञान स्वतः भासमान होता है। यदि उसका भी कोई अन्य भासक माना जायेगा, तो उसका भी भासक कोई अन्य मानना पड़ेगा, इस तरह अनवस्था दोष अनिवार्य्य हो जायेगा। इस पर कहा जाता है कि 'यदि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सर्वदा भासमान है, तो उसमें जगत् का अध्यास किस तरह बन सकेगा, क्योंकि भासमान शुक्तिका में रजत का भासमान होना भी प्रपञ्चाध्यास का विरोधी होगा।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वथा अभासमान शुक्तिका में तो रजताध्यास कभी भी नहीं होता, सामान्यतया शुक्त्यादि अधिष्ठान में ही रजतादि का अध्यास होता है। अभासमान एवं विशेषाकारेण भासमान अधिष्ठान में अध्यास नहीं होता। इस तरह सामान्यतया भासमान ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से प्रपञ्चाध्यास बन सकता है।

इस पर पुनः कहा जा सकता है कि 'निर्विशेष ब्रह्म में सामान्य-विशेष व्यवहार नहीं बन सकता।' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब तक अविद्या है, तब तक निर्विशेष ब्रह्म में प्रपञ्चाध्यास माना भी नहीं जाता, किन्तु अज्ञानावच्छिन्न सविशेष में ही प्रपञ्च का अध्यास होता है। तथाच प्रपञ्चाध्यास का अधिष्ठानभूत ब्रह्म का सामान्याकार सन्मात्र है और विशेषाकार ज्ञान एवं आनन्द है। भ्रमकाल में विशेषाकार की प्रतीति नहीं होती, सामान्यकार प्रतीति भ्रमकाल में भी होती है। 'इदं रजतम्' के समान ही 'सज्जगत्' यह भ्रम-प्रत्यक्ष होता है। जैसे वहाँ 'इदमंश' अधिष्ठान सामान्यांश है, वैसे ही यहाँ सदंश अधिष्ठान सामान्यांश है। जैसे 'शुक्ती रजतम्' इस प्रकार भ्रम नहीं होता, वैसे ही 'ज्ञानमाननछी वा जगत्' ऐसा भ्रम नहीं होता। जैसे नीलपृष्ठ, विकोण शुक्ति के साक्षात्कार से रजतभ्रम दूर हो जाता है, उसी तरह सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार से जगद्भ्रम मिट जाता है। ज्ञानानन्दरूप से अभासमान और सद्रूप से भासमान ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है। अघटित-घटना-पटीयसी माया के कारण ही ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है। ''सेयं भगवती माया यन्नयेन विरुद्ध्यते''- भगवान् की माया नय से विरुद्ध होने पर भी प्रत्यक्ष ही प्रपञ्चाध्यास माया के द्वारा सम्पन्न हो जाता है।

आनन्द के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार कहा जा सकता है- (१) आनन्दत्व जाति आनन्द है या (२) अनुकूलतया वेदनीयत्व आनन्द है या (३) अनुकूलत्व मात्र आनन्द है या (४) ज्ञानस्वरूपता ही आनन्द है अथवा (५) दुःखविरोधित्व ही आनन्द है या (६) दुःखाभावोपलक्षितत्व आनन्द है? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वह लक्षण अखण्डस्वरूप ब्रह्मानन्द में नहीं जाता। दूसरा भी ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष में तो आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही रहता है, से जानने वाला कोई वेदिता रहता ही नहीं। आनन्दस्वरूप आत्मा वेद्य है भी नहीं, अतः वह वेदनीय ही नहीं हो सकता, तब उसमें द्वितीय लक्षण कैसे संगत होगा? अनुकूलता भी सापेक्ष होती है और वह भी अन्य के प्रति न होकर अपने प्रति ही कहनी पड़ेगी। तथाच, सविशेषता अनिवार्य्य होगी, निर्विशेष में अपने प्रति अपने में अनुकूल वेदनीयता कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती। इसीलिये तीसरा भी पक्ष ठीक नहीं। यदि वेदनस्वभाव से अधिक अनुकूलता स्वाभाविक है, तब भी अखण्डतापित्त होगी। यदि अनुकूलता औपाधिक है, तब तो उस आनन्द की कभी निवृत्ति भी हो सकती है। चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त रीति से अनुकूलता सम्भव नहीं। पाँचवा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह तो दुःखज्ञान को आनन्द कहना पड़ेगा। निर्विषय ज्ञान अतएव निरुपाधि-इष्टता ही आनन्द है, यह भी ठीक नहीं है। सुख है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ज्ञान सविषय ही होता है, विषयानुल्लेखि ज्ञान होता ही नहीं। छठा पक्ष भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि विरोधनिवर्त्तन ही है, तब तो आनन्दस्वरूप आत्मा में सदा ही दुःखनिवृत्ति होनी चाहिये। यदि दुःखतादात्म्य की अयोग्यता ही दुःखविरोधिता है, तब तो घटादि भी दुःख तादात्म्य के अयोग्य है,

उन्हें भी आनन्द कहा जाना चाहिये। सप्तम पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि दु:खाभावरूप वैशेषिक के मोक्ष में आनन्द न होने पर भी दु:खाभावोपलक्षितत्व रूप वेदान्ती के आनन्द का लक्षण चला जायेगा।

इस तरह उपुर्यक्त लक्षणों में होने पर भी निरुपाधि–इष्टता अर्थात निरुपाधिक निरतिशय प्रेम या इच्छा की विषयता ही आनन्द है, यह लक्षण निर्दोष है। इस पर कहा जा सकता है कि 'दु:खाभाव भी निरुपाधि इच्छा का विषय होता है, अत: लक्षण अतिव्याप्त है।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि दु:खाभाव भी एक प्रकार का सुख का शेष ही है, वहाँ लक्षण जाना अतिव्याप्ति नहीं। अभाव भी विरोधि भावान्तर ही है, अत: दु:खाभाव सुखरूप ही है। कहा जा सकता है कि 'मुक्ति में तो इच्छा नहीं रहती, परन्तु वहाँ भी आनन्द तो रहता है, अत: अव्याप्ति हुई।' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ भी इष्टत्वोपलक्षित्व तो है ही। जब भी इच्छा की तब उसका विषय आनन्द था इच्छा के विषय यद्यपि शब्दादि विषय भी होते हैं, तथापि वे सुखसाधन होने से इच्छा के विषय होते हैं। वे ही जब दु:खकारक होते हैं, तब उनमें द्वेष होने लगता है। अत: वे सोपाधिक इच्छा के ही विषय होते हैं, निरुपाधिक इच्छा के नहीं। उपलक्ष्य में व्यावर्तक अवच्छेदक का रहना आवश्यक नहीं, जैसे कभी काक के रहने से काकोपलक्षित गृह का बोध होता है, उसी तरह कभी की इच्छा से भी इष्टत्वोपलक्षित आनन्द का बोध हो सकता है।

यहाँ शंका होती है कि ''निरुपाधि इष्टत्व आनन्द में स्वाभाविक है या औपाधिक?'' अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप में आनन्दरूपता नहीं होगी, क्योंकि वह उसकी इष्टता तो निरुपाधिक ही है। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भी विकल्प यह है कि वह औपाधिक निरुपाधिक इष्टत्व ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न? यदि पहला पक्ष कहें, तो उसमें सखण्डत्वापति होगी। यदि ज्ञान से अभिन्न ही है, तब तो उसमें आनन्द–पद्प्रयोग व्यर्थ ही है। परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान और आनन्द दोनों का यद्यपि अभेद ही है, तथापि कल्पित भेद लेकर ज्ञानत्व आनन्दत्व जातिभेद को लेकर दोनों शब्दों की प्रवृत्ति होती हैं। एतावता 'विषयोल्लेखरहित ज्ञान आनन्द है' यह पक्ष भी निर्दोष ही है। 'ज्ञान विषयोल्लेखरहित भी होता ही है' यह पीछे सिद्ध किया जा चुका जगत् दृश्यरूप होने से सत् नहीं कहा जा सकता, किन्तु दृक्रूप होने से आनन्द सद्रूप भी है।

सुख एवं वेदन का भेदन न होने से परप्रेमास्पदरूप से भासमान आत्मा ही आनन्दरूप है। जैसे वृत्तिरूप ज्ञान अनित्य होने पर भी वृत्तिभासक स्फुरणरूप ज्ञान नित्य है, वैसे ही अन्त:करण वृत्तिरूप सुख भी अनित्य है, परन्तु ब्रह्मात्मस्वरूप सुख नित्य ही है। 'मैं कभी न रहूं ऐसा न हो, किन्तु सर्वदा बना रहूँ' (मा न भूयम् किन्तु सर्वदा भूयासम्) इस प्रकार आत्मा में स्वाभाविक ही प्रेम देखा जाता है। यदि आत्मा सुखरूप

न हो, तो वह परप्रेमास्पद नहीं हो सकता। यदि प्राणी अनित्य सुख से भी प्रेम करता है, तो नित्य सुख में तो परप्रेम होना ही चाहिये। सुख में ही प्रेम होता है। सुखसाधनों में भी यद्यपि प्रेम होता है, तथापि सुख के प्रयोजन से ही सुखसाधनों में प्रेम होता है। सुखसाधनों में प्रेम सुखार्थ ही होता है। परन्तु सुख में प्रेम अन्यार्थ नहीं होता। इसी तरह आत्मा में भी प्रेम आत्मार्थ ही होता है, अन्यार्थ नहीं। इसीलिये आत्मा निरुपाधिक प्रेम का आस्पद है। जैसे चणकचूर्णादि (बेसन) में मधुरता शर्करासम्बन्ध से होती है, परन्तु शर्करा में स्वतः मधुरिमा होती है। मोदक आदि में सातिशय मिठास होती है। शर्करा में निरतिशय मिठास होती है। उसी तरह अन्यत्र सातिशय प्रेम होता है, आत्मा में निरतिशय प्रेम होता है। इसीलिए सब कुछ आत्मार्थ है, आत्मा अन्यार्थ नहीं होता। अतः आत्मा सबका ही शेषी है।

संसार में सुख-दुःख एवं सुख-दुःख साधनों के वैचित्र्य से यह मानना पड़ता है कि जीवात्मा के पिछले शुभाशुभ कर्मो से ही यह विचित्रता उत्पन्न होगी। पिछले शुभाशुभ कर्मों की उत्पत्ति भी जन्मान्तरीय देह से माननी पड़ेगी। यह जन्मान्तर भी उससे प्राचीन कर्मों से मानना पड़ेगा। इस तरह बीज एवं अंकुर की परम्परा के समान ही जन्मों एवं कर्मों की परम्परा को भी अनादि मानना पड़ता है। यह अनादि परम्परा सादि देह के आश्रित हो नहीं सकती। अतः अनादि आत्मा के ही आश्रित उसे मानना पड़ता है अर्थात अनादि आत्मा के ही पूर्व पूर्व देहों से उत्तरोत्तर कर्म होते हैं एवं पूर्व पूर्व कर्मो से उत्तरोत्तर देह होते हैं। उस आत्मा में ही कर्म एवं जन्म चलते हैं।

शय्या, प्रासादादि संघात जैसे परार्थ (दूसरों के लिए) होते है, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन आदि का संघात भी स्वविलक्षण किसी चेतन के लिये ही होता है। शय्यादि जैसे अपने से भिन्न देवदत्तादिशरीररूपी संघात के ही लिये दृष्ट है, वैसे ही यदि देहादि संघात भी किसी दूसरे संघात के लिये हो, तब तो अनवस्था प्रसंग होगा, क्योंकि उस संघात को भी किसी अन्य संघात के लिये मानना पड़ेगा। अतः शरीरादि संघात को किसी स्वविलक्षण, असंहत चेतन के लिये मानना पड़ेगा। इसीलिये त्रिगुणात्मक सुख-दुःख-मोहात्मक अव्यक्त, महदादि प्रपञ्च के विपरीत त्रिगुणातीत, असंहत असंग चेतन आत्मा सिद्ध होता है। त्रिगुणात्मक जड़ प्रपञ्चरथादि चेतन सारथी या अश्वादि से अधिष्ठित ही जैसे कार्यकरण क्षम होता है, जैसे ही अचेतन प्रकृति, बुद्धि आदि भी चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्यकरणक्षम होगी। अतः त्रिगुणात्मक अचेतन से भिन्न चेतन अधिष्ठाता आवश्यक है। भोक्ता भी अचेतन से भिन्न चेतन ही होना चाहिये। सुख-दुःखादि भोग्य है। इनके द्वारा अनुकूलनीय, प्रतिकूलनीय, सुखी-दुःखी चेतन ही हो सकता है। बुद्धयादि स्वयं सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, अपने से ही स्वयं अनुकूलनीय या प्रतिकूलनीय नहीं हो सकते। इसी तरह द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं हो सकता। बुद्धयादि दृश्य है, उनका द्रष्टा इनसे भिन्न ही होना चाहिये। चेतन ही साक्षात् द्रष्टा होने

से वही साक्षी हो सकता है। द्रष्टा चेतन स्वयं अदृश्य होता है। जैसे रूप दृश्य है, चक्षु द्रष्टा है, वैसे ही चक्षु भी दृश्य है, मन द्रष्टा है।

संसार में चेतन के अधीन ही अचेतन की प्रवृत्ति होती है। भले चेतनसंयुक्त अचेतन की प्रवृत्ति होती है, तथापि प्रवृति अचेतन की ही हैं, क्योंकि दोनों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष हैं। फिर भी अचेतन रथादि से जीवित देह में अचेतन विलक्षणता स्पष्ट ही है। काष्ठादि के आश्रित दाह, प्रकाशादि क्रिया केवल अग्नि में उपलब्ध नहीं होती। फिर भी दाह, प्रकाशादि क्रिया अग्नि का ही धर्म है, क्योंकि अग्निसंयोग होने से ही काष्ठादि में दाहादि उपलब्ध होता है, अग्निसंयोग के बिना उपलब्ध नहीं होता। भौतिकवादी भी तो चेतन देह को ही प्रवर्तक मानते हैं। वेदान्तानुसार निर्विकार कूटस्थ आत्मा भी अचेतन का प्रवर्त्तक वैसे ही होता है, जैसे अयस्कान्त मणि स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी लोह का प्रवर्त्तक होता है या जैसे प्रवृत्तिरहित रूपादि चक्षुरादि के प्रवर्तक होते हैं। यद्यपि जैसे दुग्ध स्व्यं वत्सवृद्धयर्थ प्रवृत्त होता है, जैसे जल अचेतन भी प्रवृत्त होता है, वैसे ही अचेतन की प्रवृत्ति होनी ठीक है, तथापि वहाँ भी वत्स के चोषण तथा सर्वशासक अन्तर्यामी से ही दुग्धादि की प्रवृत्ति होती है। जैसे कर्त्ता के बिना कुठारादि करमों का व्यापार नहीं बन सकता, वैसे ही देह, इन्द्रियादि का देहादि भिन्न कर्ता के बिना व्यापार नहीं हो सकता। भौतिकवादी शरीर को चेतन कहता है।

कहा जाता है कि ''जैसे नैयायिक के मुक्तात्मा में ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मृत शरीर में भी ज्ञान का अनुपलम्भ उपपन्न हो जाता है। प्रमाण के अभाव से ज्ञान का अभाव उपपन्न हो ही जाता है।'' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि शरीर चेतन हो, तो बाल्य, यौवनादि भेद से देह में भेद सुस्पष्ट उपलब्ध होता है। फिर एक देह न होने से एक आत्मा भी नहीं होगा। फिर 'जिस मैंने बाल्यावस्था में माता का अनुभव किया था, वही मैं वृद्धावस्था में पात्रों का अनुभव करता हूँ' ऐसा अनुभव न होना चाहिये। बाल, स्थविर शरीर में भेद प्रत्यक्ष है। शरीरसम्बन्धी अवयवों के उपचय-अपचय द्वारा शरीर का उत्पाद-विनाश सिद्ध है। जो कहा जाता है कि 'पूर्वोशरीरोत्पन्न संस्कार से द्वितीय शरीर में संस्कार उत्पन्न होता है' तो यह ठीक नहीं। अनन्त संस्कारों की कल्पना में गौरव होगा। यदि शरीर ही चेतन है, तब तो वह उत्पन्न होने वाला शरीर नवीन ही है। फिर बालकों की माता के स्तन्यपान में प्रवृत्ति न होनी चाहिये, क्योंकि इष्टसाधनताज्ञान प्रवृत्ति में हेतु है। सद्यःसमद्भूत शिशु को इष्ट साधनता का अनुभावक कुछ भी नहीं है। देहभिन्न आत्मा मानने वाले तो कह सकते है कि जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनता का स्मरण हो सकता है। परन्तु जहाँ देहभिन्न आत्मा नहीं है, वहाँ तो जन्मान्तर की बात है ही नहीं। वहाँ स्तन्यपान में जन्मान्तरीय इष्टसाधनता का ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

शंका हो सकती है कि ''यदि जन्मान्तरीय अनुभूत स्तन्यपान की इष्टसाधनता का स्मरण होता हैं, तो अन्य जन्मान्तरीय अनुभूत पदार्थों का स्मरण क्यों नहीं होता?'' तो इसका समाधान यह है कि उद्‌बोधक न होने से उनका स्मरण नहीं होता। स्तन्यपान के सम्बन्ध में तो जीवन का हेतुभूत अदृष्ट ही संस्कार का उद्‌बोधक है। यदि स्तन्यपान में इष्टसाधना का बोध होकर प्रवृत्ति न हो, तो जीवन ही असम्भव हो जायेगा।

चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को ही कुछ लोग चेतन मानते हैं। परन्तु चक्षु आदि के उपघात होने पर भी स्मृति होती है, अतः यदि चक्षुरादि इन्द्रिय चेतन होते, तो उनके उपघात में स्मृति न होनी चाहिये। अन्य के अनुभूत का अन्य स्मरण नहीं कर सकता। मन भी चेतन नहीं है। फिर तो वह अणु होने से उसकी प्रत्यक्षता न होगी। कहा जाता है कि ''क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है।'' परन्तु 'सोऽहं' (मैं वही हूँ) इस प्रकार अनेकदिनवर्ती आत्मा की प्रत्यभिज्ञा होने से नित्य विज्ञान ब्रह्म को ही आत्मा मानना ठीक है।

***

पाँच भ्रम

[महाराज श्री ने महायोगीन्द्र निदाध एवं ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ महाराज ऋभु के संवाद रूप में–आत्मतत्व के स्फुरण हो जाने पर पाँच प्रकार के जिन जागतिक भ्रमों की निवृति हो जाती है और साधक का चित ब्रह्माकार हो जाता है–उनका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। किस प्रकार से कौन से भ्रम की निवृत्ति किस दृष्टान्त आदि से होती है इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आत्मसाक्षात्कार जैसे गूढ़ विषय का कितने सरल ढंग से वर्णन किया गया है; पाठकगण स्वयं पढ़कर ज्ञान लाभ करें।]

एक बार निदाघ नामक योगीन्द्र ने ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ऋभु को दण्डवत् प्रणाम कर कहा कि 'भगवन्! आप मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें तथा आपको किस उपासना से यह प्राप्त हुआ है, कृपा कर वह भी बतलायें।' महात्मा ऋभु ने कहा कि ''मेरे पूजनीय पिताजी ने मुझे माता अन्नपूर्णा का मन्त्र बतलाकर कहा था कि ''जितेन्द्रिय होकर भगवती मां अन्नपूर्णा का ध्यान करते हुये आचार–विचार के साथ इस मन्त्र का जप करना।'' मैंने अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुये उसी दिन से माता अन्नपूर्णा का मन्त्रजपपूर्वक उपासना का नियम कर लिया। बहुत दिन बीतने पर मां अन्नूपर्णा ने कहा–'पुत्र! तुम कृतार्थ हो, वर मांगो।' मैंने कहा–मां! मुझे आत्मतत्व प्रस्फुरित हो जाये।' मां ने 'तथास्तु' कहा और अन्तर्हित हो गयी। तब मैंने देखा कि पाँच प्रकार का भ्रम जगत् में है। उस भ्रम के हटने से ही मेरा चित्त ब्रह्माकार हो गया। वे भ्रम कौन से हैं यह मैं तुम्हें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो।

जीव और ईश्वर भिन्न है यह पहला भ्रम है। बिम्ब–प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से वह निवृत्त होता है। जैसे बिम्बस्थानीय ग्रीवास्थमुख और प्रतिबिम्बस्थानीय दर्पणस्थ मुख में दर्पण रूप उपाधि के द्वारा ही भेद हैं, दर्पण उपाधि के हटने पर ग्रीवास्य मुख (बिम्ब) और दर्पणस्थ मुख (प्रतिबिम्ब) एक ही रह जाते हैं–उनमें कुछ भी भेद नहीं रह जाता, इसी प्रकार बिम्बस्थानीय ईश्वर और प्रतिबिम्बस्थानीय जीव में केवल मायारूप उपाधि का ही भेद है। माया में प्रतिबिम्बित ईश्वर ही जीव कहा जाता है। मायारूप उपाधि के हटते ही केवल एक बिम्ब रह जाता है।

आत्मा कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु:खी, नाना, अनेकानर्थपरिप्लुत है यह दूसरा भ्रम है। स्फटिक और जवाकुसुम के दृष्टान्त से वह भी दूर हो जाता है। जैसे स्फटिक के स्वच्छ होते हुये भी जवाकुसुम के सन्निधान से (जवाकुसुम की रक्तता

स्फटिक में उपसङ्क्रान्त होने के कारण) 'रक्तः स्फटिकः' स्फटिक रक्त है यह प्रतीति होती है, पर वस्तुतः स्फटिक रक्त नहीं है, वैसे ही देह, इन्द्रियाँ आदि कार्यकरण के संघात के सन्निधान से आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि को प्रतीति होती है, वस्तुतः आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, असुखी, अदुःखी, नित्य, एक रस, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सत्यस्वभाव है।

शरीरत्रयसंयुक्त जीव सम्बद्ध है यह तीसरा भ्रम है। घटाकाश और मठाकाश के दृष्टान्त से वह निवृत्त होता है। जैसे घट और मठ में रहता हुआ घटाकाश और मठाकाश घट तथा मठ से सम्बद्ध नहीं होता, वैसे ही तीनों शरीरों में रहता हुआ भी अन्तरात्मा उनसे सम्बद्ध नहीं होता, वह असंग ही है।

जैसे बीजादि उपादानकारण अंकुरादि उत्पन्न करने में स्वयं अवश्य विकारी होता है, वैसे ही शुद्ध एकरस परब्रह्म जगत् रूप कार्य को उत्पन्न करता हुआ यह जगत्कारण विकारी है यह चौथा भ्रम है। कनक, कुण्डलादि के दृष्टान्त से वह भी निवृत्त हो जाता है। जैसे कुण्डल, केयूर आदि कार्य रूप में परिणत होता हुआ भी स्वर्णस्वरूप से कभी भी विकृत नहीं होता, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा कार्यरूप में परिणत होता हुआ भी स्वरूप से विकारी नहीं होता।

जैसे अपने कारण तन्तु से पृथक् होकर पटरूप कार्य भी सत्य है, वैसे ही अपने कारण ब्रह्म से पृथक् होकर जगत् रूप है यह पांचवां भ्रम है। रज्जु सर्प के दृष्टान्त से वह भी निवृत्त हो जाता है। जैसे अविद्या द्वारा रज्जु में उद्भावित सर्प अपने कारण रज्जु से पृथक् होकर सत्य नहीं है, वैसे ही अविद्या द्वारा परब्रह्म परमात्मा में उद्भावित यह विश्व भी उससे पृथक सत्य नहीं है।

***

सर्वोत्तम भजन

[आजकल भजन कीर्तन, कथा, जागरण आदि का खूब प्रचार प्रसार दीखता है; परन्तु भजन का वास्तविक स्वरूप क्या है जो सर्वविध कल्याणकारी हो–इसका सुन्दर विवेचन स्वामी जी ने प्रस्तुत लेख में किया है। –ब्रह्मविद्या का यह कथन कि जैसे अपनी रूपवती कन्या गुणहीन को नहीं दी जाती उसी प्रकार का विचार मेरे सम्बन्ध में भी रखे। जब भगवान, शास्त्र, आचार्य और अन्तरात्मा की पूर्ण कृपा होती है तभी विद्या फलवती होती है। स्वामी जी कहते है कि –दृश्यरहित, शुद्धदृक, मानस्वरूप अखण्ड ब्रह्म का स्फुरण ही मुख्य भजन है। प्रति क्षण ब्रह्मबुद्धि से प्रणवादि का स्फुरण उपासना ही है। और सगुण साकार सच्चिदानन्द का ब्रह्म का स्फुरण भी उपासना है। परन्तु ऐसा नहीं कि पूजा, पाठ, जप आदि चल रहा हो और मन कहीं अन्यत्र घूम रहा हो। वरन निमेष भर के लिए भी प्रभु के स्वरूप का स्फुरण न रुके– यही सर्वोत्तम भजन है।]

ब्रह्मविद्या अनधिकारी पुरुषों के प्रमाद से खिन्न होकर ब्राह्मण के पास जाकर कहने लगी–'ब्रह्मन्! मुझे वारांगना के समान सर्वसेवित न बनाये, अपितु कुलाङ्गना के समान हमारी रक्षा करें। ऐसा करने पर मैं लोक–परलोक में कल्याणकारिणी बनूँगी। यदि अत्यन्त जनोपकार की कामना हो, तो भी गुणहीन को तो कभी भी मुझे प्रदान न करना। जैसे अपनी रूपवती कन्या गुणहीन को नहीं दी जाती, वैसे ही मेरे सम्बन्ध में भी विचार रखें। गुणवानों की निन्दा, अनार्जव, इन्द्रियपराधीनता, स्त्रीसंग, अविनय तथा मनसा, वचसा, कर्मणा गुरुभक्त न होना आदि मुझे अत्यन्त अप्रिय हैं। इन दोषों से रहित अधिकारी पुरुष को प्रदान करने से मैं कामधेनु के समान हितकारिणी होऊंगी, अन्यथा फलवर्जित लता के समान वन्ध्या रहूंगी।'

श्रीभगवान्, शास्त्र, आचार्य और अन्तरात्मा की जब पूर्ण कृपा होती है, तभी विद्या फलवती होती है, अन्यथा समझते–बूझते भी बारबार प्रमाद होता रहता है। भगवान् कहते हैं कि जो अनन्यचित होकर अर्थात् अन्य वस्तुओं से सर्वथा बिल को हटाकर सर्वदा निरन्तर मेरा ही चिन्तन करता रहता है, उसे ही मैं सुलभ होता हूं– ''अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।'' (८/१४ गीता) शिष्ट लोग कहते हैं कि ब्रह्मनिष्ठा में प्रमाद ही मृत्यु है–''प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।'' क्षण भर भी निर्विकार, विशुद्ध, विज्ञानघन भगवान् का विस्मरण

होना ही मृत्यु से भी भयंकर कष्ट है। हमारे आचार्यप्रवर बारबार कहते हैं कि क्षण भर, मूहूर्त भर भी भगवान् केशव का चिन्तन न करना ही महती हानि और महान् छिद्र है, वही अन्धता और जड़ता है–''सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता। यन्मूहूर्ते क्षणं वापि केशवं नैव चिन्तयेत।।'' परन्तु दु:ख की बात है कि फिर भी भगवान् की अपेक्षा संसार का ही चिन्तन अधिक होता है। जिन लोगों के पास संसार का भी काम है, उनकी बात फिर कुछ क्षम्य भी हो सकती है, परन्तु जिनके सब कछ भगवान् ही हैं, वे भगवद्व्यतिरिक्त वस्तु का अनुसंधान क्यों करें? कहने के लिये १५ घन्टे तक भजन में लगाया जाता है, परन्तु यदि सच पूछा जाये, तो एक घण्टा भी ठीक भजन नहीं होता। दृश्यरहित, शुद्ध, दृक्, भानस्वरूप अखण्ड ब्रह्म का स्फुरण ही मुख्य भजन है। परन्तु दृश्य तो पदेपदे स्फुरित होता रहता है। यद्यपि तत्त्वज्ञ की दृष्टि में दृश्य मिथ्या है, तथापि उसका भी स्फुरण भला क्यों हो? दृश्यसाक्षीरूप से भी प्रतिक्षण तत्वस्मरण रहे, तो भी ठीक है। प्रणव, महावाक्यार्थ के विचार द्वारा प्रतिक्षण तत्वस्फुरण रहे, तो भी ठीक है। प्रणवादि का भी ब्रह्मबुद्धि से स्फुरण उपासना ही है। सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का स्फुरण भी उपासना है। नाम, रूप, लीला, धाम का भी तात्पर्येण स्फुरण, श्रवण, स्मरण, कीर्तनादि भी भजन है। परन्तु जप, पाठ–पूजा चल रही हो और मन कहीं अन्यत्र ही भ्रमण कर रहा हो, यह तो विडम्बना ही है। परन्तु 'भाव कुभाव अनख आलसहूँ, नाम जपत मंगल दिशि दशहूँ' के अनुसार यदि कथञ्चित् प्रभु सम्बन्ध बना रहा, तो परमदयालु, परमकृपालु, प्रभु, दीनानाथ, पतितपावन, अशरणशरण, अकारण करुण, करुणावरुणालय अपनी विरुदावलि के अनुसार उद्धार करते ही हैं। परन्तु उचित यही है कि क्षण, मुहूर्त, निमेष भर भी प्रभु के निर्गुण या सगुण स्वरूप का स्फुरण न रुके, क्षण भर भी, प्रभु के पदारविन्द से चित्त को नहीं हटाते–''त्रिभुवनविभव- हेतवेप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्। न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि य: वैष्णवाग्र्य:।।''

***

कल्याण का मार्ग

[इस संसार समुद्र में पड़े हुये हम जीवों को कही सुख नहीं शान्ति नहीं। जो भी क्षणिक सुख-शान्ति संसार के भोगी में दृष्टिगत हैवह भी परिणाम में दुखद ही है। स्वामी जीने प्रस्तुत लेख में अत्यन्त संक्षेप में बड़े मार्मिक शब्दों में निरूपित किया है कि एक बार हठात् विषयों से विमुख होकर इन्द्रिय मन बुद्धि को भगवान के चरणाविन्दों में समर्पित करते हुये उन्हीं का आश्रय ग्रहण करलो-इसी में प्राणी का कल्याण है।]

संसार की वस्तुएं, संसार के सुख बड़े ही आकर्षक और चमकीले प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो क्षणिक प्रयत्न से अथवा बिना प्रयत्न के ही अपार सुखमहोदधि प्राप्त हो जायेगा। जिसके चमत्कार और वैभव का अन्त ही नहीं है, वह भगवान् तथा भगवत्सम्बन्धी सुख रूखा-सूखा-सा प्रतीत होता है, उस मार्ग में बड़ी कठिनाई भी प्रतीत होती है। पद-पद पर कण्टकाकीर्ण भयंकर गर्त प्रतीत होते हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो महामहा प्रयत्न करने पर भी सफलता की कोई आशा नहीं है। कुछ मिला भी तो शुष्क नगण्य सी ही वस्तु होती है। परन्तु जब प्राणी संसार की तरफ चल पड़ता है, तब उसके दुःख और कठिनाइयों का अन्त ही नहीं होता। जो चमकीली सुखमय वस्तु प्रतीत होती थी, वह दुःख ही दुःख प्रतीत होता है। जैसे पिपासा से व्याकुल हरिण मरुमरीचिकामय जल के लिये जितना ही जितना दौड़ता है वह उतना दूर ही दूर होता जाता है। वही स्थिति सांसारिक प्रलोभनों की है। परन्तु भगवान् की ओर चल पड़ते ही कठिनाइयां मिटती सी अनुभूत होती हैं, कण्टक फूल से जो जाते हैं, जितने जितने पग आगे रखता जाता है, भगवान् और भगवत्सुख समीप आते हुये से प्रतीत होते हैं, रूखी-सूखी सी प्रतीत होने वाली साधनाएं बड़ी ही सरल, मधुर प्रतीत होने लगती हैं। मायामय व्यामोह या परमनिवृत्ति सब कुछ प्रभुकृपासाध्य है। इधर-उधर भटकते हुये शकुनि को जैसे एकमात्र आधारभूत भूमि ही विश्रान्तिस्थान है, वैसे ही भटकते हुये जन्तु का विश्रामस्थल भगवान् ही हैं। 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।' प्रथम जो विष के समान प्रतीत हो, परन्तु परिणाम में अमृततुल्य हो, वही सात्विक सुख कहलाता है। कारण भी स्पष्ट है, जिस प्रकार निम्बकोट को सितारस-मधुरता उद्वेजक प्रतीत होती है, उस प्रकार संस्कारप्राबल्य के कारण वैषयिकसुखानुभवी प्राणी को निष्प्रपंच का ब्राह्मसुख का अनुभव अनुकूल प्रतीत नहीं होता। विषयों एवं तदनुगामी इन्द्रियों का प्रचार अवरुद्ध हो जाने से मन में भी उद्वेग होता है। स्वभावतः यह स्थिति

अनुकूल नहीं है। लक्ष्यनिष्ठा, प्रज्ञा के भी विचलित हो जाने की सम्भावना इस मार्ग में बनी रहती है। 'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।'' विषयचारी इन्द्रियों का जब मन अनुगमन करता है तब वही मन ब्रह्मनिष्ठ प्रज्ञा का उसी प्रकार हरण कर लेता है, जैसे समुद्र में नाव को वायु हरण कर लेता है। इस मार्ग में कथमपि शान्ति नहीं है। एक बार हठात् विषयविमुख होकर इन्द्रिय, मन, बुद्धि को अवरुद्ध करके भगवत्परायण होने से तत्काल कुछ कठिनाई अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुतः भगवदभिमुख होते ही क्षणे क्षणे शान्ति का अनुभव होने लगता है। जन्मजन्मान्तरों, युगयुगान्तरों, कल्पकल्पान्तरों तक भी विषयों के भोग में कभी शान्ति नहीं होती। पृथ्वी भर में जो भी ब्रीहि, यव, हिरण्य, पशु, स्त्रियाँ हैं, उन सबकी प्राप्ति एव व्यक्ति को हो जाये तो भी सुख-शान्ति सम्भव नहीं है। अतः हठात् इनसे आंख मीचना ही अच्छा है। आंख मीचकर, निराश्रय होकर सर्वाधार, अशरणशरण, अकारणकरुण, करुणावरुणालय प्रभु के चरणों का सहारा लेने से ही कल्याण है।

***

लाम्पट्य अत्यन्त निंद्य हैं, परन्तु मनोमिलिन्द यदि भगवच्चणाम्बुज मकरन्द मधु का लम्पट हो तो यह कितने सौभाग्य की बात हो? साधारण दृष्टि से राग, आसक्ति एवं व्यसन अत्यन्त निन्दनीय है। किन्तु सर्वात्मा सर्वाधिष्ठान अचिन्त्यानन्त आनन्द सुधा जलनिधि श्रीकृष्ण में प्रेम निरोधादि का होना उनके बिना क्षण भर भी न रह सकना कितना दुर्लभ हैं? आज तो संसार की यह स्थिति है कि विषय चिन्तन, स्त्री, प्रपंचादि के चिन्तन के बिना रहना कठिन हो रहा है। किन्तु इस चिन्तन को वहाँ से हटा कर यदि भगवच्चरण पंकज का चिन्तन न किया तो 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' के चक्र से निकलना कठिन होगा।

भगवत्स्मरण का माहात्म्य

[इस लघु लेख में स्वामी जी महाराज ने भगवान के मंगलमय पावन स्वरूप का वर्णन एवं भगवत्प्रपत्ति को ही इस अशान्त संसार में शान्ति का मूलमन्त्र बतलाया है। वे कहते है कि संसार के सभी अभ्युदय जीवन मूलक ही हैं, परन्तु इस जीवन के रहस्यों पर विचारने से लोग आजकल भागते हैं, जबकि जीवन का रहस्य ही अध्यात्मवाद है; जीवन का उद्गम स्थान समष्टि चेतन आत्मा या परमेश्वर है उसी के स्वरूप का स्मरण चिन्तन करने में ही जीवन की सार्थकता है।]

मंगलमय भगवान् के मंगलमय स्वरूप का प्रबोध एवं भगवत्प्रपत्ति ही इस अशान्त भौतिक वातावरण में शान्ति का एकमात्र मूल मन्त्र है। उसका विस्मरण होने से फिर अपार संसारसागर का पार-अवार कुछ भी विदित नहीं होता। सांसारिक अभ्युदय एवं सुख-शान्ति भी उसी से मिलती है। अधिक क्या परमनि:श्रेयस अपवर्ग भी तदाश्रित है।

संसार के सभी अभ्युदय जीवनमूलक ही हैं, परन्तु इस जीवन के रहस्यों पर विचारने से आजकल लोग भागते हैं। यह कथमपि इष्ट नहीं है। जीवन का रहस्य ही अध्यात्मवाद है। जैसे विस्फुलिंग का उद्गमस्थान अग्नि है, तरंग का उद्गमस्थान समुद्र है, लोष्ठ, पाषाण आदि का उद्गमस्थान समष्टिचेतन आत्मा या परमेश्वर है। जैसे विस्फुलिंग आदि में अग्नि के समान गुण है, वैसे ही ईश्वर के अंश इस जीव में परमात्मा के सदृश गुण हैं। विस्फुलिंग आदि का अग्नि आदि से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने के समान जीवात्मा के भी वे गुण [ऐश्वर्य, बल, वीर्य, विज्ञान्, शक्ति, तेज] तिरोहित हो जाते हैं। पर उस समष्टिचेतन आत्मा या परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से जीव के वे गुण पुन: प्रकट हो जाते हैं- 'तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल: आप्तकाम:' [श्वेता. १, ११] आदि श्रुतियों 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्, ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।' [३, २, ५] आदि ब्रह्मसूत्रों तथा 'भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्' आदि भागवत वाक्यो में इसे विस्तारपूर्वक समझाया गया है। 'एवं नृणो क्रियायोगा:' [१, ५, ३४]आदि 'श्रीभागवत' के श्लोक की टीका से श्रीधरस्वामी ने इसका क्रम बतलाते हुये लिखा है-'अत्र च प्रथमं महत्सेवा ततश्च तत्कृपा ततस्तद्धर्मश्रद्धा ततो दृढ़ा भक्तिस्ततो भगवत्तत्त्वज्ञानं ततस्तत्कृपया सर्वज्ञत्वादिभगवद्गुणा-विर्भाव इति क्रमो दर्शित:' अर्थात सर्वप्रथम महात्माओं की सेवा अर्थात सत्संग करना

चाहिये तब सन्तों की कपा से भागवत धर्म में श्रद्धा होती है। तब भगवच्चरित्र का श्रवण और उसमें पुनः भगवत्प्रेम का उदय हो जाता है। इससे सूक्ष्म-स्थूल देह का विवेक तथा तद्भिन्न आत्म ज्ञान और पुनः इससे दृढ़ हरिभक्ति और तब प्रभु की कृपा और तब उससे सर्वज्ञत्वादि भगवद्गुणों का जीव में आविर्भाव होता है।

शास्त्रों तथा सन्तों ने तो उस परम प्रभु के यथाकथंचित् नामोच्चारण या स्मरण तक को जीव के लिये परमकल्याण का कारण कहा है। फिर जिनके नामोच्चारण का इतना अधिक महत्व हो उनके साक्षात्कार तथा सोत्कंठ स्मरण का लोकोत्तर महत्व तो सर्वातिशायी होगा ही। वस्तुतः स्वार्थतः या परमार्थतः इससे बड़ा कोई लाभ नहीं। गोसाई जी महाराज भी कहते हैं-

'स्वारथ सांच जीव कह एहा, मन क्रम वचन रामपद नेहा'

'सखा परम परमारथ एहू, मन क्रम वचन रामपद नेहू'

भागवत के क्रान्तदर्शी वक्ता श्रीशुकदेव की भी कुछ ऐसी ही उक्ति है-

'आराधनं भवगत ईहमाना निराशिषः।

ये तुनेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः'[श्रीमद्भा. ६।१८।७७]।

अतः कल्याणेच्छुक व्यक्तियों को उपर्युक्तानुसार सत्संग, सद्शास्त्रों के अध्ययनपूर्वक प्रभु का नामोच्चारण, स्मरण, चिन्तन एवं दर्शन लाभ करके मानव जीवन को सार्थक बना लेना चाहिए।

***

धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य को पशु से विलक्षण सिद्ध करती है। यदि ईश्वर एवं धर्म की भावना मनुष्य में न हुई, तब तो वह पशु तुल्य ही है। इतना ही क्यों वह तो पशु से भी निकृष्टकोटि में परिगणित होता है। परमात्मतत्त्व का अस्तित्व निश्चित रहने पर ही उसकी प्राप्ति की रुचि एवं उत्कण्ठा हो सकती है और तभी धर्म का अनुष्ठान और पाशविक उच्छृंखलता मिटाने का प्रयत्न हो सकता है।

आर्षग्रन्थों की उपेक्षा का परिणाम

[आजकल शास्त्रीय पुरातन मर्यादाओं का उल्लंघन करना, उनका उपहास उड़ाना एक गौरव की वस्तु समझा जा रहा रहा है। वर्णाश्रम का विरोध करना, शास्त्रों की बातों का मखौल उड़ाना प्रगति सूचक मान लिया गया है। स्वामी जी ने इस सम्पूर्ण परिस्थिति पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार करते हुये भगवान श्रीमन्नारायण एवं देवर्षि नारद के संवाद के व्याज से शास्त्रीय परमकल्याणकारी सिद्धान्त का निरूपण किया है। सम्पूर्ण लेख में उनके सन्त हृदय की वेदना स्पष्ट झलकती है।]

बाल्यावस्था में सुनता था कि ब्राह्मण ही गुरु हो सकता है, दूसरे नहीं। धर्मशास्त्रों में भी देखने को मिला था कि इज्या, अध्ययन, दान, याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं। इज्याध्ययन दान, यह तीन कर्म क्षत्रिय, वैश्य के भी हैं। अध्यापन और उपदेश एक ही बात है। 'महाभारत' में भी पढ़ा कि 'न हीनतः परमभ्याददीत' अर्थात् अपने से निम्न वर्ग के व्यक्ति से उपदेश ग्रहण न करें। परन्तु इससे विपरीत भी बहुत सी स्थिति देखने में आयीं। आजकल की स्थिति में तो ब्राह्मणों के प्रति प्रायः घृणा हो चली है, इसीलिये कई लोग कहा करते हैं कि जो ब्रह्म जाने, वही ब्राह्मण है– ''जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर।'' ब्राह्मण प्रायः धनहीन होने के कारण 'नोन, तेल' की चिन्ता में रहते हैं, कथा-वार्ता आदि के द्वारा भी कुछ अर्थोपार्जन का भाव रखते हैं, एतावता लोगों की घृणा बढ़ गयी। दरिद्रता के कारण ही कुछ आचार की भी त्रुटि आ गयी। यद्यपि अन्य वर्णों की अपेक्षा कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों ने ही वेदादि शास्त्रों की रक्षा की है। आज भी, जब कि वेदादि शास्त्रों का महत्व कम समझा जाता है, ब्राह्मण ही उनके अध्ययनाध्यापन में लगे हुये हैं। क्षत्रिय, वैश्यादि ने तो वेद का बहिष्कार ही कर दिया लगता है। यद्यपि उस कार्य में प्रलोभन और धन की कमी के कारण ही ब्राह्मणों में भी अन्यान्य भाषाओं के अध्ययन करने या सर्वथा मूर्ख रहने की शोचनीय परिस्थिति आ गयी। उधर दूसरे लोग इतने धनहीन न होने के कारण अन्य विषयों में प्रधान होने के अतिरिक्त थोड़ी सी भी भक्ति ज्ञान की बात मानने और कहने से श्रद्धेय बन जाते हैं। फिर उनकी गुरु आदि बनने में भी प्रवृत्ति हो जाती है। यद्यपि आपाततः इन बातों से कोई हानि मालूम नहीं पड़ती, तथापि शास्त्रों में विश्वास करने वाले लोग उसे उचित नहीं समझते। इस सम्बन्ध में ही श्रीमद्भागवत के 'कौशिकसंहितान्तर्गत' माहात्म्य में एक

बड़ा विचित्र आख्यान आता है। द्वितीयाध्याय से ही यह आख्यान चलता है। नारायण भगवान् श्री नारद से कहते हैं कि ''पिछले युग में एक वैश्य था। वह वृत्ति, धन, बन्धु आदि से रहित था। उसके एक स्त्री थी, पुत्रादि नहीं थे। वह धन के लिये जो उद्यम करता था, सब व्यर्थ जाता था। उसकी स्त्री पेषणादि कार्य करती थी। उससे प्राप्त द्रव्य से ही उसके घर का निर्वाह होता था। दम्पती में स्नेह भी नहीं था। आधिव्याधि से भी दोनों अत्यन्त पीड़ित थे। एक बार वह वैश्य दु:खी होकर घर छोड़कर किसी वन में चला गया, वहाँ उसने एक सरोवर देखा। वहाँ ऋषि-मुनियों का दर्शन किया। बहुशिष्यों से युक्त, ब्रह्मतेज:सम्पन्न, साक्षात ब्रह्मा के समान विराजमान महर्षि सांख्यायन का उसने दर्शन किया। मुनि को प्रणाम कर उनकी आज्ञा से बैठ गया। मुनि के पूछने पर उसने अपना वृतान्त बतलाया और कहा कि ''भगवन्! मेरी यह दरिद्रता क्यों आयो और कैसे जायेगी? कृपा करके बतलायें।'' मुनि ने बतलाना प्रारम्भ किया-''हे वैश्य! सुनो, तुम्हारे दु:ख का जो कारण है। तुम पिछले जन्म में शूद्र थे। अधिकार न होने पर भी हठ से तुमने वेदाध्ययन किया और विप्र के समान वेष बनाकर काशी में रहने लगे। अन्त में बहुत शास्त्रों का अभ्यास करके तुमने सन्यासी का वेष बना लिया। फिर अनेक ब्राह्मणों को अपना शिष्य भी बनाया। अपने शिष्यों को उच्छिष्ट भोजन भी कराया, उन ब्राह्मण शिष्यों से उच्छिष्ट बर्तन साफ कराया, पांव दबवाया, अन्त में मरकर उसी पाप से शिष्यों के सहित तुमने धर्मराज के पुर में जाकर बहुत कष्ट पाया। ब्राह्मण सर्वाग्रभोजी है, उसको जो उच्छिष्ट खिलाता है, फिर चाहे मोह से, चाहे स्नेह से, चाहे हठ से खिलाये, वह 'लालाभक्ष' नामक नरक में जाता है। वहाँ उसको मल-मूत्र खाना पड़ता है। जो हीन वर्ण का प्राणी उत्तम वर्ण के व्यक्ति को शिष्य बनाता है, वह 'शूकरमुख' नामक नरक में जाकर यमदूतों के द्वारा महती यातना को प्राप्त होता है। अनेकों सहस्र वर्ष पर्यन्त अनेको दु:खों को भोगकर अन्त में शौकरी और गार्दभी योनि को प्राप्त होता है-''उच्छिष्टं प्राशयेद्विप्रं मोहात्स्नेहाद्ध-ठाच्च य:। सर्वाग्रभोजिनं मूढो लालाभक्षं प्रयाति स:।। यो हीनश्चोत्तमं वर्ण शिष्यत्वे विनियोजयेत्। स शूकरमुखं याति ताडयमानो यमानुगै:।।'' हे वैश्य! इस तरह तुम अनेक योनियों में नाना दु:खों का अनुभव करते करते अन्त में चण्डाल योनि को प्राप्त हुये थे। अन्त में किसी कर्मशेष से वैश्ययोनि में तुम्हारा जन्म हुआ है। यहाँ भी पुत्र, धनादि से रहित, आधि-व्याधि से पीड़ित होकर पाप-फल-भोग रहे हो।'' वैश्य ने कहा-''भगवन्! कोई ऐसा प्रायश्चित्त बताइये, जिससे मैं अपने दुष्कर्मों से मुक्ति प्राप्त करूं।'' ऋषि ने कहा-''तुम्हारे बड़े पाप है, उनका प्रायश्चित्त हमारी दृष्टि में नहीं आता। ब्राह्मण जन्म से ही श्रेष्ठ है, उसमें आत्मा का उद्धार करने एवं परोद्धारकता की भी शक्ति रहती है, अन्यत्र केवल आत्मोद्धारकता ही शक्ति होती है। दोनों शक्ति ब्राह्मण में ही होती हैं,

अतः ब्राह्मण ही गुरु हो सकता है, दूसरा नहीं-''आत्मोद्धारकताशक्तिः परोद्धारकता तथा। शक्ती द्वे ईशरचिते स्वोद्धारा सर्वसंस्थिता। परोद्धारा न सर्वत्र वैश्य हे ब्राह्मणं विना। विप्रेन्द्रे एव वर्तेते तस्माद्विप्रो गुरुर्भवेत्।।'' अतएव ब्राह्मण से कराया हुआ जप, होमार्चनादि सबको मिल सकता है, अन्यकृत नहीं। इसीलिये ब्राह्मण ही ऋत्विज्ञ हो सकता है। जहाँ विद्वान् ब्राह्मण नहीं मिल सकता, वहाँ विप्रजातिमात्र का ग्रहण करना चाहिये। अतः सुखेच्छु को चाहिये कि ब्राह्मण की सदा पूजा करता रहे-''अतः सर्व कृतं विप्रैर्जपहोमार्चादिकम्। लभते सर्वलोकोऽयं नान्यजातिकृतं क्वचित्।। अलाभे विदुषो विप्रजातिमात्रपरिग्रहः। अतो विप्रः सर्वपूज्यः सर्वदा सुख हेतवे।।'' अविप्र कभी भी विप्र का पूज्य नहीं हो सकता, यह तुमने वेदों, शास्त्रों से जाना ही होगा। यह भी जानते होगे कि विप्र शूद्रपूजक नहीं होता, प्रव्रज्या-सन्यास-भी केवल विप्र को ही विहित है, अन्य वर्णों को सन्यास विहित नहीं है-''किंचेदमपि जानासि न विप्र शूद्रपूजकः। विप्रस्यैव प्रव्रज्यास्ति नान्यवर्णस्य कर्हिचित्।।' आचार्यत्व भी ब्रह्मा ने ब्राह्मण में ही स्थापित् किया है। तप आदि से भी अन्य वर्ण में आचार्यत्व नहीं आ सकता-''आचार्यत्वं ब्राह्मणस्य स्थापितं पद्मयोनिना। नान्यवर्णस्य जायेत तपआदिभिरत्र तत्।।'' चिन्हमात्र से जाति नहीं बदलती, सूत्रादि धारण करने से नापित ब्राह्मण नहीं बन सकता। कलि में ब्राह्मणता केवल वीर्य्य से ही अर्थात् जन्म सेही होती है, तपश्चर्य्या आदि से ब्राह्मणता नहीं आती। शुद्ध वस्तु किसी तरह अशुद्ध हो जाये, तो शोधन से उसकी शुद्धि हो सकती है। परन्तु जो स्वभाव से ही अशुद्ध है, वह शोधन से नहीं शुद्ध होती। जैसे अशुद्ध तैजस पात्र भस्मादि-संसर्ग से शुद्ध हो जाता है, परन्तु मल आदि तो गङ्गा में डुबाने पर भी शुद्ध नहीं होता।

''न हि जातिपरावृत्तिश्चिह्नमात्रपरिग्रहात्। न नापितो ब्राह्मणतां याति सूत्रादिसंग्रहात्।। कलौ ब्राह्मणता वीर्यात्तपश्चर्य्यादिना न हि। शुद्धं स्वशुद्धतामेत्य शोधनाच्छुध्यते पुनः।। यच्च स्वभावतोऽशुद्धं तत्र शुद्धयति शोधनात्। यथा भस्मादिसंसर्गादशुद्धं तैजसं शुचि। मूत्रं न शुद्धिमाप्नोति गंगांभः प्लावनादपि।।'' दम्भ के समान कोई पाप नहीं, सत्य के समान कोई पुण्य नहीं। तुमने दम्भ से बड़ा पाप किया है। तुम्हारे वे शिष्य अज्ञान से तुम्हें गुरु बनाने के कारण कुम्भोपाकादि घोर नरकों में गये हैं-''ते शिष्या निखिलां जग्मुरज्ञानाद्गुरुधारणात्। नरकान् क्रमशो वैश्य कुम्भीपाकमुखान् बहून्।।'' अस्तु अन्त में २१ दिन 'भागवत' -सेवन करने का उपदेश उस वैश्य को दिया गया।

आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि सर्वज्ञकल्य महर्षियों ने लाखों वर्ष पूर्व ही किस तरह कलि के वृतान्तों का वर्णन किया है? धर्मशास्त्रों, इतिहासों, पुराणों में सनातन धर्म को सम्पूर्ण मर्य्यादाएं ठीक ठीक वर्णित है। मोहवश लोग उन बातों को

अप्रामाणिक कहने लगते हैं। मर्य्यादोल्लघंन काल में प्राणी शास्त्रों की, शिष्टों की उपेक्षा करता है। फल-भोग-काल में घबराता है, रोता हैं, प्रतीकारोपाय ढूँढता, भटकता है। ब्राह्मणेतर का सन्यास लेना, शिष्य बनाना, उच्छिष्ट खिलाना, पादसंवाहन कराना आदि आज पूर्ण विस्तार को प्राप्त हो रहे हैं। ब्राह्मण लोग भी शास्त्र सम्बन्ध छोड़ते जा रहे हैं, धर्म की उपेक्षा करके किञ्चित् लोभ के कारण शूद्र, वैष्य आदि के शिष्य बनते जा रहे है। यह ऐसे कर्म है, कि जिससे ब्राह्मणों का तो पतन है ही, साथ ही, इतर वर्णों का भी सर्वनाश होता है। अत: क्या ही अच्छा हो कि पीछे पछताने की अपेक्षा पहले से ही सोच-समझकर चलें। फिर सहसा किसी आर्ष ग्रन्थ के किसी वचन को अप्रामाणिक कहने का साहस न होगा।

***

जिस प्रकार नील-पीत-हरित आदि रूपों का अवभासक सौर आलोक एक ही है किन्तु उसके प्रकाश्य भिन्न है उसी प्रकार दृश्य अनेक हैं और दृष्टा एक ही है। किन्तु नील-पीतादि दृश्यों को प्रकाशित करते समय उनका अवभासक सौर आलोक तद्रूप हो जाता है; उन नील-पीतादि की सन्धि में जो उसका निर्विशेष रूप रहता है वही उसका 'शुद्ध-स्वरूप' है। जैसे एक स्थान में कई दर्पण रक्खे हुये हैं। उनमें सूर्य की किरणे पड़कर फिर समीपस्थ भित्ति पर प्रतिफलित हो रही हैं। वे दर्पणालोक और उनकी सन्धियाँ ये दोनों ही सौर आलोक से प्रकाशित हैं, किन्तु सन्धियाँ केवल सौरालोक से प्रकाशित हैं और दर्पणालोक दर्पण में पड़े हुये सौरालोक के आभास से भी प्रकाशित है। इसी प्रकार विषयों को स्फूर्ति तो चेतन तथा अन्त:करणस्थ चिदाभास दोनों के योग से होती है, किन्तु उन विषयों की सन्धि अर्थात् निर्विषय-स्थिति केवल चेतन से ही भासित होती है।

धर्म और नीति

[राजनीति से आज जन-जन प्रभावित है, प्रेरित है और उसमें प्रवेश करने की इच्छा रखता है परन्तु धर्म से आज का मानव नाक भौं सिकोड़ता है, उसे अनावश्यक समझता है या फिर वर्तमान काल में उसका केवल व्यक्तिगत स्वरूप ही उसे अंशतः मान्य है। परन्तु स्वामी जी की मान्यता है कि लौकिक-पारलौकिक उन्नति और मोक्ष, प्राप्ति धर्म से होती है, और इसी प्रकार नीति शब्द का भी यही अर्थ है कि अभ्युदय की प्राप्ति जिससे हो वह नीति है। इस प्रकार धर्म को नीति का पति बताते हुये उन्होंने प्रस्तुत किया है कि सुख शान्ति स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि राजनीति को धर्म का सुदृढ़ आधार प्रदान किया जाये। शायद विश्व में राजनीति में धर्म को सहकार रखने के पक्ष को दृढ़तापूर्वक रखने वाले स्वामी जी अकेले ही दीख पड़ते हैं परन्तु उनके अकाट्य शास्त्रीय सिद्धान्तों की सत्यता में कोई शंका नहीं है।]

व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के धारण-पोषण करने वाले तथा संघटन, सामंजस्य, शान्ति, सुव्यवस्था की स्थापना में अत्यन्त उपयोगी और परिणाम में भी जो अहितकर न हों, ऐसे नियमों को ही 'धर्म' कहा जाता है। अतएव अभ्युदय (एहलौकिक-पारलौकिक उन्नति) एवं निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति जिससे हो वही धर्म है-''यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः'', ''धारणाद्धर्मः।'' यह सभी धर्म के तटस्थ लक्षण हैं। परन्तु किन साधनों से अभ्युदयादि की सिद्धि होती है, अतएव कौन कौन कर्म धर्म हैं, इसका पूर्णरूप से ज्ञान अपौरुषेय, वेद एवं तन्मूलक शास्त्रों से ही हो सकता है। इसलिये राष्ट्र के धारण-पोषणानुकूल शास्त्रसम्मत देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार की हलचले या व्यापार ही धर्म है। इसी में यज्ञ, तप, दानादि तथा सभी वर्णधर्म, आश्रमधर्म का अन्तर्भाव हो जाता है। 'नीति' शब्द का भी अर्थ प्रायेण वही होता है। अभ्युदयप्राप्ति जिससे हो, वही नीति है। 'धृञ् धारणे' धातु से 'धर्म' और 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'नीति' शब्द सिद्ध होता है-''ध्रियतेऽभ्युदयोऽनेनेति धर्मः'', ''नीयते प्राप्यते अभ्युदयोऽनयेति नीतिः।'' अर्थात् अभ्युदय का धारण जिससे हो, वही 'धर्म' और अभ्युदय की प्राप्ति जिससे हो, वही 'नीति' है। फलतः दोनों का एक ही अर्थ होता है। इसलिये कुछ लोग तो नीति को ही धर्म कहते हैं। पर कुछ लोग लौकिक अभ्युदय (उन्नति) के साधन को 'नीति' और पारलौकिक उन्नति के साधन को 'धर्म' कहते है। यह विभाग भी प्रधानता और अप्रधानता की ही दृष्टि से

है। धर्म से पारलौकिक उन्नति प्रधानरूप से और गौणरूप से लौकिक उन्नति भी होती है। इसी तरह नीति से लौकिक उन्नति प्रधानरूप से और अप्रधान रूप से पारलौकिक उन्नति भी होती है। धर्म और नीति का परस्पर बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। नीति से ही शास्त्र और धर्म प्रतिष्ठित होते हैं, नीति के बिना शास्त्र और धर्म नष्ट हो जाते हैं। नीति से ही सामाजिक सुव्यवस्था, शान्ति होने पर धर्म के अनुष्ठान में सुविधा होती है और धर्मभावना फैलने से ही नीति भी कार्य्यान्वित एवं सफल होती है। अहिंसा और सत्य की भावना से राजा-प्रजा, मजदूर-पूंजीपति सभी में सद्भावना फैलती है। धर्मभावना से ही परोक्ष में भी राजा-प्रजा अन्याय, अत्याचार से बचने का प्रयत्न करेंगे।

वास्तव में धर्म नीति का पति है। उससे विरहित होकर नीति विधवा है। बिना धर्मरूप पति के विधवा नीति पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती। उसमें फलोत्पादन की क्षमता नहीं रहती। वैधव्य में वह केवल बिलबिलाती है, असफल होकर विलाप करती है। धर्मविरुद्ध नीति कहीं तत्काल अभ्युदय का साधन होती हुई थी परिणाम में अहितकारिणी सिद्ध होती है। दुष्परिणाम-शून्य वास्तविक अभ्युदय के साधन को ही नीति कहा जा सकता है। जो परिणाम में अनिष्टकर हो, वह सच्चा अभ्युदय नहीं, केवल अभ्युदयाभास है, अत: उसका साधन भी नीति नहीं, केवल नीत्याभास है। अर्थानुबन्ध, धर्मानुबन्ध अभ्युदय ही सच्चा अभ्युदय है। अनर्थानुबन्ध, अधर्मानुबन्ध या अननुबन्ध अभ्युदय केवल देखने भर को अभ्युदय है। विष से मिला हुआ मधुर पक्वान्न सेवन में तात्कालिक आनन्द लेने वाला होने पर भी मृत्यु का कारण होता है, यह स्पष्ट ही है। धर्मविहीन नीति आरम्भ में भले ही चमत्कारिक सफलता दिखलाये, पर अन्त में वह पतन ही की ओर ले जायेगी। समस्त 'महाभारत' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। धर्मविरुद्ध कूटनीति का अनुसरण करके दुर्योधन को १४ वर्ष के लिये अतुल साम्राज्य का उपभोग मिल गया, पर अन्त में पूर्ण पतन ही हुआ। धर्म-नीति के अनुगामी बनकर युधिष्ठिर को १४ वर्ष वनों में भटकना पड़ा, पर अन्त में साम्राज्य-सिंहासन प्राप्त हुआ। इतिहास, पुराणों में सर्वत्र यही दिखलाया गया है कि ''यतोधर्मस्ततो जय:।''

अपने यहाँ नीति साहित्य की कमी नहीं है। शुक्र, कौटिल्य, कामन्दक आदि की नीति के सामने पाश्चात्य नीति तुच्छ जंचती हैं। कहा तो यह जाता है कि नाजियों ने बहुत कुछ अर्थशास्त्र से सीखा है। कूटनीति के ऐसे दाँवपेच बतलाये गये हैं जिन्हें देखकर हैरान होना पड़ता है। यदि तुलना की जाये तो पाश्चात्य कूटनीति के प्रसिद्ध आचार्य मैकेयावली को कौटिल्य के आगे सिर झुकाना पड़ेगा। परन्तु भेद इतना ही है कि हमारे यहाँ के नीतिज्ञों ने भी कभी अर्थ को नहीं भुलाया। स्वयं कौटिल्य ने लिखा है-''संस्थाया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्। यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत्।।'' स्वधर्म: स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोक: सङ्करादुच्छिद्येत।''

परन्तु इसका ध्यान न रखने का भी फल यह हो रहा है कि आज पचासों वर्ष का हमारा प्रयत्न विफल जा रहा है। हमारी कोई भी नीति कारगर नहीं हो रही है। जो कुछ भी हम करते हैं, उसका फल उलटा ही होता है। आज के बड़े-बड़े नेता जिस नीति का आश्रय लेकर देश को सुखी और समृद्ध बनाना चाहते हैं, वह भारत की नीति नहीं है। वास्तव में तो हम पाश्चात्य उच्छिष्ट नीति के अनुसरण में ही सारा जोर लगा रहे हैं। अपने प्राचीन नीति-साहित्य की ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता है। यदि उसे अपनायें तो फिर धर्म-विमुखता भी न रहे और धर्म का आश्रय लेने पर सफलता बनी बनायी है। धर्मविमुख होकर आज सारा विश्व पतन की ओर बढ़ रहा है, तरह तरह के वादों के बादल छाये हुये हैं, उनमें से जीवनप्रदान करने वाले जल की एक बूंद नहीं टपकती, होती है केवल घोर गर्जना और पत्थरों तथा बिजली की मार। हम तो आज सब तरह से असमर्थ हैं। बाहुबल नहीं, शक्तिबल नहीं, बुद्धिबल नहीं, कुछ भी नहीं है। ऐसी दशा में हम कर ही क्या सकते हैं? हाँ, एक मार्ग हमारे सामने अवश्य है और वह है सर्वशक्तिमान् का सहारा। जितने भी आज हमारे प्रयत्न हो रहे हैं, उनके साथ यदि हम भगवान् की प्रार्थना जोड़ दें तो हमारा मार्ग स्वत: साफ होता जायेगा। उससे हमारा ही नहीं, सारे विश्व का कल्याण होगा। भारत के महापुरुषों का यह आदर्श सिद्धान्त रहा है कि ''सर्वे भवन्तु सुखिन:।'' इसी दृष्टि से सदा उनकी प्रार्थना होती रही है। आज भी इसी की आवश्यकता है। यदि नियमपूर्वक इसके लिये प्रयत्न किया जाये तो सफलता अवश्यम्भावी है।

***

वस्तुत: देखा जाये तो हम लोग भी नास्तिक प्राय: ही हैं। यदि भगवान् की सत्ता पर हमारा पूरा विश्वास होता तो हमें लुक-छिपकर पाप करने का साहस कैसे होता? भगवन तो अन्तर्यामी हैं वे तो हमारी मानसिक क्रिया को भी जानते हैं। अत: ऐसी परिस्थिति में हमारी मन की भी दुष्प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इस प्रकार यदि सच पूछा जाये तो हमसे तो नास्तिक ही अच्छे हैं। हम तो ऊपर से आस्तिकता का दावा करते हुये वस्तुत: नास्तिक हैं, किन्तु वे प्रत्यक्ष अपना दोष स्वीकार कर लेते हैं। अत: स्पष्ट है कि भगवान का निराकरण करना-यह मायामोहित जीवों का स्वभाव ही है। तो भी प्रभु का स्वभाव बड़ा ही करुणामय है उसी को समझकर वह फिर भी उन्हीं के सामने रोता हैं। कृपा की भीख माँगता है और वे प्रभु भी बड़े उदार हैं, दयालु है, थोड़े से उपकार की वे बारम्बार स्मरण करते हैं।

देवोपासना और अनन्यता

[भगवान आद्य शंकराचार्य के समान परम वेदान्तनिष्ठ, अद्वैतवादी, परम वीतराग ब्रह्मनिष्ठ स्वामी करपात्री जी वस्तुतः ब्रह्मरूप थे। 'एकंब्रह्मद्वितीयं नास्ति' के प्रबल प्रतिपादक होते हुये भी जिस प्रकार आदि शंकर ने अनेक देवी-देवताओं की भक्ति परक रचनाएं की उसी प्रकार स्वामी जी भक्ति की उच्चावस्था को प्राप्त हो गये थे। उन्होंने वीतराग सन्यासी होते हुये भी देवी-देवताओं की उपासना पद्धति को स्वयं अपनाकर आदर्श उपस्थित किया। प्रस्तुत लेख में उन्होंने बतलाया है कि जैसे भगवान् ने ईश्वर प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न लोगों की सेवा करने का व्रजांगनाओं को उपदेश दिया है वैसे ही लोगों को एक परब्रह्म की प्राप्ति के लिये अनेक ईश्वरों, देवी-देवताओं का अनुसन्धान करना होगा। जिस अद्भुत शास्त्रीय शैली से स्वामी जी ने देवोपासना की अनन्यता का विवेचन किया है वह देखते ही बनता है।]

परमानन्द आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने अद्भुत सौन्दर्य-समास्वादन की निष्ठा व्रजांगनाओं के ब्याज से वर्णन करते हैं। व्रजांगनाएं तो केवल निमित्तमात्र हैं। उनके बहाने आप समस्त संसार को स्वधर्मनिष्ठा का दिव्य उपदेश देते हैं। स्वधर्म निष्ठा ही भगवत्प्राप्ति की आधार होती है। अतः वह निष्ठा निश्छल होनी चाहिये भीतर-बाहर एक भाव से हो, क्योंकि ऐसी निष्ठा के बिना भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है। दम्भपूर्वक किया हुआ कार्य अकिंचित्कर हुआ करता है। श्रीकृष्ण भगवान् व्रजांगनाओं से कहते हैं- ''तद्यात मा चिरं गोष्ठं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः।'' यह भाव इस बात से सूचन किया जाता है मानो व्रजांगनाएं कहती हैं-''भगवन्! यहाँ हम सबको देखता कौन है? उपवन की सुन्दर शोभा का आनन्द लेकर आपके साथ विहार करके तब जायेंगी।'' इस पर भगवान् कहते हैं कि ''उत्तम क्षेत्र होने के कारण भेद शीघ्र ही प्रकट हो जायेगा। तीर्थ में किया हुआ दुराचार सुगुप्त नहीं रह सकता। अतः तुम सब चली जाओ। यहाँ तनिक भी मत ठहरो।'' कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य को भीतर से दुराचार से बचना चाहिये। तीर्थ स्थान में तो इसका विशेष रूप से ध्यान रहे। मन से पाप का विचार तक न करना चाहिये। यह संसार जड़ है। इसके जानने न जानने से क्या होता है। अन्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा, जो फल देने वाले हैं, वे तो सब कुछ जानते हैं न। जब उनसे कोई बात छिपी नहीं रह सकती, तो फिर जड़ संसार से छिपाने से क्या होता है? इसलिये भगवान् ने उनसे कहा ''आप लोग शीघ्र गोष्ठ चली जायें। मुझ

परपुरुष के सान्निध्य में रहकर अपने की कलंकित न करें। यहाँ से जाकर स्वधर्म में लगे, अपने पतियों और सास-ससुर की सेवा-सुश्रूषा करो। इसी से भगवत्प्राप्ति हो सकती है।'' इसी ब्याज से भगवान् का संसार के प्राणियों को उपदेश हैं। भगवान् ने ईश्वरप्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न लोग कीसेवा करने का जैसे व्रजांगनाओं को उपदेश किया है, वैसे ही लोगों को एक परब्रह्म की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न ईश्वरों का अनुसन्धान करना चाहिये। यदि एक ईश्वर प्राप्त करना है, तो पहले अनन्त ईश्वरों को खोजना पड़ेगा। ईश्वर के प्रतिनिधिस्वरूप आये हुओं को ढूंढ़े बिना वह कदापि नहीं मिल सकता। एक बच्चा पैदा करना होता है, तो लोग अनेक देवी-देवता, भूत-प्रेत की मन्नते करते हैं, फिर परब्रह्म परमात्मा बच्चे से कहीं उच्चकोटि के हैं। उनके लिये तो और भी देवताओं को पूजना होगा, यज्ञ, अनुष्ठानादि करना होगा। ऐसा करने से ही अनन्यता होगी। चाहे जिस किसी का पूजन कियाजाये, लक्ष्य एक उसी परब्रह्म की प्राप्ति का रहना चाहिये, यही अनन्यता है और इसी से अष्टसिद्धि होती है। ईश्वरप्राप्ति के लिये देवी, गणेश, सूर्य भिन्न-भिन्न सभी देवों की पूजा करनी होगी, तब भगवान् प्राप्त हो सकेंगे। सम्राट् से जब कोई मिलने जाता है, तब सीधे उनसे कोई नहीं मिलता, कितने ही अहलकरों, राजकर्मचारियों से मिलकर उन सबको अनुकूल करना होता है, तब कहीं सम्राट् का दर्शन हो पाता है। यदिएक भी अहलकार विपक्षी हुआ, तो वह ऐसे अड़ङ्गे लगायेगा कि सम्राट् के दर्शन ही न हो पायेंगे। तब फिर सम्राटों के सम्राट् भगवान् की प्राप्ति, बिना उसके अहलकार-देव-देवियों-की पूजा किये, कैसे होगी? गोस्वामी तुलसीदास जी इसीलिये सीधे राम के पास नहीं पहुँचते। वे कहते है-'देहु उमापति रामचरणरति।' शिव जी से भगवान् रामचन्द्र की कृपा दिलाने के लिये प्रार्थना करते हैं। यदि बिना भगवान् के राज-कर्मचारियों को मनाये ही भगवत्प्राप्ति सम्भव होती, तो वे फिर शिव की व्यर्थ मन्नतें क्यों करने जाते? 'रामायण' में जहाँ देखिये तुलसीदासजी ने सीधे राम के पास पहुँचने की दुश्चेष्टा नहीं की है। उन्होंने पंच देवों की उपासना सबसे पहले की। वे कहते हैं-'जयजयवर गिरिराजकिशोरी। जय महेशमुखचन्द्रचकोरी।। जय गजबदन-षड़ानन माता। जगतजननि दामिनिद्युतिगाता।। नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।। भव-भव-विभव पराभवकारिणि। विश्वविमोहनि स्ववशविहारिण।' यहाँ गोस्वामी जी उसी भगवती से प्रार्थना करते हैं, जो चितिरूप से सबमें व्याप्त है-''या देवी सर्वभूतेषु चितिरूपेण संस्थिता।'' उसकी ही दीप्ति में दीप्त हुये ये सारे प्रमाण स्वस्वविषयों को प्रकाशित करते हैं। उसका प्रभाव और स्वरूप दोनों अमित हैं, इसलिये वेद भी उसको नहीं जानते। उसका न आदि है, न मध्य और न अन्त ही। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिसके लक्षण हों, वही परब्रह्म है। भगवती में ये सब लक्षण है। भगवती 'भव' अर्थात् उत्पन्न करती है, 'विभव' ऐश्वर्य करती है और पराभव अर्थात् 'संहार' करती

है। उत्पत्ति, अभिवृद्धि एवं नाश तीनों को करने वाली आप हैं। जिससे यह नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च निकला है और जो तीनों-उत्पत्ति, पालन और लय को करने वाले हैं, जो रसात्मक पूर्ण सच्चिदानन्दघन हैं, भावुकों के लिये परम ध्येय, ज्ञेय, सर्वस्व हैं, वे यही भगवती हैं। ''स्वार्गापवर्गदा नृणाम्'' मनुष्यों को स्वर्ग एवं नरक देने वाली आप ही हैं। आप ज्ञानियों के लिये आनन्दरूप और अज्ञों के लिये भयरूप हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी आदि जिन तत्वों का जहाँ वर्णन करने लगते हैं, वहाँ मानो उन्हीं को सब कुछ समझ लेते हैं। शंकर का जहाँ वर्णन करते हैं, वहाँ शंकर को ही अपना सर्वस्व मान लेते हैं। इन्होंने बिलकुल पुराणों की रीति ग्रहण की है। पुराणों में शैव शिव को, वैष्णव विष्णु को जहाँ भजते हैं, वहाँ उनको अपना सर्वस्व समझकर। जो विषय परम तत्व का है, उसको प्रतिपादन करने का पुराणों ने अपना स्थिर लक्ष्य रखा है। यही पद्धति गोस्वामी जी की भी रही। उन्होंने अपना लक्ष्य भगवत्प्राप्ति तो रखा, पर वे उनके कर्मचारियों को भी तन्मयः तद्गतचित होकर याद किया।

यह सब तो है, पर फिर भी साधकों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार एक किसी खास को उपास्य देव बनाना पड़ता है। उसी को सब कुछ समझकर अर्चन-वन्दन करना होता है। एक को मान कर अपनी अनुरागवृद्धि के लिये इतरों को भी याद करना होता हैं। पूजा करते समय उपास्य देव को बीच में स्थान देकर इधर-उधर अन्यान्य देवों को रखा जाता है और तब सबकी पूजा साथ की जाती है। इतर देशों की उपेक्षा करने से न तो इष्टसाधन होता है और न तो यह अनन्यता का लक्षण ही है। अपने इष्टदेव का पूजन अपने धर्मविशेष द्वारा किया जाता है। भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं- 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' वर्णधर्मानुसार अपने कर्म के द्वारा ही प्राणी अपने अभिलषित तत्व की प्राप्ति कर सकता है। कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लिये बराबर होते हैं, पर कुछ असाधारण कर्म होते हैं, जो चारों वर्णों के लिये अलग अलग होते हैं। सबमें विशेषता है। यह उन्हीं असाधारण कर्मों के लिये आया है। अपने अपने उन असाधारण कर्मो के द्वारा उस परब्रह्म की प्राप्ति होती है। अग्निहोत्रादि जितने भी नित्य, नैमितिक कर्म होते हैं, सबमें इन्द्र, रुद्र, सूर्य आदि का भी भजन करना पड़ता है। सबका भजन किये बिना यज्ञ की पूर्ति नहीं होती। सबका भजन जप किया जायेगा, तभी अनन्यता बनेगी। भगवान् की आज्ञा है कि मेरे मातहतों की पूजा करने से भक्त स्वयं मुझे ही प्राप्त होते हैं। अतः भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल होने पर अनन्यता न बनेगी। भगवान् तभी मिलेंगे, जब वह प्रसन्न हों और वह तभी प्रसन्न होंगे, जब उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन किया जायेगा। आज्ञा पालन किये बिना उनकी प्रसन्नता की आशा करना व्यर्थ है। भृत्य स्वामी की आज्ञा न माने और सेवा का प्रयत्न करे, यह कभी सम्भव नहीं। ऐसे ही वे ईश्वरभक्त मूर्ख है जो ईश्वर की आज्ञा को नहीं मानते, पर सेवा का प्रयत्न

करते हैं। अत:सबसे पहले आज्ञा माननी चाहिये। भगवान् कहते हैं–''मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त: सङ्गवर्जित:। निर्वैर: सर्वभूतेषु य: मामेति पाण्डव।'' अर्थात जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ, यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यों को करता है, परम आश्रय मुझे परमगति मानकर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर रहता है, मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्य के श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान या पठन–पाठन को प्रेमसहित निष्काम भाव से निरन्तर अभ्यास करता है, जो आसक्तिरहित हैं अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थो में स्नेहरहित है और सम्पूर्ण प्राणियों में जिसका वैरभाव नहीं है, (भगवद्बुद्धि हो जाने से पुरुष का अति अपराध करने वाले में भी वैरभाव नहीं होता, फिर औरों में तो कहना ही क्या?) ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरे को ही प्राप्त होता है। भगवान् का आदेश है कि स्वकर्म से ही साक्षात्कार हो सकता है।

भगवत्प्राप्ति करना है, तो भगवदाज्ञा भी माननी पड़ेगी। भगवदाज्ञा मानकर सभी देवी–देवताओं का पूजन करना होगा। अनन्यता का यही अर्थ है कि जिस किसी का पूजन किया जाये– 'सब कर मांगहि एक फल रामचरणरति देहु आसक्ति बस एक में हो। पूजना सभी को चाहिये, सबको प्रसन्न रखने पर भगवान् भी प्रसन्न होंगे। दूसरे देवताओं का पूजन, नमस्कार बन्द करना उचित नहीं है। धनादि के लिये जब धनियों के चरणों पर मस्तक झुकना पड़ता है, लौकिक कार्यों के लिये मलेच्छों तक की भी स्तुति करनी पड़ती है, तब भगवान् के लिये देवताओं की शरण लेना क्या कोई खराब बात है? क्या देवता उन धनिकों से भी गये–बीते है? नहीं। यह मनुष्यों की मूर्खता है कि देवताओं का अनादर करते हुये ईश्वरप्राप्ति का प्रयत्न करें। प्रतिनिधस्वरूप में स्थित इन देवी–देवताओं का पूजन करने पर ही भगवत्साक्षात्कार, अमृतत्व–प्राप्ति सम्भव है।

***

जैसे एक साधवी पतिव्रता अपने पति के सम्बन्ध से परिवार के सभी ज्येष्ठ, कनिष्ठ सम्बन्धियों सेवक अतिथि आदि को सेवा आदि से सन्तुष्ट करके भी सर्मपण मात्र पति के प्रति ही रखती है, ठीक उसी प्रकार साधक को भगवत् सम्बनध से ही पंचादेवोपासना पितृपूजा आदि करके भी अपने इष्ट के प्रति दृढ निष्ठा करना अनन्यता है। अन्य देवों की पूजा भी वह इष्ट भावना भावित होकर ही करें।

सब में एक का दर्शन, एक में सभी का दर्शन यही सनातन धर्म की निर्मल अनन्यता है, भक्ति है।

तात्विक स्वतन्त्रता

[स्वतन्त्रता की अनेक विध परिभाषाऐं की गयी हैं परन्तु विचारकों की दृष्टि में वे प्राय: अपूर्ण हैं, एकांगी है। स्वामी जी प्रत्येक शब्द की परख तात्विक एवं शास्त्रीय दृष्टि से करते हैं उनकी विशेषता है। प्रस्तुत: लेख में स्वतन्त्रता की सात्विक परिभाषा पढ़कर आपको निश्चितरूपेण नयी दृष्टि प्राप्त होगी।]

स्वतन्त्र रहना प्राणिमात्र चाहता है। एक शुक (तोता) सुवर्ण, रत्न आदि के पिजड़े में रह कर मधुर, मनोहर फल एवं पक्वान्न खाकर शीतल, मधुर, सुगन्धित जल पीकर भी प्रसन्न नहीं होता। वह स्वतन्त्र रहकर, खट्टे फल खाकर, खारा पानी पीकर भी स्वच्छन्दता के साथ वन, वृक्षों की टहनियों पर विहरण करने में सन्तुष्ट रहता है। फिर सम्पूर्ण प्राणी स्वतन्त्रता क्यों न चाहे? प्राणी स्वतन्त्रता ही नहीं, उसके साथ जीना, जानना और सुखी रहना भी चाहता है। इस तरह जीना, जानना, सुखी रहना, स्वतन्त्र रहना और साथ ही सब पर शासना करना चाहते हैं।

अनन्त जीवन (सत्ता), अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वातन्त्रय और अत्यन्त अव्याहत शासन केवल एक परब्रह्म परमात्मा ही में होता है। ये पाँचो अनन्तरूप से जहाँ है, वहाँ परमात्मा है। जीवात्मा इन पांचों वस्तुओं को अनन्तरूप में चाहता है। इसी से मालूम होता है कि प्राणीमात्र परमात्मा का अंश है और उसी परमात्मा को पाना चाहता है। वही परमात्माप्राप्ति-मोक्ष है। मोक्ष होने पर जीव का जीवत्व मिट जाता है और जीव परमात्मा हो जाता है। तभी अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वातन्त्र्य भी प्राप्त हो सकता है। जीवन रहते, चाहने पर भी ये चीजे अनन्तरूप में नहीं प्राप्त हो सकती। स्पष्ट ही है किसी का अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान और अनन्त स्वातन्त्र्य आदि नहीं देखा जाता, फिर भी पांचों चीजे चाही जाती हैं।

प्राणियों के प्रयत्नानुसार अपेक्षिक वस्तु अधिक रूप में मिलती भी है। कुछ वर्षों का जीवन, कुछ विषयों के ज्ञान, कुछ आनन्द, कुछ स्वतन्त्रता और कुछ ही शासन पर प्राणियों को संतोष करना पड़ता है। हाड़ मांस-चाम के पुतले, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से घिरे हुए, कर्म बन्धनों में बँधे हुए, आधि-व्याधि, रोग, दोष, जरा मरण से परतन्त्र जीव को कहाँ अनन्त ज्ञान और कहाँ अनन्त स्वतन्त्रता? जिसे अन्त में निश्चित रूप से मृत्यु के मुख में पड़ना पड़ता है। उसको कैसी स्वतन्त्रता?

किसी को भी महती स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये कुछ स्वतन्त्रताओं का बलिदान देना पड़ता है। हाँ, तो अनन्त स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए माता-पिता, गुरुजनों एवं शास्त्रों के परतन्त्र होकर अधर्म-परिवर्जन और धर्मपालन करते हुए उपासना की जाय, फिर वेदांत का श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा सर्वाधिष्ठान प्रत्यगभिन्न परमात्मा का साक्षात्कार कर कैवल्यरूप मिल सकता है। प्राणिमात्र को अन्त में उसी तत्व में मिलना है। इसीलिए कहा जाता है कि स्वतन्त्रता सभी को अभीष्ट है और उसके लिए प्रयत्न भी होना चाहिये। शूकर-कूकर, कीट-पतंग आदिकों को मानव जन्म मिलने पर ही उस स्वतन्त्रता का प्रयत्न करना संभव है, परन्तु मनुष्य इस जन्म में भी प्रयत्न कर सफल हो सकता है। मनुष्यों में भी वर्णाश्रम के अनुसार कर्मों के भेद हैं। फिर भी यथासंभव स्वतन्त्रता की कामना सर्वत्र है ही, अतः तदनुकूल प्रयत्न भी आवश्यक है। अत्यन्त परतन्त्र प्राणी परम स्वतन्त्रता के साधन धर्म, उपासना आदि का भी अनुष्ठान न कर सकेगा, अतएव आपेक्षिक स्वतन्त्रता के लिए भी प्रयत्न अपेक्षित है। उष्ट्र, गर्दभ, अश्व, आदि जीव भी आपेक्षिक स्वतन्त्रता पाते हैं, परन्तु मनुष्यों के कार्यों में उन्हें फँसना पड़ता है। जैसे जीवों में देव, मनुष्य, पश्वादि उच्चावचभाव हैं, जैसे घोड़े आदि जानवरों में भी उच्चावचभाव होते हैं, वैसे ही मनुष्यों के भी ये भेद हैं।

साधारण रूप से जेलों में बन्द, हथकड़ी-बेड़ियों से बँधे, विदेशियों से नियन्त्रित लोग अपने को परतन्त्र समझते हैं, इन बन्धनों से छुटकारा पाने को स्वतन्त्रता कहते हैं। यह आपेक्षिक ही स्वतन्त्रता है। सुख-दुःख और मरने आदि की परतन्त्रता के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों और समूहों को किसी न किसी शासन के परतन्त्र रहना पड़ता है। व्यक्तियों को समाज के परतन्त्र रहना पड़ता है। किसी प्रकार के शासन में शासन-विधान एवं दण्डनीति आवश्यक होती है। इन्जीनियर और मजदूरों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं, एवं न्यायाध्यक्ष और अभियुक्तों तथा सैनिक और सेनापतियों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं में भी महान भेद है, इसीलिए परमात्मभाव प्राप्ति से पहले की सभी स्वतन्त्रता सीमित होती है। समाज, राष्ट्र तथा विश्व में किसी की निःसीम स्वतन्त्रता नहीं हो सकती और न वह लाभदायक भी हो सकती है। आजकल भी व्यवहार में निःसीम स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता कही जाती है, इसीलिए पूर्ण अनुशासन ही सभ्यता का मुख्य लक्षण समझा जाता है। यदि बालक स्वतन्त्रता की धुन में माता, पिता, गुरुजनों की आज्ञा न मानेगा तो शिक्षा ग्रहण करने में तत्पर न होकर मूर्ख रह जायेगा। फिर तो परतन्त्रता उसके भाग्य की चीज हो जाती है, क्योंकि मूर्ख, बुद्धिहीन प्राणी कभी स्वतन्त्र नहीं रह सकता। उसकी मिली हुई भी स्वतन्त्रता छिन जाती है। सिंह शार्दूल जैसे बलवान जीव भी बुद्धि की कमी से अधिक बुद्धिमान मनुष्यों के बन्धन में आ जाते हैं। निःसीम स्वतन्त्रता मान्य नहीं है इसलिए सभी सभ्य देशों में उच्छृंखलता, कामचारिता और स्वच्छन्दता को दूर करने के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति की सीमा है।

कहीं अवेस्ता, कहीं बायबल, कहीं कुरान आदि धर्मग्रंथ प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहारों के सीमा निर्धारण करने वाले माने गये हैं। जहाँ धर्मग्रंथ नहीं है, वहाँ भी मानव समाज ने कुछ नियम या कानून बना रखे हैं। तात्पर्य यह कि आर्थिक, नैतिक,सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों की सीमित स्वतन्त्रता परमादरणीय है, परन्तु नि:सीम स्वतन्त्रता अर्थात स्वच्छन्दता किसी भी क्षेत्र की मान्य नहीं। अपने शास्त्र के अनुसार ही धार्मिक, आध्यात्मिक उन्नति करने से एवं शास्त्राविरुद्ध मार्ग से ही आर्थिक, सामाजिक सुविधा प्राप्त की जा सकती है। अत: धर्मराज्य में द्विजों को स्वतन्त्रता होगी या शूद्रों को भी, इस प्रश्न का अवकाश ही नहीं रहता। शास्त्रों ही की सीमा के भीतर सबको स्वतन्त्रता रहेगी, सीमा के बाहर किसी को भी स्वतन्त्रता नहीं।

जो शूद्र के धन कमाने के विषय में शंका उठाई गई है, वह भी निर्मूल है - वैदिक वर्णाश्रमानुसारिणी समाज-व्यवस्था में शूद्र को ही नहीं, ब्राह्मण क्षत्रियों को भी अधिक धन संग्रह निषिद्ध है। इसीलिए ब्राह्मण के लिये शिल-उञ्छ आदि प्रवृत्तियों की ही प्रशंसा है। कुशूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहिक, अश्वस्तनिक ब्राह्मणों में उतरोत्तर की श्रेष्ठता कही गई है। 'ज्यायानेषां पर: पर:।' ब्राह्मणोत्तम परिव्राजक के लिए भी धनसंग्रह पाप है। राजा के लिये तो प्रजा के हितार्थ ही धन का उपयोग कहा गया है। यहाँ धन संग्रह का पूर्णाधिकार वैश्य ही को है, इसीलिये हमारे यहाँ का धनपति वैश्य ही है।

समाज को आवश्यक भिन्न-भिन्न चीजों के भिन्न-भिन्न अध्यक्ष है। ब्राह्मण ज्ञान का अध्यक्ष है, उसी से यथायोग्य सबको ज्ञान मिला करेगा। क्षत्रिय बलाध्यक्ष है, उसी के बल से सबकी रक्षा होगी। वैश्य धनाध्यक्ष है, राष्ट्र को आवश्यक धन उसी से मिल सकेगा। शूद्र सेवाध्यक्ष है, सबको सेवा का प्रबन्ध उसी से प्राप्त होग। अत: यद्यपि साधारण धन ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र को रखने का अधिकार है, तथापि धन का मालिक वैश्य ही है। इसी तरह साधारण ज्ञान सभी प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ज्ञान का पूर्ण अध्यक्ष ब्राह्मण ही है समाज की सुविधा के लिए यह शास्त्रीय व्यवस्था 'आपसी समझौता' है। ब्राह्मण किंवा शूद्र राज्य या धन के मालिक न होने से तिरस्कृत माने गए हैं यह कल्पना व्यर्थ है।

जो कहा जाता है कि -'जब अन्त्यजों को भजन करने, वेदमंत्र सुनने का अधिकार नहीं है तब तो ऐसा धर्मराज्य सवर्ण हिन्दुओं को भले ही लाभदायक हो, परन्तु अन्त्यजों को तो नरक से भी बढ़कर दु:खदायी है' यह भी उचित नहीं, कारण शास्त्रों में भजन करने की रुकाव्ट किसी को नहीं है। अहिंसा, सत्य आदि नियमों को मानने ईश्वर की उपासना करने, हरिनाम जपने, इतिहास-पुराणों की कथाओं को सुनकर अपने अधिकारानुसार धार्मिक-कृत्य करने की अन्त्यजों को पूर्ण स्वतन्त्रता है। वेद के पढ़ने-सुनने का निषेध होने मात्र से उन पर अत्याचार या उनकी स्वतन्त्रता का

अपहरण नहीं कहा जा सकता। जिस विषय में जिसका अधिकार न हो, उससे उसे रोकना, न रुकने पर दण्ड देना अत्याचार नहीं कहा जा सकता। अगर कोई अपने घर में किसी को घुसने से रोके, घुस आने पर दण्ड दे तो वह अन्याय नहीं है, न उसकी स्वतन्त्रता का छीनना ही है। यदि कोई डॉक्टर किसी को अपने औषधालय में घुसने और मनमानी किसी औषधि को खाने से रोकता है तथा न मानने पर कानूनी कार्यवाही करता है तो वह उसका अत्याचार नहीं कहा जा सकता।

ज्ञानाध्यक्ष ब्राह्मण शास्त्र के अनुसार जितना जिसके योग्य ज्ञान समझते हैं उतना उन्हें प्रदान करते हैं, शास्त्र जिन्हें मना करते हैं उनको नहीं प्रदान करते हैं। जैसे–चन्द्रोदय, मृगांक, त्रिकुटी, त्रिफला आदि सब औषधियाँ सबके लिए एक तरह कल्याणकारक नहीं हैं, किन्तु योग्यता एवं अधिकार के अनुसार ही उनसे लाभ होता है, ठीक वैसे ही सर्व ज्ञान, शास्त्र, सबके लिये लाभदायक नहीं हैं। शास्त्रों के मतानुसार जैसे ब्राह्मण का मदिरा–पान से अनिष्ट होता है वैसे ही अन्त्यजों को वेदाध्ययन से अन्ष्टि होता है।

जैसे शरीर के भीतर, सिर, आँख, कान, हाथ, पैर आदिकों के अलग–अलग काम होते हैं, सबको एक से कर्म नहीं, वैसे विराट या समाज के मुख बाहु आदि रूप ब्राह्मण, क्षत्रियों के कर्म अलग–अलग हैं। अधिकारी के ही शब्दों का महत्व है। अमुक को दण्ड हो, अमुक द्रव्य हो, इत्यादि वचनों को उन्मत्त भी बोलता है, राजा या न्यायाध्यक्ष भी बोलता है। राजा आदि के उच्चरित उपर्युक्त शब्द सार्थक हैं, उन्मादी–उच्चरित शब्द निरर्थक है। इसी तरह शास्त्रों ने जिन्हें वैदिक शब्दों के बोलने पढ़ने का अधिकार दे रखा है उनका उच्चारण सार्थक है, जिनको शास्त्रीय अधिकार नहीं उनका उच्चारण व्यर्थ ही नहीं हानिकारक भी है। शास्त्रीय अधिकार का निर्णय शास्त्र से ही कर सकते हैं। जो जिसका पण्डित हो वही उसका स्पर्श कर सकता है जैसे एक बुद्धिमान वकील भी घड़ी के पुर्जों को छुवेगा तो हानि होगी, इसी तरह शास्त्र का अपण्डित शास्त्र का स्पर्श करेगा तो अनर्थ करेगा।

कुछ लोग कहते है ईश्वर की वस्तु के सब अधिकारी हैं, परन्तु ईश्वर की मसजिद पर कब्जा करे, ईश्वर की बनाई किसी की स्त्री पर कब्जा करे या विष को खाय, तब सबके अधिकार का पता लगेगा। फिर भी उनके लिए इतिहास–पुराणों के श्रवण द्वारा दिव्यज्ञान प्राप्त करने का अधिकार शास्त्रों ने दे रखा ही है। जैसे इक्षुसार सिता, शर्करा, कन्द आदि पदार्थों को देकर भी बालक के हाथ में इक्षुदण्ड (ईख का टुकड़ा) छीनने वाली मां हितैषिणी ही है, वैसे ही इतिहास–पुराणों द्वारा वेदार्थमार प्रदान करके वेदाध्ययन रोकने वाले शास्त्र उनके हितैषी ही हैं।

सारांश यह कि शास्त्रों के अनुसार ही स्वतन्त्रता एवं उन्नति–साधन धर्मराज्य में भाग्य होता है, शास्त्र–विपरीत नहीं। शास्त्रानुसार ही चलकर संसार–काल में सीमित

आर्थिक, नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और धार्मिक स्वतन्त्रता मिलती है। भगवान् को प्राप्त कर मुक्त हो जाने पर पूर्ण स्वतन्त्रता और पूर्ण आनन्द सभी को समानरूपेण प्राप्त हो सकता है।

जो शास्त्रानुसारी आचरण को अन्धानुकरण समझकर धर्म में अकल की दखल चाहते हैं, उन्हें अवश्य अकल की भी परीक्षा कर लेनी चाहिये। यह सभी जानते हैं कि अकल से ही उत्थान और पतन होता है। इसीलिए अकलमन्द किसी कसौटी पर अकल की सच्चाई, अच्छाई की परीक्षा करते हैं।

बुद्धि के ही परिणाम भ्रमात्मक और प्रमात्मक दो प्रकार के ज्ञान होते हैं। प्रमात्मक ज्ञान मान्य है, भ्रमात्मक ज्ञान उपेक्ष्य है, इसीलिए 'प्रामाण्यवाद' के अनुसार ज्ञानों के प्रामाण्याप्रामाण्य पर विचार किया जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणों से जो ज्ञानउत्पन्न होता है वह प्रमा है, आदरणीय हैं, अन्य नहीं। प्रत्यक्ष मात्र से काम न चल सकने के कारण ही अनुमान, प्रत्यक्षानुमान से काम न चलने पर ही आगम माना जाता है। जैसे यदि कान के बिना नेत्रादि से कान के विषय शब्द का ज्ञान हो जाता तो कान की अपेक्षा नहीं थी, वैसे ही यदि प्रत्यक्ष, अनुमान से काम चल जाता तो शास्त्रप्रमाण मानने की अपेक्षा नहीं थी। जैसे शब्द का ज्ञान कान से ही होता है नेत्रादि अन्य इन्द्रियो से नहीं, वैसे ही धर्म का ज्ञान शास्त्र से ही होता है अन्य प्रत्यक्ष, अनुमान से नहीं। इसीलिए संसार के सभी धर्मवादियों ने (दीनदारों ने) किसी न किसी धर्मग्रंथ को प्रमाण मान रखा है। जिसका कोई धर्म नहीं उसकी बात ही ओर है। यज्ञ, तप, दान, व्रत, संयम आदि का क्यों क्या किसे फल होगा इसके समझने में स्वतन्त्र अकल वैसे ही असमर्थ है जैसे शब्द के ज्ञान में नेत्र। जैसे नेत्र विषय रूप में कान का और कान के विषय शब्द में नेत्र का दखल मानना व्यर्थ है, वैसे ही शास्त्र के विषय धर्म में अकल को दखल व्यर्थ है। जहाँ प्रत्यक्षानुसारिणी अनुमानानुसारिणी अकल (प्रमारूपिणी बुद्धि) का भी धर्म में दखल नहीं है, फिर स्वतन्त्रप्रमाणशून्य भ्रमात्मक अकल के दखल का तो कहना ही क्या हैं।

हाँ! शास्त्रनुसारिणी शास्त्र जन्य अकल का दखल मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अग्निहोत्री, ज्योतिष्टोम होम से स्वर्ग कैसे होगा? मूर्तिपूजा या जप से कौन देवता क्यों प्रसन्न होगा? इत्यादि विषयों में कोई अकल की दखल रखता हो तो बताए। हाँ, ग्रंथ या पुस्तकमात्र शास्त्र नहीं। जो अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र या आधुनिक पंथ मनुष्यों के बनाये हैं, वे प्रायः प्रत्यक्षानुमालमूलक हैं, इसीलिए वहाँ प्रत्यक्षानुमान की प्रवृत्ति होती है। वे शास्त्र अपौरुषेय नहीं माने जाते, न उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य भी माना जाता है। इसीलिए बौद्धों के वहाँ बड़े-बड़े भी गम्भीर ग्रंथ हैं, परतु वे प्रत्यक्षानुमानूलक ही हैं। अतएव वे आगम प्रामाण्यवादी नहीं है, केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। वेद, शास्त्र में प्रत्यक्षानुमान के अविषय धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादन करने से ही

प्रत्यक्षानुमान से अतिरिक्त स्वतंत्र प्रमाण माने जाते हैं। इसीलिए नेत्र से पृथक कान के समान प्रत्यक्षानुमान से पृथक आगम प्रमाण की मान्यता है। अत: ठीक जैसे कान के विषय में नेत्र का दखल नहीं, उसी तरह शास्त्रविषय धर्म में उच्छृङ्ख अकल या प्रत्यक्षानुमानानुसारिणी अकल की दखल नहीं।

जो वेदों को सुनना पढ़ना चाहेगा वह तो उन पर आदर और विश्वास रखकर ही ऐसा चाहेगा। यदि शास्त्रों पर विश्वास ही है तब तो उसके अनुसार अध्ययन के अधिकार-अनधिकार को भी मानेगा। जो शास्त्रों के अधिकारानधिकार पर विश्वास नहीं रखता, उसे वेद के पढ़ने-सुनने की रुचि ही क्यों? कारण वेदों में बतलाये गए अनुयाज, प्रयाज, देवता, स्वर्ग आदि कैसे, क्यों, क्या उपयोग होता है इस विषयों में चाहने पर भी अकल नहीं दौड़ सकती। क्या ऐसे ग्रंथों को सुनना-पढ़ना चाहते हैं तो अधिकारों अनधिकारों पर भी विश्वास करना ही होगा। फिर जिसका अधिकार जिन ग्रंथों के अनुसार ही नहीं उसे उनके पढ़ने से रोकना, न मानने पर देना, अन्याय या स्वतन्त्रता का छीनना कैसे कहा जा सकता है?

सम्पूर्ण कथन का अभिप्राय इतना ही है कि शास्त्रों के अनुसार सीमा के भीतर आर्थिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक उन्नति और स्वतंत्रता का सदुपयोग करते हुए सुख, शांति के साथ अनंत आनंद, अनंत ज्ञान, अनंत सत्ता, अनंत स्वातंत्र्य को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होना यही धर्मराज्य को स्वतंत्रता है।

***

आदर्श शासक का स्वरूप

[स्वामी जी महान चिंतक एवं भारतीय राजनीति के धुरंधर विद्वान थे। वे स्वतंत्र भारत के वर्तमान सैक्यूलरवाद के एकदम विरुद्ध थे। उनका स्पष्ट उद्घोष था कि भारत का शासन विधान शास्त्रीय हो, भारतीय हो। इसके लिए उन्होंने यावज्जीवन भरसक प्रयास किये, आन्दोलन किये, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया, रामराज्य परिषद की स्थापना की परंतु वर्तमान धर्म-निरपेक्षता की भयंकर आंधी को वे रोक नहीं सके। परंतु उन्होंने बड़ी निर्भीकतापूर्वक आध्यात्मवाद पर आधारित सर्वकल्याणकारी राजनीति का विशद रूप से विवेचन किया है अपने ग्रंथों में। प्रस्तुत लेख में उन्होंने आदर्श शासक के स्वरूप पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है जिससे उनके निर्मल विश्वकल्याणकारी विचारों की झलक मिलती है।]

धर्मप्राण भारत में सच्चे अर्थ में ऐसे शासन का निर्माण होना अत्यन्त अपेक्षित है जो जनता को पूर्ण सूखी एवं शांत बना सके। रामायण काल, महाभारत काल, चन्द्रगुप्त काल के इतिहास सभी को ज्ञात हैं। इन इतिहासों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वेदों, शास्त्रों के अनुसार धर्मोन्नति में ही राष्ट्रोन्नति समझकर यदि धार्मिकता को पूर्ण प्रश्रय प्रदान किया जाय तो निश्चित ही एक ऐसी स्थिति लायी जा सकती है, जिसमें भारत देश नहीं, वरन समस्त विश्व धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीति आदि समस्त क्षेत्रों में पूर्ण समुन्नत होकर सुखमय शांतिमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

हम महाकवि कालिदास के शब्दों में समुद्रवसना निखिल धारित्री के एक मात्र अधीश्वर रघुवंशी शासकों के पवित्र चरित्र पर दृष्टि डालें। रघुवंशी शासक जन्म से ही आंतर एवं बाह्य दोनों दृष्टियों से अत्यंत शुद्ध थे, वे इतने पवित्रतान्तःकरण थे कि उनके सभी कर्म फलोदयपर्यवसायी होते थे। उनकी सार्वभौम प्रभुता का क्षेत्र इतना विशाल था कि उनके रथ की गति इन्द्र आदि देवताओं के लोक तक निरबाध रूप में अप्रतिहत थी। इतना ही नहीं अपने गुणवैभव के महात्म्य से मनुष्य होते हुए देवेन्द्र इन्द्र के अर्धासन पर समासीन होते थे।

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्।।

उनमें शास्त्रीय स्वकर्तव्य निष्ठा इतनी थी कि यथाधिकार यथासमय अग्निहोत्र आदि धर्म का अनुष्ठान पूर्ण सश्रद्ध होकर करते थे। अर्थ के प्रति अनावश्यक स्पृहा से

वे इतने विरहित थे कि यथेच्छ अर्थप्रदान के द्वारा अर्थियों का पूर्ण सम्मान करते थे। अपने कुल की प्रतिष्ठा का मेरुदण्ड अर्थी की अभिलाषापूर्ति को ही बना रखे थे। ऐसे मेरुदण्ड की सुदृढ़ आधारभित्ति परदु:खकारता ही है, अतएव परदु:खकारता से सम्पन्न होते हुए भी रघुवंशी शासक अपराधियों को यथोचित दण्ड देने में किञ्चित् मात्र भी ममता या सहज अनुराग का महत्व न रखते थे। अपने पुत्र, पत्नी तक को भी कड़ा से कड़ा उपयुक्त दण्ड देने के लिए सदा उद्यत रहते थे और धर्म, काम एवं मोक्ष सेवन के लिए यथाकाल निरलस होकर पूर्ण प्रबुद्ध रहते थे।

यथाविधि हुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापरापदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्।।

राज्य से वैध उपायों द्वारा धन संग्रह त्याग के लिए ही किया करते थे। वे प्रतिक्षण यही सोचते रहते थे कि राज्य से लिया गया एक पैसा भी किस अवसर से कैसे पुन: राज्य के ही लिये लगाया जाय जिससे एक का लाख, करोड़ होकर राज्य को अभिवृद्ध करे। सत्यभाषिता की सुरक्षा के लिए ही मितभाषी होते थे। यश के उपार्जन के लिये ही विजिगीषु होते थे। अर्थलोभ या द्वेषवश नहीं। विवाह यथाशास्त्र वर्ण, गोत्र आदि का विचार करके करते थे, वह भी इन्द्रियसन्तर्पण के लिये नहीं, बल्कि कुलव्रत्ती, देशधर्मरक्षक योग्य पुत्र उत्पन्न करने के लिए।

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे बिजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।।

शैशवकाल में धर्म, ब्रह्मप्रतिपादिका विद्या का अभ्यास, युवावस्था में धर्म एवं ईश्वर में पूर्ण परिनिष्ठित होते हुए धर्माविरुद्ध अर्थ, काम की अभिलाषा और वृद्धावस्था में विषयभोग एवं विषयदोषदर्शन की प्रणाली से पूर्ण विषयवित्तृष्ण होकर मुनिवृत्ति धारणपूर्वक अन्त में योग के द्वारा शरीरपारित्याग ही रघुवंशी शासकों का आवश्यक कुलव्रत था।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनांते तनुत्यजाम्।।

रघुवंशी शासकों का जैसा आकार था, उसके अनुरूप ही उनको उत्तम प्रज्ञा थी और प्रज्ञा के सदृश ही आगम (परम्पराप्राप्त शास्त्रज्ञान) था। आगम के सदृश ही उनके आरम्भ होते थे और आरम्भानुसार ही मान फलोदय होता था।

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः।।

सेना आदि सर्वविध साधनों से सम्पन्न भी रघुवंशी अर्थसिद्धि का माध्यम दो ही रखे थे, एक तो शास्त्रों में अकुण्ठित बुद्धि, दूसरी धनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्चा। उनके मंत्र सर्वथा गुप्त होते थे, उनके आकार एवं इंगित गूढ़ होते थे। उनके आरम्भ का ज्ञान फलों के द्वारा वैसे ही होता था, जैसे स्मरण आदि के द्वारा प्राक्तन संस्कारों का ज्ञान होता है।

सेनापरिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनस्य शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धि मौर्व्वी धनुषि चातता।।
तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढ़ाकारेङ्गितस्य च। फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।।

भारत के रघुवंशी शासक निर्भय रहते हुए आत्मरक्षा में दत्तचित्त थे किसी भी प्रकार के कष्ट से आक्रांत न रहते हुए स्वधर्मपालन में पूर्ण तत्पर रहते थे, सर्वथा निर्लोभ रहते हुए कर्तव्यबुद्धि से अर्थसंग्रह करते थे और अनासक्त रहते हुए सुखोपभोग करते थे–

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्।।

रघुवंशी शासकों में सच्चे अर्थ में विश्वकल्याण की दृष्टि से विशुद्ध शास्त्रीय आदान–प्रदान परम्परा इतनी परिनिष्ठित और ऊँची उठी हुई थी कि वे मनुष्यलोक में रहते हुए देवलोक के अधिपति इन्द्र के साथ भी सम्पद्विनिमय किया करते थे। स्वयं शास्त्रीय विधि के अनुसार पृथ्वी से धन–दोहन कर विविध यज्ञों के द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करते थे और इन्द्र से उसके प्रतिदान में पृथ्वी को पूर्ण सस्यश्यामला वसन्धुरा बनाने के लिए यथा समय जल प्राप्त किया करते थे, इसी तरह परस्पर मनुष्यलोक और देवलोक का सफलता से धारण होता था।

दुदोह गांस यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोमी दधतुर्भुवनद्वयम्।।

इन्हीं विशेषताओं का फल था कि भारतीय रघुवंशी शासकों के शानकाल में जनता पूर्ण सुखी, शांत एवं हर दृष्टि से समृद्ध थी। धार्मिकता, आचारनिष्ठा का इतना प्रभाव था कि कोई व्यक्ति मन से भी अन्याय, अत्याचार नहीं सोच पाता था। कार्तवीर्यार्जुन इतना बाह्याभ्यन्तरपरिशुद्ध कर्तव्यनिष्ठ था कि अपने शासन में हर एक व्यक्ति के मन का भी नियन्त्रण करता था। जब कभी भी उसके शासन में कोई मन से भी अनुचित कार्य सोचता तभी कार्तवीर्यार्जुन धनुष वाण धारण किया हुआ उसके समक्ष दण्ड देने के लिये प्रस्तुत हो जाता था।

अकार्यचिन्तासमकालमेव, सादुर्मवंश्चापधरः पुरस्तात्।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानाम्, प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता।।

भारतीय शासकों की इस प्रभावगरिमा का ही महत्व था कि प्राकृतिक तत्व भी यथासमय स्वकर्तव्यपालन से कभी भी न चूकते थे। रघुवंशी शासक दिलीप नन्दिनी की सेवा के लिये अरण्य में ज्यों ही प्रवेश किये त्यों ही बिना दृष्टि के ही दाबाग्नि शांत हो गयी, वन में फल पुष्पों की स्वतः वृद्धि हो गयी, दिलीप की सहजन्यायशीलता के प्रभाव से प्रबल प्राणी दुर्बलप्राणियों को सताने से स्वयं विरत हो गये–

शशाम वृष्ट्यापि बिना दवाग्निरासीद्विशेवा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्वेष्वधिको बबाधे, तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने।।

दिलीप के शासनकाल की ही यह आदर्श स्थिति थी कि विहारों (उद्यानों)की ओर जाने वाले मार्गों पर प्रसुप्त मदोन्मत सुन्दरी वेश्याओं के अगसंलग्न वस्त्रों की वायु भी विवस्त्र नहीं कर सकता थाा, फिर कोई व्यक्ति उनका स्पर्श कर ले, यों तो कल्पना से परे की बात थी।

तस्मिन् महीं शासति वाणिनीनाम् निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपिनाऽस्त्रं सयदंशुकानि, को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

रघु कौत्स ऋषि से समाचार पूछने के प्रसङ्ग में यही पूछते हैं कि कही आप के आश्रम के वृक्षों को वायु आदि उपद्रवग्रस्त तो नहीं करते हैं–

'कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्स्वो वः श्रयच्छिदामाश्रमपादपानाम्।'

यह है आदर्श शासक का स्वरूप। क्या आज ऐसे शासन की अपेक्षा जनता को नहीं है? यदि है, तो ऐसे शासन की मुख्य रीढ़ धार्मिकता को प्रमुख स्थान अवश्य देना होगा।'दुष्यन्त' के शासन का वर्णन करते हुए महाभारत में यहाँ तक लिखा है कि उस समय कृषि और खजाने की रक्षा नहीं करनी पड़ती थी, ये स्वयं पूर्ण सुरक्षित थे। क्या ऐसी ही उत्तम स्थिति आज लाना आवश्यक नहीं है? यदि है, तो स्वयं भलीभांति समझना होगा कि ऐसी स्थिति लाने में प्रमुख कारण क्या है? स्वयं महाभारत में व्यासजी कारण बताते स्पष्ट कहते हैं–

'धर्मे रति सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे।'

अर्थात स्वधर्मपालन में सहज रति होने से धर्म और अर्थ दोनों की पुष्कल मात्रा में स्वतः प्राप्त थे, फलतः परस्वापहरण आदि अनुचित कार्य में प्रवृत्ति ही क्यों हो? क्या ऐसे महत्त्वमय धर्म को प्रमुखता प्रदान कर सुखी एवं शांत होना आज अभिप्रेत नहीं है? यदि है तो अवश्य ही धार्मिक शासन का निर्माण करना होगा। तभी तो श्रीतुलसीदासजी ने कहा–

'चाहिये धर्मशील नरनाहू'

निष्कर्षतः आदर्श शासक का स्वरूप पूर्णधर्मनिष्ठा–जिसे दूसरे शब्दों में सत्कर्तव्यनिष्ठा कह सकते हैं–में ही निहित है।

***

भारतीय राजनीतिक दर्शन एवं उनका उद्देश्य

[प्राय: पाश्चात्य विचारकों की धारणा है कि भारत वर्ष को राजनीतिक दर्शन उन्हीं की देन है, परन्तु स्वामी जी ने प्रस्तुत लेख में सिद्ध किया है कि हमारे यहाँ के विचारक दार्शनकि और राजनीतिज्ञ दोनों थे। वेद, महाभारत, गीता, योगवसिष्ठ आदि सभी में दर्शन के साथ-साथ राजधर्म भी भरा पड़ा है। किन तात्विक शब्दों में स्वामी जी ने भारतीय राजनीतिक दर्शन और उनके उद्देश्य को निरूपित किया है।]

पाश्चात्य विद्वान् किसी भी विचार को दर्शन या शास्त्र का नाम दे दिया करते है- जैसे गर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मार्क्स दर्शन आदि। किन्तु शास्त्र और दर्शन की मार्मिकता का परिचय जिन भारतीय विद्वानों को प्राप्त है, वे तो मुख्य रूप से अनादि अपौरुषेय वेद को ही शास्त्र कहते हैं। क्योंकि वेद ही उन तत्वों के अवबोधन में सक्षम है जिनकी अधिगति प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से असम्भव है। 'शास्त्रयोनित्वात्' इस ब्रह्मसूत्र में भगवान् व्यास ने शास्त्र शब्द से ऋग्वेद आदि वेदों को ही कहा है।

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।'

यह उक्ति भी वेदों में ही शास्त्र शब्द के प्रयोग के दृढ़ीकरण में पर्यवसित होती है। रूप आदि के विषय मे चक्षु आदि इन्द्रियों के स्वत: प्रामाण्य की तरह अतीन्द्रिय एवं अचिन्त्य धर्म, ब्रह्म आदि के विषय में अपौरुषेय वेदों का ही स्वत: प्रामाण्य है। अन्य वेदानुसारी, वेदार्थोपर्वृंहक विभिन्न आर्षग्रन्थ वेद मूलक होने से ही प्रमाण कोटि में आते हैं। उनमें 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार भी वेदमूलक होने से ही उत्पन्न होता है। दर्शन का भी वास्तविक स्वरूप प्रमाण प्रमेय, साधन फल आदि का प्रामाणिक निर्देश ही है। पाश्चात्य दर्शनों की सीमा वहीं तक है जहाँ तक उत्सुकता की निवृत्ति और जिज्ञासा का उपशम हो, पर भारतीय दर्शनों की सीमा वहाँ तक मान्य है जहाँ तक परम्पराविरोधेन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति एवं अव्यभिचरित तत्साधनों का सम्यक् ज्ञान हो।

आधुनिक समालोचक अधिकतर कहा करते हैं कि-'पाश्चात्य देशों में राजनीतिक दर्शन उपलब्ध होते हैं, पर भारत में नहीं, क्योंकि पाश्चात्य विद्वान् राजनीतिक एवं दार्शनिक दोनों ही थे, किन्तु भारतीय राजनीतिज्ञ दार्शनिक नहीं थे।' पर यह कथन सर्वथा नि:सार है। थोड़ी अन्तुर्मुखता से विचार करने पर स्पष्ट है कि सभी दर्शनों का शिरोमणि वेदान्त है। वह वेदों के अन्तर्गत ही है और राजनीति भी वहीं उपलब्ध है। मनुस्मृति,

याज्ञवल्क्य स्मृति आदि धर्म शास्त्रों में दर्शन भी है, राजनीति भी है। भगवान् वेदव्यास सबसे बड़े दर्शनिक और राजनीतिज्ञ हैं। वे ही वेदान्तदर्शन एवं महाभारत दोनों के ही रचयिता है। जिन लोगों ने महाभारत में मोक्ष धर्म, गीता दर्शन और शान्ति पर्व का राजधर्म पढ़ा है, उनकी दृष्टि में उक्त शंका कोई महत्व नहीं रखती। वृहस्पति, कणिक, कौटिल्य, कामन्दरक आदि राजनीतिज्ञ होते हुये दार्शनिक भी थे। योगवसिष्ठ के वसिष्ठ महादार्शनिक और महाराजनीतिज्ञ थे। सूर्यवंश की राजनीति के वे ही कर्णधार थे। वस्तु स्थिति यह है कि पद वाक्य प्रमाण पारावरीण विद्वान् शब्द-शुद्धि आदि का कार्य पाणिनीय आदि व्याकरण से चलाते हैं, वाक्यार्थ निर्णय के लिये पूर्वोत्तर मीमांसा का उपयोग करते हैं, अनुमान आदि के विषय में न्याय-वैशेषिक का उपयोग करते हैं, तथा वे ही तत्व संचालन, चित्तनिरोध आदि में सांख्य एवं योग का उपयोग करते हैं। वे व्याकरण पूर्वोत्तर मीमांसा आदि अन्यत: अगतर्थ अपूर्व वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं। पाश्चात्य लोग अन्यत: गतार्थ वस्तुओं का भी निरूपण करके स्वतन्त्र दार्शनिक बनने की चेष्टा करते हैं।

वस्तुगत्या राजनीतिक शास्त्र या दर्शन का कार्य क्या है? इस पर अन्तर्मुख होकर विचार किया जाये तो स्पष्ट है कि राजाओं, शासकों एवं उनके द्वार शासित भूखण्डों, अखण्ड भूमण्डल या प्रपञ्च मण्डल के प्राणियों के लिये ऐहिक आमुष्मिक अभ्युदय एवं परम नि:श्रेयस-प्राप्ति के अनुरूप प्रशस्त मार्ग का निश्चय करना और उसके अनुकूल अनुष्ठान-सौकर्य का प्रत्युपस्थान ही उनका कार्य है। ऐसी स्थिति में इस ढंग के अवबोधक अनादि अपौरुषेयवेद एवं तन्मूलक आर्य ग्रन्थ-मनु, नारद, शुक्र, वृहस्पति, अग्नि, मत्स्य, विष्णु धर्मादि पुराण, रामायण, महाभारत आदि राजनीतिक शास्त्र या दर्शन है। इनके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, आणम उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि ये छ: प्रमाण मान्य हैं। मूल रूप में सत्य-अनृत, चेतन-अचेतन-दो ही तत्त्व हैं। चेतन में भी ब्रह्म, ईश्वर, जीव तीन भेद हैं। अचेतन में प्रकृति, महान्, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण-पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ-पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान-पञ्च प्राण, मनोबुद्धि चित्ताधात्मक अन्त:करण-ये २४ भेद हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग-प्राप्ति फल हैं। आचार्य परम्परा के पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा षडङ्ग वेदों एवं अन्य आर्षग्रन्थों के आधार पर कर्तव्याकर्तव्य ज्ञानपूर्वक कर्तव्य पालन तथा अकर्तव्य परिवर्जन से धर्म की प्राप्ति होती है, धर्माविरुद्ध अर्थशास्त्रोक्त उद्योग में प्रवृत्त होने से अर्थ्ज्ञ की प्राप्ति होती है। धर्म एवं अर्थ के अविरुद्ध कामशास्त्रोक्त मार्ग से शब्दादि साधन सामग्री द्वारा काम-प्राप्ति होती है और औपनिषद् परब्रह्म के तत्व विज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

***

भारतीय शासन विधान की रूपरेखा

[प्रस्तुत लेख में महान् राजनीतिज्ञ स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने राजधर्म, दण्ड–नीति आदि के शास्त्रीय स्वरूप के संबंध में निरूपित करते हुये बतलाया है, शासन विधान की रूप रेखा किस प्रकार की होनी चाहिये। उनका विचार था कि भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक उच्छृंखल नहीं होता था अपितु उस पर धर्म का शासन रहता था। उनका स्पष्ट उद्घोष था कि विश्वकल्याणकारी धर्म को नीति से अलग नहीं रखना चाहिये–शासक को धर्म विहीन नहीं होना चाहिये बल्कि उस पर सदा धर्म का नियन्त्रण रहने से वह कभी उच्छृंखल एवं निरंकुश नहीं हो सकता।]

चेतन, अमल सहज सुखस्वरूप सभी जीवात्मा स्वप्रकाश सच्चिदानन्द परमेश्वर के ही अंश है। इसीलिये श्रुति कहती है 'सभी प्राणी अमृतस्वरूप परमेश्वर के ही पुत्र है' ''अमृतस्य पुत्राः'' बोधस्वरूप जीवात्मा अखण्डबोधस्वरूप परमात्मा का अंश वैसे ही है जैसे महाकाश के अंश घटाकाश, अग्नि के विस्फुलिङ्ग, गङ्गाजल के तरङ्ग आदि अंश हैं। इसी सुदृढ़ आधार पर सभी की पारस्परिक सहज समानता स्वतन्त्रता, भ्रातृता मान्य है। अविद्याश्रम कर्म के सम्पर्क से जीवात्मा में मालिन्य तथा कर्पोपासना ज्ञान आदि से पुनः प्रसन्नता निर्मलता एवं निष्कलङ्कता वैसे ही सम्भव होती है जैसे मलिन भूमि के सम्पर्क से जल में मलिनता तथा कृतक निर्मली आदि औषध के सम्पर्क से पुनः शुद्धता सम्भव होती है। इस तरह पारस्परिक आत्मीयता एवं भ्रातृता का सहज सम्बन्ध होने से समस्त विश्व परस्पर पूरक की भावना से ही भावित रहे शोषक की भावना से नहीं, एतदर्थ शासकीय स्तर पर एक ऐसी नीति की आवश्यकता होती ही है जो सभी लोगों के उचित नियमन के माध्यम से सर्वजनहित एवं सर्वजनसुख का कारण हो।

यद्यपि ऐसी स्थिति लाने में 'धर्म' ही पूर्ण समर्थ है। जन–जन में धार्मिक भावना का पूर्ण विकास रहने पर सहज हो परस्पर पूरक की ही भावना बनी रहती और सत्ययुग में ऐसा ही था भी। उस समय न राज्य था, न राजा थे, न दण्ड था, न दण्डिक ही थे। केवल धर्म के प्रभाव से समस्त प्रजा पारस्परिक सुरक्षा स्वयं कर लेती थी–

'न राज्यं न च राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकाः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।। (महा., शान्ति, ५६)

पर राजस, तामस भाव की वृद्धि के प्रभाव से अधर्म अनाचार का विस्तार

होता है, फलतः सत्व एवं धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है और मोह-वश ब्रह्मात्मविज्ञान संकुचित हो जाने से काम, क्रोध का विस्तार होने लगता है। इस, मात्स्यन्याय फैलते देर नहीं लगती, जन-जीवन खतरे में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में सर्वसामञ्चस्य एवं सर्वहित सम्पादन के लिये राज्य व्यवस्था की आवश्यकता आ पड़ती है। अङ्गहसा, सत्य आदि धर्म का प्रतिष्ठापन, ब्रह्मविज्ञान विस्तार और दण्डविधान-ये ही मात्स्यन्याय निरोध के मूल उपाय हैं। चाणक्य के अनुसार-

'सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूलं राज्यम्।
राज्यमूलमिन्द्रियजयः, इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः, विनयस्यमूलं वृद्धोपसेवा।।

(चाणक्य १ सूत्र ६)

अर्थात् सातिशय, निरतिशय सर्वविध सुख का मूल धर्म है, परन्तु धर्म का मूल अर्थ है, क्योंकि अधिकतर अर्थ रहने पर ही धर्मानुष्ठान सम्भव होता है। अर्थ का मूल राज्य है, राज्य का मूल इन्द्रियजय है, इन्द्रियजय का मूल वृद्धसेवा है, वृद्धों की सेवा का भी मूल विज्ञान है, इसलिये विज्ञान सम्पन्न होकर, जितात्मा होकर सर्वसुखाायं प्रवृत्त होना आवश्यक है।

मनु के अनुसार -

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।।
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतानि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः।।''

(मनु १/५-६)

सम्पूर्ण जगत् सृष्टि के प्रथम नाम-रूपसहिंत, कल्पनातीत, अलक्षण, सर्वतः प्रसुप्त, तमोमय अर्थात् अनिर्वचनीय अज्ञानविशिष्ट चिन्मात्र था। सर्वकारण परब्रह्म परमेश्वर स्वयम्भू भगवान् ही तम को अभिभूत करके इस अव्यक्त जगत् को व्यक्त करते हुये प्रादुर्भूत्त होते हैं। जैसे बसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं के बदलने पर ऋतुलिंग प्रकट होते हैं, उसी तरह प्राणी समयानुसार अपने कर्म प्राप्त करते हैं। कर्मानुसार ही चराचर विश्व का उत्पादन भगवान् करते हैं-

'ययाकर्म तपोयोगात् सृटं स्थावरजङ्गमम्' (मनु १/४१)

कर्मानुसार ही विविध योनियों में प्राणियों के जन्म होते हैं। कर्ममूलक सृष्टि विस्तार एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुये मनु ने आगे कहा है कि संसार में अराजकता प्रसृत होने पर सारी प्रजा भय से व्याकुल होकर इधर उधर भागने लगी, तब उसकी रक्षा के लिये प्रजापति ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुवेर इन आठ लोकपालों के अंश से राजा का निर्माण किया-

''अराजकेहि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः।।
इन्दानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवितेशयो श्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।''

देवताओं के अंश से उत्पन्न होने के कारण ही राजा अपने तेज से सभी प्राणियों को दबा लेता है। राजा बालक हो तब भी मनुष्य समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए। उस राजा के लिये भगवान् ने सभी प्राणियों की रक्षा करने वाले धर्मस्वरूप ब्रह्मतेजोमय दण्ड का निर्माण किया। उस दण्ड के भय से ही स्थावर, जंगम सभी अपने पदार्थो का उचित उपभोग कर पाते है तथा अपने कर्तव्य से विचलित भी नहीं होते–

''तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च।।'' (मनु. ७/१५)

दण्ड ही राजा, पुरुष, नेता, शासक और चारों आश्रमों के धर्म के साक्षी है–

''स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः
चतुवर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।।'' (मनु. ७/१७)

दण्ड ही सभी प्रजा का शासक एवं रक्षक है। सभी के सोने पर दण्ड ही जागता है। विद्वानों ने दण्ड को ही धर्म कहा है। विचारपूर्वक प्रयुक्त दण्ड प्रजा का अनुरञ्जन करता है, अन्यथा प्रजाविनाश का ही कारण हो जाता है। यदिराजा आलस्य छोड़ कर दण्ड का विधान न करे तो बलवान् प्राणी दुर्बलों को वैसे ही पकाकर खायें जैसे लोग मछलियों को भूनकर खा जाते हैं। काक पुरोडाश खाने लग जाय, श्वान हवि चाटने लग जाये, किसी पदार्थ पर किसी का स्वत्व न रहे और छोटे बड़े तथा बड़े छोटे हो जायें। सभी वर्ण दूषित हो जायें, मर्यादाएं भंग हो जाएं और सारे संसार में उथल–पुथल मच जाय–

'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः।।
समीक्ष्य न धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।।
यदि न प्रणयेद् राजा दण्ड दंड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः।।
अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वाच लिह्याद्धविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्त्तेताधरोत्तरम्।।
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात्।।
(मनु. ७/१८, २१, २४)

राजा को दण्ड का यथोचित विधायक, सत्यवादी, विचारपूर्वक कर्तव्यपरायण, बुद्धिमान्, धर्म, अर्थ एवं काम का ज्ञाता होना चाहिये, जैसा कि मनु ने ही आगे स्पष्ट कहा है–

तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्।।(मनु. ७/२६)

दण्ड बड़ा तेजस्वी है। अजितेन्द्रिय लोग ठीक–ठीक उसका विधान नहीं कर सकते। वह धर्म विचलित राजा को बन्धु बान्धवों सहित नष्ट कर देता है। तथा दुर्ग, राज्य, स्थावर–जङ्गमजगत्, आकाशचारी देवगण और ऋषिगण को भी पीड़ित करता है। राजा या शासक को न्यायपूर्वक अपने राज्य की प्रजा का पालन करना चाहिये। शत्रुओं को उग्रदण्ड देना चाहिये। मित्रों के साथ छलकपट का व्यवहार नहीं करना चाहिये। प्रेमीजनों और सज्जनों के साथ सहिष्णुता रखनी चाहिये। ऐसे व्यवहार से सम्पन्न राजा का सम्मान करते हैं तथा उसे विनीतता (जितेन्द्रियता, नम्रता) भी प्राप्त होती है। अविनीतता (उद्दण्डता) सुसमृद्ध राजा को भी सपरिवार नष्ट कर देती है और विनीतता अरण्य में निवास करने वाले कोश विहीन राजा को भी पूर्ण समृद्ध बना देती है। शिकार, द्यूत, दिवास्वप्न, निद्रा सभी मद् (नशा), नृत्य, गीत, वादित्र और व्यर्थ भ्रमण इन दश कामज व्यसनों तथा चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या असूया (गुणों में भी दोषदृष्टि), दूसरे का धन छीन लेना, गाली, गलौज और मारपीट–इन आठ क्रोधज व्यसनों से तथा इन दोनों के मूल लोभ से राजा को सदा बचना चाहिये। कामज व्यसन में मदिरापान, द्यूत, स्त्री और शिकार–ये चार तथा क्रोधज व्यसन में गाली गलौज, मारपीट और दूसरे का धन छीन लेना–ये तीन बहुत ही भयंकर हैं। इनसे तो सर्वथा बचना चाहिये।

अत्यन्त सुकर कर्म भी एक असहाय पुरुष के द्वारा दुष्कर होता है। अतः राजा को शास्त्रज्ञानी, शूर, लब्धप्रतिष्ठ, कुलीन, सुपरीक्षित सात या आठ मन्त्री रखने चाहिए। सन्धि, विग्रह, सेना, खजाना, खेती, खान, प्रतिरक्षा आदि के विषय में पृथक्–पृथक् प्रत्येक की राय जानकर विद्वान् ब्राह्मण के साथ विचारपूर्वक निर्णय करना चाहिये। राज्य का कार्य जितने लोगों से अच्छी तरह चल सके, उतने लोगों की परीक्षा करके उपमन्त्री बनाना चाहिये। खान, चुङ्गी और कर वसूल करने के लिए शूर, पवित्र निर्लोभ लोगों को और पापभीरु लोगों को घर आदि के प्रबन्ध सम्बन्धी काम में लगाना चाहिये। इसी तरह सर्वशास्त्रविशारद, इङ्गित, आकार और चेष्टा जानने वाले पवित्र, कुशल, कुलीन को दूत बनाना चाहिए। दूत अनुरक्त, पवित्र, चतुर, स्मृतिशाली, प्रतिभासम्पन्न,देश, काल–परिस्थिति का ज्ञाता, सुन्दर, निर्भीक और वाग्मी होना चाहिये।

सेनापति के अधीन चतुरङ्गिणी सेना, युद्ध तथा विनय सिखाना, राजा के अधीन खजाना और राज्य तथा दूत के अधीन सन्धि और विग्रह होते हैं। दो राजाओं में

मेल कराना या मिले हुये राजाओं को परस्पर लड़ा देना, यह दूत का काम है। कृषक जैसे खेत में से घास को निकालकर धान्य को रक्षा करता है, उसी तरह राजा दुष्टों का निग्रह कर प्रजा की रक्षा करे। जैसे शरीर को कष्ट देने से प्राणों का क्षय होता है, उसी तरह राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाने से राजा के प्राणों का क्षय होता है। जो राजा अज्ञानवश राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाता है,वह अपने बन्धु-बान्धवों के सहित जीवन के भ्रष्ट हो जाता है।

राजा को लगानवसूली, नौकरों का मासिक वेतन, मन्त्री आदि को बाहर भेजना, किसी को हानिकर काम करने से रोकना, किसी काम को कराना, मुकदमों का निर्णय करना, अपराधियों को दण्ड, पापियों का प्रायश्चित, पाँच प्रकार के गुप्तचर, प्रजा का प्रेम या असन्तोष और अन्य राजाओं के व्यवहार, इन सब बातों पर भली भाँति विचार करना चाहिये। मध्यम (अपने और शत्रुदेश के बीच का राजा) का व्यवहार, विजिगीषु (अपने को जीतने के लिये आने वाला राजा) का कर्म तथा उदासीन और शत्रु की कार्यवाहियों पर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये।

द्वादश राजन्य-मण्डल की चार मूल प्रकृतियाँ है- (१) मध्यस्थ, (२) विजिगीषु, (३) उदासीन और (४) शत्रु। अर्थात् इनके वश में रहने से सभी राष्ट्र वश में रहते हैं। आठ और प्रकृतियाँ हैं- मित्र, शत्रु-मित्र, मित्र-मित्र, अरि-मित्र, आकन्द, पाृष्णग्राह, आकन्दासार और पाृष्णग्रहासार। इन प्रत्येक की मन्त्री, राष्ट्र (प्रजा), दुर्ग, खजाना और शासन विभाग ये पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं, इस तरह ६० प्रकृतियां हुई और मूल १२ मिलकर ७२ हो गयी। अपनी चारों ओर की सीमा के राजा तथा उनके मित्रों को शत्रु समझना चाहिये। उनसे आगे के राजाओं की उदासीन समझना चाहिये। इन सबको साम, दान, दण्ड और भेद-इन प्रत्येक उपायों से अथवा सभी उपायों से सबको अथवा अधिक से अधिक जितने बने रह सकें, उनको मित्र बनाये रखना चाहिये। यद्यपि आज परिस्थिति बदली हुई है, तथापि रूपान्तर से यह शत्रु-मित्र की व्यवस्था आज भी अक्षुण्ण ही है।

सन्धि, विग्रह (लड़ाई), यान (चढ़ाई), आसन (किले के अन्दर बन्द रहना), द्वैधीभाव (भेद) और संश्रय (किसी बलवान का आश्रय) इन छः गुणों का बराबर विचार करना चाहिये। एक साथ काम करने से भूतकाल में हुये या भविष्य-काल में होने वाले हानि-लाभ को बाँट लेने की प्रतिज्ञा करना तथा पृथक् पृथक् काम करने से भूतकाल में होने वाले हानि लाभ को बांट लेने की प्रतिज्ञा करना-ये 'सन्धि' के दो भेद हैं। शुद्ध सन्धिमूलक ही शान्ति होती है। आस्तिकता तथा धर्मप्रधानता के बिना सन्धियाँ अनेक हेतुओं से अव्यवस्थित रहती हैं। इसीलिए शान्ति भी अव्यवस्थित रहती है। अतः धर्मनिष्ठा तथा आस्तिकता ही शुद्ध सन्धि एवं स्थिर शान्ति का मूल मन्त्र है।

अपने विजय के लिये लड़ना और मित्र की हानि के निमित मित्र के शत्रु से लड़ना-ये विग्रह के दो भेद हैं। आपद्ग्रस्त शत्रु को देखकर उस पर अकेले चढ़ाई

करना अथवा मित्र की सहायता से चढ़ाई करना–ये 'यान' के दो भेद है। सैन्यबल कमजोर देखकर किला में रह जाना अथवा मित्र के अनुरोध से किला में रह जाना ये 'आसन' के दो भेद हैं। सेना में फूट डाल देना अथवा दो मित्र राजाओं में फूट डाल देना–ये 'भेदनीति' के दो प्रभेद है। शत्रु से पीड़ित होकर किसी बलवान का आश्रय लेना, शत्रुपीड़ा न पहुँचाये इसलिये किसी बलवान् का आश्रय लेना–यह दो प्रकार का 'संश्रय' है।

सन्धि करने से भले ही थोड़ी तात्कालिक पीड़ा हो, किन्तु भविष्य में लाभ हो तो सन्धि अवश्य कर लेनी चाहिये। जब सारी प्रकृति सन्तुष्ट हो और कोष तथा युद्ध के साधन पर्याप्त हों, तब युद्ध करना चाहिये। जब अपनपी सेना हृष्ट–पुष्ट–सन्तुष्ट हो और शत्रुसेना दुर्बल तथा असन्तुष्ट हो, तब भी युद्ध करना चाहिये। जब सेना, वाहन और कोष क्षीण हो तो शत्रु से समझौता की बातचीत करते हुये अपने दुर्ग में ही रहना चाहिये। जब राजा देखे की शत्रु बलवान् है, तब अपनी सेना का दो विभाग एक एक विभाग लड़ाई पर भेजे और एक विभाग को शत्रु की सेना में भेज कर शत्रु सेना के लोगों को अपनी ओर मिला लेने का प्रयास करें। यदि राजा देखे की शत्रु अब हमें जीत लेगा तो झट किसी ऐसे बलवान् धर्मात्मा राजा का आश्रय ले ले जो अपनी दुष्ट प्रजा और शत्रु को भी दण्ड दे सकता हो और गुरु के समान प्रत्येक प्रकार से उसकी सेवा भी करनी चाहिये। यदि उसका आश्रय लेने पर भी कोई लाभ न हो, अपितु हानि होने की सम्भावना हो तो बेखटके युद्ध ही करना चाहिए। गुण–दोष विचार कर भविष्य का निर्णय करने वाले, वर्तमान निर्णय में विलम्ब न करने वाले तथा भूतकालिक शेष कार्य को शीघ्र ही पूर्ण करने वाले राजा को शत्रु–मित्र या उदासीन अभिभूत नहीं कर सकते।

मनु ने राजा का यद्यपि बहुत महत्व माना है, फिर भी उसे निरंकुश नहीं बताया। सर्वप्रथम राजा पर ही धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है। राजा के हाथ में जो दण्ड होता है वह दूसरों पर ही नियन्त्रण नहीं करना वरन् धर्म विरुद्ध राजा को भी नष्ट कर डालता है, यह पीछे कहा जा चुका है। शुक्र के अनुसार भी राजा के लिये अमात्यों की अत्यन्त आवश्यकता कही गयी है। जो राजा मन्त्रियों के मुख से हिताहित की बात नहीं सुनता, वह राजा के रूप में प्रजा का धनहरण करने वाला डाकू होता है–

हिताहितं न शृणोति, राजा मन्त्रिमुखाच्च यः स दस्यू राजरूपेण, प्रजानां धनहारकः।।

(शुक्र, २/२४८)

शुक्र के अनुसार राजा को राज्य का कार्य चलाने के लिये पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्रणिधि, सुमन्त्र, अमात्य, दूत इन दस प्रकृतियों का सङ्ग्रह आवश्यक है। इनती योग्यता एवं कार्यों का विस्तृत विवरण शुक्रनीति में है। किसी भी शासन–लेख पर मन्त्री आदि की स्वीकृति होनी चाहिये। उस पर मन्त्री प्राङ्विवाक, पण्डित और दूत को यह लिखना चाहिये कि यह ठीक लिखा गया है, सुमन्त्र को

लिखना चाहिये कि इस पर पूर्ण विचार कर लिया गया है, प्रधान को लिखना चाहिये कि यह यथार्थ सत्य है, प्रतिनिधि को लिखना चाहिये कि यह अंगीकार करने योग्य है, युवराज लिखे कि यह स्वीकृत किया जाये, तब पुरोहित अपना मत लिखे कि यह मुझे सम्मत है। सबके अन्त में राजा लिखे कि यह स्वीकृत हुआ। अपने लेख के अन्त में सबकी मुहर लगनी चाहिये।

मन्त्री च प्राड् विवाकश्च, पण्डितो दूतसंज्ञकः।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं, लिखेयुः प्रथमं त्विमे।।
अमात्यः साधु लिखितमस्त्येतत् प्राक् लिखेदयम्।
सम्यग् विचारितमिति सुमन्त्रो विलिखेत्ततः।।
सत्यं यथार्थमति च, प्रधानश्च लिखेत स्वयम्।
अङ्गीकर्त्तुं योग्यमिति, ततः प्रतिनिधिर्लिखेत्।
अङ्गीकर्तव्यमिति च, युवराजो लिखेत् स्वयम्।
लेख्यं स्वाभिमतं चैतत्, विलिखेच्च पुरोहितः।।
स्वस्वमुद्रा चिह्नितं च, लेख्यान्ते कुर्युरेष हि।।
(शुक्र, २/३५५/३५९)

मन्त्रिमण्डल के लेखबद्ध युक्ति-सहित पृथक् मतों को लेकर विचार करना चाहिये, फिर जो बहुमत हो उसे स्वीकार करना चाहिये।

पृथक् पृथक् मतं तेषां, लेखयित्वा ससाधनम्।
विमृशेत् स्वमतेनैव, कुर्याद् यद् बहु सम्मतम्।।

जो राजा प्रकृति की बात नहीं सुनता, वह अन्यायी है। जो राजा प्रजा का रक्षक बनकर भी रक्षा नहीं करता, उस राजा को पागल कुत्ते के समान मार देना चाहिये-

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा,यो न रक्षति भूमिषः।
स संहत्य निहन्तव्यः, श्वेव सोन्माद आतुरः।।
(शुक्रनीति)

इस तरह भारतीय रानीतिशास्त्रानुसारी शासक उच्छृङ्खल नहीं होता।

***

रामराज्य की स्थापना से विश्वशान्ति

(स्वामी करपात्री जी ने पचास वर्षो तक राष्ट्र एवं धर्म की निःस्वार्थ भाव से सेवा की। उन्होंने बडे-बड़े यज्ञानुष्ठानों से लेकर अहिंसात्मक सत्याग्रह तक के माध्यम को अपनाया। उन्होंने वर्तमान वादों को अपूर्ण सिद्ध करते हुए उन्हें एकांगी बतलाया और भारतीय राजनीति एवं धर्म शास्त्रों के गहन-गम्भीर अध्ययनपूर्वक विश्व के रंगमंच पर रामराज्य का सांगोपांग राजनीतिक दर्शन प्रस्तुत किया। प्रस्तुत लेख में उन्होंने निरूपित किया है कि साम्यवाद-समाजवाद आदि के स्थान पर रामराज्य से ही विश्वकल्याण हो सकता है।)

वेदांतवेद्य, अनन्तकोटिग्रह्माण्डनायक सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान, पूर्णतम पुरुषोत्तम ही श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र दशरथनंदन के रूप से की संख्या अम्बा के मङ्गलमय श्रीअङ्क में प्रकट हुए थे। भगवान रामचंद्र, अनंत, अद्‌भुत कल्याणगुणों के आधार थे। उसके शासनकाल में प्रजा सुखी, धर्मनिष्ठ और दम्भविहीन थी। भय, शोक और रोग का नाम तक कथा-'बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद-पथ लोग।। चलहि सदा पावहिं सुखहिं नहि भय शोक नरोग।' यद्यपि रामराज्य ९ लाख वर्ष पूर्व था, तथापि उसकी विशेषताओं के कारण आज भी उसकी प्रशंसा की जाती है। आबालवृद्ध दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहु हि नहिं व्यापा इस चौपाई को जानते हैं। बड़े-बड़े ओजस्वी-तेजस्वी शासक हुए पर सीतापति रामचन्द्र के समान अनंतकोटिब्रह्मांड में न तो कोई शासक हुआ और न होगा। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान रामचंद्र ने शासनकाल में सभी वृक्ष सुन्दर पत्र, पुष्प फल, पल्लवों से सुशोभित रहते थे। पृथिवी अनंत धनधान्य से सम्पन्न थी, प्राणियों के जीवन पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परिवारों से सनाथ थे। कुटुम्बियों के रोगो का आक्रमण भी नहीं होता था। अकालमरण होता ही नहीं था। शलभ, मूषक, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि का लेशमात्र भी भय न था। 'वयरु न कर काहू सन कोई।' परस्पर वैर न होने से वैरभाव का अभाव ही था। रामराज्य सदा ही निष्कण्टक रह्रा समस्त राष्ट्र ऋषियों, मुनियों तथा धर्मनिष्ठ हष्ट-पुष्ट, रम्य, मणिरत्नादिभूषित सत्पुरुषों से भूषित था। व्रीहि, यव आदि सत्यों से परिपूरित क्षेत्रों से युक्त तथा प्रभूत स्वस्थ मनुष्यों और गोधनों से सुशोभित अयोध्या का साम्राज्य अद्वितीय ही था। नाना देवमन्दिरों तथा समृद्धियों से ग्राम

शोभा पा रहे थे। शोभन पुष्पों से युक्त बड़े कृत्रिम उद्यानों में मधुर स्वाद वाले फलों से युक्त नाना प्रकार के वृक्ष थे। कमल व कमलिनी तथा कुमुद-कुमुदिनियों से युक्त सरोवर निराली ही शोभा बढ़ाते थे। नदियां पवित्र निर्मल जल से भरपूर रहती थी। प्रजा अत्यन्त ऋजुमार्गगामिनी थी, कुटिलगामिनी तो केवल नदियां ही थी। 'विभ्रम' शब्द के प्रयोग का स्थान युवतियों का कटाक्ष ही था, विद्वानों में विभ्रम का अभाव था। 'तम' का व्यवहार कृष्णपक्ष की रात्रियों के सिवा कहीं भी पुरुषों में न था। 'रजा' भी रजस्वला के रज में ही प्रयुक्त होता था। मनुष्यों में रजोगुण का अभाव ही था। दण्ड भी आतपत्रों, यतियों के हाथ में ही देखा जाता था। कोई भी प्राणी ऐसा काम ही नहीं करता था जिसके लिये दण्ड की आवश्यकता पड़े। जड़ की वार्ता घनीभूत जल में ही थी। दौर्बल्य स्त्रियों के कटिभाग में ही था। कठोर-हृदय सीमन्तिनियां ही थी, औषधि योग में ही कुष्ट का योग था। मूर्तियों के हाथ में ही शूल था। कम्पन्न केवल प्रेमादि सात्विकभावों में था। किसी प्रकार के भय से किसी को कम्पन्न कभी भी नहीं होता था। ज्वर केवल काल से ही होता था। दरिद्रता केवल पाप की ही थी। प्रमत्त हस्ती ही थे। पुरुषों में प्रमाद का नाम भी नहीं था। दम्भ (मद) च्यवन हस्तियों ही में होता था। पुरुष कभी दानहीन नहीं होते थे। तीक्ष्णता कण्टकों में ही थी। गुणों का विश्लेषण सिवा बाणों के, मनुष्यों में कहीं भी न था। दृढ़ बन्धन शब्द पुस्तकवेष्टन में ही था। प्राणियों के बन्धन की कोई चर्चा न थी। खलों में ही स्नेह त्याग था। ब्राह्मण वेदशास्त्रों के ज्ञाता एवं त्यागी तेजस आदि गुणों से सम्पन्न थे। क्षत्रियों में ओज, तेज, बल और वीर्य का अधिकार था, वे शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा किया करते थे। वैश्य अनन्त धन-धान्य सम्पन्न थे। वे अपनी पूंजीसे देश-धर्म और गरीबों की सेवा किया करते थे। शूद्र शिल्पनिष्ठ और सेवापरायण थे। कृषक बड़े ही सुन्दर और बलवान होते थे। गायें दोग्ध्री होती थी।

रामराज्य में पापपुञ्ज भी भस्म

ऐसे सुन्दर राज्य में आसीन होकर श्रीरामचन्द्रजी प्रजाओं का पालन करते थे। उनके गुप्तचर नियम से समस्त राष्ट्र की भावनाएं जानने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। एक दिन गुप्तचर सुनते है कि कोई एक मृगलोचना युवती अत्यन्त हर्ष से अपने स्तनन्धय पुत्र से कहती है, कि 'पुत्र! अतिमनोहर मेरे स्तन्य (दुग्ध) का खूब पान कर लो। अब यह पयोधरपान दुर्लभ हो जायेगा, क्योंकि अयोध्यानाथ नीलाम्बुजश्यामल रामचन्द्र की पुरी में जन्म ग्रहण करके फिर प्राणियों का जन्म नहीं होता। अतः जिसका जन्म ही न होगा, वह पयोधरपान, कैसे करेगा? और जो प्राणी श्रीरामचन्द्र का स्मरण और ध्यान करेंगे, उनके लिये भी यह पय-पान दुर्लभ ही होगा।' वास्तव में दुर्लभ होगा, क्योंकि भगवान की मधुर-मनोहारिणी दिव्य मूर्ति के चिंतन करने से, ध्यान

करने से, जन्मजन्मांतर, युग-युगांतर और कल्पकल्पांतर के पापपुञ्ज भस्म हो जाते हैं। फिर आवागमन का झगड़ा ही जब नहीं रहता, तब पयःपान कैसा? भावुक कवियों ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है -

अयं क्षीराम्भोधेः पतिरिति गवां पालक इति भितोऽमाभिः क्षीरोपनयनधिया गोपतनयः।
अनेन प्रत्यूहो व्यरचि सततं येन जननीस्तनादप्यस्मार्क सकृदपि पयो दुर्लभमभूत्।।

अर्थात हमने तो यह सोचकर श्रीकृष्णचन्द्र की शरण ली थी कि ये क्षीरसागर के स्वामी, गायों के पालन करने वाले और गोपुत्र है, इसलिए मनचाहा दूध पीने को मिलेगा, किन्तु इन्होंने तो ऐसा विघ्न डाला कि हमें एक बार माता के स्तन का भी दूध मिलना दुर्लभ हो गया। अस्तु, रामराज्य की यह भी सबसे बड़ी विशेषता थी कि सभी धर्मनिष्ठ होते थे और उनकी मुक्ति में कुछ भी सन्देह नहीं होता था।

रामराज्य सबके लिए कल्याणप्रद

वस्तुतः रामराज्य, धर्मराज्ये और ईश्वरराज्य एक ही वस्तु है। रामराज्य की स्थापना के लिये ही अखिल भारतीय रामराज्य-परिषद बनाई गई है। रामराज्य-परिषद में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी जातियों के लिये मार्ग खुला है। रामराज्य सबके लिये कल्याणप्रद था। यदि कहा जाय कि राम तो इस समय नहीं है, फिर रामराज्य कैसा? तो उत्तर यही है कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाशपूर्णतम, पुरुषोत्तम परब्रह्म का अभाव कभी हो नहीं सकता और भगवान रामचंद्र परब्रह्म के ही अवतार थे। अतः रामराज्य ईश्वरराज्य ही है। इसलिये वह मुसलमान आदि सभी के लिये कल्याणप्रद है। जो लोग पूर्वमीमांसक आदि, ईश्वर को नहीं मानते, पर धर्म मानते हैं, उनके लिये भी रामराज्य कल्याणकारक है, क्योंकि 'रामो विग्रहवान् धर्मः' राम धर्म के ही स्वरूप हैं और धर्म को मानने वालों के लिए धर्मराज्य इष्ट ही है। जो धर्म भी नहीं मानते, केवल 'जितेन्द्रियता सच्चरित्रता, निष्पक्षता, न्यायपरायणता आदि नैतिक गुणों को ही उपादेय मानते हैं, उनके लिये श्री रामराज्य ही आदर्श है। क्योंकि राम के समान जितेन्द्रिय, सदाचारी, सच्चरित्रवान्, निष्पक्ष न्याय देने वाला शासक जिस राज्य में हो, वही रामराज्य माना जाता है। क्या किसी को यह इष्ट हो सकता है कि हमारा मन्त्रिमण्डल, प्राइममिनिस्टर अथवा गवर्नरजनरल या हमारी जनता इन्द्रियों की गुलाम हो, कामिनीकाञ्चन की ङ्किकर हो? कभी नहीं। जहां अजितेन्द्रिय, स्वार्थपरायण शासक रहेंगे, वहाँ जनता में घूसखोरी और चोरबाजारी बन्द नहीं हो सकती, व्याभिचार, दुराचार मिट नहीं सकते। यदि शासक जितेन्द्रिय होगा तो उसका यह प्रयत्न होगा कि हमारी प्रजा भी जितेन्द्रिय सदाचारपरायण और सच्चरित्र हो। इसलिये राम, ईश्वर, अल्ला, धर्म, सदाचारादि में विश्वास रखने वाले सभी रामराज्य-परिपद में सम्मिलित होकर अपना कल्याण कर सकते हैं। मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वर्तमान नेताओं या सरकार को पदच्युत करके ही रामराज्य की

स्थापना की जाय। महान तप एवं बलिदान के पश्चात ही वर्तमान सरकार बनी है। जनता ने अपने वोटों से सरकार को बनाया है, इसलिये सरकार का अनिष्ट सोचना कभी भी अच्छा नहीं। अपना लगाया हुआ विषवृक्ष भी काटते समय दु:ख का कारण बनता है, फिर अपनी बनाई हुई सरकार के कल्याण की, शुभकामना कौन बुद्धिमान प्राणी न करेगा? अपने खून से जिस स्वतन्त्रतारूपी वृक्ष का रोपण किया, सिञ्चन किया, उसे हरा-भरा बनाया क्या उसे काट डालना उचित है? कभी नहीं। आज अपनी सरकार है, उसमें अपने ही ताऊ, चाचा, पुत्र पौत्र गये हैं, अत: उसे पदच्युत करने की भावना, उसके विनाश की भावना कभी भी अच्छी नहीं। यद्यपि सरकार दूध की धोई नहीं हे, उसके अन्दर बहुत से दोष है, तथापि उसके विनाश की कामना न करनी चाहिये। नाक पर फंसी हो जाने पर नाक काटी नहीं जाती, बल्कि उसका उपचार किया जाता है, इसी प्रकार सरकार के भी दोषों का मार्जन ही होना चाहिए। अगर किसी भी सूरत में सरका पसन्द न आये तो विध्वंसात्मक कार्यों की आवश्यकता नहीं। रेलगाड़ी उलटने, तार-टेलीफोन की लाइन काटने एवं बम-विस्फोट आदि उपद्रवों से जनता का ही नुकसान होता है, अपने ही भाई बन्धु मरते हैं, इसलिये कभी भी ऐसे कार्यों का समर्थन नहीं किया जा सकता। सरकार को बदलना ही इष्ट हो तो निर्वाचन का द्वार सबके लिए खुला है। जनमन अपने अनुकूल बनाकर अपनी सरकार बना लेना चाहिये। रामराज्य-परिषद का कभी भी यह लक्ष्य नहीं कि वर्तमान सरकार फेल हो जाय। उसका तो यही लक्ष्य है कि सरकार को हर प्रकार से सहयोग दिया जा, परन्तु समय-समय पर नेक सलाह देना और सरकार को गलत मार्ग से हटाकर अन्याय और अत्याचार से रोकना भी परिषद का इष्ट है। वर्तमान शासक और जनता राम के सदृश सदाचार और सच्चरित्र बन जाय, बस रामराज्य हो गया। रामराज्य में लोकतन्त्र का बड़ा आदर था।

रामराज्य में लोकाराधन की प्रधानता

रामचंद्रजी जो भी कार्य करते थे उसमें लोकमत का पूर्ण ध्यान रखते थे। लोकमत के सामने अपने सुख की परवाह नहीं करते थे। लोकराधन के लिये ही राम ने सीता जैसी परमसाध्वी सती पत्नी का परित्याग कर दिया। रामचन्द्र के पहले भी सगर आदि कितने ही राजाओं ने लोकविरुद्ध अपने पुत्रों का भी त्याग कर दिया था। महाराज श्री दशरथ ने रामचन्द्र को यौवराज्यपद देना उचित समझा, फिर भी प्रजा से पूर्वसम्मति ली गई। स्पष्ट कहा गया कि यदि अन्य लोग उचित समझे हों तो ऐसा किया जाय, अन्यथा जैसा कहे ऐसा ही किया जाय। आप लोग नि:संकोच होकर अपना मत व्यक्त करें। रामचन्द्र के गुणगणों पर समस्त प्रजा मुग्ध थी ही। उसने बड़े हर्ष के साथ राजा के इस कार्य का समर्थन किया।

रामराज्य में साम्यवाद का अन्तर्भाव

रामराज्य में साम्यवाद का भी सम्मान था। शास्त्र परतन्त्र पूंजीपति सम्राट् एवं साधारण कोटि के लोगों में भी लोकहित, दान और अतिथि सत्कार आदि की व्यापक प्रथा थी। साधारण कोटि के लोग भी यथाशक्ति लेने से बचते थे और सर्वदा देने को प्रस्तुत रहते थे। बड़े-बड़े धनीमानी भी ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से अपने धन का व्यय करके लोकहित करते थे। सर्ववेदस् यज्ञों में सर्वस्वदान का विधान था। जिसके तीन वर्ष के भृत्यभरण के लिये पर्याप्त धन हो उसके लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ का करना अनिवार्य था। यज्ञ में श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र ने अपने समस्त भूमण्डल का दान कर दिया था। महात्मा वैदेही के हाथ में सौमङ्गल्यसूत्र ही रह गया था-''वैदेही च महाभागा सौमङ्गल्यात्र शेषिता।''

इस तरह लूट-खसोट के बिना सर्वत्र अनायास ही साम्यवाद का भी विस्तार हो जाता था। भेद यही था कि आज एक दूसरे की सम्पत्ति लूट-खसोटकर छीनना चाहते हैं, सम्पत्ति वाले शोषण में ही प्रयत्नशील रहकर कुछ भी देना नहीं चाहते। शास्त्रीय धर्मनियन्त्रित राजतन्त्रवाद में लेने से सभी बचना चाहते थे और देने की रुचि सबके ही मन में रहती थी। यज्ञों में अन्न, वस्त्र, रत्न आदि वस्तुओं का खूब दान होता था। उस समय सभी याचक अचायक हो जाता था। रामराज्य में यह विशेषता थी कि शासकों पर गुरुओं, महर्षियों एवं ब्राह्मणों का नियन्त्रण था। शास्त्र, धर्म एवं ईश्वर का भय सबके ही ऊपर रहता था।

करप्रहण भी प्रजाहितार्थ

श्रुतियों में अत्यन्त उग्र और बलवान क्षत्रिय का भी नियन्त्रण धर्म द्वारा कहा गया है। इस तरह शास्त्रीय धर्म नियंत्रित राजतन्त्रवाद अथवा रामराज्य में अपेक्षित सभी वादों का अन्तर्भाव हो जाता था। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी सूर्य के समान सम्यक् देदीप्यमान थे। वे अग्नि के समान तेजस्वी एवं अप्रधृष्य थे, चन्द्रमा के समान आह्लादक, इन्द्र के समान ऐश्वर्यप्रद एवं यमराज के समान उग्र और दुराधर्ष थे। जैसे सूर्य तीक्ष्णरश्मियों से जल को सींचता है वैसे ही रामचन्द्र प्रजाओं से करसंग्रह करते थे। दो इङ्गालकार के समान प्रजाओं की रक्षा का ध्यान न करके करसंग्रह करने से प्रजा उजड़ जाती है। जैसे मधुकर पुष्प को हिंसा न करके मधुसंग्रह करता है वैसे ही प्रजाओं का हिंसन न करके उनसे कर ग्रहण करना उत्तम मधुकरवृत्ति है। जैसे सूर्य ग्रीष्मकाल में जल का आकर्षण करके भी अपने यहाँ संग्रह नहीं करते, किन्तु समय पर वर्षा करने के लिए ही ऐसा करते हैं वैसे ही तीक्ष्णता से कर ग्रहण करके भी रामचन्द्र उसका उपयोग प्रजा के हित के लिए करते थे। वास्तव में ऐश्वर्य के प्रलोभन से प्राचीन राजाओं की शासन मे प्रवृत्ति नहीं होती थी। शासन को सुख-साधन नहीं समझा जाता था, अपितु राजमुकुट को काँटे का ताज समझा जाता था। अजितेन्द्रिय के लिए शासनभार दुरावह समझा जाता था, तभी तो दशरथ उस भार को रामचन्द्र पर

डालते थे और वे भरत पर डालना चाहते थे, लक्ष्मण भी उस भार को रामचन्द्र पर डालते थे और वे भरत पर डालना चाहते थे, लक्ष्मण भी उस भार को स्वीकृत करना नहीं चाहते थे। रामचन्द्र सोचते थे कि हम लोगों के छत्र-सिंहासनादि राज्यकरणादि में बहुत-सा धनव्यय होता है। इसलिए वल्कलवसनधारी, वन्यफलाशी, वीतराग महर्षि ही पृथ्वीपति होने योग्य है। क्योंकि ये लोग प्रजाओं की समस्त सम्पत्तियों को उन्हीं के सुख में लगायेंगे, परन्तु ब्राह्मणगण भी यही समझते थे कि हम तपस्या द्वारा कहीं अधिक प्रजा का पालन कर सकते हैं।

पहले और आज

रामराज्य में सभी को सस्ता न्याय, औषधि, रोटी, कपड़ा सुलभ था। सभी को लेखन और भाषण स्वातंत्र्य प्राप्त था जैसा कि धोबी और कुत्ते की कथाओं से सिद्ध है। रामराज्य में एक धनीमानी विद्वान ब्राह्मण के मुकाबले कुत्ते को न्याय मिला था पर आज गोमाता को भी न्याय मिलना दुर्लभ हो गया है। आज न्याय माँगने वाले को जन-सुरक्षा (पब्लिक सेफ्टी एक्ट) के नाम पर जेलों में ठूँस दिया जाता है और मुकदमा भी नहीं चलाया जाता। धर्मप्राण भारतवर्ष की सरकार का अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित करना, हिन्दुस्थान का नाम 'इण्डियन यूनियन' रखना लज्जा की बात है। हिन्दू अपने को हिन्दू न कहें इससे बढ़कर और क्या हो सकता है। सरकार को सोचना चाहिए कि जनता ने उसे किसलिए बनाया है?

बलिदान का पुरस्कार

स्वतन्त्रता संग्राम में कितने बलिदान हुए थे, कितने होनहार नौनिहालों ने अपनी माताओं की गोद और पत्नियों की सेज सूनी कर दी और कितने ही गाँव वीरान हो गये, पर अन्ततः भगवान की कृपा से देश स्वतन्त्र हो गया। अपनी निजी सरकार बनी, जनता को उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ थी कि अब हम धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में अपनी हर प्रकार की उन्नति कर सकेंगे, परन्तु वर्तमान सरकार का रवैया देखकर जनता की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। जनता को कभी भी यह विश्वास नहीं था कि सरकार हमारे त्याग बलिदान के बदले में हिन्दू-कोड जैसा उपहार प्रदान करेगी।

उच्छिष्ट राजनीति का अन्धानुकरण

रामराज्य में कभी भी जनमत का अनादर नहीं हुआ। परन्तु आज जनमत को पाँवों तले रौंदा जा रहा है। कोडबिल की माँग जनता ने कभी नहीं की, पर उसे पास करने में सरकार उतावलापन दिखला रही है और गोहत्या बन्दी की माँग को ठुकरा कर जनता के हृदय पर ठेस पहुँचायी जा रही है। स्वतंत्र भारत का विधान बन रहा है, पर नकल की जा रही है अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों की। क्या भारत का अपना कोई विधान ही नहीं? कौटिल्य अर्थशास्त्र, बृहस्पतिनीति, शुक्रनीति,

कामन्दकीय आदि ऐसे-ऐसे ग्रंथ हमारे यहाँ भरे पड़े हैं जिनमें उच्चकोटि के राजनीतिक विधानों का वर्णन है। आज भी रूस जैसे साम्यवादी राष्ट्र हमारे धर्मराज्य और रामराज्य का स्वरूप जानने के लिए महाभारत, रामायण आदि ग्रंथों का अनुवाद कर रहा है परंतु हमारे यहाँ पाश्चात्यों की उच्छिष्ट राजनीति का अन्धानुकरण करके अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत का राजनीतिक दिवालियापन सिद्ध किया जा रहा है। हिन्दुस्तानी भाषा द्वारा खिचड़ी संस्कृति को जनता के सामने रखकर उसे गुमराह किया जा रहा है। ये सभी सरकार के गलत कदम हैं। इसी प्रकार कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों की बातों को मानकर काम, दाम, आराम बराबर करना, होटल में खाने और अस्पताल में मरने का कुत्सित आदर्श को रखना, व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त करना आदि योजनाएँ भी अनुपयुक्त ही हैं। क्योंकि इससे हमारे यज्ञ-यागादि, दान, धर्म आदि लुप्त हो जायेंगे। कल्पना कीजिए-'कहीं आज की लोकतन्त्रात्मक सरकार नही रही (भगवान करे ऐसा न हो), कोई विदेशी कठपुतली सरकार आ गयी तो वैसी स्थिति में जनता को चुपचाप उसके अत्याचारों को बिना ननु-नच किये सहन करना पड़ेगा, क्योंकि उसके पास विरोध के लिए कोई साधन, न होगा। इसलिए व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त भी भविष्य के लिए अच्छा न होगा। देश का सर्वविध कल्याण रामराज्य के आदेशानुसार चलने से ही हो सकता है।

रामराज्य-परिषद् के उद्देश्य

रामराज्य की स्थापना के लिए ही यह रामराज्य-परिषद् बनाई गई है जिसका आदर्श भारत-भूमि में रामराज्य की स्थापना करना है। रामराज्य में सर्वसाधारण का हित, शांति और सदाचार को सामने रखने वाले पक्षपातरहित सभी देशवासियों के धर्म, संस्कृति, सभ्यता, हित तथा न्याय की रक्षा होगी। प्रत्येक नर-नारी और बच्चे को अल्प मूल्य में भोजन, कपड़ा, औषधि, निवास, गृह तथा न्याय सुलभ होगा। हर एक वर्ग दूसरे के पूरक होंगे। यदि कोई वर्ग अपने धर्म से भ्रष्ट हो गया तो उसका विनाश न करके उसके दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा।

रामराज्य में जनतन्त्र सुदृढ़ और प्रतिष्ठित होगा। रामराज्य परिषद् सर्वत्र शांतिपूर्ण तथा वैध उपायों द्वारा अखण्ड भारत की स्थापना करने का प्रयत्न करेगी। भारतभूमि में चक्रवर्ती राज्य स्थापित करना और इसी उद्देश्य में केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व अक्षुण्ण रखते हुए यथासम्भव प्रांतीय स्वाधीनता की स्थापना का प्रयत्न किया जायेगा। रामराज्य में ऐसा स्वराज्य स्थापित किया जायेगा जिसका मूलभूत सिद्धांत भारतीय होंगे। जिसमें शासक और शासन सब पर व्यापक अर्थ में धर्म का नियन्त्रण होगा और जिसकी राजनीति, अर्थनीति, शिक्षानीति आदि धर्म-भावना से अनुप्राणित होंगे। रामराज्य में विश्वहित एवं विश्वशांति का ध्यान रखते हुए भारत राष्ट्र के विविध अभ्युदय का प्रयत्न किया जायगा। विदेशों के साथ सम्बन्ध बढ़ाया जायगा और वहाँ के दूतावासों

को भारतीय संस्कृति का प्रतीक बनया जायगा। सभी प्राणी परमेश्वर की सन्तान तथा परमेश्वर के अंश है, इस भावना के साथ सबकी सहज भ्रातृता, समता एवं स्वतंत्रता उद्‌बुद्ध की जायगी। जाति, सम्प्रदाय एवं धर्मगत पक्षपात के बिना प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह के राजनीतिक, आर्थिक, अभ्युदय का प्रयत्न किया जायगा। श्रमिक, कृषक, व्यापारी, शिल्प तथा बुद्धिजीवी वर्गों में परस्पर के सहयोग और सद्‌भावना के भाव उत्पन्न किये जायँगे।

व्यापार में ईमानदारी का भाव उत्पन्न किया जायगा। धनिकों में यह भाव लाया जायगा कि उनका धन जनता की धरोहर है। मासिक और मजदूरों में सद्‌भावना तथा ममत्व स्थापित किया जायगा। पाश्चात्य उद्योगीकरण के देशों से देश को बचाया जायगा। उद्योगों का विकेन्द्रीकरण करके ग्राम तथा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जायेगा। मुद्रा का प्रचलन सीमित रखकर वस्तुओं के आदान-प्रदान या विनिमय की प्रथा चलाई जायगी। किसानों को उपज के रूप में लगान चुकाने की सुविधा दी जायगी। खेती, उद्योग आदि भारतीय साधनों पर जोर दिया जायगा और उसे अनुसंधान प्रसार तथा विकास का प्रबन्ध किया जायगा। कृत्रिम आवश्यकताओं को कम करके जीवन में सादगी और संतोष का भाव पैदा किया जायगा। गाय, भैंस आदि पशुओं का पालन-परिवर्धनादि द्वारा आरोग्य और स्वास्थ्य के लिये घृत, दुग्धादि कृषि के लिये और पर्याप्त खाद्य उपस्थित की जायेगी। शारीरिक बलवर्धन के लिये व्यायामशालाएँ खोली जायेगी। भौतिक जीवन के स्तर को धार्मिक संस्थाओं की सहायता से उच्च बनाने का प्रयत्न किया जायेगा। अन्त्यज तथा पिछड़े हुए वर्गों की उनके परम्परानुसार दशा सुधारने, रहन सहन, शिक्षण और स्वास्थ्य की उन्हें विशेष सुविधायें देने, उनके उपयुक्त उन्हें उच्च से उच्च पद देने और समाज की दृष्टि से उनका मान बढ़ाने, जीविकाओं का अपहरण न करके चमड़ों के व्यापार तथा अन्यान्य तदुपयोगी शिल्प उन्हें प्रदान किया जायेगा। शासन में ऐसी शासन-पद्धति प्रचलित की जायेगी जो उसके आधुनिक दोषों से मुक्त होगी। गांवों को शासन का आधार बनाया जायेगा। उनमें बिरादरी का प्राचीन महत्व जागरित किया जायेगा। पंचायतों को पुराने ढङ्ग पर संगठित किया जायेगा। राज्य को जनमत के अनुकूल बनाकर जनता और राज्य में मेल रखा जायेगा। रामराज्य में हिन्दी राष्ट्र भाषा होगी, पर साथ ही प्रान्तीय तथा वर्गों की भाषाओं की रक्षा तथा उन्नति की जायेगी और प्राचीन भाषाओं के पठन-पाठन का अधिकाधिक प्रचार किया जायेगा। प्राचीन भारतीय कलाओं, विद्याओं तथा विज्ञान का उद्धार किया जायेगा। देशी चिकित्सा पद्धति का संरक्षण, प्रचार तथा उन्नति की जायेगी। मातृ शक्ति के गौरव को जागरित किया जायेगा। रामराज्य में सभी वर्गों के धार्मिक विश्वासों की रक्षा की जायेगी। अपने धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने की

सबको स्वतन्त्रता होगी, किसी के धर्म में कोई भी सरकारी हस्तक्षेप न होगा, सभी सम्प्रदायों के तीर्थों, देवस्थानों, उपसनागृहों, धार्मिक संस्थाओं की रक्षा की जायेगी, ततत् सम्प्रदायों के अपहृत धर्मस्थानों को ससम्मान परिवर्तन कराकर परस्पर सद्भावनाओं का विस्तार किया जायेगा। ततत् धर्मों एवं संस्कृतियों की ततत् सम्प्रदायों के धर्मग्रंथों एवं सम्प्रदायाचार्यों द्वारा की गई व्याख्या ही मान्य होगी। जनता और सरकार का कर्तव्य है कि परस्पर प्रेम और सहयोग से रामराज्य की स्थापना का प्रयत्न करें और चूंकि रामराज्य-परिषद की स्थापना रामराज्य स्थापना के लिये हुई है, एतावता उसे भी हर प्रकार का सहयोग पहुँचना चाहिये। परमेश्वर-प्रार्थना और धर्म के प्रचार और अनुष्ठान करने से ही यह योजना सफल बनाई जा सकती है और हमारा मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है। सदिच्छा, सद्बुद्धि, संगठन, सत्प्रयत्न से ही इन सभी कार्यों में सुविधा मिलेगी, अतः भगवत्प्रार्थना एवं अनुष्ठानों के साथ इन उपायों का भी अनुसरण आवश्यक है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

***

रामराज्य परिषद

संसार में तीन एषणायें बतायी गयी है–पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। इनमें प्रथम सामान्यतम अत्यन्त संकुचित, दूसरी अपेक्षाकृत कुछ उदार और विस्तृत, तो, तीसरी, परम उदार एवं व्यापक मानी गयी है। इसमें बड़े से बड़े लोग भी लिप्त रहते है। इसी लोकैषणा ने आज की राजनीति को पूर्णतया आक्रान्त कर रखा है और बहुमत के भूत के सहयोग से तो इसका स्वरूप ही विकृत हो गया है। शास्त्रानुसार तो 'राजनीति' मूलतः 'धर्मरूप' है। इसका पर्याय है 'राजधर्म'। स्वामी जी का कथन है कि–'धर्म विरहित नीति विधवा है तो नीतिरहित धर्म विधुर। जगत् कार्य संचालन के लिये इस जोड़े की नितान्त आवश्यकता है, उसी में लोक–मंगल निहित है।.....लोक कल्याण मात्र कामी ऋषि–महर्षि–कल्प धर्म नेताओं ने पूर्वकाल में भारतीय राजनीति को लोकमंगल के इसी पावन संकल्प के राजपथ पर चलाया, उसका शुभ–परिणाम हमारा अतीत स्वर्णिम भारत रहा है। मध्यकाल में विदेशी आक्रमणों, दासता एवं अन्य कई कारणवशात राजनीति के रथ की बागडोर लोकैषणा सम्पन्न संख्यासुर (बहुमत) से बनी लोकायतिकों के हाथ मे शनैः शनैः चले जाने से आज राष्ट्र की राजनीति अस्थिरता को प्राप्त हो गयी है। स्पष्टतः ईश्वर धर्मविहीन राजनीति का प्राबल्य चहुँ ओर व्याप्त है, फलतः धर्म से वियुक्त राजनीति का रथ लोकमंगल के पथ पर चाहते हुये भी नहीं चल पा रहा है। सारा विश्व ही आज इस राजनीति के पथ पर चाहते हुये भी नहीं चल पा रहा है। ऐसी कठिन एवं विषम परिस्थिति में उपर्युक्त तीनों एषणाओं से रहित परम वीतराग त्यागी तपस्वी सन्त ने दैवी प्रेरणा से प्रेरित होकर विश्वकल्याण की कामना से पुनः 'राजनीति एवं धर्म' का पवित्र गठबन्धन कराने की दृष्टि से एक राजनैतिक दल की स्थापना–१८४७ मे कर उसे अपना आशीर्वाद प्रदान किया।

रामराज्य–परिषद का अपना स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र रूप है, इसका लक्ष्य स्पर्धा की राजनीति है ही नहीं, न वह वर्तमान साधनों से अन्य दलों से टक्कर ही ले सकती है। लौकिक प्रचार साधन भी उसे सुलभ नहीं। विपरीत समय और सर्व साधारण की धर्म विमुखता भी दल के मार्ग में भारी रुकावट हैं। तथापि, अनादि काल से चली आ रही धर्म नियन्त्रित राजनीति का अंकुर संजोते रहने तथा उस मूल जीव की रक्षा की पवित्र भावना से ही यह दल अस्तित्व में आया है, इसी आशा से कि यदि दुर्बल भी

अंकुर बना रहा तो कभी अनुकूल समय आने पर यही विशाल वृक्ष बनकर सन्तप्त प्रजा को शीतल छाया प्रदान करेगा।

स्वामी करपात्री जी का स्पष्ट मत है कि 'जब तक धर्मयुक्त राजनीति को व्यवहार में स्थान नहीं मिलेगा, सुख-शान्ति नहीं प्राप्त हो सकेगी।' उन्होंने गम्भीर चिन्तन एवं भारतीय राजनीति शास्त्रों के गहन अध्ययन के उपरान्त परिषद का विधान प्रस्तुत किया। प्राचीन शास्त्रोक्त धर्मयुक्त राजनीतिज्ञ सिद्धान्तों को आज के भारत में कैसे व्यवहारिक रूप दिया जा सकता है-इस पर इस महान देशभक्त विचारक ने गम्भीरता पूर्वक विचार करके वर्तमान समय के अनुकूल एक राजनीतिक दर्शन प्रस्तुत किया है-यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह 'रामराज्य' का सांगोंपाँग विधान है, परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत दिया गया - कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में 'रामराज्य' की स्थापना के लिए शनै-शनै राजनैतिक प्रयास करते हुए धर्मयुक्त राजनीति की लौ को वर्तमान झंझावत में येन-केन-प्रकारेण प्रज्ज्वलित रखने के लिए उनका यह एक स्तुत्य प्रयास है। परिषद के विधानानुसार 'रामराज्य' वह है जहाँ-

(१) सर्वसाधारण के हित, शान्ति और सदाचार का ध्यान रखते हुए पक्षपात रहित सभी देश-वासियों के धर्म संस्कृति तथा न्याय की रक्षा हो।

(२) प्रत्येक नर-नारी और बच्चों को अल्प मूल्य में भोजन, वस्त्र, घर, औषधि तथा न्याय सुलभ हो।

(३) किसी प्रकार का भ्रष्टाचार न हो, प्रत्येक राज्याधिकारी, ईमानदारी से पक्षपात-रहित सब वर्गो का हित करें और प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्गो का पूरक हो।

(४) यदि कोई वर्ग अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाय तो राज्याधिकारी उसका विनाश न करके उसके दुर्गुण को दूर करने का प्रयत्न करे।

(५) जनतन्त्र सुदृढ़ तथा प्रतिष्ठित हो और जनमत का राज्याधिकारी आदर करे।

(६) व्यक्तिगत अधिकार की अपेक्षा व्यक्तिगत कर्तव्य या धर्मपालन पर अधिक जोर दिया जाय, जिससे लोग न केवल लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति कर सकें, किन्तु परमकल्याण के भी भागी बने और प्रजा में अभय भाव की उत्पत्ति हो।

(७) समाज अथवा जनता की सेवा व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अन्तराय न बनकर उसकी स्फूर्ति में पूर्ण रूप से सहायक हो।

(८) समष्टि-तन्त्रवाद तथा व्यष्टि-तन्त्रवाद में विरोध न होकर दोनों मिलकर देश तथा राज्य का कल्याण करें।

उपर्युक्त आदर्श प्राप्ति के लिए परिषद ने जो उद्देश्य रखे हैं उनका सारांश यहाँ प्रस्तुत हैं-

(१) सभी प्राणी एक ही ईश्वर की सन्तान तथा उसके अंश हैं। इस भावना के साथ सब की सहज 'भ्रातृता', 'समानता' एवं 'स्वतन्त्रता' उद्‌बुद्ध करना है।

(२) विश्व हित एवं विश्वशान्ति का ध्यान रखते हुए भारत राष्ट्र के सर्वविध अभ्युदय का प्रयत्न करना।

(३) शान्तिपूर्ण तथा वैध उपायों द्वारा अखण्ड भारत की स्थापना करना।

(४) देश में ऐसा स्वराज्य स्थापित करना, जिसके आधारभूत सिद्धान्त भारतीय हो, अर्थात् जिसके शासक और शासित सब पर व्यापक अर्थ में धर्म का नियन्त्रण हो और जिसकी राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा-नीति आदि धर्म-भावना से अनुप्राणित हो।

(५) गाँवों को शासन का आधार बनाना, उनमें गाँव-बिरादरी का प्राचीन भाव जागरित करना, गांव-पंचायतें पुराने ढंग पर संघटित करना, शासन को जनमत के अनुकूल बनाकर जनता तथा राज्य में मेल रखना और ऐसी निर्वाचन-पद्धिति प्रचलित करना, जो आधुनिक दीपों से मुक्त हो।

(६) खाने, पहनने, रहने, शिक्षा और स्वास्थ्य सुधार की सबको सुविधाएँ देना खाद्य-पदार्थो की शुद्धता की कड़ी व्यवस्था रखना कृत्रिम आवश्यकताएँ कम करना और जीवन में सादगी और सन्तोष का भाव लाना।

(७) श्रमिक, कृषक, व्यापारी, शिल्पी तथा बुद्धि जीवी वर्गों में परस्पर सहयोग तथा सद्भावना उत्पन्न करना, व्यापार में ईमानदारी लाना और धनिकों में 'वह' भाव उत्पन्न करना कि उनका धन जनता की धरोहर है, मालिक तथा मजदूरों में सद्भावना तथा समत्व स्थापित करना, उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण करके ग्राम तथा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देना, मुद्रा का प्रचलन सीमित रखकर वस्तुओं के आदान-प्रदान या विनिमय की प्रथा चलाना तथा किसानों को उपज के रूप में लगान चुकाने की सुविधा देना, खेती, उद्योग आदि भारतीय साधनों पर जोर देना और उनके अनुसन्धान, विकास तथा प्रसार की समुचित व्यवस्था करना।

(८) गाय, भैंस आदि पशुओं के पालन, परिवर्द्धन आदि द्वारा आरोग्य तथा स्वास्थ्य के लिए घृत, दुग्धादि, कृषि के लिए बैल और पर्याप्त खाद उपस्थित करना।

(९) न्याय को सुलभ तथा निष्पक्ष बनाना।

(१०) शिक्षा में आध्यात्मिक, मानसिक तथा शारीरिक तीनों का समावेश हो, साथ ही धार्मिक संस्थाओं की सहायता से नैतिक जीवन का स्तर ऊँचा करना, प्राचीन भारतीय कलाओं, विद्याओं तथा विज्ञान का उद्धार करना।

(११) सभी वर्गों के धार्मिक, विश्वासों की रक्षा करना, अपने धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने की सबको स्वतन्त्रता देना किसी के धर्म में कोई भी सरकारी हस्तक्षेप रोकना, सभी सम्प्रदायों के तीर्थों, देव स्थानों, उपासना-गृहों, धार्मिक संस्थाओं की रक्षा करना-तत्तसम्प्रदायों के अपहृत धर्म स्थान ससम्मान परिवर्तन कराकर परस्पर सद्भावना दृढ़ करना।

(१२) तत्तद्धर्मों एवं संस्कृतियों की तत्तत्सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों एवं आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या को ही मान्यता देना।

(१३) मातृशक्ति का गौरव जागरित करना।

(१४) अन्त्यज तथा पिछड़े हुए अन्य वर्गों की, उनकी परम्परा के अनुसार ही दशा सुधारना, रहन-सहन, शिक्षा और स्वास्थ्य की उन्हें विशेष सुविधाएँ देना, उनके उपयुक्त उन्हें उच्च पद देना, समाज की दृष्टि में उनका मान बढ़ाना और उनकी जीविकाएँ अपहरण न करके उनके उपयोगी शिल्पी की सब सुविधाएँ प्रदान करना।

स्वामी जी का उद्घोष है कि परिषद के उपर्युक्त आदर्श और उद्देश्य स्वीकार करने वाला कोई भी भारत संघ का व्यस्क नागरिक, वह चाहे किसी भी जाति या सम्प्रदाय का क्यों न हो, 'अखिल भारतीय रामराज्य परिषद' का सदस्य बन सकता है। जिस मनुष्य या दल को ईश्वर राज्य और धर्मराज्य में विश्वास है, उसके लिए परिषद के इस उदार तथा व्यापक कार्यक्रम से बढ़कर और क्या हो सकता है?

***

महान राजनीतिज्ञ आचार्य चाणक्य
के
नीतिसूत्रों में धर्म का महत्व

१. ''मृगयापरस्य धर्मार्थौ' विनश्यतः।''
मृगया (शिकार) के व्यसनी शासक का धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जाते हैं। -(७१)

२. ''यो धर्मार्थौ' न विवर्धयति स कामः।''
अत्यन्त कामपरायणता धर्म और अर्थ को नष्ट कर देती है। -(१५६)

३. ''धर्मेण धार्यते लोकः।''
संसार की धारणा (रक्षा) धर्म से ही होती है। -(२३३)

४. ''प्रेतमपि धर्माधर्मौ' अनुगच्छतः।''
(मरने के बाद जीव के साथ उसके धर्म और अधर्म जाते है।) -(२३४)

५. ''धर्माद्विपरीतं पापं यत्र यत्र प्रसज्यते, तत्र धर्मविमतिर्महती जायते।''
जहाँ जहाँ धर्म विरुद्ध कार्य होने लगता है वहाँ वहाँ धर्म का भयंकर अपमान होने लगता है अर्थात अधर्म का औचित्य जिम्मेदार व्यक्ति एवं संस्थाओं द्वारा घोषित किया जाता है। -(३३९)

६. ''आत्मविनाशं सूचयत्यधर्मबुद्धिः।''
अधर्मबुद्धि आत्मविनाश की द्योतक है। -(२४१)

७. ''न स्त्रैणस्य स्वर्गप्राप्तिः धर्मकृत्यञ्च।''
स्त्रीव्यसनी पुरुष न स्वर्ग पा सकता है न कोई धर्म कार्य ही कर सकता है। -(३१६)

८. ''सर्वेषां भूषणं धर्मः।''
सब का भूषण धर्म है। -(३६६)

९. ''कदाचिदपि धर्म अनिवर्वेत।''
किसी भी परिस्थिति में धर्म का ही समाश्रयण करना चाहिये। -(४१४)

१०. ''स्वधर्महेतुः सत्पुरुषः।''
अपना धर्म ही सत्पुरुषत्व में मुख्य कारण है। -(४४६)

११. ''व्यवहारानुलोपो धर्मः।''
सत्पुरुषों के व्यवहार (सदाचार) से (दो पक्षों में संशय होने पर) धर्म का अनुमान करना चाहिये। -(३६६)

स्वधर्मपालन और प्रभुभक्ति

महानुभाव! आप लोग विशेषकर महात्माओं तथा सत्पुरुषों का सत्संग करते हैं। साधु सेवा भी किया करते हैं और जहाँ तक हो सकता है धार्मिक भावनाओं मे भी निरत हैं। सत्संग में प्रायः आप कहा करते हैं कि शास्त्रों में दो वस्तुओं की महिमा है- एक तो तत्त्वज्ञान की दूसरी भगवद्भक्ति की। आप लोग प्रायः भक्ति या ज्ञान के प्रेमी हैं। अब भक्त को भगवान का साक्षात्कार होते ही क्षणमात्र में समस्त अनर्थ मिट जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक भक्त अपने भगवान का साक्षात्कार करके परम कल्याण की प्राप्ति कर सकता है। एक सेकिण्ड का स्वप्न हुआ उसमें अनन्तानन्त जीव-जन्तु मिल रहे हैं औरएक ही जीव ब्रह्मवध में निरत है अत्याचार कर रहा है, जीवों को महा कष्ट पहुँचा रहा है। अभी उसी एक सेकिण्ड के स्वप्न में वही जीव वेदादि शास्त्रानुकूल यज्ञों में, कर्मकाण्ड में निरत देखा जाता है। जब एक-एक जीव की अनन्तगति है फिर उनका कल्याण कोई कैसे कर सकता है। फिर इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्तानन्त जीवों का कल्याण कोई कैसे कर सकता है? किसी एक पुरुष के कल्याण में ही बड़ा समय लग जाता है। एक ही जीव कभी वेदानुकूल अनुगमन करता है कभी विपरीत हो जाता है। आप बड़े-बड़े महात्माओं तक को विपरीत पथगामी देखेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्नान्तर्गत एक ही जीव की विविध गतियाँ देखी जाती हैं तो फिर इन अनन्त जीवों का कल्याण कोई कैसे कर सकता है? तो इसके उत्तर में वेदान्ती यही कहता है कि किसी तरह आँख खुल जाए, स्वप्न भंग हो जायें, एकदम नष्ट हो जाय। अरे! जब स्वप्न भंग हो गया तब सब गतियाँ खत्म, सब जीव स्वतन्त्र, सब प्रपंच समाप्त हो जाता है। यदि यह नींद न मिटे तो किसी तरह से भी मुक्ति नहीं और कहीं स्वप्न भंग हो गया तो यह स्वाप्निक झगड़ा टण्टा सारा मिट जाय। और जहाँ एक बार साक्षात्कार हुआ, फिर क्या है चारों तरफ आनन्द ही आनन्द हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार पित्तदोष प्रकृति वाले को मिश्री में भी कड़वाहट प्रतीत होती है, उसी प्रकार जीव को भी अज्ञान रूपी पित्तदोष से आवृत्त होने के कारण अचिन्त्य आनन्द समुद्र खारी प्रतीत होने लगता है। परन्तु जब साक्षात्कार हुआ फिर यह खारा और यह मीठा सब टण्टा खत्म- आनन्द ही आनन्द की प्राप्ति होती है।

यदि मंगलमय भगवान के चरणारविन्दों में दृढ़भक्ति हो जाय तो संसार में कोई भी बात दुर्गम नहीं। जो भगवान के चरणारविन्द में श्रद्धा, विश्वास रखते हैं, उन्हें साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य, अनंतधन-धान्य तो क्या ऐन्द्रपद तक तुच्छ प्रतीत होता है। संसार के आधि, व्याधि, शोक, संताप आदि को मिटा देना भक्त के लिये कोई बड़ी बात नहीं है। जब भक्त भगवान का भजन करता है, उसे प्रेम से भजता है तो अनेक विघ्न आते है। जैसे सम्पत्तियों का आना, अनंत साम्राज्य, स्वराज्य इत्यादि का आना। परन्तु जब भक्त के हृदय में भगवान की भक्ति की दृढ़ भावना हो जाती है तब वह अपने भगवान तक को वश में कर लेता है फिर साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य, अनन्त धन-धान्य को वश में करना उसके लिये क्या बड़ी बात है? अतः भक्त इन वस्तुओं की इच्छा नहीं करता। करे क्यों? जब सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वाधिष्ठान भगवान ही उसके वश में है। भक्त प्रह्लाद ने भगवान की प्रार्थना की तो भगवान को उस ठोस खम्भे में से निकलना पड़ा, जिसमें एक सुई की नोक को भी प्रवेश करने को स्थान नहीं था, परन्तु सिहाग्र चूड़ामणि, भक्त आर्तनाशक नरसिंह भगवान उसी से प्रगट हो गये। हिरण्यकशिपु ने जब कहा कि यदि तेरे भगवान अकारण करुण करुणावरुणालय, सर्वव्यापक हैं तो इस पाषाण के खम्भे में दिखाई क्यों नहीं देता? भक्त से भगवान के प्रति कठोर शब्द नहीं सुने गये। कहा कि मंगलमय भगवान के सर्वव्यापक होने में 'वेदाःप्रमाणम्'-वेद ही प्रमाण है। फिर आर्त स्वर होकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से गद्‌गद् कण्ठ होकर भगवान की प्रेमपूर्वक स्तुति करने लगा कि वेदों के अनुसार यदि आप सर्वव्यापक हैं और यह वेद प्रमाण रूप से सत्य हैं और आप में मेरी अनन्य भक्ति है तो हे भगवान 'मैं खम्भे से आपका का दर्शन चाहता हूँ।' जब भगवान ने देखा कि भक्त ने प्रण कर डाला है कि हमारा परमात्मा सर्वव्यापाक है, तब सोचा कि हेतु तथा उदाहरण आदि का नाटक हम प्रत्यक्ष ही करते हैं। क्या हुआ? उसी ठोस पाषाण खम्भे से जिसमें सुई की नोक बराबर स्थान खाली नहीं था, सिहाद्रि चूड़ामणि भगवान नरसिंह एक कनकाचल से निकले पहाड़ के समान, भयानक शरीर से जिसमें विकराल मुख, सूर्य के समान तेजस्वी नेत्र तथा विकराल दृष्टा थे, अपने अनन्य भक्त के सामने प्रगट हो गये। और हिरण्यकशिपु का वध किया। इसके कहने का इतना ही केवल तात्पर्य है कि अघटित घटना पटीयसी मायापति, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, अज, अखिलेश, अशोच्य, अग्राह्य, अचिन्त्य भगवान भक्त के कहने से ही जड़ खम्भे से प्रगट हो गये और सिंहासन पर आसीन हो गये। समस्त लोकपाल दिक्‌पाल तैतीस करोड़देवता भगवान के स्वरूप को देखकर भयभीत हो गये। किसी की हिम्मत नहीं हुई कि उनके पास भी चले जाये। दूर से ही प्रार्थना करने लगे परन्तु जब भगवान का भयानक स्वरूप शान्त नहीं हुआ तब लक्ष्मी जी को भेजा कि आप ही जाकर शान्त

कर सकती हो। परन्तु कहने लगी कि यद्यपि मैं भगवान के सर्वदा समीप रहती हूँ परन्तु ऐसा स्वरूप मैंने कभी आज तक नहीं देखा, इसमें तो मुझे भय लगता है। तब समस्त देवताओं ने भक्त प्रह्लाद को भेजा। वह भक्त सिंह के बच्चे की तरह भगवान के समीप गया। जिस स्वरूप से देवता डरे। साक्षात् लक्ष्मी जी तक भयभीत हो गयी उस स्वरूप के आगे भक्त प्रह्लाद ने जाकर भगवान के चरणों में मस्तक रखा। भगवान ने प्रेम से गोद में बैठाया, मस्तक सूंघा तथा प्यार किया और प्रेम में विभोर होकर भगवान अपने भक्त से कहने लगे कि आने में विलम्ब हो गया। विलम्ब के कारण आप को कष्ट हुये होंगे। अरे! अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक भगवान अपने भक्त से यह कहकर क्षमा माँगते हुये कहते हैं कि कहाँ पाँच वर्ष का बालक का शरीर और कहाँ उसके द्वारा दी गयी तीक्ष्णतितीक्ष्ण यातनाएँ।उसे समुद्र में बहाया गया। पर्वत से ढकेला गया, कालकूट विष पिलाया गया, अग्नि में जलाया गया। भगवान कहते हैं कि यदि हमारे आने में विलम्ब हो गया हो तो क्षमा करना। अरे! कुर्तमकर्तुमअन्याथकर्तुम सर्व समर्थ भगवान भक्त से क्षमा भी माँगते हैं और रक्षा भी करते हैं साथ ही साथ भक्त के कर्जदार भी बने रहते हैं। भगवान को कर्जदार बनने की सुन्दर बान है। हनुमान जी से कहते हैं कि 'प्रति उपकार करहुं का तोरा। सम्मुख हुई न सकत मन मोरा।।' हे हनुमन्तलाल तुम्हारे एक एक उपकार के अनन्त जीवन सदा कर्जदार रहेंगे। तुम्हारे शरीर में कभी विपत्ति न हो ताकि मुझे तुम्हारी सहायता करने का अवसर मिले और मैं तुम्हारी सहायता करके उपकार से उर्ऋण हो जाऊं। तात्पर्य यह हैं कि ज्ञान तथा भक्ति के द्वारा ही भगवान की प्राप्ति हो सकती है। दोनों में एक हो चाहे ज्ञान हो या भक्ति। भक्ति क्या? भगवान में प्रीति होना, भगवान की आज्ञा मानना। जितना स्वाद भगवान की आज्ञा मानने में है उतना किसी भी वस्तु में नहीं। भगवान की आज्ञा क्या है? भगवान कहते हैं कि 'श्रुति स्मृति, वेद-शास्त्र ही तो मेरी आज्ञा है अतः इसका पालनन करने से ही परम कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु मित्रों! गीता-गीता तो रटे जाओ और उसकी पूजा किये जाओ परन्तु उसमें जो लिखा हुआ है उपदेश, भगवान की आज्ञा, उसका पालन न करो तो क्या लाभ होगा। एक व्यक्ति ने अपने मित्र को तार दिया कि मैं ३ बजकर ३० मिनट पर आपके नगर के स्टेशन पर पहुंच रहा हूँ किसी सवारी इत्यादि का प्रबन्ध कर देना। उधर मित्र का तार पढ़कर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसको सोने के सिंहासन पर रखा, उसकी पूजा की, आरती उतारी और फिर सपरिवार बैठकर 'तार आया, तार आया' ऐसा कहकर कीर्तन करने लगा। परन्तु उसमें जो लिखा था उस पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। उधर वह स्टेशन पर आता है वहाँ अपने मित्र को न देखकर बड़ा आश्चर्य में हुआ। सवारी इत्यादि का भी कोई प्रबन्ध नहीं देखकर बेचारा बड़ा परेशान हुआ। लाचार होकर परेशान मन से सर पर सामान

लादकर बेचारा स्वयं गर्मी में आया। आकर देखा कि मित्रवर तार आया, तार आया का कीर्तन कर रहे हैं। कहने लगे भाई क्या कर रहे हो? उत्तर आया कि कीर्तन कर रहा हूँ और यह कहकर गले से लिपट गया। मित्र को खेद भी हुआ और हँसी भी आयी। कहने लगा कि आप की इस प्रकार की प्रीति के क्या लाभ? आप कीर्तन कर रहे हो परन्तु आपने उस पर भी कुछ ध्याननहीं दिया कि जो उसमें लिखा था। आपकी यह प्रीति कौड़ी काम की भी नहीं। एक आदमी तो भेजा नहीं गया और यहाँ तार का कीर्तन कर रहे हो इसके क्या लाभ? इसी प्रकार गीता गीता रटने से कोई पुण्य नहीं। अरे गीता गीता तो कहते हो परन्तु गीता में जो लिखा है उसको मानते नहीं तो फिर कल्याण कैसे सम्भव है। गीता में भगवान स्वयं कहते है कि :-

''स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः सं सिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।
यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।''

सबको अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिये। अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहने से ही प्राणी परमसिद्धि को प्राप्त होता है। परन्तु सब कुछ निस्वार्थभाव से निश्छलभाव से करते हुए अन्त में कह देना चाहिये 'शिवार्पणमस्तु।' शम, दम, तप, शौच, क्षमा, ज्ञान, विज्ञान और परमात्मत्व का चिन्तन आदि स्वाभाविक कर्म करते हुये समष्टिहित दृष्टि से ब्राह्मण को अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहते हुये शिवार्पणमस्तु का संकल्प कर देना चाहिये। शौर्य, तेज, धैर्य, चातुर्य, युद्ध से कभी न विमुख होना, दान देना तथा राष्ट्र रक्षा, गो, ब्राह्मण की रक्षा करते हुये प्रजा पालन रूपी स्वाभाविक कर्म का सम्पादन करते हुये क्षत्रियों को सब कुछ शिवार्पणमस्तु कर देना चाहिये कृषि, गौरक्षा, व्यापार आदि में सत्य का व्यवहार करते हुये वैश्य को तथा परिचर्यारत रहकर, शिल्पकर्म को उन्नत करते हुए, प्रभु को समर्पित करते हुये अन्त में कहना चाहिये 'शिवार्पणमस्तु।' सारांश यही कि प्रत्येक को अपने-अपने कर्म में ईमानदारी से लगे रहते हुये प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये कि प्रभु धर्म की रक्षा करो, राष्ट्र की रक्षा करो, गौ की रक्षा करो, वेद-शास्त्रों की तथा उन्हें धारण करने वाले ब्राह्मणों की रक्षा करो हम सब आप की शरण हैं। इस प्रकार सबको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में निरत रह कर सन्तुष्ट एवं आनन्दित रहना चाहिये। स्त्रियों को अपने पति को ही भगवान मानते हुए सेवा करनी चाहिये। सास श्वसुर की सेवा करनी चाहिये यही नहीं कि सास पानी माँग रही हो और आप कह दें कि अभी तो जरा माला पूरी कर लूँ, भजन कर लूँ। शास्त्र कहते हैं कि जैसे नमुदेश्वर शंकर को अनन्त मानकर पूजन करने से पुण्य प्राप्त होता है, इसी प्रकार स्त्री को अपने पति को परमात्मा मान कर उसकी भक्ति करनी चाहिये। सूर्योदय से पूर्व उठकर बुहारी आदि गृह कार्य करने चाहिये,

बच्चों को शिक्षा देनी चाहिये, अन्य घर के कामों को प्रसन्नतापूर्वक स्वयं इसी प्रकार करना चाहिये जैसे भजन कर रही हो और अन्त में कह दिया करो 'शिवार्पणमस्तु।'

रामायण में कहा गया है कि जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता, क्षत्री राष्ट्र की रक्षा नहीं करता, वैश्य कृषि-गौरक्षण सद्व्यापारादि द्वारा प्रजापालन नहीं करता, शूद्र नाम संकीर्तनपूर्वक समाज सेवा नहीं करता, स्त्री पति सेवा नहीं करती-तो फिर कल्याण की भी आशा व्यर्थ की करते हैं। इन कर्तव्य कर्मों का तो पालन नहीं करते और राम राम रटते रहो, गीता गीता गाते रहो तो फिर कल्याण कहाँ? आज की परिस्थिति में भी प्रत्यक्ष धर्म यही है कि जिसके आचरण से सबका कल्याण सम्भव है कि अपने अपने स्वाभाविक गीतोक्त कर्मो को करते हुए अन्त में प्रभु को समर्पित कर दो-सब कुछ 'शिवार्पणमस्तु' कर दो। तभी भक्ति और ज्ञान दोनों बन सकते हैं। प्रभु को समर्पित कर्म कल्याणकारी होते हैं। आप लोगों को टोले टोले मुहल्ले-मुहल्ले में धर्म संघ की गोष्ठियाँ करनी चाहिये उनमें इन बातों पर विचार करना चाहिये। गीता-रामायण आदि की कथाएँ करनी चाहिये। धर्म शास्त्र जो बताते हैं उन्हें जानकर समझकर तदनुसार आचरण करना चाहिये। यहाँ तो श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी आया ही करते हैं उनसे धर्म की, शास्त्रों की बातें जान लिया करो। बिना धर्म शास्त्रों के ज्ञान के आज बड़ी भयावह परिस्थिति हो रही है। सरकार द्वारा जो 'कोड' बनाया जा रहा है उससे हिन्दू सभ्यता पर कुठाराघात किया जा रहा है उसे पास नहीं होने देना चाहिये। ऐसेम्बली पर धावा बोल देना चाहिये। उसका शक्ति भर पूरा विरोध करना चाहिये वह कोड हिन्दू धर्म-शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध है। सनातन धर्म का मुख्य बल ईश्वर का ही बल है। उसी का सहारा है, उसी का नाम लेकर इस अधार्मिक बिल के विरोध में उठ खड़े हो तो सफलता अवश्य मिलेगी।

''ता कहं प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम अनुकूल।
प्रभु प्रताप वड़वानलहिं, जारि सकहिं खलु तूल।।''

जो बड़वानल सारे संसार को भस्म कर सकता है उसे प्रभु कृपा से एक रुई का फोवा फूंक सकता है। ''मशकहिं करहिं विरंचि अरु अजहि मशक ते हीन।'' मच्छर से क्षण भर में ब्रह्मा तथा ब्रह्मा से मच्छर बनाने वाले अकारण करुण वरुणालय, अघटित घटना पटीयान सर्व समर्थ प्रभु सब कुछ कर सकते हैं उनके बल के सामने अन्य सभी का बल नगण्य है। वायु से पूछा कि तुम क्या कर सकते हो। कहा पल भर में सब कुछ उड़ा सकता हूँ परन्तु भगवान का तिनका न उड़ा सका, अग्नि आया उसने भरसक प्रयत्न किया परन्तु तिनके को जलाने में सक्षम न हो सका, जल उसे बहा न सका सब तत्व निष्प्रभ हो गये। क्योंकि उन्होंने अपनी शक्ति पर अभिमान किया प्रभु को छोड़कर अतः असफल रहे। जैसे बिजली के

पावर हाऊस केन्द्र से सम्बध विच्छेद होते ही सब इंजन, मशीने, बिजली के लट्टू मुर्दा हो जाते हैं उनका स्वतन्त्र अभिमान नष्ट हो जाता है इसी प्रकार उस ब्रह्मतत्व से सम्बन्ध टूटते ही संसार कौड़ी का भी नहीं रहता। उसकी शक्ति ही सारे संसार की शक्ति है। उसी परब्रह्म के श्री चरणों का सहारा लेकर इस कार्य में अग्रसर होना चाहिये। आप धर्म संघ के संकल्प से भगवान के किसी नाम का जप करो। उससे प्रार्थना करो कि प्रभु धर्म की जय करो, अधर्म का नाश, प्राणियों में सद्भावना हो और विश्व का कल्याण हो। उसकी कृपा से 'दुर्बुद्धः सुबुद्धो भवति' अतः जोर से भगवान रामचन्द्र की जय जयकार करते हुए बोलो हर हर महादेव। आप की आवाज कमजोर नहीं रहनी चाहिये। भगवान आपकी सहायता के लिये तैय्यार खड़े हैं आप अपनी निद्रा, आलस्य, उपेक्षा का परित्याग करके प्रभु नाम का सहारा लेकर अपने सहज स्वभाव का अपने स्वरूप का ज्ञान करके खड़े होकर करुण होकर उसे एक बार पुकारो तो सही–सफलता तुम्हारा वरण करेगी। प्रभु कल्याण करेंगे। यही उनकी प्रतिज्ञा है।

***

मानव जीवन की सार्थकता

संसार में मानव जन्म बड़ा दुर्लभ है। उस परम-प्रभु की परम कृपा से ही इसकी प्राप्ति होती है। उसे पाकर ही इस असार संसार समुद्र से पार उतरा जा सकता है। उस अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक प्रभु को प्राप्त किया जा सकता है। सारांश इतना ही है कि केवल इस संसार समुद्र को पार कर लेना एवं परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। भले ही हमें अनन्त धन-धान्य प्राप्त हो, अनेक विध भोग-विलास सामग्री उपलब्ध हो, सर्वविध लौकिक उन्नति के साधन प्राप्त हों, परन्तु यदि इस मानव देह को प्राप्त करके भी भगवान को पहचानने का प्रयत्न नहीं किया तो सब व्यापार निरर्थक ही कहे जा सकते हैं।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्द परब्रह्म परमेश्वर ने अपनी अघटित घटना पटीयसी, सर्वशक्तिमयी महामाया द्वारा इस विविध वैचित्र्योपेत विश्व का निर्माण किया। नाना विध रंगों से युक्त मयूर बनाया, विलक्षण हरे रंग का शुक का निर्माण किया, अनुपम श्वेत, धवल एवं स्वच्छ पंख वाला हंस बनाया, सुमधुर कण्ठ वाली कोकिला का निर्माण किया असीम बलशाली व्याघ्र बनाया, सारांश, विविध प्रकार के, विचित्र-विचित्र प्राणियों को उत्पन्न करके भी उस प्रभु को सन्तोष न हुआ। तबक भगवान ने मनुष्य को बनाया, तदुपरान्त ही प्रभु को सन्तोष हुआ, ''पुरुषं विधाय मुदमाप देवः।''

परन्तु ऐसा क्यों? मनुष्य ही निज बुद्धि द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार करने के योग्य है। व्याघ्र बल पराक्रम में बड़ा हो सकता है, कोकिला के कलकण्ठ की मनुष्य चाहे बराबरी न कर सके, शुक की हरितिमा, हंस की श्वेतता एवं मयूर-पिच्छ की नानाविध रंगीनता के समक्ष मनुष्य चाहे पीछे रह जायेगा परन्तु जब ब्रह्मसाक्षात्कार एवं ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति का प्रश्न होगा, ये सब मौन रह जायेंगे, वहाँ केवल मनुष्य की ही गति है।

परन्तु सज्जनो! ब्रह्मलोक में पहुँचकर भी अथवा स्वर्ग में पहुँच कर भी ब्रह्मसाक्षात्कार अति दुर्लभ है। वहाँ तो चिति-चैत्य, आत्मा-अनात्मा, भास्य-भासक, दृक-दृश्य का पृथक-पृथक ज्ञान तो है परन्तु वह ठीक इसी प्रकार दीखता है, जैसे मलिन जल अथवा चंचल जल में अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता। ब्रह्मादि लोकों में भोग-विलास-सुख-सामग्री तो बहुत उपलब्ध हैं, परन्तु उनसे वैराग्य नहीं हो पाता, फलतः वहाँ पहुँचकर ब्रह्म-साक्षात्कार की तीव्र पिपासा का होना नितांत असंभव है।

अतः इसी दुर्लभ मानव-जीवन में ही इस असार संसार-समुद्र से पार हो जाने का प्रयत्न मानव को अवश्य कर लेना चाहिये, अन्यथा पछताना होगा।

एक बार इन्द्र एवं विरोचन ब्रह्मा की शरण गये, ३२ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर तपस्या की। ब्रह्मा जी प्रगट हुये और उन्हें उपदेश दिया, कहा कि दक्षिण नेत्र में जो दीखे वही ब्रह्म है। इस पर प्रश्न किया कि दर्पण में जो प्रतिबिम्ब है वह भी आत्मा है क्या? ब्रह्मा जी ने कहा कि शकोरे में पानी भर कर उसमें देखो। वैसा ही करने पर बोले, इसमें तो बिम्ब रूपी ब्रह्म के नाक, कान, दाड़ी, मूछ इत्यादि सभी कुछ है। ब्रह्मा जी ने कहा कि इसे मुड़ा दो। ऐसा करने पर तदनुसार ही प्रतिबिम्ब दीख पड़ा तो कहा गया जब शरीर की दाड़ी कट गई तो आत्मा की दाड़ी भी कट गई, इसी प्रकार शरीर का शिर कट गया तो आत्मा का शिर भी कट गया-देह नाश पर आत्मा का नाश हो जाता है-विरोचन तो यही समझकर और यही निर्णय कर तपस्या से विरत हो गया और देहातिरिक्त आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं, ऐसा मानकर असुर हो गया, परन्तु इन्द्र ने पुनः ३२ वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक तप किया-अब की बार इन्द्र ने समझा कि जाग्रत में जिसकी अंगुली कट गई, स्वप्न में नहीं कटती, जाग्रत का अन्धा स्वप्न में खूब देखता है, परन्तु पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ भ्रम ही रहा-फिर तीसरी और तदुपरान्त चौथी बार पुनः ३२ वर्ष की पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्यपूर्वक की गई तपस्या के उपरांत इन्द्र को 'वैराग्य' का उपदेश दिया-

''जैसे शूकर के लिए शूकरी, कूकर के लिए कूकरी, ठीक इसी प्रकार इन्द्र के लिये इन्द्राणी है जो स्वाद शूकर को मल भक्षण में प्राप्त होता है वही नाना प्रकार के सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौरस्य सम्पन्न सुमधुर पकवानों में इन्द्र को आता है इसमें तनिक भी अन्तर नहीं।'' वैराग्य के अनन्तर ही तत्व का बोध होता है। जैसे दर्पण में अपना कोई मुख निहार ले, ठीक इसी प्रकार मनुष्य ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है, परन्तु अन्तःकरण (दर्पण) शुद्ध होना चाहिये-

''मुकुर मलिन पुनि (नेत्र) विहीना, रामरूप देखहि किमि दीना।।''

तो ये शास्त्र ही नेत्र हैं। शास्त्र रूपी नेत्र यदि ठीक हैं तो अन्तःकरण भी पवित्र है और तभी केवल तभी 'ब्रह्मसाक्षात्कार' हो सकता है।

तो सांसारिक विषयों से वैराग्य होना ही अत्यन्त आवश्यक है और दूर की क्या कहें, स्वयं अपने नाक, कान, आंख, मुखादि सभी छिद्रों में से भीषणतम मल निकलते देखकर भी जिसे वैराग्य नहीं होता तो फिर बताइये कि ऐसे व्यक्तियों को फिर क्या योग वसिष्ठ जी कथा सुनायें?

इस असार संसार में, इस नश्वर क्षण-भंगुर परन्तु दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके भी लोग साम्राज्य, स्वराज्य, अनन्त सम्पत्ति माँगते सुख की कामना करते हैं। परन्तु माता कुन्ती भगवान से विपत्ति की ही याचना करती हैं क्यों? इसीलिये कि

सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति कर प्रभु को भूल जाते हैं, भोग-विलास में फंस जाते हैं, परन्तु विपत्ति में व्याकुल होकर मन प्रभु चरणों में लीन हो जाता है-

''कह हनुमन्त विपत प्रभु सोई।
जब तब सुमिरन भजन न होई।।''

सारांश :- प्रभु स्मरण ही सम्पत्ति है एवं प्रभु-विस्मरण ही विपत्ति है। भगवान को भूलने पर ही दीनता, हीनता, दरिद्रता, पाशविकता एवं आधि-व्याधि, रोग-शोक, मोहादि से प्राणी घिर जाता है। व्यापक भ्रष्टाचार देश में व्याप्त होकर महान नैतिक पतन एवं चरित्र-हीनता का साम्राज्य फैल जाता है ऐसी स्थिति में एक पंचवर्षीय योजना क्या एक लाख योजना बनाओ परन्तु रहेगा सब बेकार। हम कपड़े का प्रबन्ध करेंगे कपड़ा दुर्लभ, हम रोटी का प्रश्न हल करेंगे तो पेट भर रोटी, औषध के लिये पैसा तक उपलब्ध नहीं-बच्चों को फीस तक प्राप्त नहीं। लाख कानून बनाओ, पर जब तक भगवत्-विश्वास न हो, धर्म पालन न हो, ईमानदारी न हो, सारा विधान बेकार ही है।

वैदिक काल में एक राजा घोषणा करता है कि मेरे राज्य में न शराबी है, न चोर है, न दुश्चरित्र कोई पुरुष ही है, तो दुराचारिणी स्त्रियाँ तो फिर कैसे हो सकती हैं? महर्षि चाणक्य काल में चीनी यात्री लिखता है कि गंगा की पार फूंस की झोपड़ी में भजन में बैठा विद्यार्थियो को वेदपाठ कराते हुए वह निर्लेप महापुरुष ऐसा धर्ममय शासन चलाता था कि लोग झूठ नहीं बोलते थे, घरों में ताला नहीं लगाते थे, न्यायालय है, न्यायाधीश हैं परन्तु मुकदमे नहीं। सारांश यह है कि जनता सुखी थी, समृद्ध थी। न रोटी की समस्या थी, न कपड़े की, न औषधि की, न बच्चों की फीस की, सब सुखी थे, सम्पन्न थे। सारांश यही कि बिना ईश्वर एवं धर्म नियन्त्रण के सुख शान्ति न मिलेगी, न योजनाएं ही सफल होगी। यदि समाज के व्यक्ति धार्मिक हो जायें तो सुख-शान्ति-सम्पत्ति बिना बुलाये ही उमड़-उमड़ कर स्वयं चली आवेगी, जैसे विपत्तियाँ बिना बुलाये स्वयमेव आती है, इसी प्रकार सम्पत्ति भी आवेगी। अतः यही मूलमन्त्र है कि 'हम दीनदार, ईमानदार, भगवत्परायण हों, भगवान का चिंतन करें, निजात्मा का स्वरूप का अनुसंधान करें, सदाचारी बनें, चरित्रवान् बनें। अरे! शास्त्र के नाम से चिढ़ो मत! शास्त्र क्या है? भगवत्-विज्ञान में सहूलियत उपस्थित कर देना ही शास्त्र का कार्य है। व्यष्टि, समष्टि जगत की लौकिक उन्नति के साथ-साथ पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए सहूलियत उपस्थित कर देना ही शास्त्रों का काम है- परम निःश्रेयस मोक्ष मार्ग की सभी बाधाओं को दूर कर देना ही शास्त्रों का काम है- और यही सारांश में रामराज्य की नीति है।' (३१-५-१९५८)

***

जीव और ब्रह्म

भगवान का ध्यान करने से, उनके दिव्य सुन्दरता, मधुरता आदि दिव्य गणों का बखान करने मात्र से ही प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं; नाना प्रकार के यज्ञों, अनुष्ठानों एवं तपस्याओं का किया जाना आज जरा कठिन एवं असम्भव सा दीखता है। भगवान् का दिव्य मंगलमय स्वरूप हमारे मन में प्रगट हो जाये तो कल्याण ही कल्याण है, निराकार, निर्विकार रूप में प्रगट हो जाये तो भी कल्याण सगुण साकार प्रगट हो तो भी कल्याण। एक बार प्रगट होने पर मन का स्वाभाविक आकर्षण हो जाता है, न चाहने पर भी मन उसमें संलग्न हो जाता है। 'राधा' ने एब कार 'कृष्ण' नाम सुना। कानों में आया तो अन्तःकरण, प्राण, रोम-रोग, 'कृष्ण' नाम की मधुरिमा के अनुभव से लोट-पोट हो गया और उन्होंने तत्काल 'यह मधुर, मनोहर, मंगलमय नाम जिसका है उसे ही अपने सर्वस्व अर्पण का निश्चय कर लिया। ··· न भी मिलेंगे तो भी उनके नामामृत का रसास्वादन करते-करते जीवन व्यतीत करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।' दूसरे दिन बंशी की मनोरम ध्वनि कानों में आई। मंगलमय मुखारबिन्द एवं अधरामृत के संस्पर्श से बंशीनिनाद द्वारा प्रगट होकर भगवत्स्वरूप की अभिव्यञ्जना होने लगी, अनन्त सौन्दर्य्य सार समुद्र रूप प्रभु का रूप है उस पर भी सम्पूर्ण माधुर्य्य सौंदर्य्य सिमटकर प्रभु के मुख में प्रगट हुआ है, उसमें भी सब कुछ अधरामृत रूप में वेणुगीत बंशीनिनाद के रूप में प्रगट हो गये- अरे यह वेणुगीत नहीं है, निखिल रसात्मक सौन्दर्य्य माधुर्य्य सिंधु भगवान् ही भक्त के हृदय में, कर्मों के द्वारा प्रविष्ट होकर प्रगट हो गये।

'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भाव सरोरुहम'।

भक्तों के हृदय में कर्ण छिद्रों से ही निराकार का भी प्रवेश होता है। वेदान्त वाक्यों का श्रवण करेंगे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्यों का जितना अधिक श्रवण करेंगे उतना ही हृदय में परब्रह्म का प्राकट्य होगा। शब्द की शक्ति से ही परब्रह्म का प्राकटय होता है। निराकारवादी को भी नाम का सहारा पकड़ना होता है। ईसाई, मुसलमान ने भी नाम को माना शब्द के महत्व को स्वीकार किया, बौद्धों में भी 'मणिपदमेहुम' की चरखी चलाते हैं, आर्यसमाजी भी मन्त्र का जाप करते हैं, सनातन धर्म में भी मन्त्र का अतुलित प्रताप हैं। जैसे महामत्त गजराज को भी अंकुश से वश में रखा जा सकता है उसी प्रकार मन्त्र द्वारा 'विधि-हरि-हर' सभी को वश में

किया जा सकता है। जिसमें अपना पूरा विश्वास हो वही मन्त्र अच्छा है। प्रसन्न होकर एक महात्मा ने एक मन्त्र बताया, जब जपने बैठे तो देखा कि वही मन्त्र अन्य लोग भी जप रहे हैं–विचार किया कि इसे तो सभी जानते हैं अत: उसकी दृष्टि मे वह महत्वहीन हो गया, उसका विश्वास हट गया तो फिर वह मन्त्र ही उसके लिये व्यर्थ हो गया जैसे हीरा किसी को मोल कराने हेतु दिया गया तो जो उसे जानता है, पहचानता है उसके लिये तो लाखों का अरबों खरबों का और जो नहीं जानता उसके लिये तो आधा सेर वैंगन के मूल्य के रूप में भी स्वीकार करना कठिन–ठीक ऐसे ही मन्त्र का भी महत्व समझना चाहिये। सगुण साकार प्रतिपादक वाक्यों द्वारा सगुण साकार परब्रह्म का प्राकट्य होता है और निर्गुण निराकार का प्राकट्य वेदान्त वाक्यों से होता है। शब्द है 'उद्गार'। अनुभवित रस उच्छलित होकर कण्ठ ताल्वादि से स्पर्श होकर जो शब्द प्रकट होता है वही है 'उद्गार' उसका भावना द्वारा परिवर्धन किया जाता है। रस का चर्वण जितना–जितना होताहै उतना–उतना रससिंधु–उद्वेलित सिन्धु बन जाता है– ''शोक: श्लोकत्वमागत:''। सीता वनवास से सन्तप्त महर्षि वाल्मीकि के हृदय में तमसा नदी के तट पर क्रौंच पक्षी के करुण क्रन्दन मात्र से रस समुद्र उमड़ आया। हृदय में रस भरा है, वह आघात मात्र से छलकता है, ऐसा करुण रस से परिपूर्ण हृदय आहत हुआ, रस उच्छलित हुआ–वह करुण रस ही उद्गार बन कर 'राम चरित्र' के रूप में प्रगट हुआ। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने वेणु धारण से अक्षर सुधारस परिपूरित किया, वह वेणुगीत पीयूष गोपी के अन्त:करण में प्रगट हुआ। वे रस चर्वण करने लगी–वह अन्तरात्मा में भरपूर हो गया चर्वण करते–करते–वही मुख पकंज में आया–वही 'वेणुगीत' के रूप मे उन गोपांगनाओं ने गाया। 'शब्दब्रह्म' के रूप में वह 'वेणुगीत' उन्नीस श्लोकों के रूप में 'श्रीमद्भागवत्' में वर्णित है। श्रीनाथद्वारा में भगवान् के श्रृंगार को सूरदास अन्धे, नित्य वेसा ही गाया करते थे तो अनुभूयमान तत्व ही उच्छलित होकर बाहर छलकता है वह ब्रह्म रस ही होता है, प्राकृत शब्द नहीं है–वह स्वरूप की अभिव्यक्ति कर देता है। ब्रह्म विद्या परमतत्व विलक्षण, असाधारण व्यक्तियों द्वारा अनुभूत होकर ही प्रगट होता है वैसे ही नहीं–आश्चर्यवत् कोई–कोई कहता है, कोई–कोई सुनता है फिर भी समझ नहीं पाता यह ब्रह्मतत्व बड़ा विलक्षण है। –तो गोपांगनाओं के हृदय में वेणुगीत प्रविष्ट हुआ–क्षण में प्रेमोन्माद होने लगा–तीसरे दिन एक चित्र श्याम सुन्दर का दिखाया–दर्शन करके विद्या ने वहीं दिव्य शक्ति का निर्माण किया–राधारानी को दिव्य चित्र दिखाया–राधारानी का चित्त उसमें लीन हो गया–राधा को शंका हुई कहने लगी कि 'हमें न छुवो–हम पतित अशुद्ध हो गई–अपने प्राणों का परित्याग कर देंगी हम–सखी एक दिन तो श्रीकृष्ण नाम कानों में आने मात्र से मैंने अपने आपको उसी को अर्पित कर दिया, यदि न भी मिले तो भी नाम के सहारे ही जन्म को अर्पण कर दिया–दूसरे दिन वेणुगीतनिनाद से प्रेमोन्माद की परम्परा चल

पड़ी–और यह तो चित्रपट दिखाया इतने मात्र से स्निग्धघनद्युति–नील नीरद की तरह श्यामघन मेरे अन्तःकरण में लिपट गया। तीन–तीन पुरुषों से मेरी प्रीति हुई तो क्या मेरा पातिव्रत्य भंग नहीं हुआ? मैं तो प्राणों को त्याग कर दूंगी'।

''एकस्य श्रुतमेव लुम्पतिमर्ति कृष्णेति नामाक्षरं,
सान्द्रोन्माद परम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीरवः।
एका स्निग्ध घनद्युतिर्मनसि मे लग्ना सकृद् वीक्षणात्
हा धिङ्मे पुरुषत्रये रतिरभून्मन्येमृतिः श्रेयसी।।''

ललिता विशाखा आदि सखियाँ हँस पड़ी–बोलीं–'वह एक ही तो हैं, उसी का वेणु, उसी का यह चित्र और उसी का तो यह नामाक्षर है–वह एक ही है'–तब सन्तोष हुआ राधारानी को।

सार यह है कि जहाँ इस प्रकार से भगवत्स्वरूप का लोकोत्तर माधुर्य्य प्रगट हो तो फिर इन्द्रियों में वही अटके रहने की खींचातानी होने लगती है। जैसे लोक में बहुत सी सपत्नियाँ, इन्द्रियाँ, मनुष्य जीव को अपनी–अपनी ओर खींचती हैं इसी प्रकार जिस समय भगवान् का दर्शन होने लगता है उस समय भक्त की इन्द्रियों में खींचातानी चलती है, अरे! आँख घ्राण, त्वक, एक–एक रोम में करोड़–करोड़ घ्राण हों तो उस परब्रह्म को अनुभव करने को मन करता है। सांसारिक पदार्थो में यह आकर्षण अनर्थकारक होता है परन्तु भगवान् के प्रति यह खींचातानी, यह अटक आकर्षण कल्याणकारक होता है। संसार की, लौकिक वस्तुओं की लालसा, तृष्णा, लोभ भटकते रहने का कारण बनता है वही लालसा, तृष्णा आदि भवच्चरणारविन्द में हो जाये तो जन्म–जन्मान्तरों, युग–युगान्तरों एवं कल्प–कल्पान्तरों के पापपुंजों का नाश हो जाये, परम पद की प्राप्ति हो जाये।

''मच्चिता मद् गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।''

तो उक्त अवस्था में तत्तत्इन्द्रियाँ भगवत्स्वरूप में ही लीन हो जाती हैं, जो अतिशय द्वैत वियोगी हैं वे योगी सम्पूर्ण दृश्यमान जगत से अन्तर्मुख होकर निद्रा सुख में हरिपद का अनुभव करते हैं। निद्रा का सुख संसार के सब सुखों से बड़ा है। वास्तविक तत्वविज्ञान न भी हो फिर भी नींद का सुख सबसे बड़ा है। संसार में सुन्दर–सुन्दर स्त्रियाँ, नाना भाँति का सौगन्ध्य–सौरस्य सम्पन्न सुमधुर पक्वान्न, विभिन्न प्रकार के वस्त्रालंकरादि तो उपलब्ध हों परन्तु यदि नींद न आती हो तो सब व्यर्थ, अनावश्यक, अनाकर्षक प्रतीत होते हैं, अतः नींद सुख बड़ा सुख है। जीव का ब्रह्म से नित्य मिलन ही तो नींद है। तो माने ब्रह्म–सुख के सामने सम्पूर्ण संसार के सुख तुच्छ है। जैसे सूत्र में बन्धा हुआ शकुनि पक्षी इधर–उधर उड़ता हुआ अन्तः में परिश्रान्त होकर अपने आधार पर ही आकर विश्राम करता है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मा में कर्मरूपी सूत्रों

से बन्ध जीव रूपी पक्षी देश-देशान्तरों में भटकता हुआ जब थक जाता है, जाग्रत-स्वप्न में प्रपंच का अनुभव करते-करते अन्त में उन्ही भगवान् की शरण में जाता है वही शान्ति पाता है। जैसे शिशु भटकता है तो भागकर माँ के अंक में छिपता है वहीं शान्ति पाता है, इसी प्रकार जीव भी उसी परब्रह्म में शान्ति प्राप्त करता है। जब जीव ब्रह्म में एकमेक हो जाता है, संसार को भूल जाता है। जैसे कोई व्यक्ति परदेश से आये और उसकी पतिपरायणा प्रियतमा स्त्री घर में उसकी प्रतीक्षा में बैठी हो-वह उसके आलिंगन में सब कुछ भूल जाता है ऐसे ही जीवात्मा, स्वप्रकाश आनन्द सिंधु परब्रह्म में डूब जाता है-उसे तब संसार नहीं दीखता जैसे निद्रा में संसार की विस्मृति होकर नित्य जीवब्रह्म का मिलन होता है-प्रश्न होता है कि जब नित्य जीव-ब्रह्म का मिलन होता है तो फिर उनसे बिछड़ कर वापिस क्यों लौटता है? वास्तव में निद्रावस्था में जीव अविद्या रूपी आवरण से आवृत्त, ढके हुये, परमात्मा से मिलता है, निरावरण ब्रह्म से नहीं और स्वयं भी जीव संस्कारों से बन्धा हुआ ही उनसे मिलता है। भजन से जब माया का आवरण भंग हो जाता है तो निद्रा से कोटि-कोटि गुना अधिक आनन्द एवं सुख प्राप्त होता है वह निरुपम है। तुलसीदास जो भगवती जगज्जननी जगदम्बा सीता के सौन्दर्य की उपमा देने लगे तो कह ही तो दिया कि 'जग अस जुवती कहां कमनीया'। 'सरस्वती', भगवती भारती बड़ी सुन्दरी है उनके लोकोत्तर सौन्दर्य-महिमा का वर्णन भी अशक्य है परन्तु वे बोलती बहुत है; 'पार्वती' जी, अर्धनारीश्वर भगवान् शिव की अर्द्धांगिनी है आधा शरीर है, कामदेव की स्त्री 'रति' अपने पति के शरीर रहित होने से दुखित है, साक्षात् रमा लक्ष्मी जी के विष, वारुणी बंधु होने में उन्हें वही प्रिय हैं-तो फिर कैसे जगदम्बा जगज्जननी जानकी जी की इनसे उपमा दे दें-

'गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।।
विष वारुनी बन्धु प्रिय जेही। कहिय रमासम किमि वैदेही।।'

कितने उत्तम प्रकार से लोकोत्तर महिमा वर्णन है बिना किसी का अपमान किये ही तुलसीदास जी ने उस अलख अलौकिक अनुपम सौन्दर्य्य सुखराशी का वर्णन किया है- 'सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पटतरौ विदेहकुमारी' तो फिर आगे बोले-

'जौ छवि सुधा पयोनिधि होई, परम रूप मय कच्छपु सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारु, मथै पानि पंकज निज मारु।
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल।।'

छवि सुधा समुद्र हो, परमदिव्य रूपमय कच्छप हो, शोभा की रस्सी हो, श्रृंगार रस रूप मंदराचल पर्वत हो, कन्दर्प साक्षात् कन्दर्प, काम बिन्दु का उद्गम स्थान, 'काम-सिंधु', अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक परमपिता परमेश्वर का जो 'काम'

साक्षात् वह स्वयं मन्धन करे, जब लक्ष्मी जी जो सुन्दरता की सुख मूल है प्राप्त हों तो उस लक्ष्मी के तुल्य 'सीता जी' को उपमा दी जा सकती है।

शब्द तत्व की अभिव्यक्ति करने का यही ढंग है अन्य कोई मार्ग नहीं है ब्रह्मतत्व को समझने का।

आनन्द का चन्द्र, स्नेह का चन्द्र ही महाभाव रूप जो दिव्य तत्व है वही राधारानी है उनका सब कुछ 'महाभावरूप' है, मोती में जो आभा चमकती है, उसी प्रकार के लावण्यांमृत से, तारुण्यामृत से, कारुण्यामृत से स्नान होता है उनका'.....' लज्जा ही वस्त्र है, कुलांगनाओं का स्वभाव ही लज्जायुक्त होता है 'ह्रीमति बाला', नवोढ़ा कुल वधू सखियों में बैठी है, पति पुरुष सभा में बैठा है, सखी पूछती है कि 'कौन है पति तुम्हारा'? 'अयं' कहती है 'ऊंहँ' तो फिर 'अयं' नेति, 'अयं?'-'नेति' अन्त में जब सखी की अंगुली पति पर जाती है तो नवोढ़ा कुल वधू-'मौन' उत्तर देती है कि हां यही 'वह' है। इसी प्रकार परब्रह्म का उपदेश, प्रवचन मौन होकर श्रवण करना चाहिये। 'चित्रं पट तरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा, गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्नसंशयाः।' .....वट वृक्ष है, शिष्य वृद्ध है, गुरु युवा है, गुरु का मौन व्याख्यान है, शिष्यों के सम्पूर्ण संशय छिन्न हो गये, जैसे उस नवोढ़ा ने पति निर्देषार्थ मौन ही उपयुक्त समझा। सीता जी वन मार्ग पर चली जा रही है चित्रकूट में, राम लखन साथ है। ग्राम वधूटियाँ हैं कि तुम्हारे स्वामी कौन हैं, यह लजाकर अपने मुखचन्द्र पर घूंघट डालकर नेत्रों के इंगित करती हैं :-

'बहुरि वदनु विधु अंचल ढाँकी, पिय तन चितइ भौहं करि बाँकी।
खंजनु मंजु तिरीछे नयननि, निज पति कहेउ तिन्हहि सियं सयननि।।'

वे सब उस 'मूर्तब्रह्म' श्रीराम के दर्शन करके धन्य हो गई। श्रुति जिसे 'नेति' 'नेति' कहकर निरूपण करती है वह अमूर्त ब्रह्म है, जो-जो कुछ भी दृश्य है वह-वह 'ब्रह्म' नहीं है 'नेति' 'नेति', शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, स्थूल, सूक्ष्म, कार्य, कारण जो कुछ भी यह दृश्य है-'ब्रह्म' नहीं है। तो प्रश्न हुआ कि फिर ब्रह्म क्या है? इस पर श्रुति मौन। तो जो अन्त में सर्व-साक्षी, सर्वभासक, सर्व प्रकाशक है उसी में चित्त की वृत्ति हो जाती है वही 'परब्रह्म' है।

(८-११-१९६३)

***

आत्मचिन्तन

शरणागति, आत्मसमर्पण अथवा भगवतत्व-विज्ञान यह सब वस्तुएँ ज्ञानात्मक हैं। इतना बड़ा संसार शिर पर खड़ा है इसका मिटाना ज्ञान-विचारवादी का ही काम है। बड़े-बड़े पहाड़, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल दीखते हैं यह तो एक ही ब्रह्माण्ड में स्थित हैं, ऐसे-ऐसे एक नहीं अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड हैं, भू, भुवः, स्वः, तप, मह इत्यादि ऊर्ध्व लोक, अतल, सुतल, रसातल, पाताल इत्यादि नीचे के लोकों को मिलाकर एक भुवन की रचना है ऐसे-ऐसे अनन्तानन्त कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं यह सब माया का विस्तार है। जैसे गूलर के वृक्ष में अपरिगणित फल होते हैं ऐसे ही माया रूपी गूलर के फल ही यह सब ब्रह्माण्ड है और जैसे गूलर के भीतर कीड़े होते हैं ऐसे एक-एक ब्रह्माण्ड के भीतर जीव हैं। इस प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की स्थिति है। यह विश्वप्रपंच समष्टि और व्यष्टि की दृष्टि में भी प्राण, मन, बुद्धि, अहं के आवरण से आवृत आत्मा है। माया के उक्त आवरण को तोड़कर निरावरण परब्रह्म का अनुभव करना बड़ी ऊँची वस्तु है। इसके लिए तप, त्याग, विचार करना पड़ता है तो भी बड़ा कठिन है दुर्लभ है उसका साक्षात्कार। तो भी निश्चित रूप से अन्त में यह है विचार की वस्तु। जैसे कोई बड़ा पत्थर सौ आदमियों से भी नहीं उठता परन्तु बुद्धि से निर्मित मशीन द्वारा सरलता से उठा दिया जाता है इसी प्रकार जो संसार, पहाड़ के समान कठिन दीखता है वही विचार करने पर अन्तर्मुख होने पर, शान्त होने पर रह ही नहीं जाता। भव-समुद्र, आनन्द-समुद्र में परिकल्पित है, भ्रान्ति से आप हम इसे भव-समुद्र मान रहे है जैसे कोई माला में सर्प का भ्रम होने से भ्रमवश उसे सर्प ही मान लेता है परन्तु वास्तविकता का ज्ञान होने पर वह सर्प भ्रम माला में लीन हो जाता है। इस प्रकार यह भव-समुद्र से उत्पन्न है, उसी में स्थित है अन्त में उसी में प्रविलीन हो जाता है अतः सब कुछ आनन्द-समुद्र ही है। इस प्रकार जो वस्तु अत्यन्त कठोर कठिन मालूम होता है यही विचारोपरांत आसान हो जाता है।

सूर्य की रश्मियों में जल रहता है, वही बादल बनता है, फिर धरती पर गिरता है, जो जल रश्मियों में रहता है उसकी अपेक्षा यह जल स्थूल है; जल की तुलना में बादल सूक्ष्म, बादल की अपेक्षा सूर्य-रश्मि-स्थित जल सूक्ष्म है। इस प्रकार जो जल कभी सूक्ष्म-रश्मियों में विचरता है वही स्थूल होकर बादल, वर्षा-जल बनता है फिर और स्थूल बना तो बर्फ बन जाता है और स्थूल कठोर बनता है। यही यदि हजारों वर्षो

दबा रहे तो नीलमणि का रूप ग्रहण कर लेता है और भी स्थूल–कठोर हो जाता है। कितना वैषम्य हो जाता है कहाँ मणि या बर्फ की कठोरता और कहाँ रश्मि के जल की स्थिति कितना अन्तर भासित होता है। यह सब क्रिया के द्वारा व्यापार के द्वारा रचना होती है। आकाश से तेज फिर जल फिर ईश्वरीय शक्ति इत्यादि के आधार पर संसार बन जाता है। इन्हें समझने के लिये यूं समझिये कि जैसे आतान वितानात्मक तन्तु ही वस्त्र कहलाता है। पर व्यवहार में मात्र तागा कहा जावेगा तो कोई वस्त्र नहीं देगा, यद्यपि वस्त्र नामक वस्तु कुछ है ही नहीं सब कुछ तागा ही तो है वही ताना बाना रूप व्यवहार के कारण वस्त्र कहलाया। तो जो होय वह तो प्रतीत न हो, जो प्रतीत हो वास्तव में यह हो ही नहीं जैसे रज्जु में सर्प एवं सीपी में चाँदी की भ्रांति हो जाय तो बिना ज्ञान के भ्रांति निवृत्ति हुये वह प्रतीति मिटती नहीं। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्म से यह जगत न होता हुआ भी प्रतीत होता है और अधिष्ठान जगत में ब्रह्म नहीं प्रतीत होता जबकि सब कुछ वही है।

'जेहि जाने जग जाय हेराई जागे यथा स्वप्न भ्रम जाई।'

'रजत सीप मह भास जिमि यथा भानु कर बारि।'

हजार प्रयत्न करने पर भी इन प्रतीतियों का अपलाप न हो तो भी ज्ञान से इनकी भ्रांति दूर होती है। यह विचारणीय है कि रज्जु में सर्प का भ्रम हजार गोदान, हजार ब्राह्मण भोजन से भी दूर नहीं होगा। यह तो तभी दूर होगा जब दीपक लाने का बोध हो प्रकाश आये वहां तब वह सर्प की भ्रांति तत्काल मिट जाती है। तो भगवान की शरणागति, भगवान की सत्ता का निर्णय बहुत बड़ी बात है। वेन में और शिशुपाल में यही अन्तर था। दोनों यद्यपि नास्तिक थे, प्रभु विरोधी थे, परन्तु शिशुपाल को प्रतीति हो गई, बेन को नहीं हुई। शिशुपाल की बुद्धि में, 'भगवान है' यह बुद्धि थी, 'वह दुष्ट है', 'खराब है', इसे समाप्त करा दिया जाये ऐसी बुद्धि थी। परन्तु वेन की दृष्टि में भगवान है ही नहीं। आस्तिक का किसी से बैर नहीं। वह जानता है कि सब 'अमृतस्यपुत्रा' हैं, सगे भाई हैं, असल भाई हुये परस्पर। और आज का कामरेड, लेनिन का दायां हाथ होने पर भी विरोध होते ही ट्राटस्की का शिर हथौड़े से तोड़ दिया गया, तो वह बाहरी सम्बन्ध है यह सम्बन्ध सीमित है। पार्टी का, कोई जाति का, सम्प्रदाय का, देश का सम्बन्ध–यह सम्बन्ध एक दायरे में होते हैं, परन्तु वह जो आत्मा का सम्बन्ध होता है वहाँ दायरे का सम्बन्ध नहीं। वहाँ उस सम्बन्ध के सामने तो हिन्दू, मुसलिम, आस्तिक–नास्तिक तथा मनुष्य मात्र के ही नहीं, शूकर, कूकर, कीट–पतंगादि सभी प्राणी मात्र के भेद खत्म हो जाते हैं। ''सीयराममय सब जग जानी, करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी।'' तथा 'निजप्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहि विरोध।' वास्तव में यही सिद्धांत सत्य है। वह ब्रह्म अमृत है उसके पुत्र उससे उत्पन्न सम्पूर्ण प्राणी हैं पर वह न स्त्री है, न पुरुष, न पशु, न कीट, न पतंग वह तो जैसा जैसा देह धारा करता है वैसा

ही बन जाता है, भिन्न-भिन्न रूपों से भिन्नता की प्रतीति होती है। आस्तिक इसी सिद्धांत के अनुसार किसी का भी अहित सम्पादन नहीं करता वह तो सब का कल्याण चाहता है, नास्तिक का भी कल्याण चाहता है। श्री उदयनाचार्य जी बड़े नैयायिक थे वह भी अपनी न्याय कुसुमांजलि में कहते हैं कि 'हे नाथ! इनका भी कल्याण हो। हे सर्वेश्वर! हे अकारणकरुण आप इन नास्तिकों का भी कल्याण करना। यद्यपि हमने श्रुति रूपी निर्मल जल से इनक मानस के दुस्तर्क रूपी कलंक पंक से मलिन मन को धोने की चेष्टा की, श्रुतिप्रमाण, युक्ति-प्रमाण प्रस्थापित किया, तो भी इनके हृदय में आप पर विश्वास ही नहीं होता है, प्रभु इनका भी कल्याण करो।' तो सबसे पहले प्रभु के अस्तित्व को स्वीकारो। छोटे-छोटे सुई छिद्रों, घटाकाशों इत्यादि का उद्गम स्थान एक महाकाश है; छोटे-छोटे मिट्टी के पाषाण, ढेले, लोष्ट का उद्गम स्थान अखण्ड भूमण्डल है; बिन्दु, फेन, बुद-बुद जलों का उद्गम स्थान महान जल ही है; वैसे ही हम लोग छोटे-छोटे जीव हैं उनका उद्गम स्थान, उनके अस्तित्व का अधिष्ठान, वह महान सत्ता है, जो अपरिमित ज्ञान, स्वातन्त्र्य एवं अखण्ड अनन्त आनन्द रूप है। बिना आधार के कोई वस्तु नहीं, कोई तखते पर बैठा है तो उस तखते का भी आधार पृथ्वी है ही। सूर्य के आधार पर पृथ्वी, मंगल, चन्द्रमा, बुध, वृहस्पति इत्यादि की स्थिति है। इस पर प्रश्न होता है कि सूर्य किसके आधार पर तो इस पर कहा गया है कि वह इन नक्षत्रों के आधार पर परन्तु इससे तो अन्योन्याश्रय दोष हो गया। देवदत्त से यज्ञदत्त, यज्ञदत्त से देवदत्त तो नहीं बनेगा। अन्योन्याश्रय में उत्पत्ति नहीं बनती, ज्ञान नहीं हो सकता। मकान किसका जिसकी बहू बहू किसकी जिसका मकान तो नहीं बनता। ज्ञाप्ति, उत्पत्ति नहीं, पानी के आधार पर लोटा कि लोटा के आधार पर पानी, मकान की डाट के आधार पर दीवार कि दीवार के आधार पर डाट-परन्तु और आकाश का आधार 'अहं' ठहरता है। स्पष्ट है कि स्थूल अपने से सूक्ष्म के आधार पर टिका है, साथ ही साथ सूक्ष्म व्यापक होता है, स्थूल व्याप्य होता है जैसे दही ऊपर का कठोर होता है नीचे का ढीला, वह भी बना दूध से। ऊपर से बर्फ जमा रहता है नीचे पानी बहता है बर्फ के। जैसे पानी सूक्ष्म बर्फ स्थूल है तो भी उसी सूक्ष्म के आधार पर टिका रहता है। इसी प्रकार यह अखण्ड भूमण्डल, सूक्ष्म पृथ्वी के आधार पर स्थित है जहाँ तक गन्ध जाती है वहाँ तक पृथ्वी है, इस गन्धवती पृथ्वी का आधार इससे सूक्ष्म जल, स्थूल जल का आधार उससे सूक्ष्म तेज, तेज के रश्मियों में उष्मा बढ़ने पर पानी सामने आता है, वायु चलता है उष्मा के न्यूनाधिक्य से ही हलचल होती है वायु चलने लगता है, तो वायु से तेज सूक्ष्म है जोकि उसका आधार है। तेज का आधार आकाश, आकाश का अहंतत्व ठहरता है।

सोने पर नींद से जागो। तो जो सोना जगना जानता है वह ब्रह्म को जान लेता है। ढंग से सोना जागना चाहिये। थककर सो जाना तो कुत्तों को भी आता है।

आप को सोने, जागने के बीच की स्थिति जाननी होगा। जैसे यदि मणिमाला के सूत्र को यदि देखना हो तो दो मणियों के बीच में देखो। तो जागृत खत्म, निद्रा खत्म नहीं हुई अभी उस बीच की अवस्था को देखो तो कुछ दीखे। जैसे अग्नि की लकड़ी घुमाने से एक चक्कर सा प्रतीत होता है अग्नि का, वेग के कारण अग्नि चक्राकार घूमती लगती है, अलात चक्र बन जाता है इसी प्रकार अधिक वेग के कारण बिजली के पंखों की फलकों की चक्राकारिता से फलकों का भेद प्रकट नहीं होता। इसी प्रकार जागने सोने का वेग बढ़ गया है अत: बीच ज्ञात होता ही नहीं। घट-ज्ञान, गन्ध-ज्ञान, रूप-ज्ञान इत्यादि के बीच की स्थिति का ज्ञान करना है। पापड़ खाते समय शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध, स्वाद इन पाँचों का अनुभव होता है। एक साथ इन पाँचों का ज्ञान होता है; तो मन जिस समय जिस इन्द्रिय से जुड़ेगा अर्थात आँख, नाक, कान, रसना इत्यादि से तब ही उस उस का ज्ञान होगा यदि मन व्यापक होता तो एक ही समय में सबका ज्ञान होता। नैयायियों का शास्त्रार्थ है कि एक समय में पाँच, तीन, दो ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, जिससे संशलिष्ट होता है उसी का ज्ञान होता है अत: मन व्यापक नहीं अपितु अणु प्रमाण है। तो फिर पापड़ खाने के साथ पाँचों का ज्ञान कैसे सम्भव? इस पर कहना है कि जैसे सौ कमल के पत्तों को एकत्र एक दूसरे के ऊपर रखकर तलवार मारो तो एक ही हाथ में एक ही समय में सब पता झट से कट जाते हैं क्षण मात्र में और यद्यपि उनका कटना एक समय में ही मालूम पड़ता है परन्तु पत्ते क्रम से कटते हैं पहले सबसे ऊपर का अनन्तर उससे नीचे का-परन्तु एक दूसरे के कटने का मध्यातंर काल इतना सूक्ष्म काल है कि इसका परिज्ञान नहीं हो पाता। इसी प्रकार पंखे की गति कम करो तो फलकों के मध्य का भेद स्पष्ट हो जाता है। गति ज्यों-ज्यों मन्द होती है भेद प्रगट होने लगता है। 'अलातचक्र' की गति कम हाते ही उसका भेद भी प्रगट हो जाता है। इसी प्रकार मन की गति है जैसे-जैसे यह मन काबू में आवेगा वैसे वैसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के बीच की गति भी ज्ञात होगी। इस मन की गति को मन्द करने के लिये प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि आवश्यक है, उसमें मन की स्वाधीनता छिन जाती है। जैसे दौड़ना, तेज दौड़ना आपकी इच्छा परन्तु अत्यन्त वेग बढ़ जाने पर एकदम यकायक रुक जायें या न दौड़े यह अपने वश की बात नहीं, मोटर का वेग बढ़ाना वश की बात परन्तु वेग बढ़ जाने पर एकदम रोकना वश की बात नहीं इसी प्रकार मन की स्वेच्छाचारिता, स्वाधीनता पर बुद्धि द्वारा युक्ति द्वारा ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि के द्वारा अंकुश लगाया जा सकता है। हमने मन से संकल्प करना शुरू किया मन हमारा नौकर है परन्तु यह हमारे ही शिर पर चढ़ बैठा है जैसे किसी ने एक प्रेत सिद्ध किया प्रेत प्रगट हुआ साधक ने पूछा 'क्या चाहते हो'। प्रेत बोला 'काम करना चाहता हूँ जैसा आप कहेंगे मैं काम करूँगा परन्तु जब

काम नहीं मिलेगा तुमको खा जाऊँगा'। अब आप ही सोचो कि चौबीस घण्टे प्रति क्षण काम कहाँ से लावें। महात्मा ने विचार किया कि अब तो इसी प्रेत के द्वारा मरण निश्चित है; परन्तु उन्होंने युक्ति सोची एक बांस गाड़ दिया भूमि में और उस प्रेत से कहा कि इस पर चढ़ो और उतरो, फिर चढ़ो और फिर उतरो – तब जाकर उससे जान बची। इसी प्रकार इस मन को जो कि गुलाम होते हुए भी मालिक बन बैठा है काम में लगाओ तब तो ठीक रहेाग अन्यथा शिर पर चढ़ बैठेगा अत: इस प्रेतनाथ रूपी मन को राम नाम दे दो, कि इस पर ही चढ़ो उतरो तब जाकर वह नियन्त्रण में आयेगा। यद्यपि हम सब इन्द्रियों को नौकर मान लेते हैं समझ लेते हैं परन्तु व्यवहारत: हम सब ही इनके दास बन गये हैं। वस्तु स्थिति यह है कि जब यह मन, इन्द्रियाँ दास हो जायेंगी तब ही यह समझ में आयेगा कि हम 'आत्मा' है स्वामी हैं, मालिक हैं। परंतु जब तक मन की दासता बनी है तब तक नित्य इससे छूटने का उपाय, जप, तप, पाठ, प्राणायाम, समाधि इत्यादि सत्प्रयत्नों में लगे रहने में ही कल्याण है।

तो जिस समय आप सोकर जागने लगे, निद्रा भंग होते ही एक अज्ञान का आवरण सा बाकी है। जैसे पढ़ते समय जो निद्रा आने लगती है उस समय अक्षर आवृत्त आच्छादित हो जाते हैं तदुपरांत एकदम शून्य हो जाते हैं तब कहा जाता है कि नींद आ रही है। जब तक जागृत अवस्था में ठीक से हैं तब तक मन-इन्द्रियादि से काम ले सकते हैं, परंतु निद्रा के आवरण आने पर सब पर पर्दा पड़ जाता है; जागरण पर तभी तो कहा जाता है कि 'भई, मन, बुद्धि, चित्त पर निद्रा ने आवरण डाल दिया, नींद ने घेर लिया'-तो एक समय तक जगते-जगते पढ़-समझ रहे हैं आगे चलकर गति स्तब्ध हो गई, सुनना, समझना बन्द हो गया परन्तु अभी निद्रा आई नहीं है उसने आवरण मात्र डाला ही है पूर्ण रूपेण ढका नहीं, हाँ! पढ़ने लिखने आदि के व्यापार बन्द हो गये हैं, तब ही इस पर विचार करो। उधर निद्रा भंग होने पर भी अभी अभी आँखें खुली हैं। जगत की प्रतीति पूर्णरूपेण अभी नहीं हुई है, अज्ञान का आवरण पर्दा खत्म हो रहा है। तो इसी सोने जागने के मध्य के काल की स्थिति को जानना होगा। एक तो होता है शुद्ध-भान, किसका भान-स्फुरण होता है उसी का जो निद्रा का भासक का बोध था- जैसे 'मैं सोया' परन्तु मुझे कुछ पता नहीं 'मैंने कुछ नहीं जाना' तो उसके जानने की चेष्टा करनी चाहिये कारण प्रकाश तो वहीं रहता ही है जो सर्वभासक है दृष्टा है। फिर सविकल्प ज्ञान की प्रतीति होती है उसे महत्तत्व कहते हैं। जैसे बादल के टुकड़े में अनन्त बादल है, सूर्य की एक रश्मि में अनन्तरश्मिपुञ्ज का ज्ञान। निद्रा के 'सविकल्प-ज्ञान' से 'निर्विकल्प-ज्ञान' होगा, फिर 'अहंकार' का स्फुरण होगा, फिर 'इदं' आकाश की स्थिति होती है। तो पहले सामान्य-ज्ञान, फिर सविकल्प, फिर अहं फिर इदं आकाश। अहं का आधार ज्ञान है अव्याकृत निद्रा और उस अव्याकृत-निद्रा का आधार है 'अव्याकृतब्रह्म'।

संसार में एक पौधे का, मकान का, भूमि का, नहरों का भी कोई न कोई मालिक है तो फिर अखण्ड भूमण्डल बिना मालिक के कैसे हो सकता है। रेगिस्तान, कंटीले, कंकरीले स्थान दलदल भरे जंगल तक का स्वामी होता है तो क्या फिर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डलादि बिना स्वामी के ही, यूं ही अनियमित घूम रहे हैं? नहीं! इनमें नियमबद्धता है इनका भी नियामक है। बिना नियामक के नियम कैसे चल सकता है। अमुक समय में चन्द्रोदय, सूर्योदय होगा, अस्त होगा, ज्वारभाटा होगा। नवमी को कहाँ क्या होगा, अमावस्या को, पूर्णमासी को क्या होगा? तो यह निश्चित एवं नियमित रूप के नक्षत्र मण्डल का गतिक्रम चल रहा है, अपरिगणित खगोल के तारे चलते रहते हैं। यह सब टकरा कर चकनाचूर क्यों नहीं हो जाते? अवश्य इनके नियम बने हैं और नियम, बिना नियन्ता, नियामक के होता ही नहीं– तो मानना पड़ेगा कि अवश्य ही कोई इन सबका नियामक है। इस प्रकार अनेक युक्तियों द्वारा भगवान की सत्ता का निर्णय हो जाता है।

असन्नेव स भवति असद ब्रह्मेति इति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति।।

भगवान नहीं है ऐसा निर्णय करने वाले का नाश हो जाता है। बताओ है कोई अपने पुत्र, पुत्रादि का नाम रावण, कंस, सूर्पनखा इत्यादि रखने वाला? 'असत ब्रह्मैव चेद वेद' है परात्परप्रभु जो यह निर्णय करता है संसार उसे सन्त कहने लगता है। तो भले ही सूर्य ठण्डा पड़ जाय, चन्द्रमा गर्म हो जाय, उस अखण्ड सत्ता में आंच नहीं आती वही भगवान है। ईश्वर विश्वासी आस्तिक नास्तिक का भी कल्याण चाहता है शिशु पाल की तरह। परन्तु वेन नहीं मानता था ईश्वर की सत्ता को फिर भी उसका भी कल्याण हुआ। तो नाना प्रकार की श्रुति रूपी जल से नास्तिक के मानस को धोने का प्रयास करते हुए भी जिनको विश्वास ईश्वर के प्रति नहीं होता उनका हृदय वज्र का टुकड़ा है, परन्तु हे प्रभु! आप इन पर भी दया करना–अरे! कैसे दया करें यह तो सम्बन्ध ही नहीं जोड़ता। नास्तिक से जब आस्तिक का शास्त्रार्थ होता है–तो वह तर्क देता है कि जैसे मिट्टी का घड़ा चेतन के प्रयत्न से बनता है इसी प्रकार यह अनन्त ब्रह्माण्ड भी ज्ञानवान चेतन का ही बनाया हुआ है। 'जानाति–इच्छति–अथ करोति' अतः यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड किसी चैतन्य क्रियावान द्वारा ही चमत्कृत है। सब उसी प्रभु का चमत्कार है। नास्तिक कहता है इन पौधो को किसने बनाया? यह तो अपने आप बन जाते हैं। परन्तु दृष्टांत वह होता है जो दोनों का मान्य हो। आस्तिक का घड़ा ज्ञानवान से बना इसे दोनों को मानना होगा। पौधे अपने आप बने इसे आस्तिक नहीं मानता। नजीन अलग–ईशू अलग। जिनका कर्ता हम नहीं देखते–यह तो पक्ष है यह स्वयं दृष्टांत नहीं बन सकता–अरे! इसी पर तो शास्त्रार्थ है। यह पक्ष कोटि में आता है कि पेड़, पौधे

अपने आप बनते हैं। इस प्रकार नास्तिकता का सिद्धांत केवल वही मानता है। जबकि आस्तिक के दृष्टांत को दोनों पक्ष स्वीकारते है। तो इस प्रकार भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है।

तो मैं जो देह, इन्द्रिय, मन का दृष्टा हूँ यह तो व्यष्टि ब्रह्म और इन अनन्तानन्त देह, इन्द्रिय, विश्व प्रपंच का दृष्टा सृष्टा है वही समष्टि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक पूर्णतम परब्रह्म है। आस्तिक भी नास्तिक भी दोनों रात रात भर जागकर जिसका चिन्तन करते हैं एक खण्डन को दूसरा मण्डन करने के प्रयोजन से। एक खण्डनीय विधेया दूसरा मण्डनीय विधेया तो दोनों ही तो उसका चिन्तन करते हैं। अरे? कोई अनुकूल करे या प्रतिकूल भजता तो है ही। कोई शिशुपाल, कंस की भांति खंडन करते हैं तो समय पर आप ने प्रभु उनका भी कल्याण ही किया। तो आस्तिक कहता है कि प्रभु आप इन नास्तिकों का भी यथाकाल कल्याण ही करना चूंकि बाकी बातों में विरोध ही नहीं। सभी समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता इत्यादि का आधार आस्तिक के आत्मवाद में ही है।

शरणागति अन्तत्वोगत्वा एक विचार है। वह अनन्तकोटि ब्रह्मांड का नायक है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमंडलादि का नियमन संचालन जो करता है, जिसके नियमन संचालन से ऋतुयें चलती हैं, छोटे छोटे कीट-पंतगों में, पत्तों में जो भी हलचल है, जायते म्रियते……का क्रम है, नियम बद्धता है वह सब कुछ उसी से है, उसीर सर्वशक्तिमान से नियन्त्रित संचालित है। फिर चाहे आप उसे सगुण कहो या निर्गुण मानो। फिर अजर अमर स्वप्रकाश आत्मा का निर्णय करो। हम केवल हाड़ मांस के पुतले नहीं हैं। हाथ कट गया तो आत्मा नहीं मरा। यह केवल माता-पिता के रज-वीर्य से बना आकार ही नहीं है। हम नाक, कान, आँख इत्यादि भी हम नहीं हैं। कारण यह सब हमारी हैं, हम नहीं। हम और हमारी वस्तुएँ हम नहीं एक नहीं हो सकते अपितु दोनों पृथक-पृथक हैं। एक नहीं। हमारी मोटर, हमारा पुत्र हमारी आँख यह सब अभिमानवश होता है। हमारी आँखें, हमारी रसना, हमारा मन, हम नहीं। चित्त, हमारी बुद्धि, हमारा अहंकार हम नहीं-यह सब ज्ञेय हैं, भास्य हैं। हम इनके ज्ञाता है भासक हैं कि गोरक्षा के लिये एक शरीर क्या एक सहस्र भी देना पड़े तो क्या? सरकार भगत सिंह का मरने से पहले वजन बढ़ गया-फाँसी का मौत का शरीर का शोक, मोह उन्हें नहीं सताया। आत्मा, अजर, अमर है दूसरा शरीर धारण करके भी बम फेकेंगे, राष्ट्र की रक्षा करेंगे। यह उदात्त भावनाएँ शरीरवादियों को नहीं आत्मवादियों की होती हैं जो इन भावनाओं से ओत प्रोत होते हैं, वह निश्चिन्त होते हैं। महाभारत के युद्ध में भगवान ने अर्जुन को आदेश उपदेश दिया कि हे अर्जुन यह आत्मा अजर, अमर है शस्त्रइसे काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकता, जल गलां नहीं सकता,

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्तापो न शोषयति मारुतः।।

तो सारांश यह निकला कि पहले प्रभु की सत्ता का निश्चितरूपेण अटल भाव से निर्णय करके उनके अस्तित्व के प्रति पूर्ण निष्ठावान बनें। फिर अपनी सत्ता का निर्णय करें, तदुपरांत दोनों को जोड़ ले अपने-अपने सिद्धांतानुसार जीव और आत्मा का सम्बन्ध जोड़ें। फिर उसमें अपने आप को समर्पित कर दो। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। 'तरंग कहे कि कहाँ का जल, प्रतिविम्ब कहे कि कैसा विम्ब? जो कुछ है मैं ही हूँ-आप ऐसा अभिमान न करो अपितु बारम्बार उनसे प्रार्थना करो कि 'मा मा ब्रह्म निराकरो' 'ब्रह्म! हमारा निराकरण न करो', 'माहं ब्रह्म निराकुर्याम' 'हम आप का खण्डन न करें प्रभु।' हम पागल अपने हाथ से ही शिर न काटें, ऐसी कृपा करो। जीव अपने प्रभु का स्वयं खण्डन करता है। 'नाथ जीव तव माया मोहा' हे प्रभु! उसी का निस्तार होगा जिस पर आप की कृपा हो जायेगी आप का अनुग्रह हो। उसी का उद्धार होगा। ऊधो जी कहते हैं कि प्रभु! हम आज आप की शरण आये हैं वह भी आप का अनुग्रह ही है। समुद्र पार करने के लिये यदि मगर को पकड़ लिया तो क्या पार करोगे, फेना संसार के घड़ियालों को पकड़ते हैं आज फिर सोचो कि क्या उद्धार हो सकेगा? तो प्रभु की सत्ता का निर्णय करो, अपना निर्णय करो कि तुम कौन हो? फिर सब कुछ उन्हीं को समर्पित करते चलो। संसार के सब काम करते चलो, जैसे प्रभु चलावे चलते रहो। बस एक बार निश्चितरूप से विश्वासपूर्वक निर्णय कर लो, प्रारब्धवशात भोग भोगते रहना ही है। 'भले ही नर्कों में निवास करना पड़े तो भी आप विचार न करें, श्रद्धा को न डिगने दें। बस मनोमिलिन्द प्रभु के चरणारविन्द मकरन्द का पान करते हरे, फिर चाहे जैसे भी रहना पड़े-तो एक क्षणमात्र में ही कल्याण हो सकता है। फल तोड़ने में भी देरी हो सकती हैं परन्तु फिर कल्याण में विलम्ब कहाँ? हाँ! आप ईमानदारी, धर्मानुष्ठान, सन्ध्यावन्दन, सूर्योपासना, स्नान, ध्यान, प्राणायाम, मार्जन इत्यादि अपने अपने इष्ट देव का पूजन निष्ठापूर्वक करते चलो। चोर बाजारों से बचो, भ्रष्टाचार से दूर रहो, होटलो में खाना बन्द कर दो, मांस-मदिरा तामसिक पदार्थों के सेवन से एकदम दूर रहो, सिनेमादि को छोड़ दो, आज मन, बुद्धि खराब होते जा रहे हैं, विकृत हो गये हैं। बुद्धि, में इन्द्रियों में गड़बड़ी हो गई है इसी कारण जो कुछ सत्संग, पूजन भजन इत्यादि करते हो उसके उपरान्त भी उनका प्रभाव आप पर नहीं दीखता है, इनका फल पूर्णरूपेण नहीं मिल पा रहा है। तो इन्हें ठीक करो, धीरे धीरे एक एक बात से बचने की चेष्टा करो, उधर उपरोक्त सत्कर्मों की ओर शनैः शनैः उन्मुख होते जाओ। साथ सांसारिक व्यापारादि का संचालन भी सुचारुरूप से, ईमानदारी से करते रहो। अपने माता-पिता का पत्नी का, बाल गोपालों का ढंग से लालन-पालन करो इस प्रकार से जो शुद्ध आचरण द्वारा इस संसार में काल यापन करेगा उसका यह

लोक भी सध जायेगा और परलोक भी बन जायेगा उसके कल्याण में किंचिन्मात्र भी सन्देह को स्थान नहीं है। इसी प्रकार के व्यक्तियों से समाज का, राष्ट्र का एवं संसार का हित सम्पादन हो सकता है; अतएव आज अपने तब तक के जीवन की अपने कार्यों की समीक्षा करो, 'आत्मचिंतन' में लग जाओ करुण होकर प्रभु को पुकारो नित्य सपरिवार उनकी शरण में जाओ 'शरणागति' की अद्‌भुत महिमा है इस प्रकार के सच्चरित्र, सत्यनिष्ठ, धर्मशील, आत्मानात्मविवेकशील व्यक्ति ही राष्ट्र का, संसार का कल्याण करने में समर्थ हो सकते हैं।

(२८-६-१९६५)

***

[अनन्त विश्व का नियामक और स्वामी अनन्त आनन्दसिन्धु परमानन्द कन्द भगवान् ही है। जीव भगवान का अंश है। फेन, तरंग, बुदबुद के भीतर बाहर जैसे जल ही ओत-प्रोत है ऐसे ही स्वांशभूत जीवों के बाहर भीतर चारों ओर भगवान ही व्याप्त हैं। ''अमृतस्यपुत्राः'' आस्तिक, नास्तिक, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि समस्त सम्प्रदायों, समस्त वर्णों, समस्त आश्रमों के सभी जीव अमृत भगवान के पुत्र हैं। भेड़ के पुत्र नहीं हैं, किन्तु सिंह के पुत्र हैं। सिंह का पुत्र सिंह ही होता है। अमृत का पुत्र अमृत ही होता है। अपने को हीन मत समझो।]

राजनीति और धर्म का स्थान

यहाँ के आयोजकों ने विषय रखा है कि 'जीवन का दृष्टिकोण क्या है?' 'कैसे जिये हम लोग?' 'जीने का ढंग क्या है?' आमतौर पर मनुष्यों का यह दृष्टिकोण है कि दुनिया में सभी लोग प्राय: चेष्टावान होते हैं। पशु-पक्षी, मनुष्य दिन-रात इसी काम में रत रहते हैं। प्रात: काल पक्षी अपने घोसलों से निकल कर खाने-पीने के प्रबन्ध में लग जाते हैं, चुग-चुग कर दाना लाते हैं। पशु भी घास चरते हैं। शिकारी जानवर सिंह आदि अपने काम में लगे रहते हैं। बस भोजन का प्रबन्ध करना, पानी ढूंढ़ लेना, वर्षा में शीत से, गर्मी से बचने का इलाज निकालना बिल या घोंसला बनाना यह उनका स्वाभाविक कार्य, चेष्टा होती है। भूख की प्रेरणा स्वाभाविक होती है, प्यास व शीत की प्रेरणा भी अपने आप होती है। इसी प्रकार पशु, पक्षी सभी में सन्तानोत्पादन की प्रेरणा भी स्वाभाविक ही होती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन यह सब में समान रूप से होती है। सभी प्राणियों का यही स्वाभाविक काम है। मनुष्य की भी पहले यही प्रवृत्ति है। मनुष्य कुछ बुद्धिमान है अत: कुछ ज्यादा बटोरने लग गया। अन्य प्राणियों ने एक दिन का संग्रह किया। चीटी अवश्य संग्रह रखती है। अर्थशास्त्र का गुर भी यही है। अब कुछ अधिक धनसंग्रह होने लगा। मधुमक्खी ने रस संग्रह किया। चींटी में भी संग्रह की प्रवृत्ति होती है। इन्हें देखकर मनुष्यों में भी संग्रह की प्रवृत्ति आई कि घी, दूध, अन्न आदि का संग्रह करो। इनके खराब होने पर मुद्रा प्रणाली निकाली। सोना, हीरा बटोरने की प्रवृत्ति अपनायी। हुण्डी का सिद्धान्त निकाला। अधिक से अधिक संग्रह कर लो जिससे जीवन पर्य्यन्त सुखोपभोग कर सके तथा साथ ही पुत्र-पौत्रों के लिये भी संग्रह कर लें जिससे दरिद्रता का कभी दर्शन न हो। पहले अन्न, घी, दूध, फिर सोना, धन, हाथी, घोड़ा आदि को रखता रहा, स्थिति यही आई कि बटोरा किसी ने और खाया किसी ने। बटोरा मक्खी ने-धुवाँ किया और उसका संगृहीत शहद खा लिया मनुष्य ने। इसी प्रकार जब मनुष्य समाज में अव्यवस्था आई तो विचार किया गया कि इसके लिये शासन की व्यवस्था होनी चाहिये। दण्ड की व्यवस्था हो। किसी की जायज, वैध सम्पत्ति को छीनने वाला अपराधी हो। उसे अपराध के लिये दण्ड हो। शिष्ट परिपालन और दुष्टनिग्रह दोनों हों। दूसरे की गाढ़े पसीने की कमाई कोई छीने नहीं इसके लिये राजा की आवश्यकता पड़ी-दीर्घकाय (मानवदेव) का जन्म हुआ। सारी जनता ने एकत्रित होकर शपथ लेकर सारी शक्ति-अधिकार इसे अर्पित कर दिये। मानव इतिहास

का नया अध्याय आरम्भ हुआ एक व्यक्ति राजा बना। उससे यह अपेक्षा की गयी कि वह न्यायपूर्वक शासन करे। अपना फल सब ठीक ठीक भोग सकें। उस समय मात्स्य न्याय था। बड़ी शक्ति छोटी को खत्म कर देती थी। प्रबल दुर्बल को नष्ट कर देता था। तोले भर की मछली को सेर भर की, सेर भर की मछली को मन भर की, मन भर की मछली को टन भर की मछली खा जाती थी। इस प्रकार चूहा को बिल्ला, बिल्ला को कुत्ता, कुत्ते को भेड़िया, भेड़िये को बाघ, बाघ को सिंह खा जाता है–एक दूसरे का शोषण करते हैं इसी प्रकार मनुष्य भी खूंखार बनकर शोषक बन गया था। इसी को रोकने के लिये दीर्घकाय की व्यवस्था की गयी थी–परन्तु इसमें सन्देह बना रहा कि राजा रक्षक से कभी भक्षक बन सकता है ऐसी दशा में क्या हो। राज्य में कहीं गड़बड़ी हो तो क्या हो? अत: हाब्स ने उस समय की परिस्थितियो के अनुसार राज्य का जन्म परस्पर समझौते के द्वारा बताया। परन्तु यह समझौता एक पक्षीय था। एकांगी था। केवल जनता की ओर से शपथपूर्वक अधिकारों को राजा (मानव–देव) दीर्घकाय को सौंपे गये थे, परन्तु दीर्घकाय द्वारा कोई शपथ नहीं ली गयी, फलत: वह पूर्ण स्वच्छेचारी बना। मानव–देव के स्थान पर दानव ही बना। दीर्घकाय के बनाये नियम ही सर्वमान्य रहे, जनता को उसका विरोध करने का भी अधिकार नहीं था। भारतीय शास्त्रों ने इसीलिये राजा को धार्मिक नियमों से नियन्त्रित रहना आवश्यक बताया। जैसे बिना नकेल का ऊंट, बिना लगाम का घोड़ा, बिना अंकुश के हाथी, बिना ब्रेक के रेल, मोटर, साईकिल खतरनाक होते हैं। इसी प्रकार जितना बलशाली शक्तिशाली शासक हो उस पर उतना ही शक्तिशाली अंकुश होना आवश्यक बतलाया गया है। यदि अस्तबल, शस्त्रबल, बाहुबल, सब कुछ राजा के पास ही हो और उसे नियन्त्रित करने के लिये कोई अंकुश न रहे तो फिर संसार का सर्वनाश ही तो होगा। जो जनता अधिकार दे सकती है वह वापिस भी ले सकती है। राजा बना सकती है तो उसे पदच्युत भी कर सकती है, इसीलिए वेन जैसे उदण्ड शासक को जनता ने हटा दिया था।

तो हाब्स का 'दीर्घकाय सत्ताधारी मानव निरंकुश था। वही राजा था वही सेनापति, वही न्यायाधीश था। हाब्स के अनुसार हत्या के भय से मनुष्य का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छोड़कर एक अनियन्त्रित शासक की शरण होना वैसा ही है जैसे एक जंगली बिल्ली से डकर खूंखार शेर की शरण में जाना। रूसो का कहना है कि 'स्वतन्त्रता प्रकृति की देन है, उसका परित्याग मनुष्यता का परित्याग है।' हाब्स के सिद्धान्त की न तो प्राचीन धार्मिक लोगों ने ही माना और न जड़वादियों के ही वह गले में उतरा। अत: जानलाक (इंग्लैण्ड) ने सिद्धान्त निकाला कि जो जनता दीर्घकाय को अधिकार दे सकती है वह छीन भी सकती है। वकील पैरवी न करे तो वकील को बदल दो। ऐसी ही यदि राजा ठीक न चले तो राजा को बदलने का अधिकार भी जनता को है। अन्यायी शासक–राजा को कुत्ता की मौत मारने में भी पाप नहीं है। परन्तु नैसर्गिक नियमों के

उल्लंघन का अधिकार राज्य को लॉक ने नहीं दिया। सभ्य समाज के निर्णय को ही मान्यता दी। परन्तु इससे भी काम न चला तो कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं राज्य संसद-इन तीनों की स्थापना हुई। लाक के मतानुसार समाज ही श्रेष्ठ है राजा नहीं। सरकार समाज की संरक्षकमात्र है उसकी भोक्ता नहीं।

भारतीय राजनीति में सदा से ही समाज को सर्वप्रथम माना जाता है, उसमें वर्णाश्रम धर्म का समन्वय है। शासक धर्म एवं समाज के प्रति उत्तरदायी है। शासन बदलते हैं पर समाज और धर्म नहीं बदलते। राज्य के नियम धर्मशास्त्रों के ही अनुकूल हो सकते हैं। व्यक्तिगत वैध सम्पत्ति पर आघात अन्याय माना जाता है। अन्यायी शोषक भ्रष्ट शासक को हटा देने में ही कल्याण है। आज भारत में ऐसे राजाओं को हटा भी दिया गया है। कई राजा हमारे भक्त थे। दिल्ली महायज्ञ चला। नरेन्द्रमण्डल को भी निमन्त्रण देने गये तो भारतवर्ष के इन राजाओं ने पूछा कि 'यज्ञ क्या होता है?' शराब पीये हुये थे-जनता की सुख-सुविधा का इनमें कितना विचार-विवेक था वे जानें। इतना स्पष्ट है कि जनता ने ऐसे अयोग्य शासकों को एकदम नकार दिया हटा दिया। तो जान लाक ने भी यह अधिकार छीनने का सिद्धान्त दिया जनता को। स्वतन्त्रता आवश्यक पर इसकी सगी बहन सतर्कता भी अत्यन्तावश्यक है। जैसे आत्महत्या करने की, नंगा नाचने की, जहन्नुम में जाने की स्वतंत्रता खतरनाक है। ऐसे ही सतर्कताहीन स्वतंत्रता भी खतरनाक होती है। एम.एल.ए., एम.पी. हमारे जनता के अनुकूल कार्य रहा है कि नहीं यही देखकर उसे बदल भी सकते हैं। यहाँ विस्तार से वर्णन अभीष्ट नहीं है हमारे ग्रंथ 'मार्क्सवाद और रामराज्य' में इस पर विस्तार से लिखा गया है जिज्ञासु व्यक्ति उसे पढ़ सकते है।

संक्षेप में यही है कि राजा भी मनमाना नहीं कर सकता। उसके लिये भी संविधान होना आवश्यक है। उसी के अनुसार सरकार शासन करे। वह कानून परम्परा एवं शास्त्रों के आधार पर होना चाहिये। समाज के योग्य विद्वानों के मतानुसार संविधान तैय्यार हो-तब शासन हो न्याय-अन्याय का उसमें पूरा विचार हो। खतरा यह खड़ा होता है यहाँ कि विधान को आँख नहीं होती- वह अन्धा होता है। हत्या का चश्मदीद गवाह न हो तो दण्ड कैसे? इसलिए कानून के पास न आँख है न हाथ। गुप्तचर विभाग द्वारा दौड़ धूप होती है सत्य जानने हेतु। प्रत्यक्षदर्शी गवाह लाओ तो विधान निर्णय दे। गवाह लाया गया परन्तु वह यदि सच्चा व ठीक न हो तो संविधान क्या करेगा? खाली संविधान कुछ नहीं कर सकता है जब सजग शासन शक्ति हो। मान लो गवाह भी मिल गया, अपराधी को पकड़ भी लिया गया परन्तु यदि हत्यारा, चोर, अपराधी चालाक निकला, फरार हो गया, पुलिस, अदालत को धोखा चकमा देकर दण्ड से बच निकला तो फिर भी न्याय कुछ नहीं कर सकता-अपराधी बच सकने में सफल हो जाते हैं। अतः हाब्स का दीर्घकाय (महामानवदेव) जान लॉक की जनवादी संस्थाएं एवं फ्रांस

की राज्यक्रान्ति के प्रवर्तक रूसो का सामाजिक अनुबन्ध आदि से भी ऊपर एक बात आती है 'धर्म' की।

महाभारतकार महर्षि व्यास का कथन है कि –

''गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः।।''

'आत्मवानों का शासक गुरु होता है, दुरात्माओं का शासक राजा होता है और प्रच्छन्न पापों का शासक वैवस्वत यमराज होते हैं।' तो जो राजा गुरु से भी कहे कि यह गलत है ऐसा ऐसान करो। आचार्यों एवं महात्माओं पर भी अपनी इच्छा थोपे–स्वयं दुरात्मा, दुराचारी, परस्त्रीगमन करने वाला, मद्यपी, दुर्व्यसनी हो उसे हटा देना चाहिये। क्योंकि वह दुराचारियों, दुरात्माओं पर कैसे शासन कर सकता है। इन पापियों पर शासन करने हेतु ही राजा की आवश्यकता है। जो प्रत्यक्षतः अपराध करे, पाप करे उसको दण्ड देने का कार्य तो शासक–राजा का होता ही है परन्तु जो शासन को न्याय को संविधान को चकमा देकर धोखा देकर प्रच्छन्न रूप से पाप करता है, अपराध करता है उस पर यमराज शासन करते हैं–क्योंकि यमराज को, सर्वदृष्टा को, सर्वसाक्षी को चकमा नहीं दिया जा सकता, धोखा नहीं दिया जा सकता। तो दण्ड–विधान, शासन–संविधान समाज के लिये आवश्यक है फिर भी आगे धर्म की आवश्यकता, अनिवार्यता है। वह धर्म सूक्ष्म तत्व है यह दीखता नहीं परन्तु सबको देखता रहता है, सर्वदृष्टा है, सर्वसाक्षी है।

समझदार लोगों ने जो सोचकर नियम बनाये वही संविधान है। बहुत से संविधानों की नकल करके हमारा संविधान बनाया गया है। डॉ. अम्बेडकर ने देश, काल, परिस्थिति का अध्ययन, मनन करके अपनी बुद्धि से जो विधान बनाया, बताया गया कि उम्र पर ६५ लाख रुपया व्यय हुआ। छः महीने बाद ही त्रुटियाँ निकलने लगीं, धारा ३१, ६४, १९ में संशोधन होने लगे। आज तो मूलाधिकार का भी संशोधन हो रहा है। मानव बुद्धि सीमित होती है उसमें पूर्णता सम्भव ही नहीं है। मनुष्य को बुरे काम से रोको मत तो प्रवृत्ति और बढ़ेगी ही, परन्तु रजनीश ज्यादा जोर इस बात पर देते हैं 'कि कुछ छिपाओ मत, नंगे घूमो–कपड़े की आवश्यकता–निषेध का प्रपंच, स्वयं खत्म हो जायेगा। बुरे काम का परिणाम देखकर मनुष्य स्वयं उसे छोड़ देगा–वही परित्याग सच्चा होगा, पक्का होगा–'परन्तु समझदार लोग कहते हैं कि वह बुद्धिमानी नहीं है। दीपकों पर पतंग कब से मरते आ रहे हैं, दादा, बाबा मर गये परन्तु कोई सबक ग्रहण नहीं किया। इस प्रकार की निरर्थक बातों के अनुभव में अमूल्य समय हमें नष्ट नहीं करना चाहिये। वे कहते हैं कि 'जहाँ निषेध हो रोक हो वहीं अधिक प्रवृत्ति होती है अतः मनुष्य पर किसी प्रकार का निषेध नहीं होना चाहिये परंतु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ बिजली के मीटर खम्भे आदि पर

खतरा लिखा होता है, स्पष्ट निषेध लिखा होता है, तो उधर किसी भी समझदार प्राणी की प्रवृत्ति नहीं होती। माता, पिता, अध्यापक बच्चों को विधि-निषेध की शिक्षा देते हैं उनसे बालकों को लाभ होता है जिसे वह करने से मना करते है उसे करने की प्रवृत्ति प्रायः बालकों में नहीं होती, वे तो उसे श्रद्धापूर्वक मानकर तदनुसार आचरण करके लाभान्वित ही होते हैं। ऐसा तो कोई लाखों में एक बच्चा होता होगा जो माता-पिता-गुरु वचनों की अवहेलना करके कहता हो कि हम तो ऐसे नहीं मानते स्वयं अनुभव करके ही सींखेगे-अतः यह प्रवृत्ति बेकार है, उच्छृंखलता को बढ़ाने वाली है। जहर का अनुभव करने से कितने मर गये कि वे अनुभव करके इसका गुण-दोष, स्वाद इत्यादि का सच्चा वर्णन लिखेंगे परंतु बेकार रहा। हमारे ऋषियों ने समाधि इत्यादि द्वारा जो अनुभव किया, शास्त्रों में वही लिखा। भारतीय शास्त्रों में वर्णित है कि मत्स्य-न्याय के पहले सभी व्यक्तियों में सत्वगुण की प्रधानता थी। सभी धार्मिक एवं ईश्वरवादी थे। सभी प्राणिमात्र को ईश्वर का पुत्र समझते थे। सभी परस्पर समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृता का व्यवहार करते थे। कोई अपराधी, शोषक था ही नहीं। इसलिए राजा, राज्य एवं दण्डविधान आदि अनावश्यक थे। धर्म नियन्त्रित जनता आपस मे ही सब काम चला लेती थी। जब उसमें सत्व का ह्रास हुआ, तमोगुण, रजोगुण बढ़ा, धर्म घटा, अधर्म का विस्तार हुआ, तब मात्स्यन्याय फैला। तब प्रजा ने पीड़ित होकर ईश्वर से प्रार्थना कर उसके अनुग्रह से चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि लोकपालों के गुणों तथा अंशों से युक्त राजा को प्राप्त किया और उसे विविध प्रकार से सम्मानित किया 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' (मनु. ७/८) इत्यादि रूप से भारतीय शास्त्रों में राजा का महत्व गाया गया है। भारतीय धर्मशास्त्रों का स्पष्ट मत है कि मात्स्यन्याय से पीड़ित जनता की मांग पर ही विशिष्ट शक्ति एवं गुण सम्पन्न शासक ईश्वर द्वारा नियुक्त हुआ था। जनरंजन करना उसका परमकर्तव्य है। अतः जनवाद का धर्म-नियन्त्रित रामराज्य जैसे शासन में पूर्ण उपयोग है। मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य के अनुसार राज्य के दो प्रकार हैं-एक सर्वहारा का अधिनायकत्व। और दूसरा पूंजीपतियों का अधिनायकत्व रूसी राज्य, रानीति शास्त्र की परम्परा के विपरीत भी है। प्रजातन्त्र के अंग-भाषण, कार्य, संगठन आदि की स्वतंत्रता का वहाँ कोई मूल्य नहीं है। सोवियत व्यवस्था के विरुद्ध वहाँ कोई मत व्यक्त नहीं कर सकता, न कोई संगठन ही हो सकता है। एक दलीय व्यवस्था ही वहाँ सब कुछ है। राजनीति के महापण्डित चाणक्य का कहना है कि शक्तिमद से बड़ा कोई मद नहीं है। तुलसीदास जी कही यह उक्ति कि 'प्रभुता पाइ काहि मद नाही' सभी व्यवस्थाओं पर लागू होती है, परंतु धर्म नियन्त्रित रामराज्य प्रणाली ही एक मात्र ऐसी व्यवस्था है, जिसमें राज्य मद का संचार नहीं हो पाता। धर्महीन सोवियत शासन शक्ति-मद का अपवाद नहीं कहा जा सकता। सर्वहारा

दल के अधिनायकत्व में राजनीति तथा सामाजिक सत्ता का अन्त नहीं होता। नये सत्ताधारी शक्ति–पद के अपवाद नहीं होते। क्रान्ति के उपरान्त ये शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्थानों से हटना नहीं चाहते।

महाभारत में भीष्म पितामह जी ने अराजकता को पाप बताया है। उन्होंने कहा कि मात्स्यन्याय से पीड़ित मानव ने एकत्र होकर सदाचार सम्बन्धी नियम बनाये जैसे कठोर वाणी, परस्त्री, परधनहरण आदि के त्याग का नियम बनाया गया। इससे काम, क्रोध, लोभ, मोहादि से छुटकारा मिलता है और मनुष्य घृणित नारकीय यातनामय, भयभीत एवं सशंक क्षणिक जीवन से हटकर सभ्य जीवन में प्रवेश करता है। भीष्म का समाज निर्माण सामाजिक अनुबन्ध या पारस्परिक समझौता था। किन्तु जब नियम निर्माण के पश्चात् नियामक के बिना उनका पालन न हो सका तो प्रजा ने ब्रह्मा के पास जाकर शासक के लिए अनुनय विनय की। तब ब्रह्मा जी ने प्रजा के सामने अष्ट लोकपालो के दिव्य प्रताप, तेज आदि से युक्त मनु को प्रस्तुत किया। इस तरह राजा का वरण करके प्रजा ने राज्य का निर्माण किया। भीष्म जी के अनुसार वस्तुतः कृतयुग में सभी प्रजा धर्मनिष्ठ तथा परम विवेक, विज्ञान, संयम–सम्पन्न थी। काल क्रम से सत्वगुण की कमी होने पर धर्म का ह्रास होने से रज, तम एवं तदुद्भूत अधर्म बढ़ने पर मात्स्यन्याय फैला। इस प्रकार शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार संसार विकास की अपेक्षा पतनोन्मुख है। विष्णु के पुत्र ब्रह्मा सर्वज्ञ हुये। ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ आदि सर्वज्ञकल्प हुये। ब्रह्मा जी से दण्डनीति शास्त्र देवताओं ने ग्रहण किया। उसे सर्वप्रथम शंकर जी ने ग्रहण किया उनसे वृहस्पति, शुक्र, इन्द्रादि ने किया और उसका संक्षेप भी किया। योग्य समर्थ दण्ड प्रणेता प्राप्त करने देवता विष्णु के पास गये उन्होंने दिव्य सद्गुणों से सम्पन्न एक निर्दोष विरजा राजा निर्माण करके दिया। वह त्याग वैराग्य में रुचि रखता था। उसका पुत्र कीर्तिमान और पौत्र कर्दम हुआ। फिर अंग राजा बने और उसके बाद वेन राजा हुआ। वह उत्पथगामी था। इसीलिये ऋषियों ने उसे मार डाला। उसक पुत्र पृथु हुआ जो योग्य और धर्मात्मा था। शुक्राचार्य उसके पुरोहित थे। बालखिल्य ऋषि मन्त्री बने। देवताओं ने तथा इन्द्र के साथ विष्णु ने पृथु का अभिषेक किया। प्रजारंजन किया अतः वे राजा कहलाये। तत्कालीन जन प्रतिनिधि ऋषियों ने उसे कुछ नियम बताये उसने तदनुसार पालन की प्रतिज्ञा की। इसे ही सारांश में भीष्म का सामाजिक अनुबन्ध कहा जा सकता है। परन्तु हाब्स, रूसी, जानलाक आदि के समाज उस समय राजनीतिक जीवन से अनभिज्ञ अज्ञानी थे परन्तु भीष्म द्वारा वर्णित कृत युग के राज्य विहीन प्रजा का वर्णन अतिरेक एवं अज्ञानमुलक न होकर धर्म ज्ञानोत्कर्षमूलक था। वह धर्म 'राज्य सर्वज्ञता, ब्रह्मनिष्ठता की आधारभित्ति पर स्थित था और राजदण्डादि से युक्त था, क्योंकि सभी विवेकी थे। वेद उन्हें कण्ठस्थ थे। उन्हें कोई वस्तु अविदित नहीं थी। सब सुखी शान्त, सन्तुष्ट थे विविध वैभवों से पूर्ण थे। कालक्रम के प्राकृकल्प कर्मानुसार आसुरी वृत्तियों

के जागरण से दैवीवृत्तियों का अभिभव हुआ अधः पतन हुआ। खिन्न होकर पुनः वे धर्म नियन्त्रित राज्य स्थापना के प्रयोजन से ब्रह्मा जी की शरण गये और उनसे राजनीति-शास्त्र प्राप्त किया। उसकी पूर्ण कार्यान्विति के लिये विष्णु के पास गये और उनसे राजा प्राप्त किया उस राजा को तथा अपने को वचनबद्ध करके सीमित शर्तों के साथ सामाजिक समझौता या सोशल-कंट्राक्ट-थ्योरी के अनुसार धर्म नियन्त्रित राजा का राज्य स्थापित किया। इस प्रकार पाश्चात्य विचारकों के राजनीतिक सिद्धान्तों एवं भारतीय चिन्तकों एवं धर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों की संक्षेप में यहाँ तुलनात्मक समीक्षा की गयी है जिस पर आप लोग विचार करें।

***

[-फिर भी समता या विषमता असंतुलित न रहनी आवश्यक है। अति विषमता, अति समता दोनों ही अव्यवहार्य है। जैसे अंग में भी सब बराबर नहीं होतें, हाथ की अंगुलियां भी सब एक-सी नहीं होती हैं। फिर भी उसकी समता-विषमता सन्तुलित रहती है। यही स्थिति समाज की भी उचित है। यदि कम्यूनस्टि काल्पनिक समता के आधार पर सिद्धान्त बनाना चाहते हैं तो अध्यात्मवादी के यहां आत्मा ही वास्तविक समानता स्वतन्त्रता भ्रातृता की आधारभिति है। इतना ही नहीं, अध्यात्मवादी ही ऐसी भी व्यवस्था का आना अनिवार्य मानते हैं, जब सभी परमानन्द ब्रह्मस्वरूप ही होंगे, विषमता की गन्ध भी कहीं उपलब्ध नहीं होगी। परन्तु व्यवस्था तो करनी है वर्तमान स्थिति की, अतः हम कल्पनाओं को छोड़कर उपस्थित अवस्था में क्या हो सकता है, यही विचार करना उचित समझते हैं। वैधानिक साधनों से समष्टि जगत् को उच्च से उच्च स्तर पर पहुंचाना राम राज्य का आदर्श है।.....अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के नियम विश्वव्यापी एवं विश्व के हितार्थ है। प्रत्येक व्यक्ति को समाज, राष्ट्र एवं विश्व के हानिकारक किसी काम में नहीं प्रवृत्त होना चाहिये। समष्टि के अविरोधेन ही व्यष्टि की चेष्टा आदरणीय है। अहिंसा आदि समष्टि सामाजिक समझौते का आदर सबको करना चाहिये।]

करपात्री-सूक्ति

''.....धर्म में परमप्रमाण मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद ही है।''चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः'' 'धर्म जिज्ञासमनानां प्रमाणं परमं श्रुतिः', 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते'-स्मृतियाँ वेदमूलक होने से प्रमाण होती है। श्रुति विरुद्ध स्मृति अनादरणीय हाती हैं। प्रत्यक्ष श्रुति से अविरुद्ध स्मृति की श्रुतिमूलकता का अनुमान करके ही प्रामाण्य माना जाता है। ''विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसतिह्यनुानम्।'' (जै.सू.) इससे भी विदित होता है कि श्रुति के अर्थ का ही स्मृति अनुसरण करती है। श्रुति या वेद अनादि हैं। अतः तन्मूलक स्मार्त एवं पौराणिक धर्म भी अनादि ही है। चार धाम, सात पुरियाँ एवं सभी स्मृति, पुराणेतिहास प्रसिद्ध तीर्थ भी अनादि ही हैं।

***

''आधुनिक विधान निर्माता अल्पज्ञ होते हैं, अपने देश का भी उन्हें पूरा ज्ञान नहीं होता है। इसलिये उनमें पुनः संशोधन की आवश्यकता पड़ा करती है। वर्तमान भारतीय संविधान में २० वर्षो में बीसों संशोधन करने पड़े हैं। परन्तु अनादि वेद एवं ईश्वरीय ज्ञान सर्व देश, सर्वकाल, सब परिस्थितियों को परिलक्षित करते हैं। अतएव तन्मूलक धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, तन्त्र, आगम आदि भी सब देश काल परिस्थितियों को परिलक्षित करते हैं। पूर्वोत्तर मीमांसा एवं निबन्ध ग्रंथों में सभी का समन्वय करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। महाभारत आदि पुराणों तथा रामायण एवं वेदों में भी मनु का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। मन्वर्थ विपरीत स्मृतियां त्याज्य कही गई हैं- ''मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते।''-वृहस्पति।

***

''श्री रामानन्द, नित्यानन्द, निम्बादित्य, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, वराहमिहिराचार्य, कबीर दास आदि ने मुसलमानो को वैष्णव या शैव बना लिया; इसमें सनातनी शास्त्रों का विरोध नहीं है; क्योंकि किसी का भी विष्णु-शिव का भजन करना, तिलक, कण्ठी पहनना, शिखा रखना, गङ्गास्नान करना, मन्दिर का शिखर दर्शन करना शास्त्र-सम्मत ही है। हाँ, किसी ईसाई या मुसलमान को ब्राह्मण, क्षत्रिय बनाकर उसे वेदादि अध्ययन एवं तदनुसारी कर्म करने का अधिकार प्रदान करना या जन्मना ब्राह्मणादि के साथ रोटी-बेटी आदि का व्यवहार करना अवश्य ही शास्त्र विरुद्ध है। तुलसीदास जी के -

''श्वपच शबर खश यवन जड़ पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात।।''
''आभीर यवन किरात खश श्वपचादि अति अद्यरूप जे।
कहि नाम वारेक तेऽति पावन होत राम नमामि ते।।''

इन वचनों का तो धर्म शास्त्रों से कोई विरोध है ही नहीं; क्योंकि इन वचनों से उनका पवित्र और कल्याणकारी होना ही कहा गया है। यही नहीं कहा गया कि वे सब ब्राह्मण, क्षत्रिय होकर वैदिक अग्निहोत्रादि करने लगें या ब्राह्मणादि उनके साथ रोटी-बेटी करने लगें।

***

''.....हिन्दू धर्म में गृहीत जन्मना ईसाई-मुसलमान की भी एक हिन्दू-श्रेणी हो और वे अहिंसा, सत्य, भक्ति आदि कर्म का अनुष्ठान करें, आपस में ही रोटी-बेटी का व्यवहार करें, तब तो ठीक ही हैं; परन्तु यदि हिन्दू धर्म में दीक्षित जन्मना ईसाई, मुसलमान आदि को जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रियों में मिलाकर उन्हें वेदाध्ययन और वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों में अधिकार प्रदान करना है और जन्मना ब्राह्मणादि से रोटी-बेटी का सम्बन्ध करना ही मान्य है, तो यह सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। जो भी वैसा कहता है उसका वह कथन शास्त्रसम्मत तो है ही नहीं। इस पर मैं और मेरे साथी सदा ही शास्त्रार्थ के लिये प्रस्तुत है और रहेंगे।''

***

''देश-विदेश के सभी प्रकार के हिन्दुओं का सार्वभौम संघटन होना चाहिये जो ऐसा कहते हैं वह ठीक है हिन्दु में सबका अन्तर्भाव है ही-परन्तु उन संघटनों में मूल हिन्दु-शास्त्र एवं मूल हिन्दुधर्म तथा वर्णाश्रमी शुद्ध हिन्दू को मिटा देने या सबको ही संकर बना देने का जी तोड़ प्रयत्न चल रहा है, यह अनुचित है। .....११३१ शाखात्मक वेद, मन्वादि धर्म शास्त्र, षडदर्शन, पुराण, रामायण, महाभारत, हिन्दू धर्म के निर्णायक है, इतना ही क्यों तन्त्र और आगम तथा प्राकृत भाषामय हनुमान चालीसा तक हिन्दुओं के धर्मग्रंथ है। वेद के अविरुद्ध पुराणादितथा वेदादि अविरद्ध सदाचार भी शिष्टाचारनुमित स्मृति के अनुसार मान्य होता है। मनमाने ढंग से नहीं।''

***

''भारत वर्ष धर्म प्रधान देश है, यहाँ अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक परब्रह्म परमात्मा सगुण साकार, सच्चिदानन्द भगवान् राम, भगवान् कृष्ण के रूप में प्रकट होकर स्वयं धर्म की रक्षा करते हैं; सरयू, गोमती, नर्मदा, कावेरी, कृष्णा आदि ऐसी-

ऐसी पुण्यतोया नदियाँ यहाँ हैं, जिनके स्नान, पान आदि से जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट होते हैं। भगवान्, शिव, भगवान् विष्णु तथा उमा, रमा आदि अनेक देवताओं के चमत्कारपूर्ण क्षेत्र इसी देश में हैं। यहाँ जन्म पाने के लिये देवता भी तरसते हैं।''

***

शास्त्र और धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जिससे सभी में सन्तोष एवं सामञ्जस्य की भावना प्रतिष्ठित होती है। शास्त्र और धर्म के ही प्रभाव से लोग परस्त्री एवं परद्रव्य को विष के समान समझते थे। लोगों की यह धारणा थी कि सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुख, में अपने शुभाशुभ कर्म हीमुख्य हेतु हैं; क्यों हम दरिद्र एवं दुखी हुए? इसका समाधान वे इस तरह कर लेते थे कि जैसे अपने कर्मवश कोई पशु, कोई पक्षी, कोई अन्य, कोई बधिर या उन्मत्त होता है, वैसे ही कर्मो के अनुसार ही कोई भोग-सामग्री विहीन और कोई सम्पन्न होता है। आज के अशान्त एवं उल्वण वातावरण में धार्मिक भावनाओं के प्रतिष्ठापन की अत्यन्त आवश्यकता है।

धर्म

धर्म इस गतिशील एवं परिवर्तनशील संसार के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर बैठा हुआ उसेक स्वरूप की रक्षा करता है। वह उसे संसार के वेगयुक्त प्रवाह में बहने नहीं देता, अपितु धारण किये रहता है, इसी से वह 'धर्म' कहलाता है। यह सकल प्रजा को अपने स्वरूप में सुरक्षित रखकर धारण किये रहता है। इसी से महर्षियों ने धर्म को परम पदार्थ कहा है।

अग्नि और सूर्य का धर्म गर्मी तथा प्रकाश है। यदि वे गर्मी एवं प्रकाश से रहित है तो वह न अग्नि है न सूर्य ही। इसी प्रकार मनुष्य का धर्म है मनुष्यता। जिस तत्त्व के कारण मनुष्य अनादि-काल से समर्थ होते हुए भी, पशुओं की तरह आचरण नहीं करता, वह अपने को अन्य जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं सभ्य समझता है, उस तत्व का नाम है 'मनुष्यता', वही मानव-धर्म है, उसी के आचरण द्वारा मनुष्य इस लोक में उन्नति और परलोक में परम कल्याण प्राप्त करता है।

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत्, गैस, दीपक, लकड़ी, बारूद, इन सब का धर्म एक होते हुए भी, आश्रय-भेद से तेज भिन्न-भिन्न तरह का प्रतीत होता है, इसी प्रकार सनातन परमात्मा द्वारा विश्व प्रतिष्ठा के लिए रचा हुआ धर्म भी एक ही है, किन्तु वह देश, काल व्यक्ति भेद से सामान्य, विशेष तथा अनेक प्रकार का है। सरलता से समझने के लिए मानव-सनातन-धर्म के चार भेद पहले ठीक प्रकार जानने होंगे।

(१) सामान्य धर्म- जिनाक पालन मनुष्य मात्र को समान रूप से करना चाहिए, यथा-धैर्य, क्षमा, दम (मन को वश में रखना), चोरी न करना, इन्द्रियों को वश में रखना, शुचिता (शरीर, वस्त्र, भोजन, स्थान आदि सब पदार्थों को स्वच्छ, सुन्दर, पवित्र रखना), बुद्धि-वर्धन के उपाय करना, अपने-अपने जीवनोपयागी विविध विद्याओं को सीखना, सत्य बोलना और क्रोध न करना। यह दस सनातन-मानव-धर्म है। यह स्त्री-पुरष, आर्य-अनार्य, भारतीय-अभारतीय, बाल-वृद्ध, विप्र-अन्त्यज, आदि सभी के लिए समान है। इनके आचरण से आस्तिकता, ईश्वर भक्ति, बड़ों का आदर, अतिथि सत्कार आदि अन्य सामान्य धर्म स्वतः प्राप्त होने लगते हैं।

(२) विशेष धर्म- देश, जाति, काल, व्यक्ति-विशेष की स्वाभाविक परिस्थिति के अनुसार जो धर्म हैं, उन्हें विशेष धर्म कहते हैं। जैसे-भारतवर्ष में वर्णाश्रम धर्म, अन्य अपूर्ण प्रकृति वाले देशों के तादृश विभिन्न म्लेच्छ धर्म दैशिक विशेष धर्म हैं।

स्त्री, पुरुष, आर्य, यवन, हूण, खश, किरात आदि के विभिन्न जातीय विशेष धर्म है। सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग, दिन, रात्रि, प्रभात, सायंकाल आदि काल-व्यवस्था के विभिन्न विशेष धर्म होते है। व्यक्ति विशेष द्वारा पालनीय धर्म भी सनातन धर्म ही है। राज धर्म, पुत्र का धर्म, गुरु का धर्म, शिष्य का धर्म, पिता का धर्म, पत्नी, सेवक, स्वामी, सखा, बाल, वृद्ध आदि सब के विशेष धर्म होते हैं।

(३) सम्प्रदाय धर्म- किसी समय विशेष में किसी विशिष्ट महापुरुष द्वारा तत्कालीन लाभ के लिए प्रचारित मत-सम्प्रदाय-धर्म कहलाता है। सम्प्रदाय-धर्म, पूर्वोक्त सामान्य व विशेष धर्म का बाधक नहीं होना चाहिए अन्यथा वह धर्म-कोटि में नही आ सकता, अपितु कुधर्म ही कहा गया है।

(४) आपद्धर्म-विर्शष आपत्ति-काल में किए जाने वाले वे आचरण जो आपत्ति के चले जाने पर विविध प्रायश्चितों द्वारा शुद्ध किये जा सकते हैं, वे आपद्-धर्म हैं जिनका निर्णय प्राण संकट या अस्तित्व नाश की सम्भावना होने पर उस समय की असुविधाओं को ध्यान में रखकर सद्भाव के अवलम्बन से किया जाता है। सदाचारों की उपेक्षा प्रमाद या समयाभाव के कारण नहीं की जाती है।

वैसे तो यज्ञ, तप, दान इन तीन के अर्न्तगत छः (६) प्रकार के कर्म, भक्ति व योग मूलक नौ प्रकार की उपासना एवं योग, तीन प्रकार के ज्ञान यज्ञ, तीन प्रकार के तप तथा तीन प्रकार के दान, कुल मिलाकर साधारण कर्म के ७२ अंग होते हैं। धर्म का इतना व्यापक स्वरूप है कि उसका सांगोपांग वर्णन न यहाँ अभीष्ट हैं न सम्भव ही। सनातन वर्णाश्रम वैदिक धर्म के इन सूक्ष्म तत्वों के संरक्षण, प्रचार तथा प्रसार में मन, वचन, कर्म से जो महापुरुष गत साठ वर्षों से अहर्निश लगे हैं, उन महाभाग करपात्री जी महाराज के द्वारा रचित ग्रन्थावलि जिज्ञासु कल्याणेच्छुक पाठकों के लिए विशेषतः पठनीय है। सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों का अध्ययन करने की न आज भावना है न समय, अतः उक्त ग्रन्थों में सम्पूर्ण शास्त्रों का तत्व-सार पढ़ने को सुलभ करके उन्होंने महान् उपकार किया है। वे कहते है-''प्राणी को चाहिए कि परलोक सहायता के लिए भूतों को न सताकर शनैः शनैः धर्म का संचय करे।'' मनु कहते हैं कि ''परलोक की सहायता के लिए पिता, माता, पुत्र, दारा, धन, जाति आदि भी नहीं ठहरते है, वहाँ तो केवल एक धर्म ही टिकता है। प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही नष्ट होता है और अकेला ही अपने पुण्यों एवं पापों को भोगता है : मरे हुए शरीर की काष्ठ-लोह के समान छोड़कर बन्धु वर्ग चले जाते हैं, उस समय एक धर्म ही प्राणी के साथ जाता है। बुद्धिमान् को चाहिए कि अपनी सहायता के लिए 'धर्म-संचय' करता रहे।''

यज्ञ रूप ''धर्म ही देवताओं का रक्षक है और धर्म की मनुष्यों का। इसी से भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है कि - 'इस वैदिक श्रौत-स्मार्त कर्म से तुम देवताओं को सन्तुष्ट करो और देवता तुम्हारा पालन करें। इस प्रकार परस्पर परिपुष्ट करते हुए भी

तुम परम श्रेय, अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।'.....इस प्रकार, साधारण स्वर्गादि ही नहीं मोक्ष-प्राप्ति में भी यह वर्णाश्रम धर्म ही मुख्य हेतु है, बिना वर्णाश्रम धर्म का यथावत् पालन किये चितशुद्धि नहीं हो सकती। बिना चित्त शुद्धि के जिज्ञासा नहीं होगी, बिना जिज्ञासा ज्ञान नहीं होता और बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं हो सकता।''

''धर्म का अर्थ केवल मन्दिर में जाना, घण्टा-घड़ियाल बजाना नहीं है। व्यक्ति का, राष्ट्र का, विश्व का, लोक-परलोक का कल्याण करना भी धर्म ही है। धर्म की जय होने से ही सबका कल्याण होता है। परन्तु धर्म की जय चिल्लाने मात्र से ही जय नहीं होती, धर्म की जय तो स्वधर्मानुकूल आचरण करने से ही होगी। अपने-अपने विश्वास एवं अधिकारानुसार भगवान् को नित्य मनाने से ही होगी। अतः उसकी शरणागति के लिए जप, पाठ, पूजा, आदि नित्य करनी चाहिए।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न चकश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्धश्च कामश्च सःधर्मः किन्नन सेव्वते।।

***

यज्ञ

धर्म के जिज्ञासुओं के लिए वेद ही प्रमाण है। ''धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः''; धर्म सिवाय वेद एवं तच्चरणाश्रित शास्त्र के अन्य किसी भी प्रकार नहीं जाने जा सकते और वेदों में यज्ञों का ही मुख्यतः वर्णन है, यथा–ऋग्वेद में होता, यजुर्वेद में अध्वर्यु, सामवेद में उद्गाता तथा अथर्ववेद में ब्रह्मा के कर्म है। ''प्रजापतिर्यज्ञम् अतनुत। स ऋचैव होत्रमकरोत् यजुषाऽध्वर्यवं साम्नौद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरेभिर्ब्रह्मत्वम्''– (गो.ब्रा.)। इस प्रकार यज्ञ को ही मुख्य धर्म कहा गया है।

सृष्टि के आदि में, प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ के साथ–साथ प्रजा को उत्पन्न करके कहा कि इस से तुम वृद्धि को प्राप्त होओ, ये तुम्हारे लिए कामधेनु हों–'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोत्विष्ट–कामधुक्।' अतः यज्ञ ही पहले और मुख्य धर्म है क्योंकि–'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्यथ।' तुम देवताओं को सन्तुष्ट करते रहो, वे देवता तुम्हें समृद्ध करते रहे। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट एवं समृद्ध करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओ।

वेद पुरुष वर्णन के उपसंहार में श्रुति कहती है कि –'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।'

किसी प्रयोजन सिद्धि के लिए अधिकारी द्वारा देवता के उद्देश्य से अग्नि में द्रव्य त्याग को ही यज्ञ कहते हैं–'देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः।' लोक में, जैसे खेत की मिट्टी में विधिपूर्वक वोया अन्न नष्ट नहीं होता, अपितु एक दाने के स्थान पर शतशः दाने उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार, यज्ञ विद्या द्वारा अग्नि में सविधि अधिकारी द्वारा हवि की आहुति देने से दैवी शक्ति उत्पन्न होती है जिससे अचिन्त्य कार्यो का सम्पादन होता है। 'यज्ञो वै विष्णुः', 'यज्ञ' शब्द का अर्थ है 'विष्णु'। देवताओं ने पूर्वकाल में यज्ञ द्वारा विष्णु का पूजन किया था। विष्णु भगवान् ही यज्ञ का फल प्रदान करते हैं। गीता में स्वयं भगवान् कहते हैं–'मेरे द्वार दी हुई उन–उन कामनाओं को वे प्राप्त होते है'–

'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान्।'

यज्ञ के अनेक प्रकार हैं–'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञ योगयज्ञस्तथापरे। स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।' इस भाँति सत्कर्म मात्र का ग्रहण यज्ञ शब्द से हो जाता

है। इसी से संसार का धारण होता है, इसलिए इसे धर्म कहते हैं–'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मों धारयति प्रजा:'–धारण करने से धर्म कहा जाता है, धर्म ही प्रजा को धारण करता है। वस्तुत: यह विश्व यज्ञ से ही धृत है। गीता में भगवान कहते है–'अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, वृष्टि से अन्न होता है, यज्ञ से वृष्टि होती है, यज्ञ ऋत्विक और यजमान के व्यापार (कर्म) से होता है, कर्म वेद से होता है, और वेद अक्षर–ब्रह्म से उत्पन्न हुआ। यज्ञ में वेद की प्रधानता होने से वह सर्वगत होता हुआ भी सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का जो अनुवर्तन नहीं करता, वह अघायु इन्द्रियाराम व्यर्थ ही होता है'–

'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव:।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञ: कर्म समुद्भव:।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य:।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।

यज्ञ, दान, तप आदि कर्मो को छोड़ना नहीं चाहिए। यज्ञाग्नि में विधिपूर्वक दी गई आहुति सूर्य को पहुँचती है, सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है–

अग्नौ प्रास्ताहुति: सम्यगादित्यमुपतिष्टते।
आदित्याज्जजायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं तत: प्रजा।।

इस लोक और परलोक दोनों को अभीष्ट प्राप्ति एवं कल्याकामी को स्वाधिकारानुसार यज्ञादि कर्म कृत्य अवश्य करने चाहिऐ। जब तक इस धर्म प्राण देश भारत में यज्ञ विद्या का यथाविधि सम्पादन, अनुष्ठानादि होता रहा यह विश्व गुरु बना रहा, परन्तु जब से यज्ञ–द्रोही, नास्तिक बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव हुआ तब से यह दैवी व्यापार (कर्म) बन्द हुआ। दैवी सहायता–कृपा बन्द हो जाने से विश्व गुरू यह राष्ट्र दीन, हीन, असहाय होकर पतन के गर्त में चला गया। दैव बल शिथिल होते ही आसुर बल बढ़ गया। फलत: सम्पूर्ण विश्व में अशान्ति, असद्भावना का प्रसार हो गया। भारतवर्ष की दुर्दशा का वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता था। परतन्त्रता के कारण देश पतन के गर्त में गिर गया। राष्ट्र–भक्तों के प्रयास भी जारी थे। सब ओर जन–जागृति के प्रयास हो रहे थे। स्वराज्य, स्वदेशी–स्वाधीनता की भावना बलवती हो रही थी। विश्व युद्धाग्नि की लपटों में झूलस रहा था। देश के कर्णधार राष्ट्र नेता गण कारागार में बन्द पड़े थे। भारत में भयानक दमन–चक्र चल रहा था। प्रजा किंकर्तव्यविमूढ़ बनी इतस्तत: स्वपरित्राण हेतु बिलबिला रही थी। राष्ट्र नेताओं के लौकिक प्रयत्नों में भीष्म प्रयास एवं त्याग व कष्टों के उपरान्त भी सफला नहीं मिल रही थी।

वास्तव में, उस विश्व विराट-पुरुष के हृदय-प्रवेश में स्थित इस धर्म प्राण देश में भयानक रूप से अस्थिरता एवं उथल-पुथल मच रही थी। धर्म को अधर्म एवं अधर्म को ही धर्म समझा जा रहा था। सनातन वैदिक अपरिवर्तनीय हिन्दू धर्म शास्त्रों के विधान एवं शाश वत नियमों में अनास्था एवं दुर्बुद्धि के कारण परिवर्तन किया जा रहा था। ऐसी भीषण परिस्थिति में, दैवी जगत् के आध्यात्मिक प्रतिनिधियों को सूक्ष्म जगत् में मची हलचल का आभास हुआ। उन्होंने धर्म-संरक्षण, अधर्म परिवर्तन प्राणीमात्र में सद्भावना एवं विश्वकल्याण की उदात्त, वैदिक भारतीय भावना के संरक्षण हेतु जन्य लौकिक उपायों के साथ-साथ उस सर्वशक्तिमान परब्रह्मा परमात्मा को पुकारने का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन चलाया। धर्म संघ के स्थायी अध्यक्ष परम पूज्य १००८ प्रातः स्मरणीय महात्मा श्री कृष्ण बोधाश्रम जी महाराज एवं परम वीतराग धर्म-सम्राट् यतिचक्र चूड़ामणि १००८ श्री स्वामी हरिहरा नन्द सरस्वती जी महाराज ने, दैवी प्रेरणा से प्रेरित होकर विश्व कल्याणार्थ अनेक यज्ञानुष्ठानों का आयोजन किया। भारत की धर्म प्राण जनता में नई स्फूर्ति उत्पन्न हुई और उसने इस तरुण तपस्वी के रूप में अभिनव शंकराचार्य के दर्शन किये और द्विगुणोत्साहपूर्वक धर्मानुष्ठान के साथ-साथ स्वातन्त्र्य युद्ध में उठ खड़ी हुई। धर्म संघ के प्रयास से सम्पूर्ण राष्ट्र में वैदिक धर्म की जागृति उत्पन्न हुई और विश्व शान्ति के साथ-साथ भारत को भी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। सुविज्ञों का कथन है कि, यदि उपर्युक्त स्वामी-द्वय द्वारा आयोजित महान् कल्याणकारी यज्ञों का तथाकथित सुधारवादियों, नास्तिकों, अवैदिकों या फिर तथाकथित वेद-यज्ञ-धर्म का नाम लेने वालों द्वारा व्यापक एवं सक्रिय विरोध न किया गया होता तो अखण्ड स्वातन्त्र्य की प्राप्ति होती। राष्ट्र विभाजन एवं तज्जनित भयानक अमानवीय आसुरी घटनाएँ न होती।

जिस महात्मा ने शास्त्रों के आलोड़न-बिलोड़न के उपरान्त, विश्व-कल्याणार्थ, धर्नग्लान्यधर्माभ्युत्थान निवृत्तिपूर्वक धर्म-संस्थापन कार्य के पावन संकल्प से, देश की राजधानी में, धर्मराज युधिष्ठर की पावन जन्मभूमि, अश्वमेघ राजसूयाद्यनेक यज्ञानुष्ठान स्थल, निगमबोध-क्षेत्र, यमुनातट, इन्द्रप्रस्थ, कुरू देश, दिल्ली में, शतमुख कोटि होमात्मक महायज्ञ के अनुष्ठान के लिये प्रेरित किया-उस एक लंगोटी वाले सन्त का नाम है-'करपात्री', उन्होंने स्पष्ट घोषणा की-''यह यज्ञ स्मार्त यागों में सब से बड़ा, इसे अश्वमेघ के तुल्य माना है। प्रजाओं पर विपत्ति आने पर, मृत्यु भय उपस्थित होने पर कोटि होमात्मक यज्ञ का विधान है। इससे ग्राम, जनपद, राज्य कीसब बाधाएँ दूर होती है और सुख-शाँति की स्थापना होती है। इससे भूतल का अनावृष्टि रूप, उत्पात भय तथा दुर्भिक्ष ग्रहपीड़ा की शांति होती है, राष्ट्रविप्लव दूर होता है। सर्व पीड़ा विनाश के लिए ही इस महायज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है।''

शास्त्रों में लिखा है कि - देश या समाज में जितना भी आन्तर और वाह्य पतन है, अर्थात् फूट, दरिद्रता, नैतिक परतंत्रता, राजविग्रह, राष्ट्रविप्लव, महामारी, महर्घता,

ईति-भीति, दुष्काल आदि जो संकट हैं, ये सभी अधर्म एवं पाप के फल हैं। सभी उपद्रव-संकट दैविक अदृष्ट के फल हैं, उनका निराकरण केवल लौकिक उपायों द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता, अतः सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् भगवान् की शरण लेना ही सर्वोपरि उपाय है। अपने-अपने विश्वासानुसार उसे करुण होकर सब ही नित्य पुकारें तथा शास्त्रों में निर्दिष्ट कोटि होम यज्ञ का अनुष्ठान करें।

धर्म संघ के इसी पावन संकल्प एवं भगवत्कृपा प्राप्त्यर्थ दिल्ली, कानपुर, काशी, मेरठ, गढ़मुक्तेश्वर, बम्बई, नरवर, सोनीपत, लखनऊ, उदयपुर, बीकानेर, ठेबवा, बिहार, कलकत्ता, अमृतसर आदि अनेक स्थलों पर विभिन्न-विभिन्न प्रकार के यज्ञों का आयोजन किया गया और किया जा रहा है। सैकड़ों, हजारों वर्षो के पश्चात् इस प्रकार के यज्ञानुष्ठानों की परम्परा को पुनः अनुष्ठित करने का श्रेय जिस लोक-कल्याणकांक्षी को है उसका नाम है 'करपात्री'।

उनका कहना है कि-''यज्ञ की पूर्ण सफलता के लिए शास्त्रानुसार देश, काल, धन-धान्य एवं पात्र की पवित्रता व शुद्धता परमावश्यक है, अन्यथा फल उल्टा हो सकता है। इसी कारण यज्ञ प्रवेश (वरणवितरण) के पूर्व जब ब्राह्मणों की परीक्षा ली गई तो वे रुष्ट हो गये। अनेक धन्नासेठों का धन अग्राह्य होने से, उनको मना करने पर वे यज्ञ विरोधी बन गये। शिखा-सूत्रहीन, सबके साथ झूठन खाने वाला चरित्रहीन, भ्रष्ट, बेईमान, वेदीन, करोड़पति का लाख रुपया एक सच्चरित्र, धर्मनिष्ठ, दीनदार, ईमानदार की गाढ़े पसीने की कमाई के चार आने के भी बराबर नहीं; वह लाख रुपया यज्ञ में त्याज्य तथा मजदूर का चार आना ग्राह्य है। देने वाला बार-बार श्रद्धापूर्वक, आग्रहपूर्वक देना चाहे और लेने वाल 'नहीं-नहीं' करके लेने से बचे, यह भारतीय भावना है। इसीलिए यज्ञ के लिए स्पष्ट कहा गया है कि जिसे हजार बार गरज पड़ी हो, लाख बार गरज पड़ी हो-वह दे, श्रद्धा से दे, पवित्र नेक कमाई का धनादि दे, तब ही यज्ञ सफल होगा।'' किसी के धन ग्रहण न करने में कोई राग-द्वेष नहीं, अपितु मूल में कल्याण भावना ही निहित थी।

सारांश यही है कि वर्तमान काल में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक सर्वशक्तिमान् परब्रह्मा परमात्मा की कृपा प्राप्ति के लिए निष्काम भाव से, अथवा विश्वकल्याण की पुनीत उदार भावना से भावित होकर, इस देश की कोटि-कोटि जनता को स्व-स्व अधिकारानुसार जप, पाठ, पूजा, यज्ञादि, गुण-कर्मो में प्रवृत्त कराते हुए, परमात्मा को प्रेरित करने का श्रेय इसी त्यागी-तपस्वी, निःस्पृह योगी को प्राप्त है, जिसका कोई सांसारि स्वार्थ नहीं, जो आज भी यज्ञ कार्य में रत है।

***

पंचमहायज्ञ

बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान तो इस कलिकाल में कठिन ही है, परन्तु शास्त्रों ने ऐसे सरल उपाय भी बता दिए हैं जिनके करने में नित्य थोड़ा सा समय ही लगता है। उस वैदिक नित्य कर्म पूर्णता के साथ प्रत्यक्ष फल तथा लोक व्यवहार के भी साधक हैं। साध्य दृष्टि से अति छोटे होते हुए भी, सत्फल प्रदान करने वाले होने से महान् है, इसीलिए उन्हें 'पञ्चमहायज्ञ' नाम दिया गया है।

भारतीय वैदिक संस्कृति में मन, वचन, कर्म तीनों प्रकार की शुद्धियों पर अहर्निश ध्यान देने पर बड़ा बल दिया गया है। अहिंसा एवं परोपकार को परम धर्म बताया गया है। वैदिक धर्मनिष्ठ नागरिकों को स्वधर्म पालन एवं स्वधर्माचरण-पूर्वक इन पंचमहायज्ञों का दैश्नक अनुष्ठान करते हुए, वास्तविक सुख और शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने का विधान किया गया है।

पञ्चमहायज्ञों के नाम निम्नांकित हैं-

(१) 'ब्रह्मयज्ञ'-गृहस्थ में चूल्हा (आग जलाते समय), चक्की (पीसते समय), बुहारी (सफाई करते समय), ओखली (कूटते समय) तथा जल के स्थान मं (बर्तनों से दब जाने से) इन पांचों स्थानों में नित्य हिंसा होने से पाप होता है। इनके नाश के लिए जो पांच कर्म बताए हैं उनमें प्रथम 'ब्रह्मयज्ञ' है। अधिकारानुसार वेदादि सद्ग्रन्थों के स्वाध्यायादि को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं।

(२) 'पितृयज्ञ'-श्राद्ध-तर्पण को कहते हैं।

(३) 'देवयज्ञ'-देव पूजन तथा हवन को कहते हैं।

(४) 'भूत-यज्ञ'-बलि वैश्वदेव को कहते हैं।

(५) 'मनुष्य यज्ञ'-अतिथि-सत्कार व पूजन को कहते हैं।

जो द्विज स्वाध्याय-पूर्वक उपर्युक्त नित्य कर्म में संलग्न रहता है, वह समस्त चर और अचर संसार का पालन करता है। अग्नि में विधि-पूर्वक पवित्र हविष्यात्र से दी गयी आहुति सूर्य के पास पहुँचती है, सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न होता है, अन्न से प्रजा उत्पन्न एवं रक्षित होती है। ऐसे पवित्र यज्ञों के धूम से बादल बनते हैं, तब वे इच्छित लाभ-प्रद वृष्टि के द्वारा सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण करते हैं।

उपर्युक्त यज्ञों का सांगोपांग वर्णन यहाँ अभीष्ट नहीं है, केवल यही दिग्दर्शन मात्र इष्ट है कि उपर्युक्त अनुष्ठानों में क्या भावना निहित है, और उनका मानक कल्याण से क्या सम्बन्ध है।

(१) विश्व के सभी धर्मों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। सनातन वैदिक धर्म में तो 'परम धर्म श्रुतिविदिन अहिंसा' स्पष्ट कहा गया है। अतः इस पर नित्य विचार करते हुए सदग्रन्थों–वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृतियों आदि का नित्य अध्ययन करना सर्वप्रथम कृत्य कहा गया है। यदि इस ब्रह्मयज्ञरूप एक ही कृत्य पर आचरण किया जाए तो वर्तमान कलुषित वातावरण में पढ़े जाने वाले अश्लील, हिंसक, भ्रष्ट साहित्य के पढ़ने से समाज स्वयं बचने लगेगा।

(२) पितृयज्ञ–तर्पण में तो वैदिक ऋषियों की उदात्त भावना कितने व्यापक रूप में दिखाई देती है कि पढ़ कर आश्चर्य होता है। पाठक गण निम्नांकित वर्णन पर तनिक ध्यान देने की कृपा करें–

सर्व प्रथम समस्त ब्रह्माण्ड के देवता, ऋषि इत्यादि के आह्वान–ध्यान द्वारा जल दिया जाता है; फिर तो गन्धर्व, सवंत्सर, देवी, अप्सरा, नाग, सागर, पर्वत, सरिता, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पिशाच, पक्षी, पशु, वनस्पति, औषधि इत्यादि उद्भिज, स्वदेज, जरायुज, अण्डज, सब ही को जलाञ्जलि देकर तृप्त किया जाता है।

अनन्तर ऋषियों के तर्पण के साथ, चौदह यमों को अञ्जलि देकर साक्षात् मृत्यु और काल को भी तृप्त किया जाता है। फिर अपने तथा मातृ कुल के पितरों को जल देकर गुरु, वृद्ध, दादा, ताऊ, चाचा, भ्राता, पुत्र, स्वशुर, साला, मामा, नाना, युवा, बहिन, इत्यादि सब को जल दिया जाता है।

जरा भारतवासी वैदिक कर्म–काण्डी की विशाल हृदयता का अनुभव तो कीजिए–जब वह तिल–सहित जल प्रदान करता हुआ कहता है कि जो नरक में भी यातना पा रहे हों, हमारे बन्धु हों या अबन्धु, इस जन्म के हों व अन्य जन्मों के, जिनके कुल में कोई न हो; अनन्त प्रान्तों–द्वीपों में रहने वाले प्राणियों को तथा ब्रह्मलोक तक के समस्त प्राणियों को मैं जल प्रदान करता हूँ, कल्पना की जा सकती है कि जब भारत का नागरिक नित्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की इस वैदिक भावना को इस धरती पर मूर्तरूप देता था, तब हमारा देश पतनावस्था में था या वर्तमान स्वार्थमय वातावरण में? इसी भावना को तुलसी ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

''उमा जे राम चरण रत विगत काम–मद–क्रोध।
निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहिं विरोध।।''

(३) देव यज्ञ–तिल, चावल, जौ, खाण्ड, घी, मिश्रित शाकल्य से पवित्र अग्नि में वेद मन्त्रों सहित अग्नि देव की आहुतियाँ प्रदान करके तृप्त किया जाता है।

(४) भूत यज्ञ–बलिवैश्व देव में भी अपने घर के पाँच पापों के परिहार के

लिए अग्नि-पात्र में नमक रहित ७ आहुतियाँ दी जाती हैं, पुनः ३ व २०, आहुतियाँ देकर-देवता, ऋषि, पितरों की कृपा प्राप्त की जाती है। अनन्तर-गौग्रास, काक बलि, श्वान बलि, अतिथि एवं चींटी, कीट-पतंगादि को अन्न दिया जाता है।

(५) मनुष्य-यज्ञ-बिना तिथि के (पूर्व सूचना-रहित) जो भी व्यक्ति आजाए उसे अतिथि कहते हैं। उपर्युक्त नित्य-कृत्यों के उपरान्त अतिथि-सत्कार करना चाहिए, बिना अतिथि को भोजन कराए स्वयम् भोजन न करने की प्राचीन भारतीय प्रथा है। भारतीय अतिथि-सत्कार विश्व प्रसिद्ध है।

पञ्चमहायज्ञों के द्वारा नित्य देवाराधन तथा साथ ही समस्त संसार के प्राणी-मात्र की तृप्ति करते हुए अहिंसा, परोपकार, सहानुभूति एवं सर्वजन-सुखाय, सर्वजन-हिताय की पुनीत वैदिक भावना को आज भी, भारत में नित्य जगाया जाना चाहिए।

विश्व कल्याण की इसी मूल भावना को मूर्तरूप देने के निरन्तर प्रयास में जो सन्त आज भी लगा है उसका नाम है 'करपात्री'। उनका कहना है कि-'धर्म की जय, अधर्म का नाश, प्राणियों में सद्भावना एवं विश्व के कल्याण' की कामना से नित्य-नैभित्तिक कर्मों का अनुष्ठान, अपने-अपने अधिकारानुसार अवश्य करते हुए, भगवान् से करुण होकर नित्य प्रार्थना करनी चाहिए, तब ही कल्याण सम्भव है।'

***

''प्रणाम करने से अहंकार नष्ट होता है; प्रणाम वही करेगा जिसमें नम्रता होती। अतः बड़ों को प्रणाम् अभिवादन अवश्य करना चाहए कारण अहंकार ही सर्वनाश का मूल है।''

सन्ध्या-गायत्री

'सूर्य आदित्यब्रह्म' इस शास्त्र प्रमाण से ब्रह्मरूप है, इसी का प्रातः, सायं ध्यान करके कल्याण को प्राप्त करते हैं। सन्ध्या द्वारा पाप का नाश करके, ज्ञान से अज्ञान को हटाकर स्वानुभवगम्य ब्रह्मरूप की प्राप्ति की जाती है। सन्ध्या में तीन प्रमुख कृत्य हैं–'प्राणायाम', 'सूर्यार्घ्य', 'गायत्री–जप'। प्राणायम से मन को एकाग्र किया जाता है, फिर अन्य कृत्यों द्वारा चित्त शुद्धि होने पर सूर्य को वैदिक मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित जल का अर्घ्य दिया जाता है, फिर 'गायत्री जप' किया जाता है। उदय काल से अस्त काल तक राक्षस, आदित्य से युद्धरत रहते हैं। जिस समय अधिकृत वर्णत्रय गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल का सूर्य को अर्घ्य देते हैं, उस समय सूर्य को बल मिलता है और राक्षसगण शिथिल हो जाते हैं। सन्ध्या से शरीर, मन, वाणी द्वारा किए गए पापों को नष्ट करने की प्रार्थना प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल में की जाती है।

'या सन्ध्या सैव गायत्री'–गायत्री और संध्या का अभिन्न सम्बन्ध है। 'गायत्री छन्दसां गाता'–गायत्री सब वेद मन्त्रों की माता है। सन्ध्या में गायत्री जपयज्ञ से तीनों व्याहृतियों द्वारा तीनों देवता (ब्रह्मा–विष्णु–महेश), तीनों अग्नि (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि), तीनों लोक (स्वर्ग, मृत्यु, पाताल), तीनों प्रकृति (सात्त्वकी, राजसी, तामसी), तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) की भावना करके सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना की जाती है। जिस प्रकार देवालय की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है किसी भी अशुद्ध वस्तु को लेकर अशौच अवस्था में मन्दिरों में प्रवेश निषिद्ध है; देह–धारियों में भी कुछ देह देवालय ही हैं, ब्राह्मणों की देह वेद मन्त्रों की रक्षा के लिए है, अतः भक्ष्या–भक्ष्य, स्पर्श्यास्पर्श्य का विवेक, ब्राह्मण की देह शुद्धि हेतु आवश्यक है। ब्राह्मणों को अपने कर्तव्य कर्मो का अत्यन्त सावधानी–पूर्वक कठोरता से अनुपालन करते हुए, शरीर–शुद्धि पर विशेष ध्यान देते हुए, सन्ध्यावन्दन, गायत्री इत्यादि के जप में रत रहना चाहिए; इनकी रक्षा के लिए ही उन्हें भूदेव कहा गया है, वे वेदों के रक्षक हैं, उन्हें परम तपोमय जीवन यापन करना चाहिए, सांसारिक भोगवाद से दूर रहना चाहिए।

गायत्री मन्त्र का फल चित्त शुद्धि ही है, परन्तु इसका जप चाहे जिस व्यक्ति द्वारा चाहे किसी स्थिति में नहीं किया जा सकता। इसके लिए पवित्र देशा–काल एवं पात्र की अपेक्षा है, तब ही वह कल्याण कर सकता है, अन्यथा उल्टी हानि ही होती है।

गायत्री का सांख्यायन गोत्र है, बत्तीस अक्षर और चार पाद है, अन्त का एक पाद न मिलने से तीन पाद वाली गायत्री कही गयी है, इसमें चौबीस अक्षर होते है। गायत्री की आठ कुक्षि तथा सात शिर है। ऋग्वेद गायत्री का पहला यजुर्वेद दूसरा, सामवेद तीसरा और अथर्ववेद चौथा पाद है। पूर्व दिशा प्रथम कुक्षि, दक्षिण दिशा दूसरी, पश्चिम दिशा तीसरी, उत्तर दिशा चौथी, ऊर्ध्व दिशा पाँचवी, अध दिशा छठी, अन्तरिक्ष दिशा सातवीं तथा अवान्तर दिशा आठवीं कुक्षि है। व्याकरण गायत्री का पहला, शिक्षा दूसरा, कल्प तीसरा, निरुक्त चौथा, ज्योतिष पाँचवाँ, इतिहास, पुराण छटा और उपनिषद सातवाँ शिर है, ऐसा ध्यान करें। प्रातः सन्ध्या के समय गायत्री जप से रात्रि के किए हुए तथा सायं सन्ध्या के समय जप करने से दिन के किए पाप नष्ट हो जाते हैं। प्रातः काल ब्रह्मस्वरूपिणी, मध्याह्न विष्णुस्वरूपिणी तथा सायंकाल शिवरूपा गायत्री का ध्यान किया जाता है।

उपर्युक्त विचारधारा के पोषक वीतराग स्वामी करपात्री जी का कहना है कि 'स्नान, देव-पूजा, भगवद् भजन, बलिवैश्च देव, अतिथि सन्तर्पण करके खाने से ही पुण्य होता है।' हमारे स्वामी जी, श्री कृष्ण बोधाश्रम जी कहा करते थे कि 'अस्नायी समलं भुङक्ते अजपी पूयशोणितम्'-अर्थात्, बिना स्नान किए खाना मल खाना है। सूर्य नारायण को दो अञ्जलि जल दिए बिना जो अन्न ग्रहण करता है, वह सूर्य की हत्या करता है। अतः सभी वर्णों को अपने-अपने वर्णधर्मानुसार भगवान् भास्कर को जलाञ्जलि देकर ही भोजन करना चाहिए।

करपात्री जी पुनः आगे कहते है कि, 'हमारे यहाँ पाँच उपासनाएँ दिन-रात में बतायी गयी है- (१) जागते ही भगवद् ध्यान, निद्रा समाप्त होते ही द्वैत दर्शन के पूर्व निर्गुण-निराकार परब्रह्म का दर्शन प्राप्त होता है, ऐसा शास्त्रकारों का मत है। घोर निद्रा में निर्दृश्य अन्तःकरण पर परब्रह्म का प्रकाश होता है। (२) प्रातः सन्ध्यातर्पण देव पूजनादि। (३) मध्याह्न सन्ध्या, बलिवैश्व-देव, अतिथि-सत्कार। (४) सायं सन्ध्या। (५) सोने के समय भगवन् का स्मरण करने का विधान है।'- 'हमारे यहाँ खाना-पीना, सोना, रोना, मरना, सभी धर्म हैं, यदि यह शास्त्रानुसार किए जाएँ। खड़े-खड़े बैलों की तरह खाना अधर्म है, संसार प्रपंच के लिए रोना न रोकर भगवान् की कथा सुनते-सुनते आनन्द विभोर-रोमांचित होकर रोना धर्म, करोड़ रुपए की चीज है। भूत-प्रेतों, स्वार्थ हत्या के डर से न डरो, अरे डरना ही है तो पाप से डरो। हर क्षण कोई-न-कोई मरता है, परन्तु मन को पञ्चकोषों से निकालकर, प्राणों को यथास्थान नियोजित करके परब्रह्म का चिन्तन करते-करते मुख में गंगाजल व तुलसीदल लेते हुए मरना ही तो धर्म है।'

गायत्री-तत्व के विषय में वर्णन करते हुए, उनका कथन है कि-'गायत्री सम्पूर्ण वेदों की जननी है। जो गायत्री का अभिप्राय है, वही सम्पूर्ण वेदों का अर्थ है।

विश्व–तैजस–प्राज्ञ, विराट–हिरण्यगर्भ–अव्याकृत, व्यष्टि–समष्टि जगत् तथा उसकी जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति–यह तीनों अवस्थाएँ प्रणव की– अ, उ, म, इन तीनों मात्राओं के अर्थ है। सर्वपासक सगुण, सर्वशक्ति सम्पन्न परब्रह्म प्रणव का वाच्यार्थ है। सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, सवंरहित ब्रह्म प्रणव का लक्ष्यार्थ है। उत्पादक, पालक, संहारक, त्रिविध लोकात्मा भगवान् तीनों व्याहृतियों के अर्थ है। जगदुत्पत्ति–स्थिति–संहार–कारण परब्रह्म ही 'सवितृ' शब्द का अर्थ है। गायत्री द्वारा विश्वोत्पादक, स्वप्रकाश परमात्मा के उस रमणीय चिन्मय तेज का ध्यान किया जाता है जो समस्त बुद्धियों का प्रेरक एवं साक्षी है। विश्वोत्पादक परमात्मा के वरेण्य गर्भ को बुद्धि साक्षी कहने से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद परिलक्षित होता है, अतः साधन चतुष्टय सम्पन्न उत्तराधिकारी के लिए प्रत्येक चैतन्याभिन्न, निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्म का ही चिन्तन गायत्री–मन्त्र के द्वारा किया जाता है। अनन्त–कल्याण–गुणगण सम्पन्न, सगुण, साकार परमेश्वर की उपासना गायत्री के द्वारा हो सकती है। सगुण–साकार–सच्चिदानन्द परब्रह्म का ध्यान गायत्री के द्वारा हो सकता है। प्राणि प्रसवार्धक 'सूङ्' धातु से 'सवितृ' शब्द की निष्पत्ति होती है। यहाँ उत्पत्ति को उपलक्षण मानकर उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण परब्रह्म ही 'सवितृ' शब्द का अर्थ है। इस दृष्टि से उत्पादक, पालक, संहारक; ब्रह्मा, विष्णु; रुद्र तथा उनकी स्वरूप–भूत तीनों शक्तियों का ध्यान किया जाता है। ''गायत्री का अग्नि ही मुख है। जैसे अग्नि में अधिक–से–अधिक ईधन समाप्त हो जाता है, वैसे ही अग्नि–मुख गायत्री के ज्ञान से सब पाप समाप्त हो जाते हैं।''

समस्त वैदिक कर्मो के अनुष्ठान के बारे में, स्वामी जी लिखते हैं–''सन्ध्या, सूर्यार्घ्य, गायत्री जप, श्राद्ध–तर्पण, आदि वर्णाश्रमानुसार कर्म–धर्मो का पालन करते हुए, पाप कर्मो से बचते हुए भगवान् के नाम जप या कीर्तन करने वाला प्राणी परम कृतार्थ होता है। नाम या मन्त्र का जप, भगवान् का ध्यान, उनके नाम, स्वरूप व गुणों का महात्म्य वर्णन करने वाले, वेद–उपनिषद, रामायण, महाभारत, आदि सद्ग्रन्थों का अधिकारानुसार अध्ययन करना, यही प्राणियों के परम कल्याण का मार्ग है।''

***

''शास्त्रों का स्पष्ट सिद्धान्त है कि जो भगवान की उपचारों से पूजा करता हुआ भी किसी प्राणी को कष्ट देता है, भगवान् उसकी पूजा को कदापि स्वीकार नहीं करते। स्वयं भगवान् का भी यही आदेश है।''

यज्ञोपवीत (जनेऊ) : शिखा (चोटी)

वैदिक शास्त्रों में जीव शरीर को ब्रह्मत्व लाभ के योग्य बनाने की बात कही गयी है-'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'। मानव-शरीर को ब्रह्मत्व प्राप्ति के योग्य बनाने के लिए, मीमांसा दर्शन में सोलह संस्कार बताये गये हैं जिनके द्वारा प्रवृत्ति-निरोध तथा निवृत्ति-पोषण द्वारा जीव पूर्णता प्राप्त करता है। इन्हीं सोलह संस्कारों में से एक मुख्य संस्कार यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार है। यज्ञोपवीत का अर्थ है-यज्ञ-उप-वीत, अर्थात् यज्ञ के समीप गति (प्राप्ति)। पूर्व वर्णित पंच महायज्ञों में 'यज्ञोपवीत' इस वाक्य से 'ब्रह्मयज्ञ' के सामीप्य प्राप्ति का भाव है। द्विजाति बालक इसी संस्कार के द्वारा ज्ञान-शिक्षा के लिए आचार्य के समीप उपनीत होते हैं, इसीलिए इसे उपनयन भी कहा जाता है।

महर्षि वृहस्पति के अनुसार, 'आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते'-'जो वेदादि-शास्त्रों का स्वयं संग्रह करे, शिष्य को आचारवान् बनावें तथा स्वयं आचारशील हो उसे आचार्य कहते हैं।' महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है कि 'उपनयन करा कर वेद की शिक्षा देने वाले आचार्य कहलाते हैं।'.....'उपनीय ददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः।'

माता-पिता से जन्म जो सबका समान रूप से होता है, परन्तु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य में पूर्व जन्म के रमणीया चरण से ऐसी शास्त्रीय योग्यता होती है जिससे उनका एक दूसरा जन्म आचार्य और गायत्री माता द्वारा होता है। उस जन्म की योग्यता उन्हीं द्विजातियों में होती है, जिनकी ब्रह्मदेव से लेकर आज तक ब्रह्म दीक्षा सन्तति अविच्छिन्न चली आ रही है। यह दूसरा जन्म यज्ञोपवीत संस्कार पूर्वक होता है। अतः यह द्विज कहलाते हैं। ब्राह्मण बालक का आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का एकादश वर्ष में, वैश्य का बारहवें वर्ष में उपनयन होना चाहिये। चूँकि दैव राज्य में अष्ट वसुओं साथ ब्राह्मण वर्ण का मेल है, एकादश रुद्र प्रकृति से क्षत्रिय का मेल है, तथा पोषण-शक्ति सम्पन्न सविता के साथ वैश्य प्रकृति का मेल है, इसीलिए इनका क्रमशः ८, ११, व १२वें वर्ष में यज्ञोपवीत का विधान है। श्री भगवान् ने अपी दैवी विभूति में, 'ऋतूनां कुसुमाकरः' कह कर बसन्त को ही मुख्य ऋतु बताया है, अतः ब्राह्मी-शक्ति लाभ के लिए ब्राह्मण को बसन्त ऋतु में यज्ञोपवित कराने को लिखा है। निदाघ के तप्त सूर्य की शक्ति क्षत्रिय

की प्रकृति के अनुकूल होने से उसे गर्मी की ऋतु में यज्ञोपवीत कराना चाहिए। इसी प्रकार, शरद ऋतु की पोषण-शक्ति वैश्य प्रकृति के अनुकूल होने से वैश्य बालक का उपनयन शरद काल में कराने के लिए कहा गया है।

महर्षि शौनक जी कहते हैं-

''कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजन वृत्तवान्।
तपसाधूत निःशेष पापः कुर्याद् द्विजोत्तमः''।।

''कुलीन, श्रुति शास्त्रज्ञ, सदाचारी, तपः प्रभाव से निष्पाप ब्राह्मण, द्विज-कुमार का उपनयन करा सकता है। इस प्रकार, योग्य आचार्य द्वारा उपनीत और शिक्षित-दीक्षित द्विज कुमार वेद व्रत, ब्रह्मव्रत, आदि अनुष्ठान द्वारा मनुष्य से देवत्व और अन्त में ब्रह्मत्व-पद को प्राप्त कर लेता है।''

''पण्णवत्यंगुलं, देवाश्चतुर शीति मानवाः''।

६६ अंगुलमान देवताओं का तथा ८४ अंगुलमान मानवों का होता है। अतः मनुष्य को जीवत्व से ब्रह्मत्व प्राप्त करने हेतु ६६ अंगुल का ही जनेऊ बनाया जाता है। प्रथम चारों वेदों की प्रतीकात्मक चारों अंगुलियों पर ६६ चव्वे सुत लपेट कर नौ तन्तु बनाये जाते हैं। इन नौ सूत्रों में नौ देवताओं एवं उनके पृथक्-पृथक् गुणों का अधिष्ठान है, यथा-

प्रथम सूत्र का देवता ओंकार, गुण-ब्रह्मज्ञान है।
दूसरे सूत्र का देवता अग्नि, गुण-तेज है।
तीसरे सूत्र का देवता अनन्त, गुण-धैर्य है।
चौथे सूत्र का देवता चन्द्र, गुण-सर्वपिग्रता है।
पाँचवें सूत्र का देवता पितृगण, गुण-स्नेहशीलता है।
छठे सूत्र का देवता प्रजापति, गुण-प्रजापालन है।
सातवें सूत्र का देवता वायु, गुण-बलशीलता है।
आठवें सूत्र का देवता सूर्य, गुण-कान्तिमत्ता है।
नवें सूत्र का देवता सर्वदेवता, गुण-सात्विकता है।

उपर्युक्त नौ सूत्रों से युक्त यज्ञोपवीत धारण करने से हृदय में उक्त गुणों का आधान होता है। इन नौ सूत्रों को तिलड़ा किया जाता है। ब्रह्मा ने यज्ञ सूत्र बनाया विष्णु ने त्रिगुणित किया, रुद्र ने ग्रन्थित किया और सावित्री देवी ने इसकी शिखा में गांठ देकर अभिमन्त्रित किया; इसीलिए त्रिगुणा, त्रिग्रन्थि शिखा सहित ब्रह्मग्रन्थि युक्त यज्ञोपवीत धारण कारने से ब्रह्मा-विष्णु-महेश शक्ति देवता के स्मरण द्वारा शक्ति लाभा तथा ज्ञान लाभ होता है।

तीन सूत्रों का जनेऊ धारण करने के कायदण्ड, वाग्दण्ड तथा महोदण्ड की संयम-विधि दृढ़ की गयी। काय-संयम द्वारा ब्रह्मचर्य धारण व तपस्यादि, वाक्-संयम द्वाार वृथा वाक्य, मिथ्या वाक्य परिहार, मनः संयम द्वारा विषयों से मन हटाना, आदि अभिप्रेत है।

इस प्रकार, संयत द्विज कुमार उक्त देव शक्ति को इस ब्रह्म सूत्र के द्वारा प्राप्त कर अवश्य ही जीवत्व पद से शिवत्व पद व ब्रह्मत्व पद का लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

'अग्निरेव शिखा' शिखा को अग्नि कहा है। अग्नि-कर्म का उपलक्षण है। नित्य कर्म सन्ध्या-वन्दन के प्रारम्भ में शिखा बन्धन का विधान है। मन्त्र रहित पाक-यज्ञ का अधिकार शूद्र को भी है, अतः शिखा धारण शूद्र के लिए भी विहित है। जिस भाँति जनेऊ द्विजाति मात्र का चिन्ह है। उसी भाँति शिखा हिन्दु-मात्र का चिन्ह है। शिखा से वायु, तेज, बल और ओज की प्राप्ति होती है; जैसा कि वेद मन्त्रों में कहा गया है-'दीर्घायुष्ट्वाय बलाय-वर्चसे'-'शक्त्यै शिखायैवपट्'।

योग शास्त्र के सिद्धान्तानुसार शिर के उस भाग के नीचे ब्रह्मरन्ध्र होता है और ब्रह्मरन्ध के ठीक ऊपर सहस्र-दल कमल में परमात्मा का केन्द्र स्थान है। ध्यान के समय ओज शक्ति प्रकट होती है। किसी वस्तु पर चित्त एकाग्र करने से ओज शक्ति उस ओर प्रवाहित होती है। यदि परमात्मा के ऊपर चित्त एकाग्र किया जाए तो मस्तक के ऊपर शिखा के द्वारा ओज शक्ति प्रकट होती है और परमात्मा की शक्ति उसी पथ से अपने भीतर आया करती है। अतः गोखुर के समान शिर के ऊपरी भाग में केश रखने की शास्त्रों में विधि है, इससे शक्ति मिलती है तथा ब्रह्मचर्य, बल, तेज और वायु में वृद्धि होती है।

शिखा-यज्ञोपवीत धारण किए हुए, शास्त्रीय-प्रवृत्ति अनुसार कर्म करते-करते जब हृदय शुद्ध हो, वैराग्य का उदय हो, ज्ञान यज्ञोपवीत और ज्ञान शिखा की योग्यता प्राप्त हो, तब जिस शास्त्र के विधान से यज्ञोपवीत धारण किया था, उसी शास्त्र-विधान से उसका परित्याग भी करे। संन्यास के समय इस बाहरी शिखा सूत्र को त्याग कर उस अधर परब्रह्म सूत्र को धारण करे जिसमें सब कुछ 'सूत्रमणि गणा इव' गुथा हुआ है। जब तक ज्ञान न हुआ, संन्यास का संस्कार न हुआ, उसके पहले जी शिखा-यज्ञोपवीत के त्याग से द्विज कर्म-ज्ञान दोनों से पतित हो जाता है। ब्रह्म ज्ञानी संन्यासी का ज्ञान ही उसका यज्ञोपवीत हो जाता है। जिसके यज्ञोपवीत नहीं वह ब्राह्मण उनका अपना प्राणधन ही है, साक्षात् भगवत्स्वप ही है, उसकी शुद्धि के लिये भी अनेक नियम व विधान है। मल-मूत्र त्याग के समय उसे कभी अशुद्ध न होने वाले आकाश तत्व की प्रधान इन्द्रिय जिसमें गंगा का निवास माना है, उसे कान पर चढ़ाने का विधान है।

आज प्रायः जनेऊ पहनकर भी कुछ व्यक्ति स्वधर्माचारण नहीं करते। परन्तु जनेऊ रहने-पहरने से तो यह आशा की जा सकती है कि, हो सकता है कि कभी न कभी वे उसका महत्व समझ कर स्वधर्म-निरत हो जाएँ। चोटी-जनेऊ के परित्याग से उन्नति का वैदिक मार्ग ही बन्द हो जाता है।

***

मन्दिर

भगवान् के समीप जाने को ही उपासना कहा है। मनुष्य शरीर पाँच तत्वों से बना है, अतः सगुण ब्रह्म ईश्वर की पंचोपासना की जाती है, यथा–विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, तथा गणपति, यह सब ही ईश्वर की मूर्तियाँ हैं। आकाश तत्व के साथ विष्णु का, पृथ्वी तत्व के साथ शिव का, अग्नि तत्व के साथ शक्ति का, वायु तत्व के साथ सूर्य का, तथा जल तत्व के साथ गणपति का सम्बन्ध है। जिय व्यक्ति में जि तत्व की प्रधानता होती है उसकी स्वाभाविक रूचि उसी देवता की पूजा–अर्चा की ओर जाती है जिसका उस तत्व के साथ सम्बन्ध है। अत प्रत्येक व्यक्ति की पंचधा–प्रकृति आदि की मूर्ति बनवा कर उनकी पूजा करने का विधान बताया गया है। उन मूर्तियों में प्रभु की शक्ति का आह्वान करने के पश्चात् उनमें व्याप्त–प्रतिष्ठापित उसी प्रभु की शक्ति की पूजा की जाती है। वेद मन्त्रों द्वारा मन्दिरों में स्थापित मूर्तियों में भगवान् की उसी अनन्त सर्वव्यापक शक्ति की प्राण प्रतिष्ठा की जाती है, भक्त गण इसी की उपासना से अनेक मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

मूर्तियों में दिव्य ज्योति और सूक्ष्म शक्ति जिस प्रकार से बनी रहे उसी के अनुकूल मन्दिरों का निर्माण होता है। उनकी पवित्रता बनाये रखने हेतु शास्त्रों ने अनेकों विधान बताए हैं, जिनका परिपालन न करने से मूर्तियों मे देवत्व नहीं रह जाता। फिर बाजार में रक्खी साधारण मूर्ति एवं मन्दिर में स्थापित मूर्ति में भेद नहीं रह जाता। धूप, दीप एवम् सुगन्धित द्रव्यों के जलन से मन्दिर का वातावरण पवित्र रहता है। शंख, घण्टा–घड़ियाल, झांझ, आदि की ध्वनि से अनेक प्रकार के सूक्ष्म रोगाणु स्वयं नष्ट हो जाते हैं। वैज्ञानिक खोजों के अनुसार–हैजा, गर्दन–तोड़ बुखार, कम्पजूरी अनेक संक्रामक रोगों के कीटाणु (बैक्टीरिया) नष्ट हो जाते है। कांस्य व ताम्बे से बने घण्टे आदि के बजने से जो कम्पन–लहरें प्रवाहित होती हैं उनमें अद्‌भुत शक्ति होती है। मूर्छा, सर्पदश, मिरगी, इत्यादि अनेक रोगों में यह ध्वनि कम्पन लाभ कर होता है। इस प्रकार, धूप, दीप, आदि सुगन्धित द्रव्य तथा घण्टे, घड़ियाल, झांझ, मजीरे, शंख, आदि के तुमुल शब्द, आदि से हमारी मानसिक वृत्तियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है, चित्त को शांति मिलती है तथा आत्मा उन्न होती है।

मन्दिरों में लकड़ी की खड़ाऊ पहिन कर जाने का विधान है, इससे सूक्ष्य विद्युत–शक्ति जो हमारे शरीर में प्रवेश करती है पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण

बाहर नहीं निकल पाती, अपित भजन में सहायिका होकर हमें शक्ति प्रदान करती है। रेशमी वस्त्र अपना ऊनी वस्त्रों के प्रयोग का भी यही वैज्ञानिक रहस्य है; इनके प्रयोग से बाह्य-सूक्ष्म रोगाणुओं से रक्षण होता है, साथ ही मन्त्र जाप, इत्यादि के समय शरीर के अन्दर जो आत्म-चेतना को जागृत कर विचार शाली बनाया जाता है और उस समय जो गुप्त शक्ति उभरती है उससे शरीर विद्युत पूर्ण हो जाता है, उस शक्ति को भीतर ही रोके रखने में रेशमी तथा ऊनी वस्त्र सहायक होत हैं। मृग चर्म-व्याघ्र चर्म पर बैठने से बवासीर तथा भगन्दर जैसे कई रोगों से रक्षा होती है। गंगा जल, तुलसी दल, केशर, कस्तूरी आदि मिश्रित चरणामृत तो वास्तव मे एक अद्‌भुत पौष्टिक, रोग-नाशक, गुणकारी पदार्थ है जिसकी महिमा को अनेक विचारशील पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी खुले मस्तिक से स्वीकार किया है।

पाठक स्वयं अनुभव करें कि जब हम सूर्योदय से पूर्व शीतल जल से स्नान करके, रेशमी वस्त्र तथा लकड़ी की खड़ाऊँ पहिन कर, विभिन्न पुष्प, तुलसी, चन्दन, धूप-दीप, घृत, दुग्ध, दधि, आदि पवित्र पदार्थों को चाँदी या ताँबे के पात्रों में लेकर मन में पवित्र भाव से अपने इष्ट देव का नाम-जप, पाठ, इत्यादि करते हुए मन्दिर में जाते हैं, जहाँ शंखादि की ध्वनियों से पहले ही वातावरण शुद्ध है तो क्या हृदय में पवित्र भावनाओं के साथ आत्मा को सच्ची शान्ति नहीं प्राप्त होती। फिर जहाँ वेद मन्त्रों द्वारा मूर्तियों में प्राण प्रतिष्ठा करके श्री विग्रह की साक्षात् भगवद् रूप से स्थापना है, वहाँ वे अन्तर्यामी, घट-घट-वासी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान विभु स्वयं विराज रहे हैं, भक्तों द्वारा पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ समर्पित भोग-राग को ग्रहण करके उनका कल्याण कर रहे हैं। वहाँ की महत्ता को तो सनातन धर्मी, आस्तिक, ईश्वर-विश्वासी ही अनुभव कर सकता है, करता है। आज के भौतिक-वादी नास्तिक व्यक्ति प्रायः उपरोक्त भावना से एक-दम अपरिचित हैं अतः वे इन मन्दिरों का प्रयोग भी लौकिक एवं शुद्ध राजनैतिक दृष्टि से करना चाहते हैं।

प्राण-विनिमय-प्रयोक्ता अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर प्रयुक्त व्यक्ति की लौकिक सामर्थ्य प्रदान करता है। प्राण-विनिमय-विद्या के प्रयोगकर्ता पुरुष घट व पत्थर जैसे जड़ पदार्थो को भी अपनी इच्छा शक्ति के बल पर चलाते हैं। इसी भावना-सामर्थ्य-प्राण विज्ञान तथा मधुविद्या के पारगामी हमारे सर्वज्ञ महर्षियों ने मूर्ति पूजन की प्रणाली का विधान किया है। तदनुकूल धातु-प्रस्तरादि की मूर्तियों में वैदिक मन्त्रों से आवाहन करके प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। इस प्रकार, प्रतिष्ठा के अनन्तर मूर्ति में एक दृढ़ संकल्प रचित होता है। अब उपासकों तथा भक्तों की श्रृद्धा एवं भावना को मूर्ति-पूजा निरन्तर परिपृष्ट करती चलती है। हृदय की पवित्रता और निरन्तर दृढ़ लगन के परिणामस्वरूप यही भावना तीव्र संवेग से पृथक् हो जाती है, तथा जड़ांश लुप्त होकर मूर्ति भगवद्-विग्रह में परिणत हो उठती है। महाभारत में, गुरु द्रोणाचार्य की मूर्ति से

एकलव्य का –'धनुर्विद्या की शिक्षा ग्रहण करना'–इसी भावना का विलक्षण प्रभाव था। श्री वृन्दावन के गोपाल–मन्दिर में मुरलीधर भगवान श्री कृष्ण की मूर्ति के द्वारा–धनुर्धारी श्री राम के रूप में धनुष–बाण धारण कर लेने की गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज की घटना स्पष्टत: उनकी दृढ़–भावना का प्रतीक है।

खेद है कि आज, इन शुद्ध–वैदिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों को–समाजवाद्, लोकमत, समानता, आदि के विचारों में लपेट कर केवल राजनीतिक प्रश्न बनाया जा रहा है। जब मन्दिरों की उपर्युक्त मर्याद्दा का उल्लंघन उन व्यक्तियों द्वारा किया जाने लगा जिन्हें मूर्तियों में श्रद्धा तक नहीं, तब श्री. स्वामी करपात्री जी ने कहा कि, 'जो स्वयं राम और उनकी मूर्तियों की पूजा में विश्वास न करता हो, वही हिन्दुओं की मूर्ति–पूजा में दखल दे, यह क्या अन्याय नहीं है।' 'जैसे अन्य मतावलाम्बियों को अपनी–अपनी पूजा पद्धतियों केअनुसार पूजा–ग्रहों में उपासना करने का अधिकार है, इसी प्रकार सनातन–धर्मावलाम्बियों को भी अपने वेद–शास्त्रोक्त विधानानुसार मन्दिरों में पूजा करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।' उनकी माँग थी कि 'प्रतिमा–पूजन की परम्परागत तथा शास्त्रीय पद्धति में किसी प्रकार कीह बाधा न डाली जाए। मन्दिरों तथा धार्मिक प्रतिष्ठानों की पावनता ध्वंस करने के लिए जो दुष्कर्म किये जा रहे हैं, वे शीघ्र रोके जायें।'

धर्म की उपर्युक्त सूक्ष्मगति को न समझकर जैन, सिक्ख, बौद्ध धर्मो के उपासना गृहों को छोड़कर, केवल सनातनी–हिन्दू मन्दिरों में बलात् हरिजनों को प्रवेश कराया गया। यद्यपि उस प्रवेश में, उनकी उपर्युक्त पवित्र भावना नहीं थी, अपितु विशुद्ध राजनीतिक भावना निहित थी। यहाँ तक हुआ कि हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य मतावलाम्बियों को भी इन मन्दिरों में प्रवेश कराया गया, जैसे–यह पवित्र पूजा स्थल व उपासना–गृह न होकर केवल–मात्र पर्यटकर स्थल ही हों। मैसूर (कर्नाटक) के श्री रंगनाथ जी के मन्दिर में, तत्कालीन गर्वनपर–जनरल लॉर्ड माउण्टवेटन ने प्रवेश किया। उनकी शुद्धि की बात करने पर उपासकों को शासन का कोप–भाजन बनना पड़ा। इसी प्रकार, समस्त भारत के अनेक सुप्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरों में अनधिकृत व्यक्तियों का प्रवेश कराया गया, तब इन्हीं स्वामी करपात्री जी ने इनकी रक्षा के लिए शासन से अनुरोध तथा अहिंसात्मक सत्याग्रह एवं जेल–यात्रायें भी की। श्री स्वामी जी ने कहा था–'अन्त्यज हमारे भाई हैं, उन्हें प्राइम–मिनिस्टर बना दिया जाए–हम सहर्ष तैयार हैं। शिल्प शूद्रों की उपजीविका है, अत: समस्त कल–कारखाने उन्हीं के अधीन कर दिए जायें, चमड़े का व्यवसाय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कदापि न करें, उस पर एक–मात्र उन्हीं का स्वत्व रहे। शास्त्रानुकूल सभी सुविधायें उन्हें दी जायें, किन्तु मन्दिर–प्रवेश की बात विचारणीय है। आखिर अन्त्यज भी इसका उद्देश्य पाप घटाना, पुण्य बढ़ाना और भगवान को प्रसन्न करना ही मानते हैं न? तो यह बात जानी कैसे जाएं?

तो उत्तर होगा–शास्त्रों से ही। अन्यथा बाजारू–मूर्ति और मन्दिरस्थ मूर्ति में भेद ही सिद्ध न होगा। वे शास्त्र ही अन्त्यजों को मन्दिर–प्रवेश का निषेध कर, गोपुर–शिखर दर्शन को उनके लिए विहित करते हैं–''दर्शन देव चूड़ायां दर्शन गोपुरस्य च। अन्त्यजानां तथा ऽत्यांना विज्ञेय देव दर्शनम्।।'' मन्दिर शिखर दर्शन कर, रामायण सुन कर, भगवद्भक्ति कर अन्त्यज वह फल पा सकते हैं, जो द्वादश–लक्षण सम्पन्न भी–भगवद्विमुख ब्राह्मण नहीं पा सकता।

शास्त्रानुसार, मन्दिर–मर्यादा के अन्तर्गत अन्त्यजों पर ही प्रतिबन्ध नहीं, किन्तु मद्रास के अनेकों के गर्भगृह में तो त्रैवणिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) भी नही जा सकते तथा मूर्ति को स्पर्श नहीं कर सकते। ''यदि शास्त्रानुसार बने प्राचीन मन्दिरों से लाभ उठाना अभीष्ट हैं तो फिर प्राचीन शास्त्र एवं उनमें दी गई मर्यादाओं के संरक्षण में ही कल्याण है।''–स्वामी जी महाराज वैदिक संस्कृति के इस पुराने सिद्धांत के इतने कट्टर समर्थक एवं विश्वासी है कि इस कार्य के लिए उन्होंने आन्दोलन किये, प्रतिनिधि–मण्डल भेजे, जेल यात्रायों तक की और विभिन्न धर्म–यात्राओं में बड़े–बड़े सम्मलेन आयोजित करके तार–प्रस्तावादि द्वारा सरकार से उपासना पद्धति की स्वतन्त्रता की माँग की। परन्तु अन्ततोगत्वा १५ दिसम्बर सन् १९५७ ई. को पुलिस एवं कानून के बल पर मजिस्ट्रेट, कोतवाल एवं हरिजन आदि ने विश्व प्रसिद्ध काशी विश्वनाथ न्दिर के गर्भगृह में घुसकर मन्दिर की अनादि मर्यादा को भी भ्रष्ट कर दिया तथा स्वामी जी को गिरफ्तार कर (बन्दी बना) लिया गया। उन्होंने कहा कि–'धार्मिक अत्याचार में कांग्रेसी शासन औरंगजेबी शासन से भी भयंकर है। सरकार द्वारा संविधन में प्रदत्त धार्मिक स्वतन्त्रता तथा धर्म–निरपेक्षता की घोषणा केवल उपहास मात्र रह गयी है।'

५ जनवरी, सन् १९५८ को स्वामी जी ने घोषणा की कि–'शिवरात्रि के अवसर पर काशी में दूसरे विश्वनाथ मन्दिर की स्थापना होगीं–हमारी सनातन वैदिक पूजा–उपासना पद्धति को इस प्रकार जबरदस्ती बदलेन तथा हमारी सनातन वैदिक पूजा–उपासना पद्धति को इस प्रकार जबरदस्ती बदलने तथा हमारी पवित्र मर्यादाओं को बलात् भ्रष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं है। इसकी रक्षार्थ हमारा प्रयत्न पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहेगा। हाँ! यदि पुनः शुद्धि की बात मान लें तो यह विचार स्थगित किया जा सकता है।' अन्त में, ९ फरवरी सन् १९५८ को प्रातः मीर घाट पर नए विश्वनाथ मन्दिर का शिलान्यास किया गया तथा २१ फरवरी को वैदिक विधि–विधान पूर्वक मूर्ति की प्राण–प्रतिष्ठा की गयी। इसमें पुजारियों के अतिरिक्त कोई भी शिवलिंग तक प्रवेश नहीं कर सकता। आज यह मन्दिर 'करपात्री का विश्वनाथ मन्दिर' या 'नया विश्वनाथ मन्दिर' के नाम से विख्यात है।

श्री. स्वामी करपात्री जी ने मठ–मन्दिर एवं धार्मिक संस्थानों के सम्बन्ध में स्पष्ट विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि –''मठ–मन्दिर व देवस्थान तथा अन्य

धार्मिक स्थल अपने-अपने सम्प्रदाय के नियमों से आबद्ध हैं। उनके संचालन के लिए शास्त्रीय संविधान, रीति-रिवाज तथा परम्परा के अनुसार इनका संचालन शास्त्रीय संविधानों तथा रीति-रिवाजों के अनुसार ही होना चाहिये।'' मन्त्र, ब्राह्मणात्मक वेद और धर्म-शास्त्र, रामायण, महाभारत, पुराण, तन्त्र, आगम आदि, अपौरुषैय-आर्ष परम प्रमाणित सद्ग्रन्थ है। सब ही देश-काल, व्यक्तियों-परिस्थितियों की दृष्टि से इन सद्ग्रन्थों के सब नियम निर्धारित हैं। अल्पज्ञ व्यक्तियों की दृष्टि में सर्व-देश, काल, परिस्थिति पर विचार हो ही नहीं सकता; अतः मठ-मन्दिरों आदि देव-स्थानों की व्यवस्था के सन्दर्भ में, स्वामी जी इन शास्त्रीय नियमों का यथार्थ पालन कराना राज्य का ही प्रमुख कार्य मानते हैं। उनके विचार में, इन स्थानों की व्यवस्था के सम्बन्ध मं, शास्त्रीय नियमों का परिपालन समाज के आचार्य सन्त तथा उत्तम-आस्तिक नागरिक आपसी संगठन के द्वारा करावें, यही सर्वोत्तम मार्ग है। इनके सम्बन्ध में, विवाद उत्पन्न होने पर भी, उसका निर्णय शास्त्रीय नियमों के अनुसार ही करना चाहिये। शास्त्र के अतिरिक्त, अन्य किसी प्रकार का कानून बनाने की वह आवश्यकता नहीं समझते। उनका स्पष्ट कथन है कि - ''यदि कानून बनाना ही आवश्यक हो तो इतना ही होना चाहिये कि, परम्परा प्राप्त वेद आदि, शास्त्रोक्त नियमों को ही कानूनी रूप समझकर उनका पालन करने तथा कराने का प्रयास होना चाहिये।''

इस प्रकार की व्यवस्थायें करने से समाज में सुव्यवस्था उत्पन्न होकर मठ-मन्दिर-देव स्थानों की समुचित शास्त्रानुकूल व्यवस्था हो सकती है।

***

''सभ्य कहे जाने वाले यदि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते तो उनके न मानने से ईश्वर का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा ऐसी बात तो होनी है नहीं, वह तो प्रत्यक्ष सूर्यसदृश देदीप्यमान रहेगी ही, ईश्वर को न मानकर अपना ही कुछ अहित हो सकता है।''

जाति-वर्ण

श्री स्वामी करपात्री जी महाराज, अपने ग्रन्थ 'विचार-पीयूष' में, जाति पर विचार करते हुए-इसकी शास्त्रीय परिभाषा बताते हुए लिखते हैं कि-''साधारण रूप से नित्य और अनेक में समवेत धर्म ही 'जाति' पद से व्यपदेश्य होता है, ऐसे ही धर्म को 'जाति' कहा जाता है।'' अनेक गो-व्यक्तियों में समवेत और नित्य धर्म 'गोत्व' जाति है।.....'बहुधा आकृति भेद से जाति भेद की मान्यता चलती है, किन्त शास्त्रीय दृष्टि से आकृति भेद न रहने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णो मे जाति भेद मान्य होता है।' .....पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से जाति-धर्म में ही 'ब्राह्मण' शब्द सिद्ध होता है, अजाति में तो 'ब्राह्म' शब्द बनता है-'ब्राह्मोऽजातौ।' .....'आकृति, अर्थात्-अनुगत संस्थान विशेष से जाति की व्यञ्जना होती है।' यहाँ आकृति को उपदेश से ब्राह्मण आदि जातियों का परिज्ञान होता है। जो असर्वलिङ्ग भागी हो और एक बार के उपदेश से अनुगत रूपेण ग्राह्य हो वही जाति है: असर्वलिङ्ग भागित्वे सति सकृदुपदेश ग्राह्यत्वं जातित्वम्'। 'ब्राह्मण:, वृषल:' आदि शब्द पुल्लिंग-स्त्रीलिंग वाले होने पर भी नपुंसक लिंङ्ग वाले नहीं हैं, अत: असर्वलिङ्ग भागी हैं। साथ ही 'अयं ब्राह्मण:' इस उपदेश से उसके पितृ पितामहादिकों में भी ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता है। 'अयंवृषल:' ऐसे उपदेश से वृषल के पुत्र, पौत्र, सहोदरादि, में वृषलत्व का ज्ञान हो जाता है। अत: इनमें अनुगत संस्थान रूप आकृति अनुपलब्ध होने पर भी जाति का व्यवहार होता है।

'जैसे गुण के बिना द्रव्य नहीं रहता, वैसे ही जाति के बिना भी द्रव्य नहीं रहता। जैसे द्रव्य के रहते गुण का नाश नहीं होता, वैसे ही जाति का भी नाश नहीं होता। इसीलिए मृत हरिण शरीर को भी हरिण ही कहा जाता है।'.....'शुभाचार वाले प्राणी ब्राह्मणादि योनियों को प्राप्त होते हैं, अशुभाचार वाले चाण्डालादि और पशु आदि योनियों को प्राप्त होते हैं।' कर्मो के अनुसार ही जैसे हरिण-लादि और पशु आदि योनियों को प्राप्त होते हैं, अशुभाचार वाले चाण्डालादि और पशु आदि योनियों को प्राप्त होते हैं।' कर्मो के अनुसार ही जैसे हरिण-हरिणी से हरिण ही उत्पन्न होता है। जन्मना जाति के आधार पर ही जात्यनुसारी कर्म चलते हैं। इसीलिए ब्राह्मण-कर्म, क्षत्रिय-कर्म, वैश्य-कर्म, शूद्र-कर्म, स्त्री-कर्म, पुरुष-कर्म की व्यवस्था होती है। वर्ण-व्यवस्था जन्म-मूलक होती है और वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार कर्म-धर्म की

व्यवस्था होती है। जन्मनावर्ण और कर्मणा-उत्कर्ष यही व्यावहारिक स्थिति है। योनि, विद्या और तप ब्राह्मण का कारण होता है। विद्या तप के बिना भी 'जाति-ब्राह्मण' होता है। .....'वेद वेदानुसारी आर्ष धर्म-ग्रन्थों के अनुसार-आचार-विचार, उपासना कर्म, आदि का हिन्दू-संस्कृति में समावेश है। उन धर्मो का पालन करने वाला कोई भी हिन्दू कहला सकता है। तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्ण व्यवस्था जन्मना ही है। कर्मणा वर्णो का उत्कर्ष होता है।' .....'विशिष्ट कर्मो से विशिष्ट शरीरों की रचना होती है और उनसे विशिष्ट कर्म होते हैं। सत्कर्मो से स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों में सर्वत्र ही निर्मलता आती है। असत्कर्मो से सब जगह मलीनता आती है।' .....'सत्कर्मो से तीनों शरीरों का संशोधन होने पर, शुद्धि के तारतम्य से ही शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, आदि देहों को प्राप्ति होती है, तथा देहों के अनुसार ही विशिष्ट कर्म करने का अधिकार मिलता है।'

.....'जीव प्राक्तन कर्मो का अनुसरण करके जड़-राज्य से चैतन्य राज्य की ओर अग्रसर होकर प्रकृति के प्रवाह से उन्नति को प्राप्त करता हुआ पुल्कसादि क्रम से शूद्र शरीर प्राप्त करता है। वहाँ मानव सामान्य धर्म-अहिंसा, सत्य, आदि, द्विजाति सेवा एवम् हरिनाम, आदि के आश्रय से उन्नत होकर त्रम से वैश्य होता है। वहाँ वेदाध्ययन और वैदिक कर्मो के अनुष्ठित होने पर शुद्धि के उत्कर्ष से क्षत्रिय और उससे भी विशिष्ट कर्मानुष्ठान द्वारा ब्राह्मण होता है।' .....'शास्त्र दृष्टि और युक्ति से 'जन्मना-वर्ण व्यवस्था' ही उपयुक्त प्रतीत होती है। भारतवर्ष में तो यह अविछिन्न परम्परा से विद्यमान है ही, तथा साङ्गोपांग शुद्ध रूप से विद्यमान है। तथापि कहीं-कहीं नवीन वातावरण के प्रभाव से उसमें अधिक विकार आ गया है। इस विकार से ही सब तरह का पतन हो रहा है।' .....'वर्षा ऋतु में, हरी-हरी घासों के चारों ओर से फैल जाने पर जैसे सन्मार्ग नहीं दीख पड़ता, वैसे ही कलि-काल में पाखण्ड से वेद मार्ग तिरोहित हो रहे हैं।' .....'स्वधर्म त्याग, पर धर्म या विधर्म सेवन के लक्षण व अनधिकार चेष्टाओं से यह देश सचमुच जर्जर हो गया है। इसी से वर्णाश्रम व्यवस्था में विकार, आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक ह्रास, तथा दरिद्रता की वृद्धि हो रही है। साधु सन्यासी रागी हो रहे हैं। गृहस्थ विरक्त हो रहे हैं, वे आर्थिक और धार्मिक एवम् आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था सुन्दर कर सकते हैं, वे आर्थिक और नैतिक शिक्षा की व्यवस्था में दत्तचित्त हो रहे है।' आज सदाचार और विचार सम्पन्न शास्त्र-रहस्यज्ञ भगवत्परायणों के द्वारा भगवान् का आश्रय लेकर सत्शिक्षा और सच्छासन के प्रवर्तित होने से विकार रहित वर्णाश्रम व्यवस्था के पुनरूज्जीवित होने पर पुनः राम राज्य स्थापित हो सकता है।

''...इस अनादि विश्व का नियामक अनादि परमेश्वर है। उसके निश्वास भूत अकृत्रिम वेद एवम् तदनुसारी आर्ष ग्रन्थ विश्व का विधान या कानून है। तद्विहित

कर्म आदि ही धर्म है। तत्प्रतिपालक जाति हिन्दू जाति है। हिन्दु विधान (कानून) से जो शासित हों वे हिन्दु हैं। हिन्दु विधान का आधार मिताक्षरा, दायभाग, व्यवहार, मयूख, आदि निबन्ध ग्रन्थ हैं, उनका भी आधार मन्वादि धर्म शास्त्र और उनका भी आधार वेदादि शास्त्र हैं।.....शुद्ध वैदिक-सम्प्रदाय-निष्ठ व्यक्ति ही 'हिन्दु' होता है।'' कुछ लोग कहते हैं कि, ''कश्मीर से लेकर सिन्धु-पर्यन्त भारतभूमि को जो पितृभु और पुण्यभू मानता है यही हिन्दु है।' परन्तु यह परिभाषा भी अपूर्ण एवम् दोषपूर्ण है। जैसे-विश्व में कहीं भी, कोई भी ईसाई-मुस्लिम धर्म का अनुयायी हो, उसे ईसाई-मुसलमान कहा जाता है। ऐसे ही, कहीं भी उत्पन्न होने वाला किसी भी देश को पितृ-भू और पुण्य-भू मानने वाला हिन्दु हो सकता है, वह केवल वैदिक धर्मानुयायी होना चाहिए। वास्तव में, 'वेदादि धर्मशास्त्र और तदाधारित निबन्धानुयायित्व' हिन्दुत्व है। यदि कोई सर्वमान्य विशेषता और प्रमाण की अपेक्षा न हो, तब तो वास्तविक संग्राहक लक्षण यही है कि-'गोभक्ति, प्रणवादि नाम, पूजा, पुनर्जन्म-विश्वास' हिन्दुत्व के प्रयोजक हो सकते हैं। किन्तु इससेभी प्रामाणिक हिन्दु-परिभाषा इस प्रकार है-'वेद शास्त्रोक्त धर्मेषु वेदाद्युक्ताधिकारवान्। आस्थावान् सुप्रतिष्ठश्च सोऽयं हिन्दुः प्रकीतितः' अर्थात्, वेद शास्त्रोक्त धर्मो में वेदादि शास्त्रानुसार ही जो अधिकारी हो और अधिकारानुसार जो विश्वासवान् उस धर्म में प्रतिष्ठित हो, वही प्रामाणिक हिन्दु है।

'.....वेदों में 'सिन्धवः' शब्द आता है, वह सिन्धु नदी के पार्श्ववर्ती देशों एवं तन्निवासयों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।' .....सिन्धु नदी के इस पार समुद्र तट और उस पार भी समुद्र तट तक के निवासी हिन्दु कहे जा सकते हैं।' .....'यहाँ अनादिकाल से जन्मना वर्ण व्यवस्था एवम् तदनुसारी वैदिक धर्म प्रचलित था, अतः वैदिक धर्मानुयायी हिन्दु हुए।' सृष्टि की रचना यहीं से हुई। यहाँ से ही अन्यान्य जातियों एवम् धर्मो का अन्यान्य देशों में प्रसार हुआ है। जो धर्म विमुख हो गए वे भ्रष्ट हिन्दु ही अन्य नामों से जान गए। उनके अलग-अलग धर्म भी हो गए। उन्हीं हिन्दुओं के गुणों को लेकर 'हिन्दु' की परिभाषा 'मेरु तन्त्र', 'मेदिनी कोष' आदि में की गयी है-'हीनं दूषयति हिसां' दुनोति, हिनस्ति दुष्टान् वा।'' अर्थात् हीन अधम को जो दूषित करे, जाति बहिष्कृत करे, वह हिन्दु है या हिंसक को जो दण्ड दे, वह हिन्दु हैं अथवा दुष्टों का जो हनन करे वह हिन्दु है। हीनता, हिंसा, दोष आदि का ज्ञान अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों से ही होता है, अतः वेदादि शास्त्रानुसारी हिन्दु हुए। वेदादि शास्त्रप्रोक्त धर्म ही हिन्दु धर्म है।

'.....आर्य शब्द भी वस्तुतः उन्हीं श्रेष्ठ लोगों में प्रवृत्त हुआ। .....श्रेष्ठ पुरुषों में आर्य्य शब्द का प्रयोग चला।' ''तिष्टति प्रकृत चारे स वै आर्य्य इति स्मृतः''-(वसिष्ठ) अर्थात् कर्तव्य का पालन करने वाला, अकर्तव्य की उपेक्षा करने वाला, प्रकृताचार में स्थित रहने वाला आर्य्य है। मनु महाराज ने भी सदाचारी को आर्य्य कहा

है–''आर्य्य रूपभिवानार्थ।'' यहाँ भी कर्तव्य, अकर्तव्य, सदाचार, आदि का निर्णय ईश्वरीय ज्ञानानुविद्ध वेदादि शास्त्र के ही आधार पर निर्णीत होता है। अतः वैदिक वर्णाश्रमानुसारी ही आर्य भी है।

वास्तव में, विराट् भगवान् का हृदय प्रवेश भारतवर्ष है, उस पर परब्रह्म परमात्मा के मुख, बाहु, उरु एवम् पाद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति हुयी। इस देश में सब ही प्रकार की ऋतुएँ मिलती हैं, सब ही रंग के मनुष्य मिलते हैं। यही पर सर्वप्रथम मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई तथा धर्म, संस्कृति एवम् सभ्यता का विस्तार हुआ। ''एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनतः। स्वं-स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।।'' .....श्री करपात्री जी महाराज जाति समीक्षण में लिखते हैं कि –''यहीं सृष्टि निर्माण, यहीं वेद का आविर्भाव, यहीं वर्णाश्रम व्यवस्था एवं विश्व धारक-पोषक यज्ञयागादि का विस्तार प्रचलित है। यहीं धर्म रक्षार्थ भगवान् राम, कृष्ण आदि अवतार होते हैं। यहाँ गंगा, यमुना, सरस्वती, आदि महा-पवित्र नदियाँ, महासती, महा-ज्ञानी, भक्त, सन्यासी, त्यागी, आदि होते हैं। व्यक्तियों, समूहों, राजाओं एवम् आचार्यों के प्रमाद, आलस्य तथा अदृष्ट, आदि के कारण स्वधर्म विमुख लोगों ने कृत्रिम धर्मान्तर, आचारान्तर, जात्यन्तर का निर्माण किया। वस्तुतः विश्वरचयिता परमेश्वर एक ही है, उसके शास्त्र तथा वेद, आदि भी कए ही थे, तदुक्त धर्म भी एक ही थे। अतः सम्पूर्ण विश्व की मनुष्य जाति मूलतः भारतीय हिन्दु, वैदिक या सनातन-धर्मी ही हैं। जहाँ वर्ण व्यवस्था लुप्त हो गयी, वैदिक धर्म लुप्त हो गये, उन लोगों में भी मूल हिन्दुत्व है ही। ये यदि वेद, आदि शास्त्रानुसारी भक्ति, ज्ञान, अहिंसा, सत्य ब्रह्मचर्य्यादि उपवृंहित त्रिशल्लक्षण (३० धर्म वाले) सनातन धर्म का पालन करें, तो अब भी हिन्दु ही हैं, उनकी भुक्ति-मुक्ति सब हिन्दु धर्मानुसार हो सकती है।''

***

ब्राह्मण

'ब्राह्मणोऽस्यमुखमयीसीद'–के अनुसार, परमात्मा के मुख से ही ब्राह्मण की उत्पत्ति वेदों में बतलाई गयी है। ८४ लाख योनियों में जन्मते–जन्मते परमेश्वर की कृपा एवम् बड़े सौभाग्य से यह मनुष्य शरीर मिलता है। इस मानव शरीर में पहुँचने से पूर्व तक की सब योनियाँ निन्दित हैं, उनमें अनेकों में बुद्धि नहीं होती, तथा हिताहित का ज्ञान नहीं होता। मनुरूश योनि ही एक ऐसा सोपान है जहाँ से उत्तरोत्तर विकास सम्भव है; यत्नशील होकर क्रमशः ब्राह्मण आदि शरीर प्राप्त करके देवत्व प्राप्त किया जा सकता है, अन्त में उस परम पद की प्राप्ति की जा सकती है जो अव्यय है, शाश्वत तथा सनातन है।

'ब्राह्मणो जन्मनाश्रेयान् सर्वेषामिह प्राणिनाम्।
विद्यया तपसा तुष्ट्या किमु मत्कलया सुतः।।'

ब्राह्मण जन्म से समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ है, वह विद्या, तपस्या, तथा तुष्टि रूप भगवत्कृपा से युक्त हो, तब तो कहना की क्या। 'ब्राह्मणत्वं हि दुष्प्राप्यं निसर्गाद् ब्राह्मणो भवेत्'–ब्राह्मणत्व बड़ा दुष्प्राप्य है, वह निसर्ग से ही पैदा होते है।

'ऊर्ध्व नाभे र्मेध्यतरः पुरुषः परिकल्पितः।
तस्मान्मेध्यतमन्त्वस्य मुख मुक्तं महात्मना।।'

नाभि के ऊपर मनुष्य बहुत पवित्र माना गया है, इससे भी अधिक पवित्र उसका मुख है।

'उत्तमाङ्गोद्भवा ज्ज्यैष्ट्यात् ब्राह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः।।'

उत्तमांग से उत्पन्न होने के कारण, सबसे ज्येष्ठ होने के कारण, तथा ब्रह्म को धारण करने के कारण, ब्राह्मण इस सृष्टि का धर्मतः प्रभु है। 'ब्राह्मण्यां ब्रह्म बीजाद्वै ब्राह्मण एवोच्यते–ब्राह्मणी में ब्रह्मबीज से उत्पन्न ही ब्राह्मण कहा जाता है।' शास्त्रों मं एक स्थान पर ब्राह्मणों के आठ प्रकार के भेद बताये गये है। यथा–(१) मात्र ब्राह्मण–'केवल ब्राह्मण कुल में उत्पन्न वेदाचार विवर्जित', (२) ब्राह्मण–'वेदाक्त–सदाचारी कोमल स्वभाव वाला', (३) श्रोत्रिय–ब्राह्मण–'वेद की एक शाखा को छह अंगों सहित पढ़कर अर्थ–ज्ञान प्राप्त छहों कर्मों में परायण धर्मज्ञ', (४) अनुचान–वेद–वेदांगों का तत्ववेत्ता, निष्पाप, शुद्धान्त करण युक्त अनेक श्रोत्रिय शिष्यों का गुरु, (५) भ्रूण–शिष्ट भोजन करने वाले जितेन्द्रिय, (६) ऋषि–कल्प–ब्राह्मण–'वैदिक–लौकिक

सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके आश्रम में रहते हुए, अपने मन-इन्द्रियों को वश में रखने वाले, (७) ऋषि-ब्राह्मण-'वीर्य वहा नाड़ियों को ऊर्ध्व वाहिनी बनाये रखने वाले, नियमित भोजन करने वाले, शाप अनुग्रह में समर्थ, संशयरहित, तथा सत्य प्रतिज्ञा वाले', (८) मुनि-ब्राह्मण-'संसार के समस्त तत्वों को जानकर निवृत्ति परायण, सवदर्शी तथा ध्यान योगारूढ़'।

इस प्रकार विद्या, वंश और वृत्त से समुज्ज्वल ब्राह्मण त्रिशुक्ल कहे जाते हैं जो प्रातः सवनादिकों में भी पूजे जाते हैं। 'सवर्णेभ्यः सवर्णासु·····'-से अक्षत योनित और अनिंद्य विवाह सम्बन्ध से जो उत्पन्न है वही ब्राह्मण है। शरीर के आरम्भ होने से पहले ही के कर्म संस्कार रूप से कार्य पूर्व क्षणवर्ती होकर देहारम्भक होते हैं और वे ही जाति के आरम्भक भी हैं-'तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः', जो उत्तम आचरण या कर्म वाले हैं वे ब्राह्मण आदि योनि में उत्पन्न होते हैं। स्पष्टतः सर्वत्र गुण, कर्म, स्वभाव-जाति, आयुः भोग के कारण होते हैं। सत्व, रज, तम, गुणों का कभी उभरना तथा कभी दबना स्वाभाविक है। विशिष्ट कुलीन देह प्राप्त करने पर भी, संस्कारों की आवश्यकता होती है। सत्कुल में उत्पन्न बालक के योग्य माता-पिता एवम् आचार्य होने पर सत्ज्ञान, सत्कर्म, आदि के सत्शिक्षण, सत्प्रवर्तन आदि से वे शक्तियाँ उद्भूत हो जाती हैं। इसके विपरीत होने से अर्थात्-सम्बन्ध, शिक्षण, कर्म, संस्कार, आदि के प्रतिकूल होने से वे शक्तियाँ अभिभूत हो जाती है, अथवा दब जाती हैं। जैसे भस्म से ढके अग्निकण में वह शक्ति है जो उपचार पाकर ब्रह्माण्ड को जला सकती है, बिना उपचार के दाह-प्रकाश आदि स्वगुण शून्य होकर बुझ जाती है; वैसे ही दुःसंग, दुर्विचार आदि से समाच्छन्न-कारणगत शक्ति ब्राह्मण शरीर में अवश्य है। यदि शास्त्रानुकूल उपचारों से उसे उत्तेजित कर दिया जाये तो आज भी वशिष्ठ आदि के तुल्य ब्राह्मणत्व सम्पादित किया जा सकता है।

इसी पीड़ा को हृदय में दबाये, घर-घर अलख जगाता एक तरुण सन्यासी देश के इस छोर से उस छोर तक घूम रहा था। तब ही सम्वत् २००१ की आषाढ़ पूर्णिमा के अवसर पर इस सन्त ने ज्ञानवापी की एक सभा में, अपने हृदयोद्गार जिस भाषा में प्रगट किये उसे पढ़ कर इस तरुण तपस्वी सन्त की वेदना एवम् कसक की अनुभूति सहृदय पाठकों को अवश्य होगी-''बड़े भाग्य से मनुष्य जन्म मिला है, उसमें भी आप भारतवर्ष में उत्पन्न हुए हैं, फिर काशी नगरी बार-बार नहीं मिलती, और सन्त समागम सत्संग तो बड़े पुण्य-पुँजों का फल है। भाग्य से आप उच्च कुलोत्पन्न हैं, आस्तिक है, घबड़ाओ मत, सावधानी से चलो, मन स्थिर करो। एक बार के सन्यास से काम नहीं चलता, मैं अपने अनुभव से कहता हूँ, लाख बार सन्यास लेना पड़ता है। तत्परता से लगो, छोड़ो मत, आस्तिक वातावरण में रह कर आस्तिक बनो। मुहल्ला, नगर, प्रान्त, देश तथा विश्व अच्छा रहे तब ही कल्याण है। ·····यज्ञों का फल है-प्रभु

की आराधना बड़े, अतः सत्यसंकल्प-पूर्वक प्रभु की आराधना में लग जाओ। नित्य धर्म की जय, अधर्म का नाश, प्राणियों में सद्भावना एमव् विश्व-कल्याण की कामना से जप-पाठ किया करो, तो काशीवासी की भावना कभी व्यर्थ न होगी। सन्ध्या-वन्दन पर बल दो। काशी में भी गड़बड़ी है, लोग बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाते हैं। अपने शास्त्रों पर श्रद्धा करो। संस्कृत पढ़ना भिख-मंगों के लिए नहीं है, इस बुरी दृष्टि को हटाओ। सत्कर्म का अनुष्ठान करो, संस्कृत पढ़ाने की परिपाटी चलाओ, अपने बच्चों को संस्कारित करो।

मै बहुत दूर से घूमता हुआ आ रहा हूँ। गंगासागर, पुष्कर, अमरनाथ होता हुआ लौटा हूँ। सर्वत्र गड़बड़ी है, विद्वानों, शिक्षकों, उपदेशको की बड़ी आवश्यकता है। आज विद्वानों को इकट्ठा करके विचार किया है कि गड़बड़ी कैसे दूर हो, ठोस ज्ञान कैसे हो। अध्यापक-विद्यालय तथा उपदेशक-विद्यालयों की भी आज एतदर्थ अपेक्षा है। हम चाहते हैं कि अच्छे छात्र ठोस ज्ञान प्राप्त करें, सब जगहों की माँग पूरी होकर ज्ञान-प्रसार हो। निःस्पृह अध्यापकों की आज देश को जरूरत हैं, आदि-आदि।''

लगभग ३० वर्ष पूर्व विश्व की सांस्कृतिक, धार्मिक नगरी काशी में २७ वर्षीय उस युवक सन्यासी के उपर्युक्त उद्बोधक वचन ब्राह्मण जाति का आज भी इस ओर प्रेरित करने का आवाहन कर रहे हैं। जिन्होंने इन से प्रेरणा लेकर इस सत्कार्य में योगदान दिया वे धन्य हैं, परन्तु भूदेव कही जाने वाली इस जाति की जो दुर्दशा आज है, उस पर वेद, शास्त्र, धर्म, गौ, क्या स्वयं लाख-लाख आँसू नहीं बहा रहे है। आज ब्राह्मण जाति किंकर्तव्य-विमूढ़ बनी ऐसी स्थान पर खड़ी है जहाँ पतन-ही-पतन है, सर्वनाश-ही-सर्वनाश है।

ब्राह्मण का ह्रास एवम् उसकी उपेक्षा, वैसे तो शताब्दियों से प्रारम्भ है, परन्तु देश स्वातन्त्र्य के उपरान्त तो इसके प्रति घोर उपेक्षा एवम् तिरस्कार का वातावरण बन गया है। 'यज्ञ कराना', 'विद्या पढ़ाना', 'दान लेना', ये तीन प्रकार की जीविकायें ब्राह्मण की बतायी गयी है। परन्तु यवनकाल एवम् अंग्रेजी शासन के समय अध्यापन इनसे छिन गया। वेदाध्ययन, यज्ञ-सम्पादन एवम् दान तो आज नाम शेष ही रह गये हैं। निर्धनता को सदा अपनी शिलोञ्छ वृत्ति द्वारा ब्राह्मण ने तपस्या का ही पर्याय समझ कर लोक-कल्याण में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। पुरोहित कार्य भी गया। महामात्य पद जो उसकी थाती था उसने खो दिया। व्यवसाय में वह प्रायः अयोग्य, असमर्थ या उदासीन हीरहा। दरिद्रता-दीनता, त्याग-तप, जो ब्राह्मण के सभी भूषर्ण समझे जाते थे, वे ही आज उसे परम निकृष्ट, दीन-हीन एवम् समाज में घृणा की वस्तु बनाने के कारण बन रहे हैं। ब्राह्मण निर्धनता से कभी नहीं घबराया, परन्तु आज देश में उसकी मान-प्रतिष्ठा समाप्त-प्राय है। समाज में तो घृणा का भाव है ही, शासन मे भी उसके प्रति द्वेष भाव है। उसके धार्मिक-विश्वास, पूजा पद्धति, खान-पान, स्पृश्यास्पृश्य,

लोक-परलोक सम्बन्धी ज्ञान का न केवल अनादर किया जा रहा है, अपितु उसको नष्ट करने में ही कल्याण समझा जा रहा है। उसकी कन्याओं का विवाह ब्राह्मणेतर जातियों में करने को प्रोत्साहित किया जा रहा है। उसके प्रिय धर्म-ग्रन्थों को नष्ट किया जा रहा है। उसके पूर्वज महाज्ञानी, लोक-कल्याण कामी, परम-त्यागी, तपस्वी, कन्द-मूल फलाशी, ऋषि, महर्षियों को मूर्ख, गोमांस-भक्षी, शोषक, अत्याचारी बताया जा रहा है। ब्राह्मण जाति में, इस गये-बीते युग में भी अपार शक्ति है। यद्यपि उन पर विपत्ति के पहाड़ टूटे हैं, उनकी दीनता पर किसी का ध्यान नहीं। वे स्वयं भी सर्वस्य त्याग कर-भूल कर, अधर्म कार्यों में रत है। जो ब्राह्मणोचित कर्म है, उनका सर्वथा परित्याग कर, निकृष्ट कर्मो द्वारा येन-केन प्रकारेण धनार्जन की कुप्रवृत्ति में यत्नपूर्वक रत हैं। हो सकता है, उन्हें इससे कुछ लौकिक लाभ मिल जाये। परन्तु जिस गौरवमय पद के वह पात्र हैं, विश्व को कल्याण का मार्ग दिखाने में वे सक्षम हो सकते हैं, मानवता को आधि-व्याधि, शोक-मोह, सन्ताप, दीनता-दरिद्रता के चंगुल से निकाल कर सन्मार्ग की ओर उन्मुख कर सकते हैं, उस मार्ग से वे प्रायः विमुख हो रहे हैं।

ऐसे उल्वण वातावरण एवम् विषम समय में सर्ववेद शाखाओं के प्रतिवर्ष सम्मेलन करके, बड़े-बड़े यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करके, अनेक संस्कृत विद्यालयों की स्थापना करके प्रतिपक्षियों को भी निमन्त्रित कर, मार्ग-व्यय तथा अपने पक्ष के विद्वानों और पण्डितों के समान ही दक्षिणा आदि से सम्मानित कर, इस सुप्त-प्राय ब्राह्मण जाति को उनके स्वरूप का ज्ञान कराने में जो प्राणपण से अहर्निश लगा है, आचार्य शंकर के अवतार उस तपस्वी दण्डी सन्यासी श्री करपात्री स्वाकी के ऋण से क्या यह देश कभी उऋण हो सकता है?

आज ब्राह्मण जाति को स्वयं अपनी दुर्दशा पर विचार करना होगा तथा इसके कारण का अनुसन्धान कर उसका निराकरण करना होगा। उसकी यह परीक्षा की घड़ी है, भगवान् उसके धर्म-प्रेम की परीक्षा ले रहे है। उसका बल न विधा बल रहा है, न शास्त्र बल और शस्त्र बल। वह सदा बाग्बली रहा; परन्तु बिना विद्या एवम् तप बल के मन्त्र बल या शापानुग्रह सामर्थ्य क्षीण हो गयी है। अतः प्रभु की यह असीम अनुकम्पा ही समझनी चाहिए कि हमारी त्रुटियों को बताने वाले सच्चे संत इस समय सुलभ हैं। उनका कथन है कि -''अपनी स्वाभाविकी प्रवृत्तियों के अनुसार यथाशक्ति मन्त्र, जप, पाठ आदि द्वारा भगवान् की प्रसन्नता एवम् उनकी अनुकूलता प्राप्त करने के लिए, अनन्यगति से लग जाने में ही कल्याण है। उनकी शरणागति से वे स्वयम् मार्ग सुझा कर सद्बुद्धि देकर कल्याण करेंगे।'' आज ब्राह्मण वर्ग को आत्म-समीक्षापूर्वक संगठित होकर हीन भावना का परित्याग करते हुए गौरव का पुनः प्राप्त करना ही होगा।

***

राजनीति

'राजनीति' एक ऐसा विषय बन गया है कि आज इसकी चर्चा देश के सुदूर आन्तरिक अंचलों में रहने वाले सीधे-सादे अपढ़ व्यक्ति से लेकर बड़े बड़े नगरों के निवासियों, बुद्धि-जीवियों में नित्य होती है। सर्व-साधारण को मताधिकार के अधिकार, आकाशवाणी के दैनिक प्रसारण एवम् विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित होने वाले अनेक समाचार-पत्रों ने, एक ओर जहाँ जनता में जागृति उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है, वहीं राजनीति जैसे महत्वपूर्ण एवम् गहन-गम्भीर विषय को अत्यन्त छिछला, हल्का एवं सस्ता बना दिया है। जिन्हें राजनीति की 'क-ख-ग' तक का ज्ञान नहीं, वे ही आज राष्ट-नेता बन जाते हैं।

पूज्य श्री स्वामी जी का कथन है कि - ''आश्चर्य है कि आज वकील बनने लिए कानून (Law) पढ़ना पड़ता है। चिकित्सक बनने हेतु आयुर्वेद, एलोपैथी, आदि पढ़नी पड़ती है। इन्जीनियर बनने हेतु नाना प्रकार की शिल्प-विद्याएँ पढ़नी पड़ती है, किन्तु शासन-विधि निर्माता (एम.पी. व एम.एल.ए.) बनने के लिए कुछ भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह अनपढ़ हो, धड़ल्ले से शासक बन बैठता है। जो अपने मुकदमे की पैरवी के लिए घर की स्त्रियों के जेवर तक बेच कर वकीलों की पूजा करता है, वही कानून बनाने वाला 'विधायक' बन जाता है।''

पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज कहते है कि - ''वेद समस्त विद्याओं का उद्गम-स्थान है, फलतः राजनीति एवम् दण्डनीति का भी वही आधार है। सूत्र रूप से वेद-मन्त्रों तथा उपनिषदों में उनका जो वर्णन है, उसी का पुराण है, इतिहास, धर्म-शास्त्र एवम् नीति शास्त्रों में विवरण किया गया है। राजधर्म में सम्पूर्ण राज्य का प्रतिनिधि राजा जी माना जाता है। अतः वहाँ उसी को सदाचारी एवम् स्थिर-स्थावर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। '' .....शासक (राजा) को ध्रुव, स्थिर, सुप्रतिष्ठित, पुरोडाश, आदि, हवि से युक्त ध्रुव-ग्रह (यज्ञीय विशेष पात्र) में स्थित सोम को हम इन्द्र के लिए अवनयन, उपस्थापन करते हैं। .....'आप राज्य सिंहासन पर सर्वदा विराजते रहें, कभी भी प्रच्युत न हों, पर्वत-तुल्य अविचल रहे, इन्द्र की तरह स्थिर रहें, और राष्ट्र का धारण-पोषण करें।' .....'आप राष्ट्र को राजमान ईश्वर स्वरूप वरूण ध्रुव, स्थिर करें.....।' .....'परमात्मा ने प्रजा का अनुरंजन किया, उसी से राजा का आविर्भाव हुआ,'.....'वह राजन् (शासक) रूप परमेश्वर प्रजाओं की उन्नति के अनुकूल चलाए।'

राजा को ईश्वर का प्रतिभू माना जाता है, फलतः उसमें आंशिक रूप से ईश्वर के गुण भी होने चाहिएँ। उसे ईश्वर की भाँति 'कवि', 'मनीषी', 'परिभू' होना चाहिए। इतिहास का अध्ययन कर स्वराष्ट्र एवम् पर-राष्ट्र के अतीत का ज्ञान चारों वेद एवम् वृत्त-पत्रों द्वारा वर्तमान का अनुभव तथा अनुमानों द्वारा भविष्य का अनुमान लगाकर नीति-निर्धारण करना चाहिए। इस प्रकार अतीत अनागत, वर्तमान का दृष्टा राजा ही 'कवि' हो जाता है।

मन का प्रेरक अन्तर्यामी होता है। राजा को भी मन एवम् तदुपलक्षित इन्द्रियों का शासक एवम् नियामक होना चाहिये। इन्द्रियों का गुलाम (दास), मन का किंकर, विषयों का अनुगामी न बन कर उन सबका नियन्ता ही रहना चाहिये। जितेन्द्रिय तथा जित षडवर्ग मनीषी राजा (शासक) ही प्रजा पालन में समर्थ होता है।

ईश्वर परिभू, अर्थात् सबके ऊपर होता है। इसी प्रकार, राजा अपने प्रभाव से सबको प्रभावित करने वाला होना चाहिये। राजा आन्वीक्षिकी, त्रयी विद्या, इण्डनीति एवम् अभ्युदय तथा व्यसन में हर्ष-विवाद का प्रशयन करने वाली ब्रह्मविद्या का भी, उसके वेत्ताओं में ज्ञान प्राप्त कर अभ्यास करता रहे, वह लोक-व्यवहार से कृषि, वाणिज्य, पशु पालन आदि रूप वार्ता शास्त्र का भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे।

राजा को ही पूर्ण धर्म-नियन्त्रित सदाचारी, जितेन्द्रिय, निर्व्यसन, निर्लोभ एवम् ब्रह्मवित् बनाने पर सर्वाधिक जोर दिया जाना चाहिये। जिनके हाथ में आज शासन सूत्र है-राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री एक या अनेक या अन्य जो भी हों, वे राजा ही हैं, इन्हें उपरोक्त गुणों से सम्पन्न होना ही चाहिये। उपरोक्त संक्षिप्त विवरण देने से यही अभिप्रेत है कि स्वामी ने आज की भ्रष्ट राजनीति में आकण्ठ नियमग्न राज नेताओं के समक्ष एवं वैकल्पिक, शुद्ध-सत्वगुणी प्रवृत्ति रखने वाले सच्चरित्र सज्जन, साधु व्यक्तियों के लिए (चुने) जाने की अनिवार्यता पर बल देकर, राजनीति को नया मोड़ देने का प्रयास किया है।

भारतीय राजनीति के प्रमुख ग्रन्थ शुक्र नीति का उद्धरण देते हुए, करपात्री जी अपने मार्क्सवाद और रामराज्य ग्रन्थ में लिखते हैं कि - 'जो राजा प्रकृति की बात नहीं सुनता, वह अन्यायी है। जो प्रजा का रक्षक बन कर भी रक्षा नहीं करता, उस राजा को पागल कुत्ते के समान मार देना चाहिये।' -इस प्रकार, भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक उच्छृंखल नहीं होता था। भारतीय राजनीतिक दर्शन पर विचार करते हुये, वर्तमान लोकतन्त्रीय शासन पद्धति की दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हुये, वे लिखते हैं कि - 'आज के लोकतन्त्र-शासन का आधर मुण्ड गणना है। इसके अनुसार, योग्य-शासकों का संग्रह कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव भी हो जाता है; बहुमत जिसे प्राप्त हो उसी के हाथ में शासन सूत्र आ जाता है। विधान सभा एवम् लोक सभा का काम है-विधान या कानून बनाना, परन्तु भारत में स्थिति यह है कि सैंकड़ों

नहीं, हजारों विधान सभायी (मेम्बर) सदस्य इस प्रकार के हैं, जो कानून से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं और वे ही राष्ट्र के लिए कानून बनाते है।' इसी विवेचन को आगे बढ़ाते हुए, उन्होंने लिखा है कि – 'साधारणतः भारतीय राजनीति शास्त्र वेदों एवम् मन्वादि धर्म–शास्त्रों को ही राष्ट्र का संविधान एवम् कानन मानते हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्रज्ञों एवम् सदाचारी धर्मनिष्ठ विद्वानों की परिषद् 'विधान–निर्णेत्री' है, विधान–निर्मात्री नहीं। शासन परिषद् की सहायता से शासक (राजा) शास्त्रानुसारी विधान द्वारा शासन करता है। राजा या शासक, वह चाहे जन–प्रतिनिधि हो या कुल–परम्परागत राजा, उसका परम कर्तव्य है कि –वह पहले अपने आपको शास्त्र एवम् आचार्यों की शुश्रुषा द्वारा विनय से युक्त बनाए, पश्चात् भूत्यों एवम् प्रजा को विनययुक्त बनाए। शासक को व्यसन–मुक्त होना चाहिए। शुक्रनीति, कामन्दक नीति, आदि में वर्णित अनेक गुणों एवम् विद्याओं से सम्पन्न व्यक्तियों को ही शासक, मन्त्री आदि बनाना चाहिए।'

राजनीति को वर्तमान दूषित वातावरण से मुक्त करने पर बल देते हुए, श्री करपात्री जी लिखते हैं कि – ''आचार्य, संत, महात्मा एवम् विद्वान ही विद्याओं के प्रकाशक, प्रवर्तक एवम् संचालक होते हैं। शासक भी विद्वानों से ही राजनीति का विज्ञान प्राप्त करता है। अतएव स्वराज्य की स्थापना में मित्र लाभ आदि, से भी प्रथम विद्या–चिन्तन का ही निर्देश किया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण लोक–स्थिति विद्या पर ही निर्भर होती है। राजा को सक्रिय विद्वानो के साथ बैठ कर विनययुक्त होकर आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवम् दण्डनीति का विचार करना चाहिए।' ·····राजनीति के अयोग्यों, नास्तिकों के हाथ में आते ही, विद्वानों के भी मुँह बन्द हो जाते हैं। शासकों से भयभीत विद्वान स्पष्ट सत्य कहने में हिचकने लगते हैं। आचार्य, साधु–सन्त भी या तो चुप साध लेते हैं, या सरकारी साधु–समाजों में प्रविष्ट होकर ईश्वर गुणगान के बदले सरकार का गुण गान करने लगते हैं। गोहत्या, धर्म–हत्या जैसे जघन्य कृत्यों को देख कर भी, वे मौन रहते हैं और इन सबके प्रवर्तक, प्रेरक सरकार के गुण–गान करते हैं। जनता भी भ्रम में पड़ जाती है कि – कौन सच्चा साधु है, कौन सरकारी साधु? शास्त्र एवम् धर्म के नियन्त्रण से शून्य उच्छृंखल–शासक जनता के धर्म के साथ धन का भी अपहरण कर लेते हैं। राष्ट्रीयकरण तथा समाजीकरण आदि नामों से जनता की व्यक्तिगत भूमि–सम्पत्ति, आदि ले लेते हैं। जनता के व्यक्ति शासन–यन्त्र के नगण्य पुर्जे बन जाते हैं। शासन–यन्त्र, तानाशाह शासकों के हाथ का खिलौना बन जाता है। उच्छृंखल शासकों की इच्छा ही कानून–कायदा बन जाती है। सनातन–सत्य, न्याय, विवेक तथा शास्त्र–सब लुप्त हो जाते हैं। धनहीन होने के कारण जनता में ऐसे शासन के विरोध की भी शक्ति नहीं रह जाती।

आज के सरकारी साधु–समाज का यह प्रस्ताव कि – 'साधु–समाज गोहत्या–बन्दी आन्दोलन का समर्थन नहीं कर सकता, क्योंकि वह ऐसे अपराधी साधुओं द्वारा

चलाया गया है, जिनसे साधु-समाज की सत्ता को बहुत ठेस पहुँची हैं', आँख खोल देने वाला है। विश्वनाथ-मन्दिर-हरिजन प्रवेश, हिन्दू विवाह, तलाक (विवाह-विच्छेद), आदि प्रश्नों पर सरकारी साधुओं एवं सरकारी पण्डितों का चुप रहना भी एक विचित्र बात है। आचार्य कहे जाने वाले लोगों की भीषण निद्रा या जान-बूझ कर आँख मीचने की बात भी, इसी ओर संकेत करती है कि-राजनीति के विलुप्त होने के बाद सब विद्याएँ व्यर्थ हो जाती है।.....इस सम्पूर्ण भयावह धर्म-विहीन भ्रष्ट राजनीति के परित्राण की ओर ध्यान दिलाते हुए, वर्तमान युग का यह मनीषी कहता है कि-'नास्तिकों के हाथ से राजनीति का उद्धार करना, योग्य धार्मिक सुशील लोगों के हाथ में राजनीति लाने के लिए विद्वानों का प्रयत्न अत्यावश्यक है ही, क्योंकि राजनीति के नष्ट होने पर त्रयीधर्म डूब जाने की बात आती है। अराजक या उच्छृंखल राजा के धर्महीन अधार्मिक राज्य में कोई पनप ही नहीं सकता। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के लौकिक-परलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस के सम्पादन में होने वाले सब प्रकार के विघ्नों को रोक कर सब प्रकार की सुविधा उपस्थित करना भारतीय राजधर्म, राजनीति या क्षात्र-धर्म का मूल-मन्त्र है।.....इस राज्यधर्म का पालन श्रुताध्ययन-सम्पन्न धर्मज्ञ, सत्यवादी, राग-द्वेष-विहीन, विद्वानों की सहायता बिना राजा भी नहीं कर सकता, अतः शासक के लिए आवश्यक है कि वह ऐसे विद्वानों को अपना सभासद् बनाए।'

भारत में, प्राचीन कालीन-वे परम निरपेक्ष-विरक्त त्यागी-तपस्वी विद्वान भी, लोक-कल्याण कामना से राजनीति में हस्तक्षेप करते थे। देव गुरु वृहस्पति, शुक्राचार्य, वसिष्ठ, धौम्य, व्यास, कृष्ण, विदुर, चाणक्य, समर्थ गुरु रामदास प्रभृति महात्माओं के राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप पूर्वक उसके संचालन के प्रत्यक्ष उदाहरण है। .....जैसे बिना लगाम के घोड़ा तथा अंकुश बिना हाथी हानिकारक होते हैं, वैसे ही अंकुश एवं नियन्त्रण बिना शासन भी हानिकारक होता है, उस पर भी नियन्त्रण होना चाहिए। इसीलिए धर्म नियन्त्रित-शासन तन्त्र का सिद्धान्त है। धर्म, कर्म, संस्कृति, धर्म-संस्था की रक्षा तभी हो सकती है जब शासक धर्म नियन्त्रित हो, अन्यथा उच्छृंखल शासक सब चौपट कर देता है। इस प्रकार, विद्वान एवं महात्मा राजतन्त्र शासन में भी, राजनीति में हस्तक्षेप करते थे। अब जो जनतन्त्र-शासन है, इसमें तो सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित होती ही है। अतः राजनीतिक दक्षता सम्पादन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। जहाँ न राजतन्त्र हों, न जनतन्त्र हो, किन्तु अधिनायक तन्त्र हो, वहाँ पर तो विशिष्ट दक्ष राजनीतिक विद्वानों एवं महात्माओं के अतिरिक्त अन्य कुछ कर ही नहीं सकता। जनता का संग्रह, उसे प्रोत्साहन देना, क्रान्ति के लिए तैयार करना भी उन्हीं के वश की बात है। ऐसे समय में, धर्म एवं धर्म शास्त्रों की रक्षार्थ विद्वानों को सामने आना पड़ता है। इसलिए यह जो कहते हैं कि - 'राजनीति में महात्माओं-साधुओं का क्या काम है?' उनके लिए स्वामी जी का स्पष्ट उद्घोष है कि, तो क्या राजनीति गुण्डों

की अपौती है जो गुण्डा-गर्दी के लिए उन्हें खुली छूट दे दी जाए और साधु पुरुष टुकर-टुकर देखते रहें? उनका कथन है कि, 'जो समर्थ होने पर भी सर्व प्रकार से धर्म रक्षार्थ प्रयत्नशील नहीं होता, वह पाप का भागी होता है।'.....मनसा, वाचा, कर्मणा, प्राणी-रक्षण करना, प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना, अहिंसा, आदि यमों का यही अभिप्राय है। यही लोक रक्षण, धर्मरक्षण, राजनीति का मुख्य लक्ष्य है, यही क्षतत्राण है। इसी कारण कालकवृक्षीय, जैसे अरण्यवासी, चाणक्य जैसे बाल-ब्रह्मचारी, समर्थ स्वामी जैसे निवृत्तिनिष्ठ लोग भी इस कार्य में संलग्न हुए। फिर भले ही इसमें सफलता मिले या न मिले, समुचित प्रयत्न कभी निष्फल नहीं होता, उसका अदृष्ट फल तो अवश्य ही प्राप्त होता है। अतः वर्तमान अवसर पर जबकि जनता के धन-धर्म पर संकट उपस्थित है, विशिष्ट विद्वानों, महात्माओं तथा धार्मिक सद्गृहस्थों को भी राजनीति से न डर कर आगे आना चाहिये। धर्म-रक्षण को लिए, जो भी आवश्यक कार्य ही करना चाहिए। 'कोऊ नृप होऊ हमहिं का हानी'-वाली मूर्खतापूर्ण उदासीनता का परित्याग करना चाहिए। यही आज की राजनीतिक पुकार है।

***

''जैसे घर में चींटी, छिपकली, पक्षी, चूहे आदि भी निर्मोह बने रहते है उन्हें घर से कोई मोह ममता नहीं। इसी प्रकार मनुष्य को भी इस संसार में निर्मोही बनकर रहना चाहिये। यह नहीं कि मेरा घर है, मेरा आश्रम है, मैं इसका स्वामी हूँ इत्यादि। जहाँ शाम हो जाय वहीं विश्राम। साधु को घर बनाकर नहीं रहना चाहिये। साँप कहीं घर बनाता है, चूहे के घर में घुस जाता है, बना बनाया घर भी मिल जाता है भोजन भी। अतः कभी भी इस संसार मं मालिक बनकर मत रहो। आप ही विचार करो कि उपरोक्त भारतीय त्यागमय विचारधारा से आप कितने दूर जा रहे हो और व्यर्थ में मिथ्या अभिमान में अकड़े, अहँकार में भरे अपने सर्वनाश में रात दिन लगे हुये हो।''

दर्शन

आज सब ही तो पश्चिम की ओर दौड़ रहे है, उधर ही देख रहे हैं, ज्ञान-विज्ञान ही नहीं अर्थ काम के लिए भी उसी ओर उन्मुख है। भारतीय जनता भी, चिरपारतन्त्र्य् के अनन्तर अपने अतीत के गौरव को भूल कर पाश्चात्य जड़ विज्ञान के प्रति कम आकर्षित नहीं है, मानों ज्ञान का सूर्य पश्चिम में ही उगने लगा हो। यूनान, हीगेल, प्लेटो, अरस्तू, आल्बूसिंयस, ग्रीशस, थामस, हॉब्स, जॉनलॉक, रूसो आदि के दर्शन एवं विचारों को जानने की जितनी उत्कट अभिलाषा इधर भारतीयों में उत्पन्न हुयी उसका शतांश भी, भारतीय ग्रन्थों से जानने की भावना उनमें नहीं दीखती। लेकिन, मार्क्स, स्टालिन, माओ, डार्विन, स्पेन्सर, ऐंजिस्ल, काष्ट और फिक्टे के विचारों को जानने हेतु तो हमारे विद्यार्थी एवं विद्वान उत्सुक रहते हैं, परन्तु इन तथाकथित आधुनिक सिद्धान्तों एवं विचाराकों से कहीं श्रेष्ठ एवं पूर्ण भारतीय सिद्धान्तों के अध्ययन, मनन एवं उनके प्रचार हेतु आज इच्छा भी शेष नहीं रह गयी है। श्री स्वामी करपात्री जी महाराज उद्भट् विद्वान, त्यागी-तपस्वी ही नहीं, अपितु विश्व राजनीति एवं दर्शनों के गहन अध्येता हैं; दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाने पर भी आज विश्व में उनके जोड़ का निष्पक्ष-विचारक, उत्कृष्ट-दार्शनिक, अर्थशास्त्री, तत्त्व-वेत्ता, आत्म-ज्ञानी, वीतराग, कर्मठ-संन्यासी एवं लोव-हितैषी वेदज्ञ दूसरा नहीं दीखता। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन पौर्वात्य एवं पाश्चात्य उपलब्ध साहित्य के मन्थन में लगाकर जो नवनीत रूपी सुविचारित-तत्व संसार के समक्ष उपस्थित किया है, मनीषियों एवं बुद्धि-जीवियों के लिए वह उच्चकोटि की सामग्री है। इन विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर भारतीय ऋषियों के वैदिक मत का प्रतिपादन करके वर्तमान समय के इस महर्षि ने जो राष्ट्र की सेवा की है, उसकी भले ही आज हम अज्ञानवश उपेक्षा करें या समुचित महत्व न दें, परन्तु आने वाले निष्पक्ष विचारक विद्वान एवं ईमानदार इतिहास लेखक अवश्य इसका मूल्यांकन करेंगे। दर्शन की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं कि - ''यूनानी-'फिलासफस' शब्द ज्ञान और प्रेम के अर्थ में प्रयुक्त होता था। उसी के आधार पर अंग्रेजी का 'फिलासफी' शब्द प्रचलित हुआ। यद्यपि सविस्तार मीमांसा या विवेचना ही इसका अर्थ है, फिर भी विषय-विशेष के संक्षिप्त विचारदर्शन के लिए भी 'फिलासफी' शब्द व्यवहृत होता है। आजकल तो दर्शन की एक-एक शाखा के लिए भी 'फिलासफी' शब्द का प्रयोग होता है। उनके मत में 'दर्शन'

युगधारा का परिचायक होता है। युग संघर्ष से ही उसका जन्म हुआ है। दर्शन का उसके निर्माताओं के जीवन की घटनाओं से भी सम्बन्ध होता है। प्लेटो राजकुल में शिक्षक था, इसलिए उसके दर्शन में राज-सम्बन्ध का असाधारण प्रभाव है। हेराक्लिटिस दलित वर्ग में पैदा हुआ, अतः उसका दर्शन परिवर्तन प्रवर्तक हो गया, क्योंकि दलित करने वाली दूसरी श्रेणी का परिवर्तन आवश्यक था। हेलमूसियर मध्यम श्रेणी का प्रतिनिधि था और कार्लमार्क्स उदीयमान श्रमिकों का अतः उनके अनुसार ही उनके दर्शन भी बने। असाधारण विप्लव काल में मार्क्स का जन्म हुआ। फलतः उसका जीवन क्रान्तिकारी रहा और वैसा ही उसका दर्शन भी। ····यद्यपि अंशतः यह ठीक है, तथापि यह स्वाभाविक स्थिति नहीं है। ऐसे विचारों को 'दर्शन' नाम नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इनमें भावनाओं का प्राधान्य है। परन्तु भावनायें दर्शन नहीं होती।' ·····करपात्री जी इसे और स्पष्ट करते हुए, आगे लिखते है कि -'जैसे नमक के पर्वत पर रहने वाली चींटी मिश्री के पर्वत पर जाकर मिश्री की मिठास का तब तक अनुभव नहीं कर सकती, जब तक कि वह अपने मुँह से नमक के कणों को निकाल न दे। ठीक इसी तरह, राग-द्वेष, सम्पत्ति-विपत्ति, व्यक्तिगत परिस्थिति तथा वातावरण के अभाव से तपस्या, सदाचार, निःस्पृहता एवं योगाभ्यास, आदि के सहारे जब तक ऊँचा नहीं उठा जा सकता, तब तक सूक्ष्म विषयों का यथार्थ ज्ञान कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।'·····अतः तत्-तत् व्यक्ति के भावना प्रधान विचारों का दर्शन की संज्ञा नहीं दी जा सकती। भारतीय दृष्टि से पवित्र विचार अर्थात् धर्म, ब्रह्मादि पवित्र वस्तु सम्बन्ध कल्याणकारी पवित्र विवेचन मीमांसा है- 'माने जिज्ञासायाम्', और वस्तु-तत्त्व परम सत्य का निर्दोष प्रमात्मक अनुभव कराने वाला विचार 'दर्शन' कहा जाता है- 'दृश्यते वस्तु याथात्म्यं अनेन इति दर्शनम्'। दूसरे शब्दों में, प्रमाण द्वारा आत्मानात्मा का ज्ञान जिससे होता है, उसका नाम 'दर्शन-शास्त्र' है। प्रमाण अज्ञात ज्ञापक होते हैं, अकृतकारक नहीं। ज्ञान, कर्म के समान पुरुष के अधीन नहीं होता। कम करने, न करने, उल्टा करने में पुरुष स्वतन्त्र हैं, किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। प्रमाण-प्रमेय के परस्पर सम्बन्ध हो जाने पर, इच्छा न रहने पर भी दुर्गन्धादि का ज्ञान होता ही है। दर्शन प्रमाण-परतन्त्र होतो है। प्रमाण अनुरोधक-विरोधक सब ही प्रकार के होते हैं। उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम मुख्य हैं, प्रत्यक्षानुमान का भी आगमानुसरण आवश्यक है। इसके बिना कितने ही अनुमानाभास भी अनुभव के रूप में सामने आते हैं। जैसे कोई नरशिर के कपाल की हड्डी को प्राण्यङ्ग समझ कर शङ्ख तुल्य पवित्र मान सकता है; परन्तु यह अनुमानाभास है। अतएव पवित्र बुद्धि के मनुष्य-'नर-शिरः कपाल शुचिः प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खवत्', इस अनुमान का तिरस्कार कर 'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेह सवासा जलमाविशेत्' इस अनुमानानुसार जुगुप्सित नर शिर की अस्थि का स्पर्श हो जाने पर सचैल। स्नान कर अपने को पुनः शुद्ध करते हैं।

कुछ लोगों का ऐसा भी मत है कि – 'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, यह विश्व क्या है?'–आदि का चिन्तन तथा विवेचन 'दर्शन' है। .....कुछ विद्वान प्रकृति तथा उसके व्यापार का अध्ययन एवं उसके भीतर एकता देखने को दर्शन कहते है। परन्तु इन मतों में भी अधिक सत्यता मात्र है। सब ही दर्शन, सब ही विषयों में आदरणीय भी नहीं हो सकते। जैसे–अंधों ने हाथी के जितने अंग जिस रूप में अनुभव किए उसी ढंग से उसका वर्णन किया। न इसे सम्पूर्ण मिथ्या ही कहा जा सकता है और न पूर्णतया सत्य ही। विशेषतया पाश्चात्य दर्शनों के सम्बन्ध में तो अत्यन्त वैरूप्य है। .....भारतीय दर्शनों में भी, यद्यपि इतना अधिक वैरूप्य नहीं है, क्योंकि उनके मूल अनादि अपौरूषेय वेद, तदाधारित शास्त्र, योग–जऋतम्भरा प्रज्ञा तथा लौकिक प्रत्यक्षानुमान हैं, तथापि सब ही विषयों में सब ही ऋषियों का समान आदर नहीं, अपितु जिस विषय में जिस ऋषि ने धारणा, ध्यान समाधि, आदि द्वारा तत्त्वानुभूति प्राप्त की, उसी विषय में उसका सार्वभौम आदर है। जैसे–शब्द के सम्बन्ध में पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि का एवं वाक्य विचार, आदि में–जैमिनि, व्यास आदि का। श्री स्वामी करपात्री जी पाश्चात्य–भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक विशद विवेचन करते हुए कहते हैं कि –''पाश्चात्य दर्शनों में अधिकांश का जन्म कुतूहल–बुद्धि एवं ज्ञान–पिपासा शान्ति की दृष्टि से ही हुआ है। अनेक पाश्चात्य–दर्शनों का प्रादुर्भाव राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी हुआ है; किन्तु भारतीय दर्शनों का अन्तिम उद्देश्यदु:ख–निवृत्ति, मृत्यु–विजय तथा मोक्ष–प्राप्ति ही है, अवान्तर उद्देश्य अर्थ–काम–धनार्जन भी है।

श्री स्वामी करपात्री जी का यूनानी दार्शनिक–थैलीज, एनैक्सीमैन्डर, एनैक्सी–मैनीज, हिप्पो तथा डायोजिनीज के मतों पर विचार करते हुए कथन है कि – भारतीय दर्शनों के लिए यह सब कुछ नया नहीं है। पीथागोरस, अनाक्सागोरस, एम्पीडोल्कीज, डीमोक्रीटस, सुकरात, अरस्तू, त्रासिस्कन, जान स्टोक्टस, एरिगेना, रोजिलिनस, ट्रोपिनिकल, एलबर्टस, स्कोट्स, ऐरिगेना, रोजिनलस, बेकन, देकार्ते, ह्यूम, स्पिनोजा, हाब्स, लाइवमिट्स, बर्कले, कान्ट, डारविन, कावानी, हल्वांश, दीदेरो, वफो, दकेसी, हेलवेशियस, हेगेल, कार्लमार्क्स, वाल्टेयर, फायरवाख, ऐंगिल्स, आदि सब ही पाश्चात्य विचारकों एवं दर्शन शास्त्रियों के मतों को प्रस्तुत करते हुए, उनकी भारतीय दर्शन शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों से तुलनात्मक समीक्षा करते हुए, उन्होंने बड़ी ही शालीनता, निष्पक्षता एवं गुणग्राहकता की भावना से बिना किसी पूर्वाग्रह के संयत, शिष्ट एवं शास्त्रीय शैली में समीक्षा प्रस्तुत की है। जहाँ भी कोई उत्तम सत्य एवं सुविचारित–सुनिर्णीत मत उन्होंने देखा उसे नि:संकोच भावसे, उसका आदर करते हुए प्रशंसा की है। साथ ही, कौन अंश–कौन सा सिद्धाँत–किस भारतीय सिद्धान्त का रूपान्तर है, अथवा जिसकी पूर्णता कि भारतीय

सिद्धाँत में किस प्रकार से, कहाँ होती है। इसका बड़े ही मौलिक रूप से प्रस्तुतीकरण किया है। सचमुच सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन को एक शब्द 'मार्क्सवाद' तथा सम्पूर्ण पौर्वात्य सिद्धाँत-दर्शन-राजनीति, आदि को 'रामराज्य' शब्द की व्यापक परिभाषा के अर्न्तगत लाकर विश्व राजनीति एवं दर्शन के इस महानग्रन्थ 'मार्क्सवाद एवं रामराज्य' की राष्ट्र भाषा हिन्दी में रचना करके श्री करपात्री जी महाराज ने विश्व के विचारकों, दार्शनिकों, बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों, समाज-सेवियों एवं धर्मशील विद्वानों के समक्ष जो विचार रखा है, सत्यान्वेषी विद्वज्जन सदैव उसके लिए उन्हें स्मरण करते रहेंगे। सबसे बड़ी बात जो इसमें देखने में आती है: यह है कि - श्री स्वामी जी पग-पग पर विद्वानों के सामने विचार हेतु सुस्पष्ट सामग्री-सिद्धान्त रखते हुए, उन्हें आलोचना हेतु कलम उठाने को आमन्त्रित करते-से लगते हैं। पाठक को ऐसा अनुभव होता है कि - जैसे, स्वामी जी सम्पूर्ण विश्व के सामने एक महान् विनम्र चुनौती रख कर ज्ञान-पिपासुओं की जिज्ञासा पूर्ति तथा तत्व निर्णय हेतु आवाहन सा कर रहे हों। महा-पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस पर एक छोटी सी पुस्तिका लिख कर कलम उठाने का प्रयास अवश्य किया है, जिसका खण्डन पुन: स्वामी करपात्री जी ने अपनी पुस्तक-'राहुल जी की भ्रान्ति' में डटकर किया है। तब से दर्शन एवं राजनीति के विश्व कोष, इस ग्रन्थ पर कलम उठाने का कोई भी साहस नही कर सका है। एक ही अभाव खटकता है कि, कोई विद्वान इस ग्रन्थ की भाषा-भावना में गहरे बैठकर उसका अनुवाद अंग्रेजी में करने के लिए सक्षम नहीं हो सका है, इसीलिए इस महान् ग्रन्थ पर अपेक्षित विचार नहीं हो सका है। क्या-क्या उद्घृत करें, क्या-क्या लिखा जाये, यही विचार कर श्री करपात्री जी के उक्त ग्रन्थ से ही एक-दो मत देकर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

''.....जैसे व्यावृत्त पुष्पों में अनुवृत सूत्र को पहले ही मानना पड़ेगा (माला के फूलों से पहले सूत के धागे का होना), उसी तरह व्यावृत्त भूतों से पहले ही सब में अनुवृत्त सत् तथा तत्स्वरूप बोध को मानना अनिवार्य होगा : कोई प्रयोग, प्रयोक्ता एवं प्रयोगफल भी स्वप्रकाश सत् के बिना सिद्ध नहीं हो सकते। फिर बोध के प्रथम भूत को मानना सर्वथा ही निराधार है। वस्तुत: जैसे - घटानुस्यूत मृत्तिका-सामान्य ही घट-विशेष रूप से उपलब्ध होता है; कटक, मुकुट, आदि में अनुस्यूत सुवर्ण-सामान्य ही कटक, आदि सुवर्ण विशेष रूप से व्यक्त होता है, वैसे ही सर्व प्रपञ्चानुस्यूत सत्सामान्य ही सद् विशेष प्रपञ्च के रूप में उपलब्ध होता है। अत: यही सर्वप्रथम है।''

''वेदान्त मत में ज्ञानस्वरूप आत्मा निर्विकार है। मन (अन्त:करण) आत्मा से भिन्न प्राकृतिक है। चित्त, अहंकार, आदि के समान ही पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ, पँच-

कर्मेन्द्रियाँ भी प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों से ही बनी है। स्थूल देह से भिन्न पँच-प्राण सहि उक्त मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं कर्म-ज्ञानेन्द्रियों को मिला कर सूक्ष्म या लिंग शरीर कहा गया है। स्थूल देह के नष्ट होने पर भी, यह सूक्ष्म शरीर रहतना है। इसी के आधार पर व्यापक आत्मा का गमनागमनादि बनता है। इस से भिन्न एक रजस्तमोलेशानुबिद्ध, अतएव अविशुद्ध सत्वप्रधाना अविद्यारूपी कारण शरीर भी भाग्य है, जिसका तत्त्वसाक्षात्कार से ही बोध होता है। इस प्रकार, वह अनादिसान्त है। मूल प्रकृति भी अनादि-सान्त है। सम्पूर्ण प्रपञ्च पञ्च-भूतात्मक है। उन भूतों की ग्राहक इन्द्रियाँ भी, सूक्ष्म भूतों का ही परिणाम है। विभिन्न कारणों में स्वकार्यानुकूल शक्ति होती है। इसी प्रकार, ब्रह्म में भी सर्व प्रपञ्चात्पादिनी शक्ति होती है। इसी को मूल प्रकृति कहा जाता है। चेतन ईश्वर, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी होता है। कर्मो के अनुसार, जन्म-मरण के समान ही संसार का सृष्टि-प्रलय होता है। संसार का कर्मो के साथ असाधारण सम्बन्ध है। मोक्ष या भगवत्प्राप्ति संसार के जीवों का चरम लक्ष्य है। वस्तुतः, इन सब ही विषयों का विवेचन 'दर्शन' में आ जाता है।''

***

''जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मानव को सब प्रकार से चित्त पर अधिकार प्राप्त करना चाहिये। अदृष्ट से दृष्ट का निर्माण होतो है। अन्ततः पुण्य पाप अदृष्ट ही है, उन्हीं से दृष्ट शरीर बनता है। प्राणियों के अदृष्ट से ही क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर ये पाँचों मिलकर सृष्टि के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे स्वर्णकार बने हुए कटक-कुन्डलों को तोड़कर स्वर्ण को अन्य आभूषणों के रूप मे ंपरिणत कर देता है वैसे ही मानव के पुण्य पापकर्मो के वश स्थूल शरीर में कर्तव्य-भोक्तृत्वाभिनिवेश होने से, हुए कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। अतः शास्त्रों के द्वारा शुभ-कर्मो को जानकर कर्तव्य-भोक्तृत्वादि अभिमान छोड़कर भगवदर्पण बुद्धया कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्राप्ति में सहायक होता है।''

मातृदेवोभव

जहाँ एक ओर, स्त्रियों के विषय में बड़े-बड़े सुधारवादी-अर्थात् कल्याणकारी वचन कहे जाते हैं, वही भारतीय नारी के विषय में अनर्गल प्रलाप करने का रिवाज (फैशन-सा) बन गया है। बड़ी ही आकर्षक एवम् लुभावनी भाषा में पाश्चात्य विचारकों ने स्वकल्पित सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए स्त्री समाज को जो दिशा प्रदान की है-उसके कुपरिणाम अभी से सामने आने लगे है। वे कहते हैं कि - ''स्त्री को पुरुष की प्रधानता मानकर उसकी सम्पत्ति बन जाना पड़ा। उस समय (प्राचीन काल में) वैयक्तिक सम्पत्ति का चलन था, इसीलिए स्त्री सम्पूर्ण कबीले या परिवार की साझी (सामूहिक) सम्पत्ति थी।''

मार्क्सवाद में, स्त्री-पुरुष सदाचार का चाहे कितनी भी लीपा-पोती के साथ महत्व गाया गया, परन्तु प्रमुख रूप से यह प्रश्न बना ही रहेगा कि-'क्या एक गिलास-भर पानी के लिए गले में बाल्टी बाँधकर घूमते रहें? कहीं भी गिलास भर पानी मिल सकता है।' मार्क्सवाद आगे कहता है कि - 'औद्योगिक युग में, आवश्यकता पड़ने पर स्त्रियाँ भी पुरुषों के बराबर शारीरिक श्रम करने लगेंगी।' अब एक की कमाई से काम न चला, अतः स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर मजदूरी करने लगे, अब उन्हें साथी कहा जाने लगा, परन्तु फिर भी उन्हें यह उपदेश दिया गया कि-परिवार की रक्षा के लिए उन्हें एक पुरुष के अतिरिक्त और किसी की तरफ नहीं देखना चाहिए-पूँजीवादी प्रणाली में स्त्री की स्थिति इसी नियम पर है।

आर्थिक दृष्टिकोण से, जीवन के उपायों को प्राप्त करने के लिए, स्त्री पुरुष के आधीन रही। चूँकि स्त्री के मस्तिष्क में भी, पुरुष की तरह सोचने-विचारने तथा उपाय ढूँढ निकालने की सामर्थ्य है, अतः पुरुष उसे गले में रस्सी बाँध कर न रख सका; परन्तु स्त्री के व्यवहार पर ऐसे प्रतिबन्ध लगाए गए जो कि सम्पत्ति के आधार पर बने परिवार की रक्षा के लिए आवश्यक थे। सन्तान विषयक झगड़े ने हों, परिवार नष्ट न हो, अतः स्त्री को पतिव्रत धर्म का उपदेश दिया गया। उसे समझा-बुझाकर, विश्वास दिलाकर, समाज में 'मुख्य पुरुष' के हित के अनुसार चलने को बाध्य किया गया। इसीलिए पुरुष और समाज के हाथ में जितने भी ऐसे साधन-धर्म, रीति-रिवाज, आदि के रूप में थे, उन सबसे स्त्री को पुरुष के आधीन होकर चलने की शिक्षा दी गयी। उसे यह समझाया गया कि - अब चाहे वह पुरुष का मुकाबला भले ही करले, परन्तु

बाद में उसे पछताना पड़ेगा, क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता से भगवान् रुष्ट हो जाते हैं। .....आदि, आदि।

उपर्युक्त विचारधारा पर विचार करते हुए, श्री करपात्री जी अपने 'मार्क्सवाद और रामराज्य' ग्रन्थ में लिखते हैं कि – 'मार्क्सवादियों की ऐतिहासिक कल्पनाएँ सर्वथा निराधार हैं। जगत्–प्रपञ्च निरीश्वर नहीं है। सर्वज्ञ ईश्वर की सृष्टि लावारिस (निराधार) एवम् निर्विवेक भी नहीं थी। आदिम काल के ब्रह्मा, अत्रि, अङ्गिरा, भृगु, वृहस्पति, शुक्र, आदि आधुनिक लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान् और बलवान थे। स्वार्थमूलक संघर्ष जैसे आज चलता है, वैसे ही कभी पहले भी चलता था। कठिन अवसरों पर स्त्रियाँ भी लड़ाई में शामिल होती थी। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, दुर्गा के अनेक अवतरों–महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, आदि द्वारा मधु–कैटभ, महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्ड, धूमलोचन आदि दानवों का संहार है। पत्नी रूप में नारी पुरूष की भोग्या है, परतु माता के रूप में वही पुत्र की पूज्या है। शृंगार रस के लिए नारी कोमलांगी है, परन्तु प्रचण्ड दैत्य–दर्प–दलन में वही भीषण कराल–कालिका है। भगवती की यह गर्जना मार्क्सवादियों ने कभी नहीं सुनी कि–'जो मुझे संग्राम में जीत ले, जो मेरा दर्प दूर कर सके और जो मेरे समान बलवान हो, वही मेरा भर्ता हो सकता है।' नारी सदा से ही शक्ति का प्रतीक रही है और पुरुष शिव का प्रतीक रहा है। उसका ही राम के साथ सीता रूप में, विष्णु के साथ लक्ष्मी रूप में, ब्रह्मा के साथ सरस्वती रूप में और कृष्ण के साथ राधा एवम् रूक्मिणी रूप में आदर होता रहा है। वह रणाङ्गण में प्रचण्ड रूपधारिणी होने पर भी शिव के विश्राम एवम् विनोद के लिए 'सत्य–शिव–सुन्दरम्' की प्रतिमा बन कर परम कोमलांगी एवम् रक्षणीय–रूप में व्यक्त होती थी। वह साझे की सम्पत्ति कभी नहीं रही। वह सदैव ही गृहस्वामिनी एवम् गृह–लक्ष्मी रही है। द्रौपदी व मारिषा(वृक्षपुत्री) का उदाहरण विशेषकर शाप मूलक अपवाद रूप घटनाएँ है। वे आचार में प्रमाण नहीं है। आचार में उदाहरण का आदर न होकर विधि (कास्टिट्यूशन) का ही आदर होता है। उसके उदाहरण सती, सीता, सावित्री, दमयन्ती, अरून्धती, अनुसूया, लोपामुद्रा, शाण्डिली आदि माताएँ है।

मार्क्सीय वैयक्तिक सम्पत्ति सम्बन्धी प्रथा को प्रामाणिक बताते हुए, श्री करपात्री जी कहते है कि – 'ईश्वर की सृष्टि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही थी। उसी के उत्तराधिकार रूप में वह उसकी संतति नभूत विभिन्न प्राणियों को मिली। – मुख्य रूप से दाय से और फिर जय, क्रय, दान, पुरस्कार, आदि रूप में ही भूमि–सम्पत्ति, आदि पर व्यक्तिगत अधिकार हुए है। अपने–अपने कर्मो से सुख–दुःख एवम् तत्तन्साधनों का व्यक्तिगत सम्बन्ध हुआ है। कर्मो के ही तारतम्य से साधनों की भी तारतम्यरूप से प्राप्ति होती है। कन्या पर उसके माता–पिता का स्वत्व रहता है। पिता जिस पुरुष को

अपनी कन्या दान करता है वह कन्या का पति होता है। माता-पिता के न रहने पर भाई आदि का उस पर स्वत्व होता है। वे जिसे देते हैं वही उसका पति होता है। कन्या का भी अपने पर स्वत्व होता है। अतः वह स्वयं भी जिसे आत्मसमर्पण करती है, वह उसका पति होता है। कन्या ऐसी वस्तु नहीं है कि-जो भी चाहे उसे अपना ले, या साझेदारी की वस्तु बना ले। स्त्री सम्बन्ध की मार्क्सीय ऐतिहासिक धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। मनु की दृष्टि से तो जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता एवम् सभी सद्गुण रमते हैं, जहाँ उनकी पूजा नहीं होती वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल होती है।''

.....'पुरुष सदैव ही नारी को माता के रूप में पूज्य एवम् मार्गदर्शक मानता रहा है। पत्नी रूप में प्राणों से भी अधिक प्रिय एवम् हृदयेश्वरी बनाकर उसे अपना सर्वस्व समर्पण करके, उसके रक्षण, पोषण के लिए, भूषण-आभरण जुटाने के लिए दिन-रात परिश्रम करता है। - प्रेम से ही पुरुष स्त्री को वशीभूत रखता था, प्रेम से ही स्त्री भी पुरुष को अपने इशारे पर नचाती रही है। किन्ही अधार्मिक, आध्यात्मिक-संस्कार-शून्य, जंगली प्रदेश के लोगों में स्त्री को गले में रस्सी बाँधकर रखने की प्रथा हो सकती है, परन्तु वह भारत में नहीं है। स्त्री का एक ही पुरुष के साथ सम्बन्ध शुद्ध धर्म-मूलक है। धर्म-नियन्त्रित स्नेह एवम् अर्थ-व्यवस्था उसका आनुषङ्गिक फल है। पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों की मानवता एवम् विशेषता ही यह है कि मनुष्य प्रत्यक्षानुमान के अतिरिक्त आगम-प्रमाण भी मानता है, तदनुकूल वह धार्मिक होता है, तथा धर्म-मूलक ही उसमें पति-पत्नी का धार्मिक सम्बन्ध होता है। पति-पत्नी के असाधारण सम्बन्ध से ही - पत्नी, पुत्री, भगिनी, माता, आदि की असाधारण व्यवस्था होती है। तदनुकूल ही उत्तराधिकार की व्यवस्था भी चलती है। अतः आस्तिकों का कहना है कि प्रत्यक्षानुमानाश्रित गति जहाँ तक दौड़ती है, वहाँ तक चलने वाले वानर, आदि पशु होते हैं और प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त आगम के अनुसार, धार्मिक आध्यात्मिक एवम् सामाजिक व्यवस्था करके चलने वाले लोग ही नर अर्थात् मानव होते हैं।''

श्री स्वामी जी आगे लिखते है कि - ''धर्म-बुद्धि से शिष्य जैसे स्वेच्छापूर्वक गुरु का अनुसरण (दास्य) करने में लज्जित नहीं होता, पुत्र जैसे - माता-पिता का दास्य करने में नहीं हिचकता, वैसे ही स्त्री भी अपने पति एवम् सास-ससुर का दास्य व सेवन एवम् अनुसरण करने में लज्जित नहीं होती। जैसे-शिष्य का या विश्व का किसी भी भगवत्परायण में प्रेम होना कल्याणप्रद ही है, परन्तु वैसे ही भगवत्परायण (गुरु) की शिष्य या विश्व में आसक्ति कल्याणप्रद नहीं हो सकती। पत्नीपति-परायण हो और पति भगवत्परायण हो, तो दोनों ही की दिव्य-गति हो सकती है।'' -स्वामी जी लिखते हैं कि, 'राम राज्य जैसी धन सम्पदा, ऐश्वर्य-वैभवों में भी स्त्री-पुरुष अपने पूज्यों, गुरुजनों के प्रति दास्य भाव ही रखते थे। भक्त प्रह्लाद गुरुजनों के चरणों में सदा दास तुल्य विनत रहते थे। धन-सम्पत्ति की वृद्धि खलों को ही घमण्डी एवम् उद्दण्ड

बनाती है, सत्पुरुषों को नहीं। इसीलिए औद्योगिक समृद्धि के युग में भी सन्नारियों के शील-स्वभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ....जड़वाद एवम् नास्तिकता के प्रचार में ही ह्रास होना सम्भव है। पुरुष की अपेक्षा नारी-जाति श्रद्धालु है। वह अपने पति से भिन्न पुरुष को भ्राता, पिता, पुत्र की ही दृष्टि से देखना उचित समझती है, धर्म हीन मनमाने यौन सम्बन्ध को वह पाप ही समझती है।' -स्वामी जी लिखते हैं कि, 'वेदों की नीति में तो मुख्य विशेषता ही यह थी कि देश में कोई स्वैरी पुरुष भी नहीं होता था, फिर स्वैरिणी स्त्री का तो होना सम्भव ही कैसे था' - 'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः'। स्त्री सर्वदा ही लज्जाशील होती है, वह कभी भी अभियोक्त्री नहीं होती। वैश्या भी अभियुक्ता होने में ही सुख का अनुभव करती है। पुरुष ही स्वैरी होकर स्त्री को स्वैरिणी बनाता है। जहाँ पुरुष स्वैरी न होगा, वहाँ स्त्री भी स्वैरिणी नहीं हो सकती। स्त्री पुरुष की हृदयेश्वरी है, प्राणेश्वरी है, आत्मा है, सब कुछ है। उसके हिस्से एवम् अधिकार की बात जड़वादी-नास्तिकों द्वारा ही उठायी जाती है। श्री करपात्री जी का उद्घोष है कि - 'स्त्री को पुरुष के बराबर बनाने का प्रयत्न करना उसका अपमान करना है, उसको हजार गुना नीचे उतारना है।' शास्त्रों ने पिता से सहस्र गुना अधिक माता का सम्मान करना आवश्यक है। चतुर्थाश्रमी यति (संन्यासी) सर्ववन्द्य है। गृहस्थ पिता भी संन्यासी-पुत्र को वन्दन करता है, परन्तु संन्यासी के सम्मुख यदि उसकी माता आ जाए तो वह अपने दण्ड सहित पृथ्वी में लेट कर साष्टांग प्रणाम कर माता का अभिवादन करता है।

इस प्रकार, माता को कुछ अधिकार प्रदान करना, क्या उसके सर्वाधिकार को सीमित करना नहीं है। किसी भी उपासना एवम् साधना में, जैसे शिष्य को अपनी आत्मा गुरु की आत्मा में मिलानी पड़ती है, गुरु की इच्छा में शिष्य को अपनी इच्छा विलीन कर देनी पड़ती है; वैसे ही पत्नी को अपनी आत्मा तथा अपनी इच्छा पति की आत्मा एवम् इच्छा में मिलानी पड़ती है। पति द्वारा किए हुए सत्कर्मों तथा आराधनाओं में पत्नी का भाग भी रहता है। - जैसे, लता, वल्लरी, आदि वृक्षाश्रित रह कर ही पनपती, फलती-फूलती है, यदि उन्हें अपने ही पैरों पर खड़ा करने का प्रयत्न किया जाए तो भी वे वृक्ष के समान सीधी खड़ी नहीं हो सकती, पृथ्वी पर ही फैलकर शतशः पाद प्रहार की भागिनी बनना पड़ता है, वैसी ही स्थिति स्त्रियों की भी है। उन्हें स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ा कर ही पाश्चात्य जगत् ने भीषण दुर्दशा तक पहुँचा दिया है। वर्तमान अधार्मिक-जड़वादी लोगों ने स्त्री को केवल भोग का साधन समझ कर उसका महान् अपमान किया है और उसे विपत्ति के जाल में डाल दिया है। स्वतन्त्रता, समानता, आत्मनिर्णय आदि का अधिकार - मोहक नारों से स्त्रियों को भ्रम मे डाल (बरगला) कर अपना शिकार बनाना, फिर उसे नौकरी (मजदूरी) या वेश्यावृत्ति करने के लिए निराश्रय या असहाय छोड़ देना, उनके साथ यह घोर अन्याय है। मानव जीवन

और गृहस्थ (घर) को सरल एवम् मांगलिक बनाने वाली स्त्री के सिर पर कमाने का भार न होना ही अच्छा है। स्त्री द्वारा उत्पादित रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, ध्रुव, शिवि, दिलीप, भगीरथ, जैसी एक भी सन्तान समष्टि-व्यष्टि जगत् के लोग-परलोक का जीवन मांगलिक एवम् समुन्नत बना सकती है। उपयोगितावादी स्मिथ तो धर्म, संस्कृति, प्रेम, सौन्दर्य, कला, क्षमा, दया, त्याग आदि उदात्त गुणों में भी उपयोगिता ही ढूँढता है। लोक कल्याणार्थ अपने प्राण तक को बलिदान कर देने में स्मिथ को कुछ भी उपयोगिता नहीं दीखती, परन्तु इतने से ही क्या वह त्याग व्यर्थ कहा जा सकता है? क्या संसार में उपयोगिता ही सब कुछ है? नहीं। माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी का महत्व उपयोगिता की कसौटी पर नहीं परखा जा सकता।

श्री करपात्री जी कहते हैं कि - ''समाजवादी और समष्टिवादी समाज में स्त्री भी समाज का परिश्रम या उत्पादन (पैदावार) करने वाला अंग समझी जाती है। स्त्री के गर्भवती होने पर प्रसवकाल और उसके बाद जब तक वह फिर परिश्रम के कार्य में भाग लेने योग्य न हो जाए, स्त्री की आवश्यकताओं की पूर्ति समाज पर होगी। बच्चों के पालन तथा शिक्षा का दायित्व भी समाज पर होगा।'' मार्क्सवादी को स्त्री-हित से उतना प्रयोजन नहीं जितना स्त्री को उसके पति पुत्र, आदि परिवार से विच्छिन्न कर उसे समाज की वस्तु बनाने से है। मार्क्सवाद में तो, जैसे-सब ही सम्पत्ति सरकारी, सब भूमि सरकारी; वैसे ही सब स्त्रियाँ सरकारी, सब मर्द (पुरुष) सरकारी और सब ही बच्चे सरकारी होंगे। जैसे - गाय-बैल, घोड़े-घोड़ी, ऊँट-ऊँटनी आदि पशुओं का अपना न निजी कोई पति है, न पत्नी, न अपना कोई माता-पिता है न अपना कोई बच्चा-बच्ची है, सब सरकारी ही सरकारी है; वैसे ही सब स्त्री-पुरुष सरकारी ही सरकारी होंगे। फिर कहाँ पिण्ड दान, कहाँ का श्राद्ध-तर्पण, कहाँ का गया-श्राद्ध, कहाँ का धर्म, दान, पुण्य, मोक्ष, कहाँ का परिवार-कुटुम्ब और कैसा पारिवारिक स्नेह? सब पशुवत् ही जीवन होगा। सरकारी अफसर के आदेशानुसार, जैसे-घोड़ा-घोड़ी का सम्बन्ध कराया जाता है; वैसे ही, समाज या समाजवादी सरकार के आदेशानुसार-अनियम रूप से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध करा दिया जायेगा। समाज के नाम पर तानाशाही सरकार के नौकर सब व्यवस्था करेंगे। .....'गरीब स्त्री-समाज के कंधे पर कोई भार न दिया जायेगा, दयालु समाज और समाजवादी सरकार के कन्धों पर ही सबका भार होगा।' -यह है समाजवाद में स्त्रियों का स्थान। समाज में, यदि समानाधिकार लेना है तो स्त्रियों को यह सब स्वीकार करना ही होगा। बिना कमाए उन्हें कोई अधिकार न मिलेगा। मार्क्सवाद में, स्त्रियों के लिए सरकारी नौकरी-मजदूरी ठीक समझी जाती है; परन्तु अपने सास-ससुर, पति-पुत्र, आदि की सेवा तथा लालन-पालन असह्य है। -यह स्त्री के लिए गुलामी है, उसे आत्म समर्पण के लिए बाध्य कराना है। श्वसुर-कुल की सम्राज्ञी पति के घर एवम् हृदय की तथा पुत्रों की

पूज्या महारानी होकर, गृह-स्वामिनी-गृहलक्ष्मी बनना श्रेष्ठ है या सरकारी नौकरानी बनकर बिल्ली कुतिया का जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ है, इसे समझदार स्त्रियाँ स्वयं सोचे, तथा वे पुरुष भी सोचे जिन्हें भविष्य में ऐसी ही पत्नी और माता पाना है। मार्क्सवाद में, चारित्रिक जीवन का समर्थन नहीं मिलता। कानून को धोखा देकर दुराचायर की प्रवृत्ति से कौन रोकेगा? वहाँ तो अपनी शरीरिक प्रेरणाओं से ही स्त्री-पुरुष सम्बन्धित होते हैं, ऐक्सिडेन्ट से व्यक्ति का जन्म होता है; अपने कष्ट निवारण के स्वार्थ से ही माता अपना दूध बच्चे को पिलाती है, - अत: 'माता का गौरव पिता से सहस्र गुना है', इसका वहाँ कुछ महत्व नहीं है। सीता, सावित्री, दमयन्ती, अरून्धती के पातिव्रत्य का भी मार्क्सवाद में कोई गौरव व महत्व नहीं हैं, केवल भूख प्यास की तरह शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति-मात्र ही वहाँ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का आधार है। परन्तु भारतीय संस्कृति में पातिव्रत धर्म का विशेष महत्व है। भारतवासी स्त्री-मात्र को माता मानकर उसी पूजा-आदर करता है। उसका कन्या-सुवासिनी रूप से पूजन किया जाता है। पतिव्रता स्त्री को तो यहां पतितपावनी गंगा के समान पवित्र एवं पूज्य माना जाता है। वेद कहता है कि - 'मातृ देवो भव-माता को देव तुल्य मान कर उनकी आराधना करो। सारांश-भारत में माता का जो गौरव है वह अन्यत्र कहीं नहीं है। यहाँ पति-पत्नी, दम्पत्ति एवं अर्धाङ्गिनी शब्दों के भावों को व्यक्त करने वाले तो शब्द तक पाश्चात्य साहित्य में नहीं मिलते; फिर यह कैसे आशा की जाए कि वहाँ भारतीय नारी के उच्च एवं पवित्र संस्थान की कल्पना तब भी की जा सकती होगी। यहाँ तो 'वाणी' एवं 'अर्थ', 'जल' एवं 'लहर' जैसा ही स्त्री-पुरुष का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। -समानाधिकार के नारे लगाने वाले, जरा उत्तर दें कि उनके यहाँ 'शीतोभव हनुमत:' कहकर अग्नि को ठंडा करने वाली सती सीता जैसी दिव्य शक्ति सम्पन्ना तपस्विनी नारी कितनी हुई है? अपने पति के प्राणों को साक्षात् यमराज से बचाकर लाने वाली किसी 'सावित्री' का उदाहरण भी, क्या वहाँ कोई है? अत: समानाधिकार, तलाक, विधवा-विवाह-जैसे नारों से प्रभावित न होकर आज माताओं तथा बहिनों को अपने धर्म का पालन करना चाहिये, इसी में कल्याण है।

***

भाषा तथा शिक्षा

ज्ञान के लिए भाषा भी अपेक्षित है, क्योंकि ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं होता, जिसमें सूक्ष्म शब्द का अनुवेध न हो। भाषा भी लिख कर ही बोली जाती है। मनुष्य बिना सिखाए भाषा सीख नहीं सकता। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार, 'पहले हस्त संकेत, आदि द्वारा ही व्यवहार होता था, बाद में व्यवहार के लिए बुद्धिपूर्वक मनुष्यों ने भाषा बनायी।' विकासवादियों के अनुसार-'भाषा की उत्पत्ति न तो एका-एक मनुष्य की स्वेच्छा से हुयी, न स्वभाव से, न दैवी-प्रेरणा से; किन्तु सभ्यता के अन्य अंगों की तरह इसका भी धीरे-धीरे विकास हुआ है।' उनके मतानुसार, 'जड़-चेतनात्मक वाह्य जगत् की ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर नाम रखे गए हैं, जैसे-कू-कू बोली सुनकर कोकिल का अंग्रेजी नाम 'कुक्कू' रखा गया। इसी प्रकार, हर्ष, शोक, आश्चर्य, आदि से कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ मुख से निकल पड़ती हैं, जैसे-हा-हा, हाय-हाय, अहह, वाह-वाह, इत्यादि। इसी प्रकार, पहले इशारों या संकेत से, फिर ध्वनियों को सुनने से, तथा उद्गारात्मक शब्दों के स्वभावतः निकलने से शनैः शनैः भाषा बनी। मैक्समूलर का कथन है कि - 'मनुष्य की भाषा ध्वनि अथवा पशुओं की बोली से नहीं बनी।' लॉक, एडम, स्मिथ एवं इयूगल्ट, स्टुवर्ट आदि कहते हैं कि-'मनुष्य बहुत काल तक गूँगा रहा, वह संकेत से तथा भ्रूविक्षेप से कार्य चलाता रहा, जब कार्य न चला तब परस्पर संवाद करके, - शब्दों के अर्थ नियत करके भाषा बना ली।'

भाषा सम्बन्धी-उपर्युक्त एवम् अन्य विभिन्न विद्वानों के मतों पर विचार करके, श्री स्वामी करपात्री जी लिखते हैं कि - 'अन्तिम सिद्धान्त यह मानना पड़ता है कि - परमेश्वर ने ही मनुष्य को निर्मित करके उसे ज्ञान और भाषा प्रदान की।' वेदों से भी यही स्पष्ट मालूम पड़ता है कि परमेश्वर ने ब्रह्मा को उत्पन्न करके उन्हें वेद प्रदान किए-यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै (श्वेताश्वतर-६/१८)। ब्रह्मा ने अपने पुत्रों को और उन्होंने भी अपने पुत्रों और शिष्यों को, इसी प्रकार वंश-परम्परागत आदिम भाषा तथा ज्ञान का उपदेश किया। आगे चलकर ज्ञान और भाषा में अपभ्रंश भी होता गया। कोई भी बोध या ज्ञान ऐसा नहीं होता जिसमें सूक्ष्म शब्द का सम्बन्ध न हो। अतः अनादि ईश्वर के अनादि ज्ञान में जो शब्द अनुविद्ध थे, वही अनादि भाषा थी। कोई भी ज्ञान, चिकीर्षा एवं कृतिपूर्वक ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार, सृष्टि कार्य में भी-ईश्वर की ज्ञप्ति, चिकीर्षा और कृति अपेक्षित ही है। उस

अनादि ज्ञान में अनुविद्ध अनादि शब्द-समूह का होना अनिवार्य है। जब संस्कृत भाषा एवं वेद से पुरानी पुस्तक संसार में उपलब्ध नहीं है, इसकी अति प्राचीनता तर्को से भी सिद्ध होती है, तब मनु आदि के अनुसार उसे ही अनादि भाषा मानना युक्त है। उसके व्यापक धातुओं से संसार की सब ही भाषाएँ निष्पन्न हो ही जाती है। अतः ईश्वर ने आदिम प्राणियों को भाषा एवम् विज्ञान सिखलाया' यही पक्ष ठीक है। जैसे-आजकल हिप्नोटिज्म करने वाला अपने माध्यम (सबजैक्ट) के मुँह से मानसिक प्रेरणा द्वारा ऐसी भाषाओं के शब्द उच्चारण करा देता है, जिनको माध्यम ने कभी सुना भी नहीं; वैसे ही - सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भी मनुष्यों को अपनी शक्ति द्वारा शब्दोच्चारण करा सकता है। इसीलिए, 'आदिम मनुष्य परम ज्ञानवान थे' -यही पक्ष श्रेष्ठ है।..... संस्कृत भाषा ही आदिम भाषा है और उसका अपभ्रंश अन्यान्य भाषाएँ है। संश्लेषणात्मक एवम् विभक्तियुक्त भाषाएँ प्राचीन हैं तथा विश्लेषणात्मक या एकाक्षरात्मक भाषाएँ नवीन है। आर्य, रोमिटिक और पुरानी भाषाएँ एक ही परिवार की है। इनमें भेद भी है और वह भेद पुराना भी हो सकता है। जब सबके मूल पुरुष एक ही थे, तब आदि ज्ञान एवम् आदि भाषा का रूप भी एक ही होना चाहिए। मैक्समूलर के मतानुसार, 'सब ही भाषाएँ मूल-रूप में एक ही थी।' -द्रविड़ भाषा का आस्ट्रेलियन, आदि अनेक भाषाओं के सम्बन्ध प्रतीत होता है और केम्वलन् द्रविड़, तेलगू आदि भाषाओं का वैदिक भाषा से ही विकास मानता है। इनके सैकड़ों शब्द अब तक एक ही समान पाये जाते हैं। संस्कृत में अम्ब, सीरियन में आमो, द्राविड़ में अम्मा, सामोपेडिक में अम्म, सीथियन में अम्माल, अरबी में उम्म, मलयाली में अम, तुलु में अप्पा, चीनी में माँ इत्यादि।

अनादि-सिद्ध शुद्ध शब्दों के उच्चारण में शिक्षा की कमी के कारण गड़बड़ी होती है, शुद्ध शब्द अपभ्रष्ट हो जाते हैं। जैसे-असुर लोग, 'हे आर्य' के स्थान में-'हेलय' उच्चारण करने लगे। इसी प्रकार, आज भी-'सूक्ष्म' को 'सुच्छम', 'टिकिट' को 'टिकस' उच्चारण करते हैं। लिपि के अक्षरों में कमी के कारण, अरबी में 'चरक' को 'सरक', 'कोट पाल' को 'कोतवाल' कहा जाता है। तीन वचन वाली संस्कृत भाषा से उत्पन्न-हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भाषाओं में दो ही वचन होते हैं-तीन नहीं। इसी प्रकार, जेन्द भाषा में तीन वचन हैं, उससे उत्पन्न फारसी, पश्तो, उर्दू, आदि भाषाओं में दो ही वचन होते है। इसी प्रकार, लैटिन में भी तीन वचन है, जबकि उससे उत्पन्न भाषाओं में दो ही वचन होते हैं। इसी प्रकार, हिन्दी में नपुंसक लिंग का प्रयोग लुप्त हो गया। इसी प्रकार, गुप्त कामों के लिए अपभ्रष्ट करके कुछ संकेतमयी भाषाएँ बना ली जाती है। क्लिष्ट और विस्तृत संस्कृत भाषा से ही सरल और संकुचित करके, उच्चरण की दृष्टि से अन्य भाषाएँ बनी हैं। जैसे- 'ऋत', का 'राइट', 'उष्ट्र' का 'उश्तर', 'स्थान' का 'स्तान', 'धनी' का 'गनी', 'विधवा' का 'विडो', 'गृभ' का 'गिफ्ट', 'भ्रातर' का 'ब्रदर', 'मातर' का 'मदर', 'पितर' का 'फादर';

संस्कृत में 'असुर' को जेन्द में 'अहुर', 'सोम' को 'होम', 'सप्त' को 'हफ्त', 'आहुति' को 'आजुति', 'बाहु' को 'बाजू', 'पशु' को 'पशु', 'उक्षत्' को 'आक्स' तथा संस्कृत एवम् फारसी में 'तनु' को 'तन', 'जानु' को 'जातु', 'अंगुष्ट' को 'अगुदत', 'हस्त' को 'दस्त', 'पाद' को 'पा', 'शिर' को 'सर' कहते है। संस्कृत और यूनानी में 'शतं' को 'केटन', 'दश' को 'डेक', 'अश्मन' को 'अक्मन्' कहते हैं। संस्कृत और मिस्री में 'अथ' को 'अख', 'आप' को 'आव' कहते हैं। संस्कृत और अरबी में 'हर्म्य' को 'हरम्', 'सुर' को 'हूर' कहते हैं। संस्कृत और अफ्रीकी में 'ध्यान' को 'धानी', 'कर्त्त' को 'काटा' कहते हैं। संस्कृत और चीनी में, 'स्थान' को 'तान', 'जन' को 'जिन', 'अम्बा' को 'माँ', 'होम' को 'द्योम' कहते हैं। संस्कृत-जापानी में 'का' को 'कां', 'बहुत्व' को 'मोत्तो' आदि कहते हैं। संस्कृत और द्रविड़ में - 'तालु' को 'तला', 'मंजु' को 'मंछी', 'मेप' को 'मेक', 'राजा' को 'राजू' कहते हैं। विश्व की अनेक भाषाओं से संस्कृत भाषा के अनेक शब्दों के इसी प्रकार के समान उच्चारण के उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि-उच्चारण में असावधानी से ही अनेक भाषाएँ बनी है; विश्व की मूल आदिम भाषा एक संस्कृत ही थी। संस्कृत में, विशेषत: वेद में, उच्चारण की सावधानी बहुत ही आवश्यक होती है। स्वर एवम् वर्ण से हीन मन्त्र का प्रयोग मिथ्या प्रयोग कहा जाता है। .....वे वैदिक-लौकिक संस्कृत भाषा को बिगड़ने नहीं देते। धातु-पाठ, प्रत्यय-नियम, तीन वचन, आठ-विभक्तियां, इस लकार, संधि-कौशल तथा स्वर विज्ञान में, संसार का कोई भी व्याकरण संस्कृत व्याकरण से तुलना नहीं कर सकता। इन सब प्रक्रियाओं का प्रयोग करने से शब्दों के स्वरूप अटल रहते हैं। उसमें अपभ्रंश का अवसर (गुंजायश) नहीं है। यही कारण है कि लाखों वर्षो का प्राचीन साहित्य एक ही ढंग से सर्वत्र उच्चरित और अवगत किया जा सकता है।

श्री करपात्री जी महाराज इसी वैदिक-संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए कृत-संकल्प है। उन्होंने सर्व वेद शाखा सम्मेलनों का आयोजन करके सब उपलब्ध वैदिक भाषाओं के विद्वानों का न केवल सम्मान किया, अपितु अनुपलब्ध शाखाओं के उद्धार हेतु भी, इसयुग में अनवरत प्रयास किया है; उनका विचार है कि - भारत में जब तक स्वतन्त्र शिक्षण-पद्धति को नहीं अपनाया जायेगा, तब तक संस्कृत भाषा एवं वैदिक ज्ञान-विज्ञान की उन्नति-प्रगति अशक्य है। वे कहते हैं कि - पूर्वजों ने सभ्यता, संस्कृति, धर्म-कर्म, आदि की रक्षा की दृष्टि से ही शिक्षा को स्वाधीन रक्खा था। शासकों से उसका सम्बन्ध रखना उचित नहीं समझा था। शासकों का कोई प्रभाव शिक्षा पर न पड़ने पाये, इसीलिए इस आश्रम (ब्रह्मचर्य्याश्रम) में-भिक्षाटन, अरण्यवास, आदि का विधान किया गया था; उसका अभिप्राय यही था कि शासन भले ही बदल जाये, परन्तु शिक्षा न बदलने पाये। शासन के साथ सम्बन्ध होने से, शासक अपने अनुकूल राष्ट्र-निर्माण के लिए तदनुकूल ही 'शिक्षा-पद्धति' बनाता है। उस शासन से

प्राप्त आर्थिक सहायता एवम् सुविधा वाली शिक्षा-संस्था, उनकी उपेक्षा करके अपनी सभ्यता-संस्कृति के अनुकूल शिक्षा को प्रवृत्त नहीं कर सकती, इसीलिए उस प्रलोभन से दूर रहकर, स्वतन्त्र शिक्षा का प्रसार कल्याण कारक समझा जाता था। किसी राष्ट्र का भौतिक शरीर परतन्त्र होने पर भी, यदि स्वाधीन शिक्षा द्वारा-मनोमय तथा विज्ञानमय शरीर स्वतन्त्र होतो कभी न कभी परतन्त्रता के कठिनतम बन्धनों को तोड़ फेंका जा सकता है; परन्तु यदि शिक्षा परिवर्तन करके शासक द्वारा-हृदय (मनोमय-विज्ञानमय शरीर) परिवर्तन द्वारा धर्म-कर्म सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति आदरभाव कम कर दिया जाये, तब तो उत्थान की आशा ही न रह जायेगी। इसीलिए, संसार के सब ही आचार्य और शासक संसार का मत-परिवर्तन करना परम आवश्यक समझकर, शिक्षा, साहित्य, पत्र-पत्रिका, दूर-संचार, दूरदर्शन आदि सब ही प्रचार-साधनों का उपयोग मत-परिवर्तनार्थ ही कर रहे हैं।

श्री करपात्री जी भारत की वर्तमान भाषा एवं शिक्षा नीति (पद्धति) के कटु आलोचक रहे हैं। वह संस्कृत एवम् राष्ट्रभाषा हिन्दी के समुचित उत्थान हेतु, उपर्युक्त स्वतन्त्र चेता भारतीय वैदिक शिक्षा पद्धति के शिक्षित विद्वानों की ऐसी शिक्षा समिति के निर्माण का प्रस्ताव करते हैं जो शासन द्वारा वैयक्तिक व सामूहिक सहायता और प्रमाण-पत्रों की उपेक्षा करके स्वतन्त्र शिक्षा पद्धति को प्रचलित कर सके। इस प्रकार के विद्वानों द्वारा ही समिति के नियम-उपनियम बनाये जायें। भारतीय प्राचीन ऋषिकुल आश्रमों के समान बालकों को स्वतन्त्र शिक्षा दी जाये, जिसमें - सादगी, त्याग, तपस्या, शौचाचार, शौच, स्नान, संध्या, अग्नि-कार्य, समिधा-दान, आदि, स्मृत्युक्त कर्मों का शिक्षण हो। बिना वेतन के शिक्षकों द्वारा सब ही गरीब-अमीर बालकों को मनुप्रोक्त पद्धति से समान शिक्षा दी जाये। विद्यार्थियों को सात्त्विक भोजन दिया जाये। नृत्य, वादन, द्यूत, सिनेमा, अश्लील साहित्य, शहरी वातावरण जनित अन्य दोषों से इन आश्रमों को असम्पृक्त (अछूता) रक्खा जाये। मद्य, मांस, लहसुन, प्याज आदि का प्रयोग सर्वथा वर्जित रहे। सर्वप्रथम - धर्म-कर्म, सभ्यता-संस्कृति की रक्षार्थ वेद, धर्म-शास्त्र, व्याकरण आदि वेदांग-दर्शन, प्राचीन इतिहास, साहित्य कला, आदि का पठन-पाठन, संरक्षण-उपबृहण ही इहलोकिक पारलौकिक सर्व-विध हितों के लिये कराया जाये। उसके अनुकूल ही शिक्षा-पद्धति बनायी जाये। इस प्रकार, पहले ही ब्रह्मचर्य्याश्रम में बालकों के हृदय में पवित्र व्रतों एवम् नियमों के पालन के साथ सभ्यता, संस्कृति, धर्म, मोक्ष आदि के उपयोगी, आध्यात्मिक और धार्मिक शास्त्रों का संस्कार संस्थापन करते हुए, ऐसे ग्रन्थों को पढ़ाना चाहिए जिनका कण्ठस्थ करना आगे की अवस्था में सम्भव नहीं हो सके। इसीलिए, मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदों-वेदांगों का अध्ययन-अध्यापन प्रधान रूपेण इसी अवस्था में होना चाहिए। श्री स्वामी जी लिखते हैं कि, 'इनके साथ ही साथ धर्म-शास्त्र, दर्शन आदि का अध्ययन भी हो। वेद,

व्याकरण, पूर्वोत्तर-मीमांसा, आदि दर्शन, धर्मशास्त्र के अध्ययन से, संस्कार दृढ़ हो जाने से फिर व्यावहारिक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना भी उचित है।.....प्रथम तो उनमें प्राणियों की स्वाभाविकी रुचि होती है, दूसरे-पूर्वोक्त शास्त्रों का ज्ञान हो जाने पर इसके समझाने में कुछ कठिनाई नहीं रहती। तथापि-मनु, याज्ञवल्क्य, वीर मित्रोदय, पारा-शर, माध्वीय, हेमाद्रि, आदि धर्म-निबन्धों से सब तरह के व्यवहारों का ज्ञान हो जाता है। तत्पश्चात्-शुक्रनीति, वृहस्पति, कामन्दकीय, कौटिल्य, अर्थशास्त्र के समझ लेने पर और महाभारत के पारायण में तो कोई व्यवहार अवशिष्ट रहता ही नहीं। योग-सांख्य, पुराण, रामायण, महाभारत, आदि के ज्ञान से इतिहास, भूगोल, इत्यादि का ज्ञान भी सम्पन्न हो जाता है। ज्योतिष शास्त्र के सम्बन्ध से गणित का रहस्य भी मालूम हो जाता है। तब ही वर्तमान काल के प्रसिद्ध इतिहास तथा भूगोल का ज्ञान प्राप्त करना भी युक्त होता है।

शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए-श्री स्वामी करपात्री जी लिखते है कि - आध्यात्मिक, धार्मिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सब प्रकार के अभ्युदय का मूल एकमात्र शिक्षा ही है। सत्शिक्षा से ही - सद्बुद्धि, सदिच्छा, सत्प्रयत्न तथा सत्फलों की प्राप्ति होती है, फिर सफलता प्राप्त होती है। धर्म, कर्म, सभ्यता और संस्कृति के रक्षण में भी शिक्षा की ही प्रधानता (अनुकूल शिक्षा से इनकी रक्षा और प्रतिकूल शिक्षा से हानि) रहती है।' अत: वेद-वेदांग के विद्वान सदाचारी-सात्विक आचार्यो द्वारा पूर्वोक्त विशुद्ध-वैदिक शिक्षा से ही स्वतन्त्र शान्त वातावरण में स्थित ऋषिकुलों में स्थित आश्रमों में, बिना वेतन एवम् फीस के आडम्बरविहीन शुद्ध, सात्विक, ब्रह्मचारी बालकों को भारतीय शिक्षा देने की आज परमावश्यकता है। तब ही भारत 'भारत' बनेगा।

***

भगवान को वेदों की रक्षा की चिन्ता रहती है और आजकल वेदों की भाषा संस्कृत के शीघ्रातिशीघ्र मिटाने, अंग्रेजी भाषा को रखने की चेष्टायें हो रही है। अत: भगवान हम आप सबसे अप्रसन्न है; उन्हें प्रसन्न करना हो तो वेदों का प्रचार करो, संस्कृत पढ़ो।

'मातृभूमि' एवं 'राष्ट्रीयता'

मार्क्सवादी के अनुसार 'मजदूरों के लिए देशभक्ति की बात व्यर्थ है। जब जब पूंजीपति अपनी पूंजी को उन देशों में लगाना पसन्द करते हैं, जहाँ मजदूरी कम देनी पड़े और कच्चे माल सस्ते पड़ें, तब ऐसे पूँजीपतियों को देश के मजदूर देशभक्ति के नाम पर अपनी जान क्यों दें? उनके अनुसार 'जिसकों कोई सम्पत्ति नहीं उसका कोई खास देश नहीं होता। केवल दो हाथ ही उसकी सम्पत्ति हैं, जहाँ मजदूरी मिल जाय, वहीं उसका देश है।' इस पर श्री करपात्री जी का कथन है कि उपर्युक्त बातें किसी देशकाल के लिए सही हो सकती है, परन्तु, यह व्यापक सत्य नहीं है। आस्तिक लोग जननी जन्मभूमि को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ मानते हैं–''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'' उञ्छशिल वृत्ति वाले किंचन महर्षि जिनकी भौतिक सम्पत्ति कुछ नहीं उन्हें भी मातृभूमि की भक्ति मान्य होतीहै। देश–धर्म की रक्षा और कल्याण के लिए वे भी अपने सर्वस्व का त्याग करते ही रहते हैं। भारतीयों में तो प्रातःकाल ही धरित्री पर पाद–विन्यास करने के पहले धरित्री की वन्दना की जाती है, परन्तु मातृभक्ति संकीर्ण एवं किसी को हानि पहुँचाने वाली नहीं होती, इसीलिए वे समुद्रवसना पर्वतस्तन मण्डला धरित्री को विष्णु–पत्नी मानते हैं–

'समुद्र वसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्वमे।।'

स्वामी जी आगे विचार करते हुए लिखते हैं कि 'कहीं के मजदूर कोई राष्ट्र के बाहर की वस्तु नहीं–विशेषतया भारत मे तो उच्च खानदान के ब्राह्मण, क्षत्रियादि ही मजदूर बनकर अपना जीवन बिता रहे हैं, उनको अपने देश, धर्म, जाति का ध्यान रहता है, उसका रक्षण उन्हें अभीष्ट है। पूंजीपति के लिए नहीं अपने लिए अपने धर्म के लिए भी उन्हें देश–भक्ति आवश्यक होती है। वस्तुतः इसीलिए धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहासों के संस्कारों से ओत–प्रोत भावना के बिना राष्ट्रीयता का कोई महत्व नहीं होता जो जड़वादी विश्व–स्रष्टा को ही नहीं मानता, इपने माता–पिता का ही महत्व नहीं मानता, वह देश का महत्व क्या मानेगा? जिसका मत है कि 'माता अपने स्वार्थ के लिए दूध पिलाती है, क्योंकि दूध बिना निकले उसे कष्ट देता है। शिशु भी क्षुधा से पीड़ित होकर स्तन पीने लगता है, उन्हें देशभक्ति से क्या लेना? पर जल में मेंढक भी होता है, मीन भी होती है। मेंढक का जल–स्नेह नगण्य है, परन्तु मछली जल की

अनुरागी है। जड़वादियों को जहाँ रोटी मिले, वही उनका देश है, परन्तु धार्मिक सांस्कृतिक भावना वाले तो अपने पूर्वजों तथा अपनी जन्मभूमि के प्रदेशों को, अपने पावन तीर्थो, अवतारों, देवताओं–महापुरुषों की तपोपूत लीलाभूमि को बड़ी आदर की दृष्टि से देखते हैं और उसकी रक्षा तथा सम्मान के लिए उन्हें स्वात्मबलिदान करने में कुछ भी संकोच नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास के राम कहते है–

'यद्यपि सब बैकुंठ बखाना, वेद पुरान बिदित जगु जाना।।
अवध पुरी सम प्रिय मोहि सोऊ, यह प्रसंग जानउ कोउ कोउ।।
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि, उत्तर दिसि वह सरजू पावनि।'

मार्क्सवादी के अनुसार 'राष्ट्रीयता भी पूँजीवाद से ही सम्बन्धित है। यूरोप में पूँजीवाद के साथ–साथ राष्ट्रीयता का उदय हुआ था। व्यापारिक स्पर्धा के फलस्वरूप पूँजीपतियों में राष्ट्रीयता की चेतना जागरित हुई।....अंग्रेजों ने भारतवर्ष में व्यापारिक, राजनीतिक अधिकार स्थापित किया। अन्य देशों के व्यापारियों ने व्यापारिक सुविधा प्राप्त न होने से अपने को पिछड़े देश का नागरिक समझा–राष्ट्रीयता की भावना का जिसका विकास १४वीं शती में हुआ था, उन्होंने उपयोग किया। इसी स्पर्द्धा के कारण राष्ट्रीयता का पाठ बाजार में ही सीखता है, – भाषा, प्रदेश आर्थिक जीवन और संस्कृति का स्थायी सम्बन्ध राष्ट्रीयता का आधार है....।' रूस की बोल्शेविक पार्टी ने कहा कि, 'जब तक साम्राज्यवाद का अन्त नहीं होता, तब तक राष्ट्रीयता का प्रश्न हल नहीं हो सकता।' १९१७ की रूसी क्रान्ति के पश्चात् सोवियत संघ की स्थापना हुई। पूँजीवादी शोषण के साथ सभी प्रकार के शोषण का अन्त होना आवश्यक था। ....धीरे–धीरे साम्राज्य के अन्य राष्ट्रों एवं जातियों ने सोवियत संघ की सदस्यताके पक्ष में निर्णय किया। आत्मनिर्णय के साथ–साथ प्रत्येक राष्ट्र को सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्टालिन के आदेशानुसार कम्युनिस्ट पार्टी किसी परतन्त्र एवं पिछड़े राष्ट्रों के जागरण में सहयोग दे, जिसके फलस्वरूप रूस में निरन्तर सांस्कृतिक उन्नति हो रही है। मार्क्स के अनुसार 'इस जागरण का मूल कारण शोषण का अन्त ही है.....इत्यादि।

उपरोक्त मत का विवेचन करते हुए स्वामी करपात्री जी लिखते हैं कि 'इस सम्बन्ध में भी मार्क्सवादी कल्पना मनगढ़ंत है। कुटुम्ब, कुल, जाति, सम्प्रदाय तथा समाज के समान ही राष्ट्र की कल्पना भी प्राचीन है। महाभारत में कई स्थलों में देशों के सम्बन्ध में 'राष्ट्र' शब्द प्रयोग में आया है। वेदों में भी राष्ट्र शब्द का प्रयोग देश के लिए आता है, जैसा कि –

'आब्रह्मन्ब्राह्मणोब्रह्म वर्चसी जायताम् आराष्ट्रे राजन्यः।'

(यजुर्वेद सं. ११/२२)।

इसलिए धर्मनियन्त्रित शासनप्रणाली में समष्टि के अविरोध से व्यष्टि के अभ्युदय का विधान है। व्यक्ति कुटुम्ब के अविरोध से, कुटुम्ब कुल के अविरोध से,

कुल ग्राम के, ग्राम-प्रदेश के, प्रदेश राज्य के और राज्य विश्व के अविरोध से आत्मोन्नति के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं। कुल के लिए एक का ग्राम के लिए कुल और जनपद के लिए ग्राम का त्याग किया जा सकता है-'ज्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थें आत्मार्थें पृथिवीं त्यजेत्।।'' अवश्य ही व्यक्तिवाद तथा जातिवाद के तुल्य ही राष्ट्रवाद या देशवाद भी संघर्ष से ही उग्ररूप धारण करता है। शक्ति वाले लोग ही यदि सीमित सीमित क्षेत्र में प्रयत्न करते हैं, तो, वह प्रभावशाली सिद्ध होता है, अन्यथा समुद्र में सत्तू घोलने के तुल्य सीमित प्रयत्न अकिंचितकर होता है। इसीलिए व्यक्तिगत, मण्डलगत, राज्यगत तथा राष्ट्रगत उत्तरोत्तर विकसित तथा विशाल प्रयत्न ही सफल होते हैं। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' के अनुसार विश्व के तथा महाविराट् की उपासना के अनुसार अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मा महाविराट् के अभ्युदय के लिए भी प्रयत्न होता है, परन्तु उसके लिए विशिष्ट रूप से उच्चकोटि की भावनाओं का विकास अपेक्षित होता है।''

स्वामी जी आगे कहते हैं कि धर्मनियन्त्रित शासन प्रणाली की सार्वभौम सत्ता द्वारा विभिन्न जातियों एवं राष्ट्रों का नियन्त्रण किया जाता है, फिर भी सभी धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों तथा राष्ट्रों को पूर्ण विकास का अवकाश भी रहता है। सार्वभौम सत्ता के द्वारा राष्ट्रों-जातियों तथा व्यापारियों के संघर्ष रोके जाते हैं। जैसे व्यक्तिगत उन्नति से कुटुम्ब की उन्नति की ओर कुटुम्बों की उन्नति से ग्रामों तथा नगरों की उन्नति विश्व की उन्नति में अपेक्षित होती है। स्वामी जी व्यक्तित्व एवं कुलीनता का महत्व बताते हुए लिखते हैं कि - ''व्यक्तित्व एवं कुलीनता का अभिमान अनेक बार प्राणियों को बुरे कर्मो से बचाता है। भारतीय राजनीतिज्ञों ने सेना में कुलीन योद्धाओं का संग्रह आवश्यक बतलाया है। युद्ध-मन्त्री और प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में भी विशिष्ट रूपसे कुलीनता का ध्यान आवश्यक बतलाया गया है। यहाँ कुलीनता तथा शालीनता का ध्यान केवल बुरे कर्मो से बचने के लिए ही है, घमण्ड का अभिमान के लिए नहीं। दोषत्याग एवं गुणार्जन के लिए ही गौरव का उपयोग होता है। - 'कुल, जाति, राष्ट्र आदि के अभिमान के कुल, जाति एवं गौरवस्वरूप-आदर्शभूत महापुरुषों के स्मरण से, उनके आदर्शो से प्रेरणा प्राप्त होती है- उत्तम पुरुषों के चिन्तन से उत्तम, प्रेरणाहीन पुरुषों के चिन्तन से हीन प्रेरणा मिलती है।'' .....विभिन्न राष्ट्रों के विभिन्न ऐतिहासिक संस्मरण होते हैं। उनसे विभिन्न महापुरुषों, अवतारों, पैगम्बरों, तीर्थकरों आदि के विशिष्ट सम्बन्ध होते हैं। वे देश उन-उन के अनुयायियों के लिए तीर्थभूत होते हैं। मार्क्सवादी भी मार्क्स एन्जिल्स के चित्रों एवं कृतियों का आदर करते हैं। रूसी लेनिन स्टालिन का तथा चीनी माओ-त्से-तुंग का दर्शन-स्मरण तथा उनकी कृतियों का आदर करते हैं। इन सबसे उन्हें प्रेरणा मिलती है। भगवान् शिव, विष्णु, भगवान् रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, बुद्ध तथा शंकराचार्य आदि से संसार का विशेष रूप से भारत का

विशिष्ट सम्बन्ध है। अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना, गंगा चित्रकूट, रामेश्वर, द्वारका, जगन्नाथ, उज्जयिनी आदि विशिष्ट तीर्थ माने जाते हैं। इन हेतुओं से विशिष्ट देशों में उन देशवासियों की विशिष्ट श्रद्धा होती है। उनकी रक्षा और समृद्धि के लिए उनके द्वारा विशिष्ट प्रकार की प्रेरणा मिलती रहती है। शास्त्रों में तो कहा गया है कि 'जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ होती है।' अतः मार्क्सवादी की राष्ट्रीयता विषयक उपरोक्त परिभाषाएँ एकांगी, काल्पनिक एवं मनगढ़न्त ही कही जा सकती है।

स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने जहाँ राष्ट्रीयता विषयक पाश्चात्य विचारकों की परिभाषाओं की सम्यक् आलोचना की है। 'राष्ट्रीय स्वयं सेव संघ' के प्रमुख नेता श्री गोलवलकर जी ने 'विचार दर्शन' तथा 'हमारी राष्ट्रीयता' नामक पुस्तकों में, देश, जाति, धर्म, संस्कृति और भाषा इन पाँचों वस्तुओं पर विचार किया है। इन्हीं को राष्ट्रीयता का आधार माना है। परन्तु स्वामी जी का कथन है कि 'यद्यपि यह पाँचों वस्तुएँ आदर की पात्र हैं, परन्तु फिर भी ये ही राष्ट्रीयता की मूल वस्तु हों, यह आवश्यक नहीं।

स्वामी जी का कथन है कि – 'एक भाषा–वाणी या समान–भाषी होने से यदि एक राष्ट्रीयता का सिद्धान्त माना जायेगा, तब तो बिहारी, बंगला, उड़िया, तेलगू, तमिल, कन्नड़, भाषा–भाषी लोग भी एक–राष्ट्रीय न हो सकेंगे, क्योंकि उनकी भाषाएँ अलग–अलग है। इसी तरह एक धर्म वाले एक राष्ट्रीय हैं, यह भी कहना असंगत है। जैन, बौद्ध, वैदिक आदि धर्म मानने वालों में महान् मतभेद स्पष्ट है। शास्त्रोक्त ब्राह्मणादि जातियों में भी भेद हैं, अतः एक जातीयता भी राष्ट्रीयता नहीं कही जा सकती।

''हमारी राष्ट्रीयता'' के पाँचवें प्रकरण में श्री गोलवलकर जी के द्वारा की गयी परिभाषा को स्वामी जी अपूर्ण मानते हैं। गुरु जी का कथन है कि विदेशी समूहों के लिए दो ही मार्ग खुले हैं, या तो राष्ट्रीय जाति में विलीन हो जायें या फिर उसकी संस्कृति ग्रहण कर लें अथवा जाति की इच्छा के आधीन बसते रहें। 'हिन्दू सभा', 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ', 'जन संघ' आदि की दृष्टि में 'समान धर्म, समान भाषा, समान संस्कृति, समान जाति एवं समान इतिहास वाले लोग 'राष्ट्रीय' कहे जा सकते हैं।' ऐसे राष्ट्रीय लोगों को देश ही 'एक–राष्ट्र' है, जैसे–भारतवर्ष। इसमें समान धर्मादि वाले हिन्दू बसते हैं, इसीलिए यह 'एक राष्ट्र' और 'हिन्दू राष्ट्र' है। उपर्युक्त संस्थाओं के मतानुसार 'मुसलमान, ईसाई आदि भारत राष्ट्र के राष्ट्रिय नागरिक नहीं हो सकते। हाँ, यदि वे हिन्दू धर्म सम्मिलित हो जाएँ, तभी वे इस राष्ट्र के राष्ट्रीय नागरिक हो सकते हैं।'

श्री गोलवलकर जी अपनी पुस्तक 'हमारी–राष्ट्रीयता' में यह भी कहते हैं कि मुसलमान भले ही इस्लाम–मजहब मानता रहे, मसजिद और 'कुरान' का अनुसरण एवं अध्ययन करता रहे यदि वह अपने को 'हिन्दू' कहता है हिन्दु ढंग का नाम रखता

है, हिन्दू ढंग की वेशभूषा धारण करता है, तो, वह हिन्दू-राष्ट्रीय भी हो सकता है।'

उपरोक्त सभी विचार एवं परिभाषाओं को श्री करपात्री जी असंगत एवं निराधाा मानते हैं उनका कथन है कि उक्त संस्थानों को वेदादि शास्त्र जन्मना वर्ण-व्यवस्था पर विश्वास नहीं है, तभी तो वे किसी को भी, भले ही वह जन्मना मुसलमान या ईसाई हो, शुद्ध कर हिन्दू ब्राह्मणादि बनाने की चेष्टा करते हैं। इन्हें शास्त्रोक्त आचार-विचार, विवाह आदि किसी में, विश्वास नहीं। वस्तुतः इनका 'हिन्दुत्व' 'मुस्लिम विरुद्धत्व' ही है। स्वामी जी कहते हैं कि 'एक शास्त्र विश्वासी आस्तिक इन सब बातों को सर्वथा निराधार ही समझता है। वेदों, स्मृतियों एवं नीति ग्रन्थों में 'राष्ट्र' शब्द के जो अर्थ ब्रह्म हैं, उनसे उक्त बातों का कोई सम्बन्ध नहीं। वेदादि शास्त्रों के अनुसार कोई भी जनपद, देश या राज्य 'राष्ट्र' शब्द एवं राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में व्यापक एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। जिसमें वेद, विभिन्न शास्त्रों, मनु, मेघातिथि, याज्ञवलक्य, पराशर, कामन्दकीय, नीतिसार, कौटिल्य आदि के मतों एवं परिभाषाओं का सुन्दर विवेचन करते हुए लिखा है कि 'स्पष्ट है कि सप्ताङ्ग राज्य ही 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ है। यों तो 'वाल्मीकि रामायण' में ग्रामादि के अर्थ में भी राष्ट्र शब्द आया है - 'राष्ट्राणिनगरादि च'। वेदों, उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृतियों में 'राष्ट्र' शब्द का 'जनपद' देश एवं राज्य अर्थ किया गया है। उसी राज्य आदि के विशेषण रूप से जनता, राजा आदि भी गृहीत होते है, किन्तु 'राष्ट्र' या 'जनपद' के नाम पर किसी जाति विशेष या धर्म विशेष का बहिष्कार अथवा निष्कासन सिद्ध नहीं होता। अतः 'मुसलमान, ईसाई जब हिन्दू धर्म बनें या अपना हिन्दू नाम धारण करें, तभी वे राष्ट्रीय हो सकते हैं, अन्यथा नहीं-आदि बाते सिद्ध नहीं होती। एक भाषा-भाषी या समान भाषा-भाषी होने से भी एक राष्ट्रीयता का सिद्धांत नहीं चल सकता, कारण, एक ही राष्ट्र में अनेक भाषायें होती है। इसी प्रकार एक ही धर्म, एक ही जाति होने से भी राष्ट्रीयता का सिद्धांत नहीं चल सकता।'

भारत देश के बारे में शास्त्रोक्त विवेचन करते हुए स्वामी जी लिखते है कि - 'शास्त्रों में इसका नाम भारतवर्ष' 'अजनाभवर्ष' आया है। .....भारतवर्ष का पुराणोक्त परिमाण ९ हजार योजन है। इस दृष्टि से इस समय उपलब्ध समस्त भू भाग भारत नाम से प्रसिद्ध है। सुतरां इस देश में रहने वाला कोई भी व्यक्ति 'भारतीय' या 'राष्ट्रीय' कहा जा सकता है। हाँ प्राचीन काल से इस देश में वर्णाश्रमी ब्राह्मण आदि जो आजकल 'हिन्दू' कहे जाते हैं, यहाँ रहते थे, अतः यह देश उनका है। इस देश में उनका स्वत्व, उनके देवता तथा तीर्थ-स्थल थे। उनके पूर्वजों के ऐतिहासिक संस्कारों से ओत-प्रोत यह देश उनकी बपौती मिल्कियत है। भले ही 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के सिद्धान्तानुसार जिसने युद्ध करके इस देश को अपने अधिकार में कर लिया, उनका भी इस देश पर कभी-कभी स्वतव रह गया हो।' .....'भारत पर तो भले ही कभी

मुसलमानों का अधिकार हो गया हो फिर भी संघर्षरत रहे हैं। किसी मकान या सम्पत्ति पर भले ही लुटेरे कुछ समय तक बलात् अधिकार करने और उस भूमि या सम्पत्ति के स्वामी को हथकड़ी-बेड़ी से जकड़कर, मुँह बन्द कर ताला जकड़ दें फिर भी एक अधिकृत-मस्तिष्क, अलुप्त-स्मृति, पुरुषत्व-सम्पन्न व्यक्ति अवश्य सोचता है कि 'जब भी मुझे अवसर एवं सामर्थ्य मिलेगा, डाकू को मार भगा कर अपनी मिल्कियत पर अधिकार कर लूँगा।' -इस दृष्टि से जैसे किसी साधारण जाति का स्वत्व किसी ग्राम या गृह में होता है, वैस ही किसी बड़ी जाति का स्वत्व किसी देश पर होता है। जैसे- इंग्लैड की भूमि पर अंग्रेजों का है, फ्रांस पर फ्रांसीसियों का, जर्मनी जर्मनों का, अरब पर अरबों का स्वत्व है, वैसे ही हिन्दुस्तान पर हिन्दुओं का स्वत्व है, भारत में वर्णाश्रमियों का स्वत्व है। इसी अभिप्राय से यह देश हिन्दुओं का कहा जा सकता है। उनके तीर्थ, देव-मन्दिर, पूर्वजों के ऐतिहासिक स्थान इस देश के कोने-कोन में विद्यमान है। अत: यह देश विशिष्ट रूप से हिन्दुओं का हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'यहाँ अन्य देशों के लोग रह ही नहीं सकते।' वस्तुत: आधुनिक राष्ट्रवाद एक अन्धविश्वास और प्रतिक्रिया मात्र है। राष्ट्र के विषय में मुख्यत: पाँच विचार हैं - (१) परम्परावादी (२) उदारवारी (३) जनवादी (४) साम्यवादी (५) उग्रराष्ट्रवादी। परन्तु शास्त्रीय सिद्धांत तो यह है कि समष्टि हित का ध्यान रखते हुए व्यष्टि अभिमान करना लाभदायक होता है। परन्तु समष्टि हित विरुद्ध होने पर वही व्यष्टि अभिमान हानिकारक हो जाता है। जैसे-व्यक्तिवाद, जातिवाद समष्टि विरोधी होने पर खतरनाक, है वैसे ही समष्टि विरुद्ध राष्ट्रवाद 'हिटलरी-राष्ट्रवाद' की तरह ही भयानक होता है। वस्तु-स्थिति यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण होते हुए भी मानव भी है और मानव होते हुए परमेश्वर की सन्तान या उसका अंश जीव भी है, वैसे ही उसी परमेश्वर की सन्तान होते के नाते सभी के साथ समानता एवं भ्रातृता का सम्बन्ध है; सच्ची राष्ट्रीयता एवं राष्ट्र-प्रेम का यही सुदृढ़ आधार है।

***

इतिहास

इतिहास क्या है? इस पर विश्व के विभिन्न विचारकों द्वारा पृथक्-पृथक् मत व्यक्त किये गये हैं। श्री स्वामी करपात्री जी महाराज के विचारों का उल्लेख करने से पूर्व उनकी पुस्तक 'मार्क्सवाद और रामराज्य' से कुछ परिभाषाएँ उद्धृत की जाती है-

'यूनानी भाषा में इतिहास (हिस्ट्री) का अर्थ जिज्ञासा होता है।'

'मुसलमानो में शिक्षापूर्ण उच्च आदर्श का वर्णन ही इतिहास समझा जाता था।'

'फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक वाल्टेयर के अनुसार मनुष्य की मानसिक शक्ति का वर्णन ही इतिहास है। .....शासकों का वर्णन भी इतिहास, नहीं किन्तु 'मनुष्य जंगली से सभ्य कैसे हुआ' इस विकास का वर्णन ही इतिहास है।'

'व्यूरी जैसी' प्रसिद्ध लेखिका ने कहा कि 'इतिहास एक विज्ञान है।'

'कुछ लोग इतिहास को एक कला कहते हैं।'

'हीगेल' के अनुसार, 'इतिहास ईश्वर की आत्मकथा है। वह मनुष्यों को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने देता है। उनका फल वही होता है, जो ईश्वर चाहता है।'

इंग्लैड के 'डिल्टन मेर' का मत है कि 'संसार अज्ञात रूप से, पर बड़े कष्टपूर्वक ईश्वर की ओर बढ़ रहा है- मेरे लिए इतिहास का यही अर्थ है।'

जर्मन इतिहासकारों के अनुसार 'जर्मनी के जंगलों, पहाड़ों, नदियों तथा जर्मन वीर-गाथाओं का गौरवपूर्ण वर्णन ही इतिहास है।'

एक इटालियन का कहना है-'यदि प्राचीन इतिहास के अध्ययन से हममें उत्साह नहीं बढ़ता तो फिर गड़े मुर्दे खोदने की क्या आवश्यकता ?'

कुछ लोगों का मत है कि 'इतिहास अपने को दोहराता हैं' जबकि दूसरे कहते है-'प्राचीन घटनाओं की पुनरावृत्ति असम्भव हैं।'

कुछ लोग 'विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तियों का विस्तृत वर्णन ही 'इतिहास' समझते हैं।'

'मेर' के अनुसार 'सार्वजनिक घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन ही इतिहास है।'

प्रो. हॉर्नशा की राय में 'विश्व घटनाओं की गति या उनके कुछ अंश का वर्णन इतिहास है।'

लार्ड ऐक्टन का कहना है कि 'विश्व का इतिहास राष्ट्रों के इतिहास का

संग्रह नहीं, किन्तु यह लगातार विकास है। यह स्मरण शक्ति के लिए भार न होकर आत्मा के लिए प्रकाश है।'

'मि. वेन मिलर' का कथन है कि 'आँखों देखी घटना भी ठीक नहीं बतायी जा सकती। दो आदमी उसे भिन्न रूप से देखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना अलग ही चलती है। पत्रों, सरकारी लेखों में भी भाव बदल जाते हैं, फिर हजारों वर्ष पुराने इतिहास का वर्णन सत्य कैसे हो सकता है?'

स्वामी करपात्री जी कहते है कि 'इसीलिए रामायण महाभारत आदि आर्य इतिहास के लेखक वाल्मीकि, व्यास आदि ऋषि प्रत्यक्षानुमान या संवाददाताओं के तारों, पत्रों के आधार पर नहीं, किन्तु समाधि-जन्य ऋततम्भरा प्रज्ञा के अनुसार घटनाओं को पूर्णतया जानकर ही इतिहास लिखने में संलग्न हुए थे। वैदिकों के यहाँ वेदार्थ जानने में इतिहास-पुराण का अत्यन्त उपयोग हैं-

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत, पुराणमित्तिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्म-शास्त्रमर्थशास्त्रम्वेतिहासः।' (कौ. अर्थ. १/५/१४)

ब्रह्मादिपुराण, रामायण, महाभारतादि इतिहास, वृहत्कथादिआख्यायिका मीमांसादि उदाहरण, मनु-याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्र, औशनस, व्राहस्त्यादि अर्थशास्त्र- ये सभी कौटिलय के अनुसार 'इतिहास' है। 'शुक्र के मतानुसार' किसी राजचरित्र वर्णन के ब्याज से प्राचीन घटनाओं का वर्णन ही इतिहास है-

'प्राग्वृत्तकथनं चैकराज कृत्यमिषादित्त।:
यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि।।'

(शुक्र नी. ४/२९३)

इतिहास के साथ पुराणों का भी सम्बन्ध अनिवार्य है, क्योंकि पुराण में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रजापतियों के बाद की सृष्टि), वंश (फल), मन्वन्तर (प्रत्येक मनु के अधिकार का समय), वंश्यानुचरित (कुलवृत्त) का वर्णन विशेष रूप से होता है। स्वामी जी कहते हैं कि, 'इतिहास केवल घटनाओं का वर्णन मात्र हो, तब ही केवल गड़े मुर्दो के उखाड़ने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाता, अतः उसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षोपदेश आवश्यक है। इस तरह का कथायुक्त वृत्त ही 'इत्तिहास' है।

'धर्मार्थसकाममोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।'

(का.मी.म.टी. १/२)

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपदेशों के समन्वित कथायुक्त पूर्ववृत्त का वर्णन ही 'इतिहास' है। मानवजाति की प्रगति ऐतिहासिक क्रम से इसी ओर होती रही है।

एक अन्य अवसर पर इतिहास के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए

स्वामी जी कहते हैं–'आधुनिक लोग कहते है कि भारतीयों का इतिहास नहीं था परन्तु वास्तविकता यह है कि पाश्चात्यों का कोई इतिहास नहीं है, वे छः हजार वर्ष से पूर्व का कुछ जानते मानते नहीं, बस ईसा के पूर्व और ईसा के बाद ही ऐतिहासिक प्रागैतिहासिक काल का विभाजन करते हैं। श्लोकों इत्यादि की रचना को लेकर यह रामायण को महाभारत के बाद की रचना कहते हैं–इनमे मस्तिष्क में यह बात आ ही नहीं सकती कि लाखों वर्ष पुरानी भी कोई रामायण होगी। जो लोग कहते हैं कि 'रामायण महाभारत के बाद का इतिहास है, और भारतीय इतिहास झूठे हैं', वह वास्तव में यह भी नहीं समझते कि इतिहास होता क्या है? स्वामी जी लौकिक उदाहरण देकर आगे समझाते हैं कि 'आपके कारपोरेशन में कितने मच्छर उत्पन्न हुए अथवा मरे, इसका कोई लेखा जोखा नहीं, मनुष्यों का लेखा–जोखा रखा जाता है–भई क्यों नहीं रखा उन–उन जीवों का जन्म–मरण का लेखा? तो उत्तर मिलता है कि ऐसा करना असम्भव है फिर कोई लाभ भी नहीं, व्यर्थ होगा, निष्प्रयोजन–तो इसी प्रकार सारे व्यक्तियों की, घटनाओं को इतिहास में लिखा भी नहीं जा सकता। हमारा तो दो अरब वर्ष का इतिहास है, कब तक पढ़ते? अरे निष्कर्ष यही निकला कि अतीत की घटनाओं से भविष्य के लिए कुछ सबक सीखो, यही इतिहास का तात्पर्य है। अतीत की घटनाओं में सबसे ही शिक्षा, प्रेरणा, सबक मिलता जो ऐसी बात नहीं। 'राम, कृष्ण, प्रताप, शिवा के चरित्र से शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। कोई–कोई ही ऐतिहासिक विशिष्ट पुरुष हुआ करते हैं। इतिहास वह है जिससे आध्यात्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक उत्थान का सबक मिलता है, इसी प्रकार रामायणादि के द्वारा अतीत की घटनाओं से सबक लिया जा सकता है, नित्य इतिहास को समझा जा सकता है।

और अधिक विवेचन करते हुए वे आगे कहते हैं कि 'इतिहास आचरण में, व्यवहार में प्रमाण नहीं माना जाता, यह संविधान नहीं है, क्योंकि बुरे दिन का इतिहास बुरा अच्छे दिन का इतिहास अच्छा। अतः यह आचरण में प्रमाण नहीं। जैसे यादवों ने मदिरा–पान किया, युधिष्ठिर ने जुवा खेला, द्रौपदी के पांच पति थे, तो ये घटनाएँ आचरण में प्रमाण नहीं, अनुकरणीय नहीं। ऐतिहासिक होने पर भी समाज में इनका विधान किया नहीं जा सकता। विधि संविधान ही आचरण में प्रमाण होता है। रावण की घटना अतीत में घटी तो उससे यही निष्कर्ष निकला कि रावणादि के तुल्य नहीं चलना है अपितु राम के समान चलना चाहिए। धर्मराज की भाँति चले, दुर्योधन की तरह नहीं, सच्चरित्रों को आचरण में लावें, दुश्चरित्रों को नहीं। शास्त्रों का विधि अंश ही प्रमाण है, विधि–विरुद्ध अंश प्रमाण नहीं माना जाता। इतिहास का जो अंश विधि के अनुरूप संविधान के अनुकूल हो वही प्रमाण कोटि में आता है, उसी का आदर करेंगे न कि सभी ऐतिहासिक घटनाएँ प्रमाण है। हमारे यहां इतिहास का काम है, ईश्वरावतार, महापुरुषों को निमित्त बनाकर तत्तत् परिस्थितियों को चित्रण करना।

काव्यों तक में भी ऐसा किया गया है, रघुवंश काव्य नैपध, माघ काव्य, किराताजुंनीय काव्य, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि भी इतिहास प्रमाण के आधार पर ही चले हैं–यहाँ तक कि बुद्धचरितम् वाला अश्वघोष और कालिदान के समय में भी उसकी भी पृष्ठभूमि इतिहास प्रमाण ही है अमुक ऐसे हुए, बुद्ध ऐसे हुए।

आधुनिक शैली के इन विचारवेता इतिहासज्ञों के सीमित ज्ञान एवं अपूर्ण जानकारी के प्रति जो कहते है कि 'वेदों में नगरों, पर्वतों, राजाओं इत्यादि का वर्णन देखकर कह देते हैं कि वेदों की रचना उन–उन नगरों, पर्वतों, राजाओं से बाद में हुई, श्री करपात्री जी कहते हैं कि और जगह तो घटनानुसार इतिहास होता है, परन्तु यहाँ इतिहासानुसार घटनाएँ घटती है। लोक में तो पदार्थ के अनुकूल शब्द बोलते हैं, परन्तु आर्ष महर्षियों के शब्दों के अनुसार पदार्थ बनते हैं। ऋषियों ने नहुष को अजगर कह दिया, वह अजगर बन गया, मेनका, पहाड़ी बन गई, शब्दों में करामात होती है। महर्षि यदि 'घट' को 'पट' कह दें, तो उसे पट बनना पड़ता है तत्काल। एक–एक शब्द के आधार पर संसार का, मनुष्यों का परमात्मा ने निर्माण किया हैं। इस प्रकार ईश्वर वैदिक शब्दों द्वारा ज्ञान सम्पादन करता है, प्रथम इच्छा करता है, फिर क्रिया शक्ति द्वारा विश्व निर्माण करता है। इसी प्रकार 'वाल्मीकि–रामायण' जो हमारा इतिहास है, उसकी रचना भी घटना से पूर्व हुई। स्वयं ब्रह्मा जी ने कहा कि 'मेरी कृपा से सरस्वती तुम्हारे मुख में प्रगट हो गयी हैं, तुम 'सीता–चरित' लिखे। पहले ऋतम्भराप्रज्ञा द्वारा चरित्र दर्शन करो। संवाददाताओं के प्रेषित समाचारों में टेलिप्रिन्टरों में भी भेद हो जाता है, चूँकि बर्हिमुख–वृत्ति से पूर्ण रूप से वस्तु स्थिति का परिज्ञान सम्भव नहीं है। इसीलिए समाधि आवश्यक है। महर्षि ने जो इतिहास लिखा पहले उसे समाधि में जानकर तब लिखा। हसित, भाषित, इंगित चेष्टित व्यवहरित सभी कुछ का अणु–अणु में उपरोक्ष साक्षात्कार करके उनको समग्र रूप से जानकर ही महर्षि ने रामायण में लिखा है। उस पर भी ब्रह्मा जी ने आर्शीवाद दिया कि 'तुम्हारी कोई एक वाणी भी इस काव्य में अनृत नहीं होगी।' न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यतिकुरु रामकथां पुण्यं श्लोकबद्धां मनोरमाम्।' इसी प्रकार महर्षि वेदव्यास जी द्वारा महाभारत और अन्य पुराणादि का निर्माण समाधि में सभी स्थूल, सूक्ष्म, सन्निकृष्ट अर्थो को साक्षात्कार करके ही किया गया। यह उन्हीं आर्य ग्रन्थों से प्रभावित होता है। अतीत अर्थ के ज्ञान के लिए आप्त वचन ही प्रमाण हो सकते हैं। निष्काम नि:स्पृह महर्षियों से बढ़कर आप्त वचन कौन हो सकते हैं? यदि आधुनिक व्यक्ति के लिये इतिहास प्रमाण है तो आर्य–इतिहास–प्रमाण क्यों नहीं?

स्वामी जी वर्तमान में चल रही इतिहास सम्बन्धी धारणाओं के सम्बन्ध में अपने विचाार दृढ़तापूर्वक रखते हुए कहते है कि 'किसी जाति का राष्ट्र का गौरव और स्वाभिमान नष्ट करने के लिए उसके इतिहास और संस्कृति पर अविश्वास पैदा कर

देना विजेता की सबसे बड़ी सफलता है। 'शत्रु के महत्व और अपने पूर्वजों का अपकर्ष श्रवण करने से प्राणी का तेजोवध होता है।' 'कूटनीतिज्ञों ने इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझकर इससे लाभ उठाया। मनगढ़न्त इतिहास बनाकर भारतीयों की भावनाओं को निर्बल बना डाला'.....हितैषिता के छद्म से भारत को शिक्षित करने और सुधारने लग गये और यह बताने की कृपा की कि, तुम्हारे यहाँ का इतिहास ही सब गलत है। बड़े प्रयत्न और खोज से भारत और भारतीय इतिहासों एवं आर्यों का इतिहास बन गया। उनकी शिक्षा से प्रभावित भारतीय भी उन्हीं की तान अलापने लगे और उनसे भी कहीं उल्वण होकर, अपने शास्त्रों, संस्कृतियों एवं पूर्वजों की समालोचना करने लगे। अपनी संस्कृति अपने इतिहास एवं तत्पोषक शास्त्रों के प्रति अविश्वास और घृणा उत्पादन करने का भार इन्होंने अपने हाथ में ले लिया। विदेशी जैसा चाहने लगे, वैसी ही विचारधारा भारतीयों में चलने लगी। भला जो विजेता प्रचार करना चाहता हो, जब उसी का प्रचार विजित जाति या राष्ट्र के अधिकांश लोग ही करने लग जायें, तब तो फिर कहना ही क्या? आज अनेक भारतीय नेताओं तक ने अपने-अपने ग्रंथों में बाहर से आना स्वीकारा है जो आर्य इतिहास के सर्वथा प्रतिकूल है। यह देश का दुर्भाग्य है कि लोकमान्य तिलक जैसे महानुभावों ने भी उत्तरी-ध्रुव के आर्यो का आना सिद्ध किया। श्री गाँधी जी जैसे लोग भी अपने सच्चे इतिहास, रामायण, महाभारत आदि को इतिहास मानने में राम, युधिष्ठिर आदि को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में संकोच करने लगे। आज आवश्यकता है कि वर्तमान इतिहास को रद्द करके सच्चे इतिहास की शिक्षा दी जाये, तभी स्थूल शरीर की स्वतन्त्रता के साथ-साथ सूक्ष्म स्तर पर प्राणी हीन भावना एवं मानसिक दासता से मुक्त होकर सच्चे अर्थो में भारतीय देश-भक्त बन सकेगा। विदेशियों के कुचक्र से विदेशी-भाषा, वेशभूषा, विचार एवं तथोक्त पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति से अपनी आर्य वैदिक सनातन संस्कृति, सभ्यता एवं इतिहास का रक्षा कर सकेगा।

***

रामराज्य

यदि कहा जाये कि 'राम' जो इस समय है नहीं फिर 'रामराज्य' कैसा? तो 'राम' शास्त्रों की दृष्टि से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक कूटस्थ, स्वप्रकाश, सर्वाधिष्ठान, पूर्णतम पुरुषोत्तम, परात्पर ब्रह्म हैं, जिनका अभाव कभी हो ही नहीं सकता। बड़े-बड़े योगी जिसमें रमण करते हैं, वह 'राम' है। जो सब में रमण कर रहा है, वह 'राम' है, जो सबका दृष्टा, सबका साक्षी होकर स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों में जागृत-सुषुप्ति एवं स्वप्नावस्था में रमण करता है, वह 'राम' है। जो सबको रमण कराये, सुखी बनाये, वह 'राम' है, संसार के समस्त प्राणी-मात्र को आनन्द देने वाला भगवान, 'राम' है। निराकार निर्गुणवादी गुरु-नानक-कबीर आदि भी 'राम' के उपासक थे, गायक थे। सगुण-साकारवादी तुलसी आदि राम के भक्त थे। आकाश में शब्द गुण है, परन्तु आकार नहीं, वैसे ही सगुण होता हुआ भी वह ईश्वर अन्तर्यामी आर्यसमाजी बन्धुओं का निराकार है। सर्वज्ञतागुण, सर्वशक्तिमत्ता गुण, सर्वगन्धत्व, सर्वरसत्वगुण है, अपरिमित गुण-गण सम्पन्न होते हुए भी वह आकार वाला नहीं, यह सगुण-निराकारवादी का 'राम' है। पूर्वमीमांसक निरीश्वरवादी भी कपिल भगवान् द्वारा वर्णित 'सांख्य' को मानते हैं। कारिका रूप सांख्य द्वारा निरीश्वर सांख्य सिद्ध होता है-वे ईश्वर नहीं मानते पर, वेद-धर्म को मानते हैं। महर्षि वाल्मीकि 'राम' को साक्षात् मूर्तिमान धर्म मानते हैं-''रामोविग्रहवान् धर्मः।'' अतः पूर्वमीमांसकोक्त निवृत्ति मार्ग रूप धर्म, योग वासिष्ठ द्वारा वर्णित धर्म-रामभ्रदरूप में प्रगट हुआ। सारांश, चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने राम सबके है। निराकारवादी धर्ममात्र को मानने वाला भी 'राम' नाम का जाप कर सकता है। गाँधी कहते थे-स्वराज्य माने 'रामराज्य', लियाकत कहते थे-'इस्लामी राज्य ऐसा होगा जैसा 'रामराज्य''। तो 'राम' अन्य रूप में चाहे किसी को मान्य न भी हों तो भी, एक रामराज्य जैसे आदर्श शासन के प्रतिष्ठापक नेता के रूप में तो 'राम' सबको मान्य हैं। उनका रामराज्य सबके लिए कल्याणकारी था। वस्तुतः रामराज्य, धर्मराज्य और ईश्वर राज्य एक ही है। स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि 'जो धर्म भी नही मानते, केवल जितेन्द्रियता, सच्चरित्रता' निष्पक्षता, न्याय-परायणता आदि नैतिक गुणों को ही उपादेय मानते हैं, उनके लिए भी 'रामराज्य' ही आदर्श है, क्योंकि राम के समान जितेन्द्रिय, सच्चरित्र निष्पक्ष न्याय देने वाला शासक जिस राज्य में हो वही 'रामराज्य माना जाता है।'

स्वामी जी राजनीति के पण्डितों से लेकर सर्वसाधारण जनता से पूछते हैं कि ''क्या किसी को यह इष्ट हो सकता है कि हमारा मन्त्रिमण्डल, प्राइमिनिस्टिकर अथवा गर्वनर जनरल, या हमारी जनता इन्द्रियों की गुलाम हो? कामिनी कांचन का किंकर हो? कभी नहीं। जहाँ अजितेन्द्रिय स्वार्थपरायण शासक होंगे–वहाँ जनता में घूसखोरी और चोर बाजारी बन्द ही नहीं हो सकती, अत्चाार, दुराचार मिट नहीं सकते। यदि शासक जितेन्द्रिय होगा तो वह प्रयत्न करेगा कि उसकी प्रजा भी जितेन्द्रिय, सदाचार परायण और सच्चरित्र हो।'' स्वामी जी कहते हैं कि 'रामराज्य कोई सातवें आसमन की वस्तु नहीं, कल्पना मात्र नहीं, अपितु यदि आज भी शासक और जनता राम के सदृश सदाचारी और सच्चरित्र बन जाय, तो, बस रामराज्य ही हो गया समझो उसे, परन्तु केवल मौखिक दुहाई देने से कुछ नहीं होगा, आचरण करने से ही वह सम्भव है।'

करपात्री जी लिखते है कि 'रामराज्य में जो लोकाराधना की प्रधानता रहती है, भगवान् रामचन्द्र जो भी कार्य करते थे, उनमें लोकमत का पूर्ण ध्यान रखते थे। वे लोकमत के सामने अपने सुख की भी परवाह नहीं करते थे। राम की घोषणा थी कि संसार को प्रसन्न रखने के लिए, प्रजा का रंजन करने हेतु, यहाँ तक की जानकी को भी त्याग सकता हूँ' राम ने मात्र घोषणा ही नहीं की, वैसा आचरण भी करके दिखाया। स्वामी जी रामराज्य पर विचार करते हुए आगे कहते हैं कि 'रामराज्य' में साम्यवाद का भी सम्मान था। शास्त्र परतन्त्र पूँजीपति सम्राट एवं साधारण कोटि के लोगों में भी लोकहित, दान और अतिथि–सत्कार, आदि की व्यापक प्रथा 'रामराज्य' में प्रचलित थी। साधारण कोटि के लोग भी यथाशक्ति लेने से बचते थे, और सर्वदा देने को प्रस्तुत रहते थे। बड़े बड़े धनी–मानी भी ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में अपने धन का व्यय करके लोकहित सम्पादन करते थे। सर्ववेदस् यज्ञों में सर्वस्वदान का विधान था। जिसके पास तीन वर्ष के भृत्य–भरण के लिए पर्याप्त धन हो, उसके लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ का करना अनिवार्य था। यज्ञ में श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र ने अपने समस्त भूमण्डल का दान कर दिया था। महाभागा वैदेही के पास में केवल मंगलसूत्र ही शेष बचा था–'वैदेही च महाभागा सौमङ्गल्यावशेषिता।' स्वामी जी कहते हैं कि इस प्रकार लूट–खसोट के बिना सर्वत्र अनायास ही साम्यवाद का भी विस्तार हो जाता था। भेद यही था कि आज एक दूसरे की सम्पत्ति लूट–खसोट कर छीनना चाहते हैं। सम्पत्ति वाले शोषण में ही प्रयत्नशील रहकर कुछ भी देना नहीं चाहते। शास्त्रीय, धर्म नियन्त्रित राजतन्त्रवाद में लेने से भी बचना चाहते थे और देने की रुचि सबके ही मन में रहती थी। यज्ञों में अन्न, वस्त्र, रत्न आदि वस्तुओं को खूब दान होता था। उस समय सभी याचक अयाचक हो जाते थे। इस तरह रामराज्य अथवा धर्म–नियन्त्रित राजतन्त्रवाद अथवा धर्म सापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य में साम्यवाद का भी अन्तर्भाव हो जाता है। रामराज्य में यह विशेषता थी कि शासकों पर निस्पृह, अंकिचन, सर्वस्व त्यागी गुरुओं, महर्षियों एवं वेद–शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों का नियन्त्रण था। शास्त्र, धर्म एवं ईश्वर का

भय सबके ही ऊपर रहता था। कर–प्रणाली के बारे में विचार करते हुए वे लिखते है कि 'जैसे सूर्य तीक्ष्ण रश्मियों से जल को खींचता है, वैसे ही रामचन्द्र प्रजाओं से कर संग्रह करते थे। दो मधुहर्ता व्याध के समान प्रजाओं की रक्षा का ध्यान न करके कर संग्रह करने से प्रजा उजड़ जाती है। जैसे मधुकर पुष्प की हिंसा न करके मधुसंग्रह करता है, वैसे ही प्रजाओं का हिंसन न करके उनसे कर ग्रहण करना उत्तम मधुकरवृत्ति है। जैसे सूर्य ग्रीष्मकाल में जल का आकर्षण करके भी अपने यहाँ संग्रह नहीं करते, किन्तु समय पर वर्षा करने के लिए ही ऐसा करते हैं, वैसे ही तीक्ष्णता से कर ग्रहण करके भी रामचन्द्र उसका उपयोग प्रजा के हित के लिए करते थे।' स्वामी जी का कथन है कि 'रामराज्य में सभी को सस्ता न्याय, औषधि, रोटी, कपड़ा सुलभ था, सभी को लेखन और भाषण का स्वातन्त्र्य प्राप्त था, जैसा कि धोबी और कुत्ते की कथाओ से सिद्ध है। रामराज्य में एक धनी–मानी विद्वान ब्राह्मण के मुकाबले कुत्ते को भी न्याय प्राप्त था। जबकि आज न्याय मांगने वाले को जन सुरक्षा के नाम पर जेलों में ठूँस दिया जाता है और मुकदमा भी नहीं चलाया जाता। रामराज्य में कभी भी जनमत का अनादर नहीं हुआ। परन्तु आज जनमत को पांव तले रौंदा जाता है। हिन्दु कोडबिल की मांग जनता ने कभी नहीं की पर उसे टुकड़ें करके पास किया। गोहत्या बन्दी की मांग को ठुकरा कर जनता के हृदय पर ठेस पहुँचायी जा रही है।

आज की अस्थिर राजनीतिक विचारधारा पर तीव्र प्रहार करते हुए महामनीषी स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि 'आज की पार्टियाँ कोई स्पष्ट सिद्धान्त का निरूपण करती ही नहीं। इन भारतीय जयचन्दों ने कहा कि भारतीय सम्राट पृथ्वीराज चौहान का अन्त हो भले ही अंग्रेजी का राज्य हो जाये। फिर कहाँ अंग्रेजों का खात्मा हो, फिर जो हो सो होता रहे, एक बार भारत से गारत तो हो। फिर नारा उठाया है कि इस कांग्रेस को समाप्त करो फिर आगे जो हो सो हो। समाजवादी आयें, परन्तु समाजवादी भी भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं, कांग्रेस के समाजवाद में, सोशलिस्ट, प्रजा सोशलिस्ट के समाजवाद में ही अन्तर सामने आता है। परन्तु, शुद्ध समाजवाद की रूपरेखा जिस पर शास्त्रार्थ किया जा सकता है, वह मार्क्स व एंगिल्स ने लिखा। माओ, लेनिल व स्टालिन ने उसी को आगे बढ़ाया। उसमें तो कुछ दम है, तर्क है। वर्ग–संघर्ष, राज्य–क्रान्ति फिर सुधरे ढंग का समाज निर्माण इत्यादि का वर्णन हैं, परन्तु अब वह भी पुराना हो चुका। समाजवाद में राष्ट्रीयकरण के नाम पर सब कुछ छीन लेते हैं। सामूहिक उत्पादन वितरण, सम्भोग की बात की जाती है, परन्तु समाजवाद न रूस में है न चीन में। यह केवल मृग–मरीचिका मात्र ही है। कम्युनिस्टों की दृष्टि में कभी ऐसा राज्य रहा हो कोई प्रमाण नहीं है। अब श्री डांगे महोदय ने अपनी पुस्तक 'भारत' में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वेदों में जो 'सत्रयाग' का वर्णन है वही 'आदिम–साम्य संघ' था। जैसे बीज का विनाश होता है तब अंकुर होता है। अंकुर प्रतिशेष का प्रतिशेष कब होता है? जब आगे गेहूँ की बाल निकलती है। गेहूँ की बाल

प्रतिशेष का प्रतिशेष होने से एक गेहूँ के दाने से हजार गेहूँ के दाने के रूप में सामने आता है। इसी प्रकार असली आदिम साम्य-संघ का प्रतिशेष हुआ, सामन्तशाही और अब सामन्तशाही का प्रतिशेष होगा साम्यवाद। वह बड़ा, परिष्कृत रूप होगा, जो बड़ा निर्दोष होगा। मार्क्स कहता है कि शोषक शोषितों का मिलाप करना मूर्खता है। इनका परस्पर अमिट विरोध है, अतः खूनी क्रान्ति करो, वर्ग विध्वंस करो, शोषक वर्ग का खातमा करो, शोषित वर्ग की सत्ता प्रस्थापित करो, परन्तु फिर शोषित वर्ग की डिक्टेटरशिप हो जायेगी, क्या वह मिटेगी? फिर उसे मिटाने हेतु वही क्रान्ति इत्यादि। अतः समस्या का समाधान क्या इसे कहा जा सकता है? ''मल किमि जांहि मलहि के धोये''।

स्वामी जी इस समाधान एकमात्र रामराज्य में देखते है उनका कथन है कि 'रामराज्य में वर्ग-सामंजस्य है, श्रेणी-सामंजस्य है। एक व्यक्ति, जाति, दूसरे व्यक्ति, जाति का पोषक है, पूरक है, रक्षक बनता है-यह समन्वयवाद है।' इसीलिए यहाँ विचार है कि क्यों यहाँ शोषक सदा शोषक ही रहता है? छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है। शोषितों में भी शोषक होते हैं। सौ मन वाली मछली मन भर वाली की, इसी प्रकार मन भर वाली तोले भर वाली के लिए शोषक ही है। वेतन भोगी को शोषित मानते हैं, परन्तु मिल-मालिकों का वेतन-भोगी मैनेजर भी बोनस, भत्ते, वेतन आदि में कटौती करके शोषक बन जाता है। शोषण की प्रवृत्ति को रोकना, उत्पीड़न की प्रवृत्ति को रोकना शासन तन्त्र का काम है। रामराज्य में 'सब नर करिहं परस्पर प्रीती'। जहाँ सब दीनदार ईमानदार होंगे, धर्म पर चलेंगे, वहीं पर तो शोषण उत्पीड़न की भावना नष्ट हो सकती है। शोषण प्राणी का स्वभाव है, इस पर वे साम्यवादी कहते हैं कि शोषक का ही अन्त कर दो, वर्ग-संघर्ष-वर्ग विद्वेष करो। फिर विचार हुआ कि शोषक-शासित दोनों वर्ग वास्तविक है कि नहीं? उनका विरोध मिट सकता है? रूस कहता है कि सह-अस्तित्व चलेगा, परन्तु कैसा? कब तक? पूँजीवाद, समाजवाद, मिल-मालिक, मजदूर, गरीब-अमीर का सहअस्तित्व कैसे चल सकता है? जब तक कमजोर का डण्डा प्रबल न हो जाये, बस तब तक। अन्यथा पुनः संघर्ष विरोध होगा। मार्क्सवाद की दृष्टि में सह-अस्तित्व की परिभाषा अस्पष्ट ही है। परन्तु स्वामी जी कहते हैं कि 'रामराज्य' में समन्वयवाद है-रजोगुण, तमोगुण को कम करके सतोगुण बढ़ाकर परस्पर शान्ति समन्वय स्थापित किया जायेगा। धर्म-भावनाओं के व्यापक प्रचार-प्रसार द्वारा जितना-जितना शोषक भक्षक वर्ग पूरक एवं रक्षक बनेंगे, उतना ही हम शोषण का अन्त कर सकेंगे-तब ही यह कहा जा सकेगा कि 'नहि दरिद्र कोई अबुध न दीना'। स्वामी जी भगवान राम के 'रामराज्य' का वर्णन करते हुए कहते है कि 'उनके शासन-काल में प्रजा सुखी, धर्म-निष्ठ और दम्भ-विहीन थी। भय, शोक और रोग का नाम न था -

''वरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद-पथ लोग।
चलहि सदा पावहिं सुखहिं, नहि भय, शोक न रोग।''

यद्यपि रामराज्य नौ लाख वर्ष पूर्व था, तथापि उसकी विशेषताओं के कारण आज भी उसकी प्रशंसा की जाती है। रामराज्य में वृक्ष सुन्दर पत्र, पुष्प, फल, पल्लवों से सुशोभित रहते थे। पृथ्वी अनन्त धन-धान्य से सम्पन्न थी, प्राणियों के जीवन, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परिवारों से सनाथ थे। कुटुम्बियों में रोगों के आक्रमण भी नहीं होता था, अकाल मरण तो होता ही नहीं था। शलभ-मूषक, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आदि का लेशमात्र भी भय न था। परस्पर बैरभाव नहीं था। रामराज्य सदा निष्कण्टक रहा। समस्त राष्ट्र ऋषियों, मुनियों तथा धर्मनिष्ठ हष्टपुष्ट, रम्य, मणिरत्नादि, भूषित सत्पुरुषों से भूषित था। ब्रीहि, यव आदि शस्यों से परिपूरित क्षेत्रों से युक्त तथा प्रभूत स्वस्थ मनुष्यों और गोधनों से सुशोभित अयोध्या का साम्राज्य अद्वितीय ही था। ब्राह्मण वेदशास्त्रों के ज्ञाता एवं त्याग, तेजस आदि गुणों से सम्पन्न थे। क्षत्रियों में ओज, तेज, बल और वीर्य का आधिक्य था। वे शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा किया करते थे। वैश्य अनन्त धन-धान्य सम्पन्न थे, वे अपनी पूँजी से देश, धर्म और गरीबों की सेवा किया करते थे। शूद्र शिल्प-निष्ठ और सेवा परायण थे। कृषक बड़े ही सुन्दर और बलवान होते थे। गायें दोग्धी होती थी।

आज आधुनिक अनेक राजनीतिकवाद संसार की प्रयोगशाला में आजमायश के लिये लाये गये हैं। उनमें से कितने ही फैल हो चुके हैं, कितने अी आये दिन फेल होते हैं। स्वतन्त्र भारत के विधान में भी इंग्लेड, अमेरिका, फ्रांस आदि के विधानों से प्रेरणा ली गयी, नकल की गयी। स्वामी जी को इस पर बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने अपना आक्रोश प्रकट करते हुए, देश में व्यापक प्रचार भी किया कि कौटिल्य अर्थशास्त्र, वृहस्पति-नीति, शुक्र-नीति, कामन्दकीय आदि भारतीय ग्रन्थों में उच्चकोटि के राजनीतिक विधानों का वर्णन है। आज भी रूस जैसा साम्यवादी राष्ट्र हमारे धर्मराज्य एवं रामराज्य का स्वरूप जानने के लिए महाभारत, रामयणादि का अनुवाद कर रहा है, परन्तु भारत के मनीषियों, राजनेताओं को न जाने क्या हो गया है कि वे भारतीय शासन-विधान बनाने में विदेशी उच्छिष्ट राजनीति का अन्धानुकरण करके अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत का राजनीतिक दिवालियापन सिद्ध कर रहे हैं। वर्तमान राजनीतिक अस्थिरता तथा धर्महीन वातावरण में करपात्री जी ने सम्पूर्ण संसार के चिन्तनशील एवं मननशील विचारकों के समक्ष उस भारतीय राजनीति एवं शासन पद्धति को बड़ी दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत किया है। जिसे वेदों ने 'ईश्वर-राज्य कहा है, महाभारत में जिसे 'धर्मराज्य' कहा है और विभिन्न पुराणों मे जिसे 'सुराज्य' की संज्ञा दी है तथा रामायण में जिसे 'रामराज्य' कहा गया है।

स्वामी जी कहते है कि 'लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र, समाजतन्त्र, अधिनायक तन्त्र, राजतन्त्र जो भी तन्त्र हो, सभी को धर्म-नियन्त्रित होना चाहिये। धर्म-नियन्त्रित, सदाचारी, जितेन्द्रिय शासक हो, साथ ही जनता भी धर्म नियन्त्रित हो, तो ऐसा धर्म-युक्त राज्य ही 'रामराज्य' है। स्वामीजी का डिम-डिम घोष है कि जब तक भारत 'सैक्यूलर' धर्म-निरपेक्ष, धर्म-विहीन है, तब तक प्रजा भी धर्म-विहीन, धर्म-निरपेक्ष बनी रहेगी। फलतः

अधर्म, भ्रष्टाचार, अत्याचार, अनाचार, दुराचार, पापाचार व्याप्त रहेगा, शासक एवं प्रजा दोनों अनैतिक एवं भ्रष्ट आचरण में रत रहेंगे। अतः वे राज्य को धर्म सापेक्ष बनाने पर विशेष बल देते हैं और वर्तमानकाल में सुख-शान्ति एवं राजनीतिक स्थिरता का, इसे मूल-मन्त्र मानते हुए 'राम-राज्य' की स्थापना के लिए सतत यत्नशील है। इसके लिए उन्होंने विपुल साहित्य का सृजन किया है। प्रेस-प्लेटफार्म की भी स्थापना की है। एक राजनीतिक संस्था 'रामराज्य परिषद' का भी गठन किया है, परन्तु विश्व एवं देश के विपरीत एवं कलुषित वातावरण में इस सतयुगी महात्मा की सच्ची, निर्भीक एवं हितकारी वैदिक विचारधारा को आज कोई मानने का साहस नहीं कर रहा है, फलतः 'रामराज्य' भी बहुतों को आकाश-कुसुमवत् परिलक्षित होने लगा है। परन्तु स्वामी जी के हृदय में वह रामराज्य प्रतिष्ठित है। उन्हीं के शब्दों में ब्रह्मलीन श्री कृष्णबोधाश्रम जो मूर्तिमान धर्मसंघ और रामराज्य ही थे। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि काल के प्रभाव से सामूहिक रूप से रामराज्य भले ही न आ रहा हो, परन्तु उसे आदर्श मानने वाला व्यक्ति तो आदर्श होगा ही। यह भारत योग भ्रष्टों, भगवद्भक्तों, जीवन्मुक्तों, धर्मशीलों, आर्यो और अवतारों की भूमि है। आत्मा अमर है, काल अनन्त है। श्री स्वामीजी का प्रयास आज न सही कल सफल होकर ही रहेगा। रामराज्य के प्रदायक मनु-शतरूपा भी भगवान श्री रामचन्द्र का नैमिषारण्य में दर्शन ही कर सकें, कालान्तर में दशरथ और कौशल्या होकर ही श्री राम को पुत्र रूप में अवतरित कर पाये, फिर श्री कौशल्या जी ने रामराज्य का दर्शन किया और श्री दशरथ जी ने स्वर्ग में रहकर श्रवण।

आकाश कुसुम का तो अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु श्रीराम और रामराज्य का विश्व ब्रह्माण्ड में आज भी अस्तित्व है। 'नाभावो विद्यते सतः' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति', 'सदातद्भाव भावितः' आदि भगवद् वचनों के अनुसार आशावादी और दृढ़संकल्प होना चाहिये। जब स्वर्गस्थ गंगा भी परम्पराप्राप्त संकल्प और भागीरथ प्रयत्न से भूतल पर आ सकती हैं साक्षात् गंगाधर और गोवर्द्धनधर भी अवतरित हो सकते है; तो विश्वास रखना चाहिये रामराज्य भी अवतरित हो सकता है। कलियुग का पर्यवसान सत्ययुग में होना ही है, तो उसके पहले त्रेता और उससे पहले द्वापर क्यों नहीं आ सकता? यह तो द्रोपदी के चीरहरण का समय है। भले ही सभी मिथ्यवादी हो जायें, परन्तु जो कोई सत्यवादी होंगे, वह तो सद्गति के भागी होंगे ही। आज आवश्यकता है इस बात की कि हमें आशावादी और सत्यसंकल्प होना चाहिए। १, १ के बिखरते ही १, १ और १, १ के मिलते ही ११ की नीति नहीं भूलनी चाहिये। 'संघेशक्तिः कलौयुग' 'सत्यमेव जयते नानृतम्'। सनातन धर्म के रक्षक स्वयं श्री सनातन भगवान ही है।

'श्रुति सेतु पालक राम तुम।'
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।

धर्म और अर्थ

महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि 'मैं दोनों हाथ ऊँचे उठाकर पुकार रहा हूँ, पर मेरी कोई नहीं सुनता कि धर्म से ही अर्थ और काम मिलते हैं, फिर उस धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता–

''ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न हि कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च सकिमर्थं न सेव्यते।।''

परन्तु आज के अर्थ प्रधान युग में उनकी इस वेदना को सुनने भर का अवकाश किसी को नहीं है। महर्षि अर्थ की प्रधानता कहते हुए महाभारत में कहते है–'अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्च नराधिप। प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिध्यति।। श्रूयतेन्हयतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः। अर्थस्यावयवावेतौ, धर्मकामाविति श्रुतिः।। अर्थसिध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः।।

हे राजन् अर्थ से ही धर्म–काम और स्वर्ग की सिद्धि होती है। बिना अर्थ के तो प्राणियों का जीवन–निर्वाह भी नहीं चलता, (तो फिर धर्म, काम, और स्वयं की सिद्धि की क्या चर्चा?) सुना जाता है कि अर्थ के बिना धर्म और काम की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः धर्म और काम अर्थ के अंशभूत है, क्योंकि अर्थसिद्धि होने पर इन दोनों का सम्पादन हो सकता है।

उपरोक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि धर्म और अर्थ दोनों का ही महत्व है। वर्तमान काल में शुष्क राजनीतिज्ञ केवल अर्थ पर ध्यान देने की बात कहते, करते हैं तथा धर्म की उपेक्षा करते हैं। परन्तु महान् राजनीतिक चाणक्य प्रश्न करते हैं कि, 'सब अर्थ प्राप्ति की इच्छा क्यों करते है?' वे सब इसका उत्तर देते है कि 'सुख का मूल 'धर्म' है, धर्म का मूल 'अर्थ' है–'सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूलं अर्थः।' अर्थ से धर्मानुष्ठान होता है धर्म से सुख मिलता है। वास्तव में अर्थ, धर्म और काम दोनों का प्राण है, बिना अर्थ के न धर्म ही सफल हो सकता है, न काम ही सिद्ध हो सकता है। महान अर्थशास्त्री चाणक्य का कथन है कि 'धर्म तथा काम इन दोनों की जड़ है अर्थ– 'अर्थमूलौ धर्मकामौ'। श्री मद्भागवत में कहा गया है कि 'नार्थस्यधमैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।' अर्थात् अर्थ केवल धर्म के लिये है, अर्थोपार्जन का एकमात्र प्रयोजन धर्म है, भोग–विलास उसका फल नहीं माना गया है। इसीलिए धर्म का मूल स्रोत होने से ही अर्थ को भी पुरुषार्थ माना गया है।

उपरोक्त शास्त्रीय विचारधारा को तत्व-चिन्तक महात्मा करपात्री जी ने वर्तमान जगत के उल्वण विषाक्त एवं स्वार्थी वातावरण में अपने विभिन्न ग्रन्थों में जिस प्रकार सुस्पष्टता पूर्वक उपस्थापित किया है, वह विश्व के राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों एवं निष्पक्ष विचारकों के लिये एक चुनौती बन गया है। भले ही वे आज इस पर समुचित ध्यान नहीं दे रहे हैं, परन्तु जब-जब भी विश्व के किसी कोने में एक सुखी और आदर्श राज्य स्थापित करने की कल्पना की जायेगी, तब विवश होकर रामराज्य के स्वप्न दृष्टा वर्तमान युग के इस मनीषी द्वारा प्रस्तुत शास्त्रीय सिद्धान्त को अपनाना ही होगा।

आज के युग में प्रचलित पूँजीवाद समाजवाद तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद में स्वीकृत अर्थव्यवस्थाओं को वे अपूर्ण, एकांगी एवं मानवीय समस्याओं के सम्पूर्ण समाधान में असमर्थ मानते हैं। उनका मत है कि धर्म, नियन्त्रित अर्थव्यवस्था, जिसमें व्यष्टि-समष्टि दोनों का ही समन्वय हो, मानवीय समस्याओं का पूर्ण समाधान प्रस्तुत करती है। वर्तमान आर्थिक असन्तुलन का एकमात्र कारण वे धर्म-विहीनता को मानते हैं। इसी कारण वे धर्म एवं राज्य शक्ति दोनों के द्वारा आर्थिक सन्तुलन स्थापित करते हैं, जहाँ सघर्ष के स्थान पर सहयोग विद्वेष के स्थान पर परस्पर सौहार्द एवं विध्वंस-विनाश के स्थान पर निर्माण की बात होगी। स्वामी जी कहते हैं कि 'सम्पत्ति का व्यक्तिगत अधिकार उन्हें मान्य है, जबकि भौतिकवादी राजनीतियों का विकास इसके विपरीत हुआ है। पश्चिम के राजतन्त्र ने अपने ऊपर नियन्त्रक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति की। इसी प्रकार पूँजीपतियों ने अपने ऊपर नियन्त्रक राज्यशाही के विरुद्ध क्रान्ति पार्लियामेन्ट्री सरकार की स्थापना की तथा जनतन्त्र का नारा लगाया। परिणाम यह हुआ कि वैयक्तिक स्वार्थमूलक शोषण का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि इन दो क्रान्तियों के द्वारा व्यक्ति की उद्दाम प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करने वाले धर्म तथा राज्य दोनों की समाप्ति हो गयी और प्रतियोगिता मूलक उपयोगितावादी जनतन्त्र का विकास हुआ। वहाँ के समाजवादियों, अर्थशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों ने अवसर विशेष के कारण उस भ्रष्ट जनतन्त्र का समर्थन किया।

निष्कर्ष यह कि धर्म तथा राजशक्तियों के नियन्त्रण से विहीन वैयक्तिक सम्पत्ति मूलक जनतन्त्रवाद के गर्भ में शोषण तथा उत्पीड़न का जन्म हुआ। एक ओर सन्तरे सड़ रहे थे, दूसरी ओर वे लोगों को इलाज के लिये भी नहीं मिल रहे थे। एक ओर कड़ाके के जाड़े में भी महलों के लोग गर्मी से पीड़ित थे, दूसरी ओर लोग गर्मी के महीनों में भूख की ज्वाला के कारण सड़कों पर ठण्डे हो रहे थे। तात्पर्य यह कि इस स्थिति में ऐसे अव्यवस्थित समाज का विकास हुआ, जिसमें एक ओर लोग अतिसुख से दुखी थे और दूसरी ओर मनुष्य जैसी अमूल्य ईश्वर की रचना मात्र कङ्काल की छाया बनकर माँग और पूर्ति का सन्तुलन बिन्दु बनी थी।' स्वामी जी आगे लिखते है कि 'प्रतिक्रिया स्वरूप समाज के वैयक्तिक सम्पत्ति के विरुद्ध नारा लगाया

सम्पत्ति का समाजीकरण, राष्ट्रीयकरण, केन्द्रीयकरण इत्यादि आर्थिक धारणाएँ समाज में उत्पन्न होने लगी। समाजवादी, साम्यवादी, श्रेणी समाजवादी, फासिस्टवादी, नाजीवादी इत्यादि प्रवृत्तियाँ ऐसे ही विचारों का प्रतिनिधित्व करती थी। मार्क्स ने वैयक्तिक सम्पत्ति समाप्त करके सर्वहारा के अधिनायकत्व का समर्थन किया औरी उसका लेनिन ने यूरोप के बड़े भूभाग पर प्रयोग किया। उसका संगठन स्टालिन ने किया। रूस में अधिनायकवाद दृढ़ बनाया गया तथा वैयक्तिक सम्पत्ति नष्ट करने का प्रयास किया। किन्तु उन्हें कहाँ तक सफलता मिली, वहाँ की जनता ने किस प्रकार विवशतापूर्वक रक्त-स्नान किया-यह एक स्वतन्त्र विषय है।' .....स्वामी जी लिखते है कि 'स्टालिन के शब्दों में ही रूस की सफलता मान ली जाये तो वहाँ जनता की स्थिति उस कुत्ते तथा बकरे से अच्छी नहीं थी, जिस कुत्ते को खूब खिलाया जाय, किन्तु जुगाली करने से रोक दिया जाए।' एक बार स्टालिन से पूछा गया कि 'आपके रूस से विरोधी दलों को स्थान क्यों नहीं दिया जाता?' उन्होंने उत्तर में कहा कि - 'हमारे देश में वर्गहीन समाज की स्थापना की गयी है, अतएव वर्गो का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी राजनीतिक दल की आवश्यकता नहीं।' किन्तु जब उनसे पूछा गया कि 'अब आपके देश में वर्ग नहीं, आन्तरिक संघर्ष नहीं, तब रूस में आन्तरिक सुरक्षा के लिए इतने सशक्त खुफिया विभाग-पुलिस, न्यायालय तथा 'सफाया' की क्या आवश्यकता?' इसके उत्तर में कामरेड स्टालिन चुप रह गये, कहने का तात्पर्य यह है कि 'व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन का प्रयास तो किया गया परन्तु समाज में व्याप्त वैयिक्तक आकांक्षाओं के उन्मूलन के लिए सैन्य शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग का अवलम्बन नहीं किया गया, जो कोई अन्य मार्ग था, उसे तो मार्क्स ने 'अफीम की गोली' समझा।'

स्वामी जी व्यक्तिगत सम्पत्ति तो मानते है, किन्तु उसका सन्तुलन किया जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की वैधता पर विचार प्रगट करते हुए वे लिखते है कि- 'व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति स्वत्व से होती है और स्वत्व सात प्रकार का होता है- दाय, लाभ, विजय, अर्जन, पुरस्कार, निधि और सूद। स्वामी जी उत्तराधिकार के प्रश्न पर विचार करते हुये कहते हैं कि 'चेतन से उत्पत्ति, नियन्त्रण तथा प्रभुत्व ये तीन बातें अचेतन पर होती है। लोक में भी अचेतन-सर्वस्व पर चेतन का ही स्वत्व होता है। अतएव उस परम चेतन का पुत्र ही इस अचेतन (प्रकृत्ति) का उत्तराधिकारी हुआ। इसीलिये ब्रह्मा, वशिष्ठ, दक्ष, मनु तथा इक्ष्वाकु में क्रमशः परस्पर या उत्तराधिकार का विकास होता है। उससे भी आगे विजय, अर्जन, दान, पुरस्कार के स्वत्व का विकास हुआ। यहीं पर धर्म की भी बात आती है। जिसने जैसा धर्माचरण किया, उसको वैसा ही सुख-साधन (स्वत्व) प्राप्त हुआ। चूँकि शुभाशुभ कर्मो में विभिन्नता है। अतएव समष्टि जगत या व्यष्टि के असाधारण स्वत्व के उत्पन्न होने में विभिन्नता होगी। जिनके शुभाशुभ कर्मो का सन्तुलन पेट भरकर जीने मात्र तक है, उनको उतना ही स्वत्व प्राप्त

होगा।' उत्तराधिकार के साथ उत्तराधिकारी को अपने पूर्वजों के उत्तरदायित्व को वहन करना पड़ता है, उसकी अवहेलना पर उसे उत्तराधिकार से वंचित रहना पड़ता है। यदि पुत्र पिता की आज्ञाओं का पालन नहीं करता तो वह असाधु है और असाधु से सम्पत्ति छीनी जा सकती है। स्पष्ट है कि दाय का आधार कर्म है। धर्महीन होना जब पशु का लक्षण है, तब उत्तराधिकार–हीन व्यवस्था भी पशुता का उदाहरण है, क्योंकि उत्तराधिकार, जो वैयक्तिक सम्पत्ति में ही सम्भव है, मनुष्य में ही पाया जाता है। पशु में न वैयक्तिक सम्पत्ति है न उत्तराधिकार है। –स्वामी जी का स्पष्ट मत है कि 'व्यक्तिगत सम्पत्ति होने पर ही हानि का डर और लाभ का लोभ एवं दर्शन, कला तथा मनुष्य का विकास सम्भव है।' साथ ही उनकी मान्यता है कि इससे विषमता का भी विकास होता है जैसा की पूंजीवादी देशों में हुआ है।' स्वामी जी की पैनी दृष्टि में यह तथ्य छिपे नहीं हैं। वे आर्थिक सन्तुलन स्थापित करने के लिये धर्म एवं राज्यशक्ति दोनों को आवश्यक मानते हैं। इसके लिए शास्त्रीय उपाय सुझाते हुये वे कहते है कि 'भोग के साथ दान, परोपकार, अतिथि–सत्कार, यज्ञ आदि के द्वारा धार्मिकता तथा सन्तुलन दोनों का विकास होता है। सम्पूर्ण प्रकृति को ईश्वरमय समझकर, सम्पूर्ण जीवमात्र को ईश्वरांश समझकर उससे बचे हुये अंश को सहर्ष स्वीकार करना, ही रामराज्य की अर्थनीति का मूल मन्त्र है।'

स्वामी जी लिखते है कि धर्म के प्रभाव से आर्थिक सन्तुलन बना रहता है। आध्यात्मिक तथा भौतिक अर्थनीति में यही अन्तर है कि एक तरफ तो देने वाले देने के लिए होड़ लगाते थे, किन्तु कोई लेने वाला नहीं मिलता था और भौतिक समाज में देने वाले देने से जान बचाते हैं, किन्तु लेने वाले नारा लगाते हैं कि – 'लड़कर लेंगे', 'मरकर लेंगे' और 'मार कर लेंगे'। स्वामी जी का कथन है कि 'यह तो धर्मारितरेक के युग की बात हुयी। परन्तु वर्तमान विषमता के युग में अति विषमता मिटायी जा सकती है, परन्तु पूर्ण समानता कभी स्थापित नहीं की जा सकती। पूँजीवादी राष्ट्रों में 'अतिरिक्त' का बंटवारा नहीं होता। साम्यवादी ऐसा करते हैं परन्तु 'रामराज्य' में वैयक्तिक सम्पत्ति के होते हुए भी 'अतिरिक्त' का बंटवारा नहीं होगा। उसे पाँच भागों में बाँटा जायेगा–धर्म के लिए, यश के हेतु, मूल सम्पत्ति रक्षाण हेतु, स्व–जीवनयापन के लिए तथा उद्योग में लगे स्वजनों के लिए।' –स्वामी जी कहते है कि 'इसमें एक अंश धनाध्यक्ष के पास स्वतन्त्र हो जाता है, अतएव अनावश्यक विषमता का बीजारोपण होता है, जिसके लिए यह नियम है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसके पास तीन वर्ष के लिए पर्याप्त सामग्री हो जाये– 'ज्योतिष्टोम यज्ञ' करे जो कि अनिवार्य कृत्य है। इससे पुनः सम्पत्ति का बंटवारा होकर 'राष्ट्र के समान्य जीवन–स्तर' पर व्यक्ति पहुँच जाता है।'

स्वामी जी कहते है कि 'इतने पर भी यदि व्यक्ति अति–विषमता की ओर उन्मुक्त हुआ और उसके पास सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी तो स्पष्ट है कि वह चोर है, उसे चोर की तरह दण्ड देकर पेट भर अन्न के मार्ग पर पुनः ला दिया जाय। –

उत्तराधिकारी यदि समष्टि कल्याण-मूलक परम्पराओं का पालन नहीं कर तो वह असाधु है। उससे सम्पत्ति छीन कर साधु को देना, राज्य का कर्तव्य होता है। राज्य सर्वदा आर्थिक सन्तुलन की स्थापना की चेष्टा किया करता हैं, जो निर्धन हो गया हो, उद्योग में जिसे असफलता मिली हो, किन्तु वह योग्य हों तो राज्य का कर्तव्य होता है कि उसे बिना ब्याज का धन दिलाये। -सारांश यही है कि शस्त्र तथा शास्त्र दोनों के उचित प्रयोग पर राज्यशक्ति का विकास होता है।'

स्वामी जी द्वारा प्रस्तावित अर्थतन्त्र में आर्थिक शोषण तो क्या, किसी प्रकार की विषमता का प्रश्न ही नहीं होता। स्वामी जी कहते हैं कि 'हमारा कर्तव्य है कि इस क्रान्तिकारी व्यवस्था को विश्व के सामने रखें। कम से कम भारतवर्ष में यदि इसका प्रयोग हुआ तो विश्व पर इसका स्थायी प्रभाव अवश्य पड़ेगा, तभी सुख-शान्ति संभव होगी।' इस प्रकार सुस्पष्ट है कि स्वामी श्री करपात्री जी महाराज जिस धर्म नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था के प्रचलन के पक्षपाती है- वह पूर्णतः व्यावहारिक हैं, यथार्थवादी है, ठोस शास्त्रीय धरातल पर खड़ी है, परन्तु इसे देश का दुर्भाय कहे या विधि की विडम्बना, कि ऐसे देश के महान् अर्थशास्त्री एवं प्राणीमात्र के कल्याण-कामी, निःस्पृह महात्मा को देश में वह स्थान प्राप्त नहीं है, जिसके वे पात्र है।

***

धर्म और काम

व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर समाज बनता है। जैसा व्यक्ति होता है समाज भी वैसा ही बन जाता है; इसीलिये व्यक्ति में ऐसे गुणों का आधान आवश्यक है जिनसे समाज का कल्याण हो। व्यक्ति की आचरण शुद्धि, निर्मल विचारधारा, सदाचारनिष्ठा से ही समाज की स्थिति का ज्ञान होता है। यों तो मनु ने 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्'। यह दश लक्षण धर्म के बताये हैं। भगवान वेदव्यास ने ''सत्यं, दया तपः शौचं तितिक्षेच्छा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्य च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्।। सन्तोषः समदृक्-सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्यहेच्छा मौनमात्मविमर्शनम।। अन्नादेः संविभागोऽत्र भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्म देवता बुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव। श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्।। नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिशल्क्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति।।'' -यह तीस लक्षणों वाला धर्माचरण मनुष्यों के लिये बताया है, परन्तु वर्तमान काल में यदि गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा बताये गये परोपकार धर्म का भी पालन बन जाये तो समाज का चित्र ही बदल जाय। वे कहते है-'परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा। पर पीड़ा सम अघ न गिरीसा। पर-हित सरिस धर्म नहि भाई। परपीड़ा सम नहि अधमाई।।' अपने हित का दूसरे के हित के लिए त्याग अथवा परहित के अविरोध में सेवन ही अपने हित का दूसरे के हित के लिए त्याग अथवा परहित के अविरोध में सेवन ही व्यक्ति के सदाचरण की कसौटी है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थो की व्यक्ति की साधना जब समष्टि हित साधन परक हो जाती है तब उस परोपकारी भावना को यज्ञ-भावना कहते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति अर्थ-काम-परायण, लोभी, कामी, क्रोधी, स्वार्थी बनकर समाज को नष्ट-भ्रष्ट न कर दे, इसके लिये शास्त्रों ने धर्म भावना को नितान्त आवश्यक बताया है जिससे परोपकार, त्याग, परहित की यज्ञभावना पैदा होकर समाज का कल्याणहो। आहार, निद्रा, भय, मैथुन यह चारों वस्तुयें मनुष्य एवं पशु में समान है। इसमें काम ऐसा प्रभावशाली एवं प्रबल है कि उसका सर्वथा उन्मूलन नहीं किया जा सकता, वह नैसर्गिक है। अतः उसे नियन्त्रित करने के लिए विवाह की व्यवस्था करके महर्षियों ने मानव जाति का बड़ा उपकार किया है। उन्होंने दाम्पत्य धर्म के द्वारा कामवृत्ति के विषय में भी यज्ञ भावना को स्थान दिया है। काम सम्बन्ध का एक ही मुख्य हेतु बतलाया गया है-सन्तानोत्पत्ति और इस धर्म को पितृ-यज्ञ की भावना का रूप दिया है।

इस प्रकार सर्वप्रथम जो व्यक्ति आत्म भावना से प्रेरित होता है। वही दाम्पत्य-सूत्र में आबद्ध होकर स्त्री-पुरुष दोनों मिल कर एक बनते हैं। यह संवेदनशील भावना है। यहीं से आत्म-भावना का विकास प्रारम्भ होता है। परार्थ की ऊँची भावना का उदय एवं क्रमशः आरोहण का प्रारम्भ होता है। वह व्यक्ति से दम्पत्ति, कुटुम्ब, समाज फिर क्रमशः स्वप्रान्त, स्वदेश फिर समग्र मानवता एवं प्राणीमात्र का अपना बन जाता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की व्यापक उदात्त भावना एवं दृष्टिकोण को मूर्त रूप प्रदान करताहै। धर्म के नियन्त्रण में स्थित उन काम को भगवान ने अपना स्वरूप ही कहा है- 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भतर्षभ'। स्वामी करपात्री जी महाराज काम की परिभाषा करते हुये लिखते है कि ....संसार में सब वस्तुयें सुख के लिये होती हैं, सुख किसी अन्य के लिये नहीं होता; सुख एवं आत्मा का एक ही लक्षण होने से आत्मा एवं सुख की एकता है। दोनों की निरुपाधिक एवं निरतिशय प्रेम के आस्पद माने जाते हैं। इतर वस्तुयें सातिशय-सोपाधिक एवं साधारण प्रेम की आस्पद हैं। अनिष्ट एवं अभीष्ट वस्तुओं की आप्ति-व्याप्ति उपभोग या काम कहलाता है। भोक्ता द्वारा भोग्य को आत्मसात् कर लिया जाता है। जब कहा जाता है कि 'सविता गोभि रसं भुङक्तं'-अर्थात् सूर्य अपनी रश्मियों से रस का सम्भोग करते हैं, तब उसका यही निष्कर्ष है कि सविता रशमियों द्वारा पृथिव्यादि का रस आत्मसात् कर लेते हैं। इस तरह भोक्ता द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं तदात्मक वस्तुओं को जितने अंश में भोक्ता आत्मसात् करता है। उतने ही अंश में वे भोग्य माने जाते हैं। इसीलिये काम का अर्थ केवल स्त्री व्यकितकर ही नहीं, किन्तु शब्द, स्पर्श आदि सभी विषयों का सम्भोग 'काम' कहा जाता है।'

स्वामी जी आगे लिखते है कि 'अनियन्त्रित काम, धर्म, अर्थ और मोक्ष तीनों ही पुरुषार्थो का बाधक होता है। इसीलिए राजनीति एवं अर्थनीति में भी क्रोधज व्यसनों के साथ कामज व्यसनों का भी त्याग अत्यावश्यक बतलाया गया है। रावणादि का काम के कारण ही राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक पतन हुआ था। इसीकाम को नियन्त्रित करने के लिए शास्त्रों ने अनेक उपाय निर्दिष्ट किये हैं। उनमें ही एक विवाह भी है। इस तरह वैध धार्मिक विवाह-संस्कार के अनुसार नियन्त्रित काम-सेवन से उसके बहुत दोष दूर हो जाते हैं। दुर्जय इन्द्रियरूप शत्रुओं को जीतने के लिये गृहस्थाश्रम एक दुर्ग है। कभी-कभी उत्कट वासनाओं का नियंत्रण विवेक, वैराग्य द्वारा अशक्य हो जाता है, तभी वैध भोग का समर्थन किया जाता है। वैध काम से वैराग्य सम्पन्न होता है। उत्तम पक्ष यही है कि ब्रह्मचर्याश्रम से ही परम वैराग्यवान्, होकर ब्रह्मनिष्ठा सम्पादन की जाय। परन्तु जब इसका सामर्थ्य न हो, तब वैध काम का समर्थन किया गया है। यह धर्माविरुद्ध काम भगवद्विभूति है।' स्वामी जी इस काम के प्रति सचेत करते हुए कहते है कि 'यह उपाय आत्यान्तिक एवं एकान्तिक नहीं है क्योंकि कासेवन से उत्तरोत्तर कामवृद्धि होती है; अतः विवेक एवं वैराग्य अत्यन्तावश्यक एवं अनिवार्य है।

वैद्य भोग से तो तृप्ति हो सकती है, परन्तु अवैध भोग से तृप्ति नहीं हो सकती–अतः विषयों को प्राप्त करने की चेष्टा करने की अपेक्षा उनका त्याग श्रेष्ठ है। –उनका स्पष्ट कथन है कि 'मल–मूत्र' का वेग धारण करना हानिकारक होता है। परन्तु जिह्वा एवं उपस्थ का वेग धारण करना अत्यन्त लाभप्रद होता है। मल–मूत्र का त्याग सुखकर होता है परन्तु शुक्र का धारण अमृतत्व का कारण होता है। शूक्र–बिन्दु के त्याग से मरण और उसके धारण से अमृतत्व लाभ होता है–'मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।'

स्वामी जी कहते हैं कि 'काम प्राणी के कल्याण में बड़ा ही बाधक है, इसका निग्रह परमावश्यक है, इसका उपाय बताते हुए स्वामी जी लिखते हैं कि 'वैध–विषय सेवन काम के प्रशमन का एक उपाय अवश्य है, परन्तु उसमें विवेक, वैराग्य का सहयोग अत्यन्त अपेक्षित है। तप से अशुद्धि का क्षय होता है। जैसे अग्नि में घृत की आहुति न डालने से वह शान्त हो जाता है, वैसे ही विषय भोग का त्याग करने से कामाग्नि का प्रशमन हो जाता है। शास्त्रों ने अनशन को सबसे बड़ा तप कहा है–''निवृत्या वर्तनस्य तपो नानशनात्परम्।'' निवृत्त साधक के लिए अनशन से बढ़कर कोई भी तप नहीं है। निराहार प्राणी की इन्द्रियाँ शुष्क हो जाती हैं। निराहार रहने से कामोन्माद आदि समाप्त हो जाते हैं। क्षुधित प्राणी की नेत्र, श्रोत्र, उपस्थ आदि सब इन्द्रियाँ प्रशान्त एवं अचञ्चल हो जाती है। –'इन्द्रियाण्यनु शुष्यन्ति दरिद्रस्यान्नकांक्षिणः।' –दरिद्र अन्नकांक्ष प्राणी की इन्द्रियाँ विषयों से उपरत हो जाती है। कुछ तृष्णा रह सकती है, परन्तु पश्चात् क्रमेण तत्त्वसाक्षात्कार से वह भी नष्ट हो जाती है–'विषयाविनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।' अन्य इन्द्रियों के जीत लेने पर भी जब तक रसना पर विजय नहीं होता, तब तक प्राणी जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। अतः रसना के विजय से सर्वजय हो जाता है। –'तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियोऽपि सन्। न जयेद्रसनां यावद् जितं सर्व जिते रसे।।'

इसी तरह आसन, प्राणायाम, महामुद्रा आदि से भी काम का प्रशमन होता है। मूलबन्ध, महाबन्ध, योनिमुद्रा आदि भी कामनिग्रह के सफल उपाय होते हैं। प्राणायाम आदि योग भी कामजय के हेतु है। वस्तु के अस्तित्व एवं सौन्दर्याध्यास से ही राग या काम होता है। तत्व साक्षात्कार से विषय के अस्तित्व एवं सौन्दर्याध्यास के बाधित होने पर सुतर्रां काम का समूल नाश होता है। 'दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्। सम्पन्नं चेत्तदोत्पन्ना ब्रह्मनिर्वाण निर्वृत्तिः।' विषय चिन्तन से राग उत्पन्न होता है, उससे कार्य उत्पन्न होता है–'ध्यायतो विषयान् पुँसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात सञ्जायते कामः।' मनु के अनुसार संकल्प में ही काम की उत्पत्ति होती है, अतः संकल्प रोक देना ही काम के रोक देने का अचूक उपाय है–'काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे। न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि न त्वं तेन् भविष्यसि।।' सङ्कल्प त्याग के साथ विषय सन्निधि का त्याग भी कामजय का मूल है। स्वामी जी का कथन है कि 'अत्यन्त

कामुक प्राणी की भी कामवृत्ति माता के सम्बन्ध में बाधित हो जाती है। जैसे कण्टक से कण्टक निकाला जाता है, वैसे की एक विकार से अन्य विकार का बाध होता है। अतएव क्रोधवृत्ति का उदय होने पर कामवृत्ति बाधित हो जाती है। स्त्रीमात्र में भगवती पराम्बा का अनुसंधान करने से भी कामवृत्ति प्रशान्त हो जाती है। अनशन, तप, विचार आदि से अन्य उन्माद के उपशान्त होने पर तत्कृत उपद्रव भी प्रशान्त हो जाता है। कामरोध महाफलप्रद है। कामरोध 'वृहदव्रत' कहा जाता है।'

स्वामी जी 'काम' को भगवत्विषयक दिशा एवं विचार देते हुए लिखते हैं कि 'जैसे स्वप्रकाश सत् का परिणाम अनुकूल-प्रतिकूल विविध वस्तुयें होती है, परन्तु सर्वविध परिणाम-शून्य निर्विशेष सत् ब्रह्म ही होता है, वैसे ही आनन्द या रस विविध अनुकूल-प्रतिकूल उपाधियों पर अभिव्यक्त होकर अनुकूल-प्रतिकूल, उपादेय तथाहेय रूप में व्यक्त होता है। तामस उपाधियों पर सच्चिदानन्द परमेश्वर के संदेश का ही प्राकट्य होता है। किन्तु सात्विक उपाधियों पर सदंश-चिदंश के साथ रसांश या आनन्दांश की भी अभिव्यक्ति होती है। जैसे कांटा चुभने से चित्त व्यथित होता है, वैसे ही तृष्णा रूप कण्टक से भी चित्त व्यथित होता है। किन्तु अभिलषित विषय की प्राप्ति होने पर कुछ क्षण के लिए तृष्णा की शान्ति हो जाती है। उस समय अन्तः-करण शान्त, स्वस्थ, निश्चल, अन्तर्मुख एवं सत्वात्मक होता है। उसी अन्तःकरण पर वास्तविक आनन्द एवं रस की अभिव्यक्ति होती है। वही लौकिक सुख कहा जाता है। .....माता-पिता, मित्र, देवतादि में भी वही प्रेम या रस उद्भूत होता है। पत्नी कामिनी आदि में भी वही प्रेम या रस उदभूत होता है। परन्तु पूर्वोक्त प्रेम या रस भक्ति कोटि में परिगणित होते हैं, और दूसरे काम-कोटि में परिगणति होते हैं। अभिलषित पदार्थो एवं व्यक्तियों की प्राप्ति से तृष्णा-प्रशान्ति से अन्तर्मुख चित्तवृतित्त में परमानन्द ब्रह्मात्मतत्व की अभिव्यक्ति होती है। यही रसाभिव्यक्ति है। भक्ति रसायनकार के अनुसार स्नेह, काम, भय आदि से द्रवीभूत चित्त द्वारा अनावृत्त विषयावच्छिन्न चैतन्य या आन्नद ही रस होता है।' स्वामी जी आगे कहते है कि 'जैसे चोरी बुरी वस्तु है परन्तु श्री कृष्ण के चौर्यादि आश्रय की महत्ता से महत्व वाले हो गये। जैसे तृष्णा निन्द्य होने पर भी भगवान से सम्बन्धित होने पर भक्ति हो जाती है, वैसे ही काम भी भगवान से सम्बन्धित होकर पुण्य हो जाता है। अन्यत्र उपपति जार कहलाता है, किन्तु भगवान उपपति या जार होकर अविद्या-ग्रन्थ, पञ्चकोशकञ्चुक को जला देते हैं। इसीलिए जरयतीतिजारः वे जार शिरोमणि कहे जाते है। वस्तुतः जैसे मणिबुद्धि से भी दीपक में प्रवृत्ति होने से दीपक की ही प्राप्ति होती है, वैसे ही परमपति परमेश्वर में जारबुद्धि होने से भी परमेश्वर की ही प्राप्ति होती है, जार का नहीं। जैसे दाहक लोहपिण्ड में दाहकत्व देने वाला अग्नि दग्ध को भी दग्ध कहा जाता है, जैसे श्रोत्र में शब्द प्रकाशन-सामर्थ्य देने वाला परमेश्वर श्रोत्र का भी श्रोत्र कहा जाता है। अग्नि, सूर्य के भी सूर्य, प्रभु के भी प्रभु, श्री के भी श्री भगवान ही कहे जाते हैं। उसी तरह सर्वमोहक मन्मथ को भी

मोहित करने वाले भगवान् 'साक्षात् मन्मथ मन्मथ' कहे जाते हैं।' और आगे विचार करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि 'जैसे मारक भी विष विशिष्ट औषधो से प्रयुक्त होकर मल्लचन्द्रोदयादि बनकर रोगनिवारक होता है, वैस ही अतिनिन्द्य भी काम या तृष्णा भगद्विषयक होकर सर्व दीपनाशक हो जाती है। काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि किसी भी तरह श्री कृष्ण का चिन्तन करने वाले लोग भगवद्भाव को प्राप्त हो जाते है। सार यही है कि भगवद्विषयक काम महापुण्य है। वैधकाम, सामान्य धर्म है। निषिद्ध कामुकादि विषयक काम महान पाप है। कारणभूत काम ईश्वर है। कहा है कि कामस्तु वासुदेवांशः प्रद्युम्नरूप काम भगवान वासुदेव का अंश ही है। निर्विशेष काम, रस या आनन्द साक्षात्परब्रह्म है वहो 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' है।'

स्वामी जी पुरुषार्थ चतुष्टय का तात्विक विवेचन करते हुए लिखते है कि 'साधारण रूप से धर्म का फल धन और धन का फल भोग तथा भोग का फल इन्द्रियतर्पण माना जाता है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से धर्म का मुख्य फल अपवर्ग ही है। भगवच्चरणारबिन्द में समर्पित स्वधर्मानुष्ठान अन्तःकरण शुद्धि, विवेक, वैराग्यादि क्रम से अपवर्ग का सम्पादन करता है। परन्तु धर्म का गौण फल धन है। इसी तरह धन का परम फल धर्नार्जन और गोणफल काम अर्थात् विषय भोग है। काम का मुख्य फल प्राण धारण है और जीवन का परमफल तत्त्वजिज्ञासा है। इसी तरह धर्म, अर्थ एवं काम सबका ही अन्तिम फल अपवर्ग या मोक्ष ही है। –भक्ति–सिद्धान्तानुसार भगवान ही मोक्ष है। ज्ञातत्वोपलक्षित निरावरण ब्रह्मस्वरूप भगवान ही अविद्या निवृत्ति स्वरूप मोक्ष हैं। अज्ञातब्रह्म वेदान्त का विषय होता है, वहीज्ञात होकर फल होता है। धर्म भी निरावरण भगवान ही है। भगवत्साक्षात्कार परम धर्म है। नामगुणस्वरूप–श्रवण, कीर्तन आदि द्वारा भगवान में भक्ति करना, वर्णाश्रमानुसारी धर्म भी भवत्पादपंकज में अर्पित होने से ही परमधर्म कहलाता है। पुरुषों का वही श्रौत–स्मार्त निष्काम कर्म परम धर्म है, जिसमें भगवान में अहैतुकी, निष्काम, अविरल भक्ति होती है और उस भक्ति से ही अन्तःकरण, अन्तरात्मा पूर्णरूप से निर्मल एवं निरावरण होता है। ''स वैर्पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति।।'' इसी तरह श्री कृष्ण चन्द्रपरमानन्दकन्द प्रभु के सौन्दर्य माधुर्य सौरस्य–सौगन्ध्यादि–सुधा का समास्वादन ही भक्तों का 'काम–सम्भोग' भी है। जैसे अजात पक्ष पक्षिशावक माता की उत्कट उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करते हैं, क्षुधार्त वत्सतर (तृण न खाने वाले छोटे बछड़े) मां के दूध की लालसा करते हैं, जैसे प्रोषित भर्तृ का पति प्रार्णेश्वरी विषण्ण होकर अपने प्रोषित प्राणेश से मिलने को व्याकुल होती है, वैसे ही हे अरविन्दाक्ष! मेरा मन भी आपको सतृष्ण होकर देखना चाहता है– 'अजातपक्ष इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सराः क्षुधार्ताः। प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्षा दिदृक्षते त्वाम्।' सतृष्ण लुब्ध को दुर्लभ धन के समान और प्रेयान को प्रेयसी के समान्, भक्त को भगवान प्रिय होते हैं। अर्थ और काम भी भगवान ही है'–तुलसी के शब्दों में 'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि के जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहुँ मोहि राम।।''

पाकिस्तान

आज स्वतन्त्रता मिलने के ३४ वर्ष उपरान्त जबकि 'पाकिस्तान' एक हकीकत बन गया है, उसके विषय में कुछ लिखना विचित्र सा लग सकता है; परन्तु स्वतन्त्र भारत में उत्पन्न नयी पीढ़ी जब शंकित मन विचार करती हुयी तत्कालीन देश के कर्णधारों के प्रति विभिन्न-विभिन्न प्रकार के परस्पर विरोधी मत प्रकट करती है और किन्हीं-कीन्हीं उपस्थित अवसरों पर देश को खण्डित करने का अरोप लगाती है, तो तत्कालीन मनीषियों एवं अखण्ड भारत के समर्थकों के पक्ष की उपेक्षा करते हुए अज्ञान में ही भटकती है। उन्हें इस बात का आभास कराने की आज कोई आवश्यकता ही नहीं अनुभव करता कि देश के बटवारे का प्राण-पण से विरोध करने वाले तत्व भी देश में सक्रिय थे। आज से हजारो वर्ष बाद जब भी कभी राष्ट्रभक्तों के मन में इस तथ्य पर विचार करने की बात उठेगी कि आखिर क्या भारत माँ का कोई भी लाल देश के बटवारे एवं पाकिस्तान स्थापना का सक्रिय विरोध करने हेतु शेष नहीं था? क्या १५ अगस्त १९४० ई. को सम्पूर्ण भारतवासियों ने एक स्वर से मौन होकर सहर्ष राष्ट्र-विभाजन स्वीकार कर लिया? सम्भवत: उस दिन यह वर्तमान राष्ट्रनेताओं की आलोचना करें या विवशता पर विचार करें। परन्तु ईमानदार एवं निष्पक्ष विचारक का मन तब तक शंकित ही रहेगा, जब तक वह इसकी गहरायी में जाकर वास्तविकता की खोज न करेगा।

इसी प्रसंग में अनेक नाम लिये जायेंगे क्योंकि राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन, श्री राम मनोहर लोहिया, श्री वीर दामोदर सावरकर, श्री श्यामा प्रसाद मुखर्जी, श्री माधवराव सदाशिव राव गोलवलकर, श्री जय प्रकाश नारायण प्रभुति विभाजन विरोधियों की सूची में स्थान रखते थे; परन्तु एक कटु सत्य है जिसे लिखने के लिये ही इस विषय को उठाया गया है, क्योंकि सभी महानुभावों का विरोध केवल मौखिक बनकर रहा। सम्पूर्ण अखण्डभारत में यदि कोई हृदय से सक्रिय विरोध करने वाला व्यक्ति था तो वह था- 'करपात्री-स्वामी', जिसने पाकिस्तान स्थापना के दस बारह वर्ष पूर्व में ही व्यापक विरोध किया और सभी कर्णधारों को इसके कुपरिणामों के प्रति सचेत किया और पाकिस्तान स्थापना के विरोध में राष्ट्र-व्यापी दौरे किये, सबका सहयोग माँगा परन्तु किसी ने भी उस तरुणतपस्वी वीतराग राष्ट्रभक्त सन्त का सक्रिय साथ नहीं दिया; फलत: वह अखिल भारतीय धर्मसंघ के सहयोगियों, कार्यकर्ताओं, महात्माओं के साथ राष्ट्र-विभाजन के पातक से बचने के लिये, पाकिस्तान स्थापना का सक्रिय

विरोध करते हुए राष्ट्र-स्वातन्त्रय दिवस की पूर्व वेला में ही जेल के सींकचों में बन्द था। बाद में तो अनेक नेताओं ने इसके विरोध में मत व्यक्त किये परन्तु यदि पन्द्रह अगस्त सन् १९४७ ई. को वे नेतागण इस महात्मा के साथ होकर सक्रिय आन्दोलन में भाग लेते तो देश का चित्र दूसरा होता।

कांग्रेस के ३१ वर्ष के स्वातन्त्रय आन्दोलन के बाद सन् १९१९ में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषित किया 'कि हिन्दुस्तान के निवासियों को धीरे-धीरे स्वराज्य के अधिकार मिलते रहेंगे। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त ऐसे अनिवार्य कारण उपस्थित होने लगे कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति निकट दीखने लगी। उस समय कूटनीतिज्ञ अंग्रेजने यह बीज बो दिया कि जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक है वहाँ का शासनाधिकार मुसलमानों को मिले, जहाँ हिन्दू बहुसंख्या में हो वहाँ हिन्दुओं को अधिकार सौंपे जाये और वे केन्द्रीय सरकार के भी अधीन न रहें। सारांश, भारत को स्वतन्त्रता मिलते ही भारत के दो खण्ड हो जायें एक पाकिस्तान दूसरा नापाकिस्तान (हिन्दुस्तान)। यहीं से अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति में कांग्रेस फँस गयी। हिन्दु-मुसलमान सिख-ईसाई सभी की प्रतिनिधि लोकमान्य तिलक की कांग्रेस में दरार पड़ गयी। मिस्टर जिन्ना कांग्रेस से पृथक हो गये। मुसलिमलीग के माध्यम से पाकिस्तान की मांग ने जोर पकड़ा। कांग्रेस अपने को राष्ट्रीय कहकर सन्तोष करने लगी। स्थिति यह हो गयी कि मुसलिम लीग की सन्तुष्टि पर ही स्वराज्य प्राप्ति का दारोमदार हो गया। फलत: तुष्टीकरण की ढीली व नरमनीति से लीग की माँग बढ़ती गयी और वह अंग्रेजों की शह पर और अधिक अकड़ती गयी।

विदेशियों ने भारत का इतिहास बिगाड़कर कहा 'कि हिन्दु-आर्य मध्य एशिया से आये, मुसलमान बाहर से आये, यहाँ के मूलनिवासियों को आर्यों ने दलित वर्ग बनाया। जैसे हिन्दु बाहर के वैसे ही मुसलमान भी बाहर से आये। यह देश जैसे तुम्हारा वैसे ही हमारा।' अंग्रेजों ने मिथ्या प्रचार एवं इतिहास रचना से भारतीयों के मन में यह बैठा दिया कि सभी विदेशी हैं-यहाँ तक राष्ट्र के नेताओं ने भी इसे मान लिया। तब फिर इस देश में उनके साझीदार बनने की बात का वे कैसे विरोध करते? उनकी वाणी भी पाकिस्तान-विरोध में क्षीण पड़ने लगी। राष्ट्रकवि कहे जाने वाले इकबाल ने सन् १९३० में राष्ट्र विभाजन का सूत्र अपने काव्य में पिरो दिया था, जब उसने अपना कारवाँ यहाँ की गंगा के किनारे उतरने की बात कहकर हिन्दुओं को विदेशी ठहराया; साथ ही चमन का माली या मालिक बताने के स्थान पर उसे चमन की बुलबुल मात्र बताया। तो जिन्ना महोदय ने १९४० ई. में पाकिस्तान की खुली माँग उपस्थित कर दी। जब 'भारत के टुकड़े होने से पहले मेरे शरीर के टुकड़े कर दो' की घोषणा करने वाले महात्मागांधी ने हृदय से निर्माण का प्रस्ताव मौन होकर स्वीकार कर लिया फिर अन्यों की बात ही क्या थी? एक विचित्र बात यह हुयी कि

तत्कालीन भारतीय राजनीति के चाणक्य कहे जाने वाले श्री चक्रवर्ती राजगोपालचार्य ने कांग्रेस द्वारा औपचारिक स्वीकृति के लिये भी देश के विभाजन का प्रस्ताव कांग्रेस अधिवेशन में रख दिया।

अब तक तो केवल श्री जिन्ना ही 'पाकिस्तान-पाकिस्तान' चिल्लाते थे, किन्तु अब श्री गान्धी जी तथा श्री राजगोपालचारी जैसे भारत को स्वराज्य दिलाने की आशा दिलाये रखने वाले सज्जन भी जिन्ना महोदय के चरणों में पाकिस्तान समर्पण करने को उद्यत हो गये। 'क्या भावी स्वराज्य का यही रूप होगा कि उसमें सुजला, सुफला, शस्यश्यामला भारतमाता का अंग-भंग कर उसे विधर्मियों को अर्पित किया जाय'-यह विचार बार-बार तत्कालीन विचारकों के मस्तिष्क में उठ रहे थे। वास्तव में यह नेतानामधारी, जनता को स्वराज्य प्राप्ति के सुखद स्वप्न से जनता को विमुग्ध कर, क्या सोच रहे थे, किस ओर उसे ले जाना चाहते थे, यह बात श्री राजगोपालचारी के उस पत्र से प्रकट हो जाती है, जिसे उन्होनें हिन्दु-मुसलिम समझौते की शर्त के रूप में मिस्टर जिन्ना को लिखा था। श्री गांधी जी ने भी अपनी सम्मति इस पर पूर्ण रूप से देकर भारतमाता को विभाजित करने वाली पकिस्तान-योजना को स्वीकार कर लिया। और मि. जिन्ना का पाकिस्तान, हो गया। क्या भारत की जनता, उसके वीर सपूत इसको सहन करने के लिये तैय्यार थे कि उनकी विद्यमानता में माता का अंग-भंग हो? जिस भारतभूमि की अखण्डता की रक्षा में राम, कृष्ण, नहुष, ययाति, मान्धाता, दुष्यन्त, भरत, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, वीर छत्रसाल, गुरु गोविन्द सिंह, बन्दा वैारगी, रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, नाना फड़नवीस, वीर कुँवर सिंह, चन्द्र शेखर आजाद, सरदार भगत सिंह, बटकेश्वर दत्त, वीर सावरकर, आदि ने अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया, क्या उन्हीं के वंशज अपने ही हाथों उसके खण्ड-खण्ड कर विदेशियों एवं विधर्मियों को दे देंगे? यह विचार भारत की सर्व साधारण जनता के मन में उठ रहे थे। स्वामी जी का हृदय चीत्कार कर उठा उन्होंने कहा कि 'ऐसा कभी नहीं होगा। हिन्दुत्व के अभिमानी प्रत्येक सज्जन को चाहिये कि मनसा, वाचा कर्मणा इस राजा-गांधी-पाकिस्तान योजना का घोर विरोध करें और स्थान-स्थान पर विरोध प्रदर्शन, जुलुस, सभाएँ आदि करके उसकी सूचना भारत सरकार तथा दैनिक समाचार पत्रों को भेजें और संसार को दिखला दें कि गान्धी जी और उनके समधी राजाओं के सिवाय देश में एक भी हिन्दू ऐसा नहीं हैं, जो इस योजना का समर्थन करता हो।'' स्वामी जी ने सार्वनिक मंचों से स्पष्ट घोषणा की कि 'हम सनातनकाल से यहीं रहते आये हैं। भारत में कहीं बाहर से आकर नहीं बसे-अखण्ड भारतवर्ष वैदिक हिन्दुओं की सभ्यता-संस्कृति का केन्द्र स्थान रहा है। आज भी उसके कोने-कोने में हिन्दू तीर्थ, देवता आदि मिलते हैं। उत्तराखण्ड में-काश्मीर, अमरनाथ, बद्रीनाथ आदि दक्षिण में -रामेश्वर, कन्याकुमारी, पूर्व में-जगन्नाथ और पश्चिम में द्वारका नाथ आदि

प्रदेशों एवं नदियों के नाम भी वैदिक सभ्यता के ही द्योतक है। 'भारतवर्ष' और उसके पूर्व का उसका नाम 'अजनाभवर्ष' भी उसी सभ्यता का सूचक है। आज भी उसके प्रत्येक कोण में वैदिक संस्कृत भाषा में ही कर्मानुष्ठान चलते है।''

स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने २१-१-४७ को बम्बई में आयोजित अखण्ड भारत सम्मेलन में अपने भाषण में कहा कि 'जो भेद एक सच्चे साधु और दम्भी साधु में हो सकता है, वही भेद कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों और यहाँ के वैदिकों में है। अंग्रेजों ने वैदिको के बाहर से आकर यहाँ के मूलनिवासियों को गुलाम बनाने आदि की कल्पना इसलिये फैलायी कि उस पर विश्वास कर वैदिक आर्य इस देश को अपनी बपौती-मिल्कियत न मानें, इसे वे दूसरों की या पंचायती चीज समझें। आर्य अपने ही घर-भारत में अपने को विदेशी मानने लग जायें, जिससे बाहर से आने वाले दूसरों को भी पाकिस्तान आदि बनाने की आवाज उठाने का मौका मिल सके। पर उनकी इस कूटनीति के शिकार नवशिक्षित लोग ही इस भुलावे में आ जायें, परन्तु वेदादि-शास्त्रों एवं आर्य रामायणादि इतिहासों पर दृढ़ विश्वास रखने वाले वैदिक सनातनी लोग तो कभी नहीं आ सकते। वे सदा से भारतवर्ष को आर्य-हिन्दुओं का ही देश मानते जा रहे हैं और मानते रहेंगे। उनका दृढ़ निश्चय है कि इसमें दूसरे जाति के लोग अतिथि बनकर ही रह सकते हैं। इसका खंड-खंड करने या हिस्सा बटाने का अधिकार किसी को नहीं है।'

देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर स्वामी जी ने चुनौती भरे शब्दों में कहा कि 'भारतवर्ष सर्वदा से ही आर्यो की भूमि रही है।' अतएव मनु पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक की भूमि को खास तरह से आर्यावर्त ही कहते हैं।

''आसमुद्रात्तु वै पूर्वामासमुद्रात्तु पश्चिमां।
तयोरेवान्तरे गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं प्रचक्षते।''

आर्य लोग अपने सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों में संकल्प में सृष्टि से लेकर देश काल का कीर्तन करते हैं- ''तत्सदद्य ब्रह्मणो ऽह्नि द्वितीय प्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविशति तमे कलियुगे कलि प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखंडे आर्य्यावर्तैकदेशे....'' इत्यादि। इस तरह आर्यो का देश और काल परम्परा शृंखलाबद्ध रूप से प्रख्यात है। दो हजार चतुर्युगी अर्थात् आठ हजार युगों का एक ब्रह्मा का अहोरात्र होता है। इस हिसाब से बारह मास का वर्ष होता है। ब्रह्मा की पचास वर्ष की आयु बीत गयी। ब्रह्मा के दिन में चौदह मन्वन्तर होते है। यही आर्यो की सभ्यता संस्कृति और यही उनके मूलभूत अनादि अनन्त वेदादिशास्त्रों की सम्प्रदाय-परम्परा प्रचलित है। यहाँ उनके नरनारायण, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि अवतारों का प्रादुर्भाव हुआ है। यहीं रामायण, भारत, पुराण, तन्त्र आदिकों का प्रचार हुआ। यहीं मनु, याज्ञवल्क्य,

अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि आर्यो के पूर्वजों का प्रादुर्भाव हुआ और यही उनकी लीला भूमि है, फिर आर्यो का पश्चिमोत्तर प्रदेश या उत्तरी ध्रुव से आना नितान्त असम्बद्ध प्रलाप है।

स्वामी करपात्री जी की पाकिस्तान विरोधी गतिविधियों ने इतना व्यापक रूप धारण कर लिया था कि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में उनकी विशेष रूप से चर्चा होती थी। काशी के साप्ताहिक सन्मार्ग दिनाँक २०/८/१९४४ के अंक में प्रकाशित सम्पादकीय के कुछ अंश स्वामी करपात्री जी के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी आज ३३ वर्ष बाद पाठकों को देने में कुछ सहायक हो सकते है। यह लिखता है कि – 'जिसको हिन्दुओं ने नेता माना था, आज उसी ने धोखा दिया। इस भयानक अवस्था में भी काम चल सकता था, यदि देश के सामने कोई प्रभावशाली नेता श्री गांधी जी को प्रतिद्वन्द्विता के लिए होता। देश जिन साधनों द्वारा अपने नेता से परिचित होता है, आज के अधिकांश कांग्रेस के हाथ में है। समाचार पत्र और प्लेटफार्म जिसके विचारों को अवसर दें, वही देश का नेता माना जाता है। यदि हमारे बीच ऐसे कुशल नेता है, जो इस परिस्थिति का सामना कर सकते है और साथ ही पाकिस्तान योजना का खंडन कर सकते हैं, तो उनको आज के सामचार पत्र अवसर ही नहीं देते। जटिल स्थिति सामने है। श्री गांधी जी से कही बड़ा प्रतिद्वन्द्वी आज हम लोगों के बीच है। इसकी जानकारी लोगों को न हो, यह बात नहीं है। उसे जानते तो सभी है, यही कारण है कि सबने मिलकर उसका सामना करना चाहा है। अधिकांश समाचार पत्रों ने उनके आदेशों और आशाओं के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगाया है। उसकी उपेक्षा की जा रही है, जो उपेक्षित रह नहीं सकता। ऐसे एक महापुरुष (श्री करपात्री जी) की, जो हिन्दुओं के वास्तविक अधिकार को सामने रख सकता है और हिन्दुओं को उसका अभिमानी बना सकता है, आवाज को सार्वभौम बनाने में जो सहायक बन सकता हैं, वे उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। यदि हम सर्वनाश के मुख में है, तो सच्चे पथ-प्रदर्शक के रहते उसके पथ प्रदर्शन से दूर रखे जा रहे हैं। इससे बढ़कर दुर्भाग्य क्या होगा?

अ.भा. धर्मसंघ की शाखाएँ ही जो सहस्त्रों की संख्या में लगभग देश के सभी प्रान्तों में काम कर रही है, आज धीरे-धीरे हिन्दुओं को उस नेतृत्व के समीप ले जा रही है, जो हिन्दुओं के अधिकार को स्पष्ट करने में इस समय अकेला है। धर्मसंघ की शाखा-सभाएँ उन साधनों में से हैं, जिनके द्वारा देश अपने उस वास्तविक नेता के आज्ञापालन में अग्रसर किया जाता है, जो हिन्दू जीवन यात्रा का प्राण है। अतः एक ओर हिन्दुओं को संघ की शाखा सभाओं की सहायता करनी चाहिए और दूसरी ओर शाखा-सभाओं को उन सभी व्यक्तियों के स्वागत के लिए मार्ग खोलना चाहिए, जो संघ के नियमों और अनुपालन के कायल बन सके है। राजा-गांधी पाकिस्तान योजना के संबंध में जो पथ प्रदर्शन हुआ है उसे सभी शाखाओं सहयोगिनी संस्थाओं को

हिन्दुओं के घर-घर पहुँचाना चाहिए। -'पाकिस्तान योजना' के समर्थन के बाद श्री गांधी जी हिन्दुओं के प्रतिनिधि नहीं रह गये हैं।' श्री स्वामी करपात्री जी का कथन है कि -'हिन्दुत्वाभिमानी प्रत्येक सज्जन को चाहिये कि मनसा, वाचा, कर्मणा, इस राजा-गांधी पाकिस्तान-योजना का घोर विरोध करे। हिन्दुओं की प्रत्येक संस्था को, चाहे वह किसी भी सिद्धान्त को मानने वाली क्यों न हो, चाहिए कि इसके विरोध में सभाएँ करके प्रस्तावप पास करें, उसकी सूचना समाचार-पत्रों में प्रकाशित करें, जिससे इसकी आवाज संसार के अन्य राष्ट्रों में भी पहुँच सके। हिन्दू जाति के अधिकार का यह अपहरण अन्य राष्ट्रों को भी अन्यायपूर्ण जचें, जिससे भारत सरकार पर दबाव डालकर उसका ध्यान हिन्दुत्व की ओर आकर्षित करायें। राजा-गांधी का यह समझौता ही एक विद्रोह है, जिसका सामना हमारे अस्तित्व का प्रश्न है।' कहना नहीं होगा लाखों तार प्रस्ताव देश भर से भेजे गये, अनेकों सभाएँ आयोजित की गयी, परन्तु भवितव्यता कुछ ऐसी प्रबल थी कि राष्ट्र के कर्णधारों ने विभाजन के पक्ष में अपने को तैयार कर लिया था, मानों, वे स्वतन्त्रता की लड़ाई में थक गये थे, अत: एक भी नेता ने इस पवित्र आत्मा का साथ नहीं दिया और लाख विरोध करने पर भी लीग-कांग्रेस ने माँ के टुकड़े करने के समझौते पर मुहर, लगा दी। सारा संघर्ष धर्मयुद्ध, जेल-यात्राएँ, प्रचार-प्रसार व्यर्थ गया और देश में हाहाकार मच गया। भयंकर साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। निरीह-आवाल-वृद्ध-नर-नारी मौत के घाट उतार दिये गये। शरणार्थियों के काफिले इधर से उधर आने-जाने लगे, सरकार उन्हें बसाने में लग गयी। स्वामी जी ने पाकिस्तान-विरोध में-१९४६ को ही आन्दोलन चलाया और माँ के टुकड़े जिस दिन हुए, उस दिन वे लाहौर जेल में उस कोठरी में बन्द थे जिसमें सरदार भगत सिंह ने अपने अन्तिम दिन व्यतीत किये थे। उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से पाठकों को सुस्पष्ट हो गया होगा कि पाकिस्तान योजना के सक्रिय विरोध श्री स्वामी करपात्री महाराज ने वर्षो पूर्व से ही इसका विरोध किया परन्तु देश का दुर्भाग्य, कि बड़े-बड़े नेताओं ने उनकी हितकर वाणी को अनपसुना कर दिया और आकाशपुष्प जैसी असम्भव वस्तु पाकिस्तान की प्रत्यक्ष स्थापना के कारण बन गये। जिस पर सहस्त्रों लाखों वर्ष बाद जब भी कोई विचारक ठण्डे दिल से निष्पक्ष रूप से विचार करेगा तो उन्हें कभी माफ नहीं करेगा और एक हल्की-सी याद इस महात्मा की उसे अवश्य आयेगी। जैसे आज भगवान् शंकराचार्य को हम याद करते हैं, उसी प्रकार 'करपात्री स्वामी' का नाम भी, जब तक भारत राष्ट्र का अस्तित्व रहेगा, सदा लिया जाता रहेगा।

***

धर्म संघ

गत तीन चारसौ वर्षों में कितनी ही नयी व्यवस्थायें बनी, कितने ही वाद चले पर संसार की अस्थिर एवं अशान्त परिस्थिति से यह भली-भांति प्रकट था कि उन व्यवस्थाओं एवं वादों से संसार को सुख-शान्ति नहीं मिली। एकता, प्रेम और भ्रातृत्व की डींग हांकी जाती रही पर बने रहे थे। लोग एक दूसरे के शत्रु। देश-देश, राष्ट्र-राष्ट्र, व्यक्ति-व्यक्ति एक दूसरे की सम्पत्ति छीनकर स्वयं सुखी बनने की धुन में संल्न थे। सभी शुभ प्रयत्न विफल हो रहे थे। कोई सुस्पष्ट मार्ग सूझ नहीं रहा था। पारतन्यकाल में द्वितीय महायुद्ध की लपटों से समस्त संसार ही झुलस रहा था। ऐसी परिस्थिति में देश के विद्वान, त्यागी, विरक्त, मनीषियों, विचारकों एवं संसार का कल्याण चाहने वाले महापुरुषों ने उनके प्रतिकार के उपाय की खोज ईश्वरवादियों की है और ईश्वरवाद ही एक ऐसा वाद है, जिसमें सब वाद आ जाते हैं। बिना प्रभु को प्रसन्न किये सुख-शान्ति नहीं, अतः व्यक्तिगत-सामूहिक रूप से विश्वकल्याण सम्भव हो सकता है। संसार में जितने दुःख, दरिद्रता, वैमनस्य, अशान्ति, उपद्रव बढ़ रहे हैं, इन सबका मूल एक मात्र कारण धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान है।' -'धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जिसके समाश्रयण से प्राणीमात्र की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकार की उन्नति एवं सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। आर्थिक, सामाजिक और नैतिक सभी प्रकार के सामूहिक-वैयक्तिक लाभ उसी धर्म से सम्भव है। धर्म संस्थापन से ही संसार का सर्वविध कल्याण हो सकता है।'-अन्ततः श्री स्वामी करपात्री जी महाराज की प्रेरणा से यह निश्चय किया गया कि 'तत्सदद्येत्यादि धर्मग्लान्य-धर्माभ्युत्थान-निवृत्ति पूर्वकं धर्मसंस्थापनार्थममुक मन्त्रस्य अमुक संख्याकं जममुकस्तोत्रस्य पाठं वा करिष्ये' -इस संकल्प से लोग कुछ जप, अनुष्ठान और प्रार्थना आदि नियमपूर्वक किया करें। शास्त्रोक्त धर्मसंस्थापन का यही एक सफल प्रकार निर्धारित किया गया। प्रारम्भ में यह संकल्प कई वर्ष तक आस्तिक पुरुषों को हाथ से लिखकर वितरित किया जाता रहा, धीरे-धीरे आस्तिक-पुरुषों में इसका प्रचार बढ़ने लगा, काशी में कई विशाल अनुष्ठान हुए। अन्त में इसी पुनीत संकल्प में आश्विन विजयादशमी, संवत् १९९७ वि. (सन् १९४० ई.) के शुभ अवसर पर शक्तिपीठ विन्ध्य क्षेत्र में एक संस्था का रूप धारण किया और इस प्रकार हवन पूजन के पश्चात् अम्बा की गोद में 'धर्म-संघ' की स्थापना हुयी। उपर्युक्त संकल्प से कम

से कम एक माला, जप, पाठ, प्रार्थना और अनुष्ठान करने वाले आस्तिक जन 'धर्म-संघ' की स्थापना हुयी। उपर्युक्त संकल्प से कम से एक माला, जप, पाठ, प्रार्थना और अनुष्ठान करने वाले आस्तिक जन 'धर्म-संघ' के सदस्य हुए। श्री स्वामी जी के विशेष प्रयास से धर्मसंघ का प्रचार बढ़ा और फिर तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ के अति पुनीत पर्व पर विक्रमी संवत् १९९८ (सन् १९४१) में इसका महाधिवेशन हुआ तथा इसने अपना अखिल भारतीय रूप धारण किया। इसकी सदस्यता का द्वार सबके लिये खुला हुआ है। सभी लोग चाहे, वे किसी जाति, सम्प्रदाय के क्यों न हों-अपने परमेश्वर से सब अनर्थो के मूलभूत अधर्म को मिटाने और सर्वकल्याण: मूलभूत धर्म के संस्थापन के लिए प्रार्थना, जप या अनुष्ठान कर सकते हैं। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इसके लिए भी निर्णय का भी भार परमेश्वर पर छोड़ दिया गया कि परमेश्वर जिसे धर्म समझते हों, उसकी संस्थापना करें और जिसे अधर्म समझते हों उसकी निवृत्ति करें। पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी ने कहा कि 'आज भारत के सामने विचित्र समस्या है। साम्राज्य, स्वराज्य भारत के हाथ से छिन गया है। भारत सदियों से परतन्त्र है, उसके पास अस्त्र, शस्त्र, सैनिक बल नहीं है। परतन्त्रता के कारण ही उसके नैतिक और धार्मिक भावों का भी ह्रास हो गया है। अपनी सभ्यता, संस्कृति का तिरस्कार करना शत्रुओं का काम होता है, परन्तु दासता की बेड़ी में जकड़े हुये भारत ने वैदेशिक शिक्षा की महिमा से हार्दिक दासता को स्वीकार कर लिया है। ....ऐसी परिस्थिति में धर्माचरण, सदाचार से उत्पन्न पवित्रता पर आधारित संघटन की परमावश्यकता है।.....स्वधर्मपालन, पापवर्जनपूर्वक भगवत्प्रार्थना से ही संघटन में भी सुविधा होगी। संघटन होने पर फिर संघटित शक्ति का धार्मिक, नैतिक किसी भी कार्य में आवश्यकतानुसार उपयोग किया जा सकता है। अतएव 'धर्म-संघ' से धार्मिक, नैतिक, सामाजिक सभी प्रश्नों का उत्तर मिलेगा।' -स्वामी जी ने 'धर्म-संघ' के विषय में समस्त भारत में पैदल घूम-घूम कर व्यापाक प्रचार किया, आपने बतलाया कि 'धर्म-संघ' का दायरा संकुचित नहीं, किन्तु वह प्राणिमात्र के सुख-शान्ति के लिये प्रयत्नशील है। उसकी दृष्टि में समस्त-जगत् और उसके प्राणी सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान भगवान् के अंश या स्वरूप है। उसके सिद्धान्त में अधार्मिकों का नाश नहीं, किन्तु अमर्ध का नाश होना चाहिये। अन्यायी अत्याचारी को दण्ड देने का लक्ष्य भी उसके हित में ही है। दूसरों के हितों को कुचलकर अपने हित के लिये प्रयत्न करने को प्रोत्साहन देने वाला संकुचित राष्ट्रवाद भी व्यक्तिवाद के समान ही भयावह है। आज कल (तत्कालीन सन् १९४०-४२) युद्धादि फैलाने का श्रेय इसी राष्ट्रवाद को ही है। अत: यदि अपने आप शान्त, सुखी रहना चाहते हैं, तो औरों को भी शान्त, सुखी बनाने का प्रयत्न आवश्यक है। इसीलिये 'धर्मसंघ' के हरएक कार्य के आदि अन्त में 'धर्म की जय हो', 'अधर्म का नाश हो', 'प्राणियों में सद्भावना हो', 'विश्व का कल्याण हो' ऐसे पवित्र

जयकारों का प्रयोग करना चाहिये। इससे सद्भावना, संघटन सामन्जस्य बढ़ेगा और फिर राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय तथा समस्त विश्व का कल्याण होगा।

स्वामी जी महाराज ने लिखा है कि 'अपने सुख में सभी प्रसन्न होते हैं: अपने दु:ख में सभी विलाप करते हैं। परन्तु दूसरे के दु:ख में उद्विग्न होना, यह तो महापुरुषों में ही होता है।' हमारे पूर्वजों का यह असाधारण स्वभाव था। जिन महर्षियों की हम सन्तान हैं, वे कन्द, फल का भक्षण करते हुये, वल्कलवसन धारण कर अरण्यों में निवास करते हुये परम निस्पृह भाव से भगवान् की आराधना करते थे और विश्व कल्याण की प्रार्थना करते थे। उन्हीं के ये भाव हैं-'सर्वेऽत्रसुखिन: सन्तु सर्वेसन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:ख भाग् भवेत्।' -सभी सुखी हो, सभी कल्याण भागी हों, कोई भी दु:खी न हो। अपने पूर्वजों की इस भावना को स्मरण करते ही मन में स्वभाव से ही सर्वानर्थो के मूलभूत धर्मग्लानि, अधर्माभ्युत्थान को मिटाने के लिये भगवत्प्रार्थना करने की भावना उठेगी। यदि सब एक संकल्प से भगवान् की प्रार्थना करेंगे तो अवश्य ही सब संकट मिट जायेंगे। भगवत्प्रार्थना से बड़े-बड़े संकट मिट जाते हैं, अत: अपने भजन-पूजन से पृथक् किसी मन्त्र का या नाम का कम से कम एक माला जप धर्मरक्षा के लिये अवश्य करना चाहिये। साथ ही, अपने वर्णानुसार सन्ध्यावन्दन, सूर्यार्घ्य, सूर्योपस्थान, गायत्रीजप, बलिवैश्वदेव, अतिथि सत्कार आदि धर्मो का पालन एवं दुराचार, दुर्विचारादि विधर्मो के 'परिवर्जन करने का पूरा-पूरा प्रयत्न होना चाहिये।'

धर्मसंघ की परिभाषा बताते हुये स्वामी जी महाराज ने बताया कि 'धर्मसंघ का अर्थ है, धर्म के लिये संघ-'धर्माय संघ धर्मसंघ।' धर्मो का संघ-खिचड़ी नहीं, किन्तु धर्म के लिये 'धर्मप्राप्ति, धर्मप्रचार के लिये जो संघ-समूह, वही 'धर्म-संघ' है।' 'व्यक्तियों, समाजों, राष्ट्रों, किबहुना' समस्त विश्व का धारण, संघटन, सामन्जस्य एवं पोषण जिससे हो, उसे ही धर्म कहते हैं। अथवा विश्व की लौकिक, पारलौकिक उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति एवं उसका पोषण, रक्षण जिससे हो, वहीं 'धर्म' कहा जाता है। धर्म से केवल परलोक ही नहीं, किन्तु लोक भी बनता है। अतएव 'धारणाद्धर्ममित्याहु:'

'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:' इत्यादि रूप से धर्म की परिभाषा की है। विश्व का और अभीष्ट अभ्युदय एवं नि:श्रेयस का धारण-पोषण जिससे हो, वही 'धर्म' है। फिर भी किससे यह सब कुछ होता है, यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। जिससे जगत् की उत्पत्ति, पालन, प्रलय हो वही 'ब्रह्म' है, यह लक्षण ब्रह्म का है सही, पर यह 'तटस्थलक्षण' है। उससे जिज्ञासा की उपशान्ति नहीं होती, वह तो 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस 'स्वरूप-लक्षण' से ही होती है। इसी तरह धर्म के भी उपर्युक्त लक्षण 'तटस्थ' ही हैं, 'स्वरूप लक्षण' तो 'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्म:,' ''तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यस्थितौ''-इन वचनों से प्रतीत होता है। प्रवर्त्तक-निवर्तक वेदादि शास्त्रों से बोधित यज्ञादि कर्मकलाप ही 'धर्म' है। तथा च लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय

(उन्नति) और नि:श्रेयस् के अनुकूल वेदादिशास्त्रोक्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की हलचल या चेष्टायें ही 'धर्म' है। बस इन्हीं धर्मो के रक्षण, उत्थान एवं प्राप्ति के लिये संघ का ही नाम 'धर्म-संघ' है।

'समस्त प्राणी सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान, भगवान् के अंश है, भगवान के ही स्वरूप है। फिर भी माया के प्रभाव से प्राणी भगवान् से बिछड़े हुए से हैं, भगवान् उन्हें अपने अंक में लेने को प्रयत्न करते हैं। जैसे तरंग महासमुद्र के अंक से कभी विमुक्त नहीं होते वैसे ही जीवात्मा परमात्मा के अंक से कभी विमुक्त नहीं होते, किन्तु अनादि अविद्या के योग से विमुक्त सा हो रहा है। भगवदनुग्रह प्राप्त तत्व ज्ञान से परमात्मतत्व की प्राप्ति होती है। इस तरह सनातन भगवान् के सनातन जीवों को सनातन शास्त्रोक्त जिस सनातन-मार्ग द्वारा सनातनभगवान की प्राप्ति हाती है, वही 'सनातन धर्म' है। उसी धर्म के विस्तार, रक्षण के लिये जो संघ, उसी का नाम 'धर्म संघ' है।'

स्वामी जी की प्रेरणा से धर्म संघ के उद्देश्य, सदस्यता शुल्क, संकल्प, सदस्यों के कर्तव्य इत्यादि का निर्धारण किया गया। धर्म संघ के प्रयाग-महाधिवेशन् संवत् १९९८ (सन् १९४१) में ही धर्म संघ का व्यापक एवं उदार रचनात्मक कार्यक्रम निश्चित किया गया जिसका सारांश पाठकों की जानकारी हेतु यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(१) **नाम**- 'धर्म संघ'

(२) **उद्देश्य**-'सर्वानर्थो के मूलभूत अधर्म को मिटाकर परमकल्याण मूलभूत श्रुति स्मृति पुराणादि प्रतिपादित धर्म का संस्थापन और प्रचार करना है।'

(३) **सदस्यता शुल्क**- निम्नलिखित संकल्प के अनुसार प्रतिदिन किसी मन्त्र वा स्तोत्र का कम से कम अष्टोत्तशत जप वा पाठ करना है। इस प्रतिज्ञा के पश्चात् कोई भी प्राणी इस संघ का सदस्य हो सकता है?

(४) **संकल्प**- ''तत्सदद्यत्योदि धर्माग्लान्य धर्माभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्वक धर्मसंस्थापनार्थ अमुकमंत्रस्य स्तोत्रस्य वा अमुक संख्याकं जपं पाठं वा करिष्ये।'' संस्कृत न जानने वालों के लिए-'अधर्म का नाश और धर्म का संस्थापन हो' यह संकल्प है।

(५) **सदस्यों के कर्तव्य**- (१) यथासम्भव किसी भी मादक द्रव्य का सेवन न करना। (२) वैदिक परम्परा प्राप्त यथा-सम्भव स्वस्वधर्मानुकूल सन्ध्या-वन्दन, बलि वैश्वदेव, अतिथिसत्कारादि कर्म अवश्य करना। (३) यथा-सम्भव भारतीय वेशभूषा ही धारण करना (४) पूज्यों की आज्ञा मानना (५) सदस्य होने के पश्चात् हो सके तो कम से कम इस संघ के दस सदस्य बनाना।

(६) **कार्यक्रम**- (१) संघ के संकल्प का प्रचार (२) वर्णाश्रम व्यवस्था पर जोर। (३) वर्णाश्रमानुसार सन्ध्यावन्दन, नित्य नैमित्तिक कर्मो का प्रचार। (४) शास्त्रानुसार उपनयन, विवाहादि संस्कार करवाने का प्रबन्ध। (५) आध्यात्मिक, मानसिक तथा शारीरिक शिक्षा को शास्त्रानुसार बनाने का प्रयत्न (६) राष्ट्र बल बढ़ाने

के लिये व्यायाम का प्रोत्साहन तथा उसके लिये सुविधाएं (७) प्राणीमात्र में परस्पर प्रेम और सेवा भाव फैलाना।

(७) **जयकारे**- (१) धर्म की जय हो। (२) अधर्म का नाश हो (३) प्राणियों में सद्भावना हो। (४) विश्व का कल्याण हो। (५) हर-हर महादेव।

(८) **पताका**- संघ की पताका पीली होनी चाहिये, जिसमें लाल रंग का स्वास्तिक चिन्ह अंकित हो।

कहना होगा कि उस समय की विषम परिस्थिति में भारतीय जन मानस में आस्तिकवाद पर आधारित इस धर्म भावना को स्वयं नगर-नगर जाकर जगाना कोई साधारण कार्य नहीं था। भगवान की प्रेरणा से ही उन्हीं के इंगित पर अ.आ. धर्म संघ के स्थायी अध्यक्ष भी स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज एवं अभिनव शंकर धर्म सम्राट श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने देश में कश्मीर से गंगासागर तक द्वारका से पुरी एवं कन्याकुमारी तक ईश्वराराधन एवं धार्मिक अनुष्ठानों की वह व्यापक भावना उत्पन्न की थी कि विश्व युद्ध शान्त हुआ, भारत स्वतन्त्र हुआ और चिरप्रसुप्त सनातन-वैदिक विचारधारा को उद्बुद्ध करके सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रवहमान कर दिया कि एक बार तो कलियुग का दुष्प्रभाव भी अस्तप्राय दिखने लगा। बिना चन्दे एवं कोष की इस धार्मिक संस्था धर्म संघ ने अपने इस तपस्वी, मात्र लंगोटीधारी महात्मा करपात्री स्वामी के इशारे पर न्यूनाधिक सैंकड़ों यज्ञादि अनुष्ठान सम्पन्न किये। वेद-शास्त्रों के प्रति व्याप्त घोर उपेक्षा को भंग करके भारतीयों में उसके प्रति श्रद्धा एवं आदर की भावना सुस्थापित की। अनेकों संस्कृत महाविद्यालयों की स्थापना की जिसमें विद्याअध्ययन करके उच्च कोटि के वैदिक विद्वान, सन्त, महात्मागण आज सनातन धर्म के व्यापक प्रचार प्रसार एवं रक्षण में रत हैं। इसके माध्यम से समय-समय पर अनेकों आन्दोलनों के द्वारा चिरप्रसुप्त समाज को नेत्रोन्मीलन के लिये बाध्य किया। अनेकों मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक एवं दैनिक पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन द्वारा सतनान सिद्धान्तों के प्रचार प्रसार के साथ-साथ धार्मिक जगत को प्रैस-प्लेट फार्म देकर उसमें व्याप्त घोर उपेक्षा को किसी सीमा तक दूर किया। स्वयं इस सिद्ध सन्त के आदर्श कठिन शास्त्रीय व्रतों को धारण करके अत्यन्त कठोर साधना की। अनेकों ग्रन्थों की संरचना द्वारा सरस्वती के भण्डार की अभिवृद्धि की।

सारांश-अपने जन्मकाल से ४० वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी यह धर्म संघ आज भी धर्म एवं समाज की सेवा में शनैः शनैः अग्रसर हो रहा है और इस वीतराग महात्मा का निर्देशन एवं वरदहस्त उसे आज भी प्राप्त है। सनातनी समाज निश्चित होकर अपनी बागडोर स्वामी जी के हाथ में सौंपकर अपने को सुरक्षित अनुभव कर रहा है। काश स्वामी जी की धार्मिकों के संगठन को वह उत्कट अभिलाषा पूर्ण हो पाती तो कलियुग धर्मयुग बन जाता।

हिन्दू-कोड

हिन्दू का समस्त जीवन सदा से उसके धर्मशास्त्रानुसार ही संचालित होता आया है, इसीलिए हिन्दू राजनीतिशास्त्रों में राजा (शासक) को शान्ति, सुरक्षा आदि के लिए आज्ञायें निकालने का अधिकार ही दिया गया है, उसे सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप का अधिकार कभी नहीं रहा। मुसलमान शासकों ने भी हिन्दुओं के विवाह या उत्तराधिकार सम्बन्धी शास्त्रीय-सामाजिक नियमों में से किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने का कभी विचार नहीं किया। फलतः हिन्दू जाति हजार थपेड़े खा-खाकर भी अजेय दुर्ग की भाँति अडिग खड़ी रही, परन्तु कूटनीतिज्ञ अंग्रेज ने इस पर गहरा विचार करके निश्चय किया कि जब तक हिन्दुओं का सामाजिक संगठन नष्ट-भ्रष्ट नहीं किया जायेगा, भारत में उनके राज्य की नींव सुदृढ़ नहीं हो सकती। इसीलिए उन्होंने प्रथम तो कुशिक्षा द्वारा हिन्दुओं में अपने धर्म व शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना प्रारम्भ किया, फिर शनैः शनैः सामाजिक जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगे। परन्तु स्वयं धार्मिक तटस्थता भंग करने के आरोप से बचने के लिए उन्होंने यह कार्य धारा-सभा के द्वारा कराया, जिसमें अधिकांश हिन्दू प्रतिनिधि रहते थे। जो कार्य कोई विदेशी शासक न कर सका, उसे विदेशी शासकों की कूटनीति के शिकार विदेशी शिक्षा-दीक्षा शिक्षित-दीक्षित तथाकथित हिन्दू प्रतिनिधियों द्वारा समाज सुधार आदि के नाम पर किया जाने लगा। सहस्त्रों वर्ष से विदेशियों से प्रताड़ित एवं परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े रहने पर भी येन-केन-प्रकारेण जिस अमर थाती को भारतीय जनता धारण किये रही, अपना तन और धन खोकर अपना राज्य गवांकर दीन-हीन बनी, हिन्दू प्रजा जिन सनातन ज्योति को प्रज्ज्वलित रखे रही, भीषण झंझावतों में भी संजाये रही, उसे समाप्त रकने का कार्य अपनों द्वारा ही जब प्रारम्भ होने लगा, विदेशियों के मादक संगीत की धुन पर जब हिन्दू ही अपना सनातन-शास्त्रीय संगीत त्याग कर 'रॉक-एण्ड-रॉल' करने लगे, तब वैदिक सनातन धर्म के संरक्षक भगवान् ने करुणा कर समाज के हितैषी मनीषियों को इस ओर प्रेरित किया। सन् १९४४ में तत्कालीन विदेशी सरकार ने एक 'हिन्दू-लॉ-कमेटी' की नियुक्ति की। इसका उद्देश्य हिन्दुओं के सामाजिक नियमों में वांछित सुधारों की सिफारित करना था। इस बिल की मूल कल्पना करने वाले थे, नौकरशाही अंग्रेजी सरकार के एक अधिकारी मियां सर सुल्तान अहमद। फिर मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि श्री योगेन्द्र नाथ मण्डल और तत्पश्चात्

डाक्टर भीमराव अम्बेडकर कानून मन्त्री भारत सरकार ने हिन्दुओं के अनादि, अनन्त नियमों का कोडिफिकेशन करने का भार ग्रहण किया। 'हिन्दू-कोड' नामक एक मसविदा विदेशी शासन काल में सर सुल्तान अहमद कानून सदस्य ने सरकार की ओर से केन्द्रीय धारा सभा में उपस्थित किया। इसे जनमत जानने के लिए जनता में प्रचारित भी किया गया था, किन्तु जनता ने इसका एक स्वर में घोर-विरोध किया। अ.भा. धर्म संघ, श्री भारत धर्म महामण्डल, अ. भा. वर्णाश्रम स्वराज्य संघ तथा हिन्दू महासभा, आर्य समाज, जैन, सिक्ख आदि संस्थाओं ने इसका व्यापक विरोध किया, जिससे प्रभावित होकर विदेशी सरकार द्वारा इसे टाला जाता रहा और इस पर मत जानने के लिए एक समिति की नियुक्ति की गयी, जिसने देश के प्रमुख नगरों में जा-जाकर जनता के विशिष्ट व्यक्तियों की गवाहियां भी ली, इसका स्थान-स्थान पर घोर विरोध किया गया। उच्च न्यायालय के अनेक विचारपतियों ने इसे अमान्य ठहराया। श्री मदन मोहन मालवीय, भाई परमानन्द जी, डा. कैलाशनाथ काटजू आदि नेताओं ने इसका प्रबल विरोध किया। 'कमेटी' के तीन में से एक सदस्य ने स्पष्ट लिखा कि जनता की ओर से ऐसे कानूनों की कोई माँग नहीं है।' यद्यपि यह रिपोर्ट सन् १९४७ में प्रस्तुत की गयी, परन्तु विदेशी सरकार ने इसे न मानकर, बिल को जीवित रखा और ९ अप्रैल सन् १९४८ को इसे 'सिलेक्ट कमेटी' के पास भेज दिया जिसने अपनी रिपोर्ट १२/८/४८ को भारतीय-संघ-धारा-सभा में प्रस्तुत की।

श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने भारतवर्ष में धर्म संघ के माध्यम से पैदल घूम-घूम कर एक नयी चेतना जागृत की। उन्होंने उपर्युक्त कमेटी का, जिसमें एक भी सनातनी हिन्दू प्रतिनिधि नहीं था, घोर विरोध किया। इस कमेटी द्वारा तैयार किये गये दो विधेयकों के मसविदों में एक था 'अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल' तो दूसरा था 'हिन्दू विवाह तथा विच्छेद विधेयक'। स्वामी जी ने सम्पूर्ण भारत में घोषणा की कि 'किसी शासक को हमारे धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। शासन अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन कर रहा है। ये विधेयक वापिस लिये जायें।' स्वामी करपात्री महाराज ने सरकार द्वारा प्रकाशित 'हिन्दू कोड बिल' का व्यापक एवं सूक्ष्म अध्ययन किया तथा उसका तात्विक एवं न्याय व तर्क-संगत खण्डन करते हुए कोड विरोधी साहित्य का सृजन किया तथा समस्त भारत में घूम-घूम कर एक छोर से दूसरे छोर तक कोड विरोधी वातावरण तैयार कर दिया। इतना बड़ा विरोध भारत में किसी भी बिल का कभी नहीं देखा, सुना गया। उन्होंने कहा कि 'हिन्दू कोड बिल' हिन्दू धर्मशास्त्र अर्थात् स्मृति, मिताक्षरा, दायभाग, व्यवहारमयूख आदि धर्मग्रन्थों से विरुद्ध है। शास्त्रों में उत्तराधिकार की व्यवस्था भी धार्मिक दृष्टि से है। मृत व्यक्ति की आत्मा को श्राद्धतर्पणादि द्वारा शान्ति पहुँचाने वाला ही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी समझा जाता है। मूल वैदिक आर्षग्रन्थों के आधार परही हिन्दुओं के धार्मिक, सामाजिक जीवन

निर्वाह की व्यवस्था है। लोकदृष्ट्या यदि कोई निर्विघ्न, निर्दोष अन्य मार्ग हो, तो भी आस्तिक हिन्दुओं को वह अमान्य है। सुविधा के लिए अंग्रेजी भाषा में अनूदित 'हिन्दू ला' का आधार भी अब तक वेद, स्मृति, मिताक्षरा आदि धर्म ग्रन्थ ही थे, परन्तु अब शास्त्रों पर हड़ताल लगाकर उन्हें मंसूख करके मनमानी हिन्दूकोड बनाया जा रहा है। वेद, मनु आदि का स्थान आज धर्म ग्रन्थ ज्ञान शून्य ही नहीं; अपितु धर्म-द्रोही, मनु की पुस्तकों को जलाने वाले कर रहे हैं। वे ही आज हमारे 'धर्माचार्य' बन रहे हैं। इन विधान बनाने वालों को हमारे शास्त्रों में परिवर्तन का अधिकार नहीं है। केवल वेद, स्मृति, निबन्धों द्वारा सिद्ध विधान का संचालन करना ही शासकों का कर्तव्य हैं; परिषद-विधान निर्णेत्री है, विधान निर्मात्री नहीं। स्वामी जी ने स्पष्ट घोषणा की थी कि 'लोकदृष्टि से भी वर्तमान सरकार को धर्म के ऊपर विधान बनाने का अधिकार नहीं है, क्योंकि इस धारा सभा का निर्वाचन भारत की स्वाधीनता और अखंडता के नाम पर हुआ है। जनता को यह सर्वथा मालूम न था कि इन निर्वाचित प्रतिनिधियों की धारा-सभा, धर्म विरोधी काननू बनायेगी; धार्मिक, सामाजिक जीवन में उथल-पुथल करने वाले धर्म-ध्वंसक कानून बनायेगी। अत: इस सभा को ऐसा कानून बनाने का अधिकार ही नहीं है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के पश्चात् बहुत से देशी राज्य भी भारत संघ में सम्मिलित हो गये हैं, वर्तमान धारा सभा में वहाँ की जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं हैं, अत: इस धारा सभा द्वारा बनाया गया कानून (हिन्दू कोड) राज्यों की जनता पर लादना अन्याय है।' स्वामी जी ने कोड के दुष्परिणामों से जनता को अवगत कराते हुए प्राचीन शास्त्रानुकूल व्यवस्थाओं का औचित्य प्रमाणित किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'शास्त्र एवं तर्क दोनों से हिन्दू-कोड असंगत है, यद्यपि धर्माचार्य के सम्बन्ध में बहुमत कुछ मूल्य नहीं रखता; यन्त्रनिर्माण में शिल्पी, रुग्ण-चिकित्सा में वैद्य ही की राय मान्य होती है, बहुमत की नहीं। इसी प्रकार हिन्दू धर्म शास्त्रों के नियमों के सम्बन्ध में अन्य विषयों के विद्वानों या बहुमत का कोई स्थान नहीं। फिर इसके लिए नियुक्त 'हिन्दू लॉ कमेटी, ने मत संग्रह करते समय अनुभूत घटनाओं का उल्लेख करते हुए स्वीकार किया कि 'बहुमत इसके विपरीत है' जब सभी विद्वानों, शास्त्रों, तर्कों द्वारा प्राचीन अर्वाचीन शास्त्रज्ञों, आचार्यो, वकील, बैरिस्टरों, हाईकोर्ट के जजों तथा जनता के बहुमत से भी इस बिल का विरोध किया गया है, फिर पता नहीं सरकार क्यों इसे पास करने का हठ करती है।'

प्रस्तुत: विषय पर कहाँ तक और कितना लिखा जाये, महाराज ने अपने जीवन के त्याग, तपस्या, पूजा-पाठ के सर्वोत्कृष्ट समय को तो इसके विरोध में लगाया है। एक प्रसंग में उन्होंने बताया कि अकेले उनके माध्यम से उनकी जानकारी में ही कम से कम २ करोड़ रुपया 'हिन्दू कोड विरोध' में व्यय हो गया होगा, परन्तु सरकार इसे पास करने पर तुली हुयी है। अधिक विस्तार में न जाते हुये, दिल्ली में आयोजित अ. भा. हिन्दू कोड

बिल विरोधी सम्मेलन में ४ मार्च १९४८ को दिये गये उनके एक भाषण में ही इस सन्त हृदय की वेदना की झलक सहृदय पाठकों को मिल सकेगी। उन्होंने कहा था कि –'हिन्दू कोड बिल के सम्बन्ध में ६–७ वर्ष से बोलते–बोलते ऊब गया हूं–आज से चार वर्ष पहले काश में अ.भा. हिन्दू कोड विरोध सम्मेलन में खूब अच्छी तरह इसी पर विचार–विनिमय भी किया जा चुका है। इसके पहले लखनऊ में भी यज्ञ के अवसर पर विद्वानों ने इस पर हर दृष्टिकोण से विचार किया। इसके बारे में भारत के विभिन्न भागों में घूमकर प्रकाश डाल चुका हूँ, अत: अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती–इसका व्यापक विरोध होने पर भी सरकार कानों में तेल डालकर बैठीहै। उसके पास लाखों विरोंध–पत्र, तार प्रस्ताव भेजे गये, पर उनकी चर्चा तक धारा–सभा में नहीं की गयी। स्वामी जी ने कहा कि 'हम लोग चाहते हैं कि विचार–विनिमय द्वारा कोई शास्त्रीय मार्ग निकल आये, तो, उसे हम लोग मान लें। हम भी मानते हैं कि आखिर अपनी सरकार को अपने–अपने प्रियजनों की सरकार को हिन्दू जाति के अहित करने से लाभ क्या? हम यह भी सोचते हैं कि डाक्टर अम्बेडकर को भी हमारे अहित से कोई लाभ नहीं। कोड पर सभी दृष्टियों से विचार करने पर हमने पाया है कि यह कानून हिन्दू जाति के लिए खतरनाक और हानिकार है।' स्वामी जी ने आगे बताया कि 'लोग कहते है कि प्रपंच में साधु–महात्माओं को पड़ने की क्या जरूरत है?' मुझे शास्त्र का एक वचन स्मरण आ जाता है कि 'जब तक मनुष्य जीवित रहे, तब तक वेदान्त, गुरु और ईश्वर की वन्दना करता रहे। जिस गुरु, जिस परमेश्वर की कृपा से तत्व ज्ञान के आदि स्रोत वेदादि आर्षग्रन्थों को हम भूल जायें? ऐसा करना कृतघ्नता होगी। न हमें विवाह करना है न किसी की सम्पत्ति को हथियाना है औ न प्राइमिनिस्टर की गद्दी पर दखल जमाना है। बात यह है कि जिसके द्वारा हमारा कल्याण हुआ, उस आचार्य परम्परा की रक्षा करना हमारा परम पवित्र कर्तव्य हो जाता है। ....मैं तो बार–बार कहा करता हूं कि जिसे लाख गरज हो वह आये, धर्म की रक्षा करे। क्या हम धर्म के ठेकेदार है कि हमारे न रहने से धर्म डूब जायेगा? धर्म की रक्षा का भार तो उस परमपिता परमेश्वर पर है, जिसने गोवर्धन पर्वत उठायाा है, हम लोगों ने तो उसी का सहारा पकड़ा है। भगवान् की कृपा होने पर ही धर्म की रक्षा, आचार्य परम्परा की रक्षा के लिये कोई कष्ट सह सकता है। उस प्रभु की की कृपा है कि उसने हमको इस काम में लगाया।' स्वामी जी ने प्रत्येक बात का मौलिक, तात्विक व्यावहारिक, नैतिक, न्यायिक, विशुद्ध विवेचन प्रस्तुत करते हुये कोड की प्रत्येक धारा को आध्यात्मिकता की कसौटी पर कस कर खोटा सिद्ध कर दिया। आपने कहा कि 'नियम सदा मान्य एवं आदर की वस्तु होती है, अपनी पार्टी के नियमों को मानना सदस्यों का धर्म एवं कर्तव्य हो जाता है।' पार्टी का अनुशासन एवं नियम न मानने से नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जैसे सिद्ध पुरुषों को भी कांग्रेस से बहिष्कृत होना पड़ा था। नियम की अवहेलना करने पर ऐसे नररत्न एवं वीर पुरुष को भी पार्टी से निकालना पड़ता है, तभी पार्टी की प्रतिष्ठा कायम रहती है, परन्तु जो

रबड़ छन्द की भाँति अपने नियमों को बदलता रहे, उसकी क्या कीमत?' –'हमारी हिन्दू जाति के नियम अपौरुषेय, मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदानुसारी आर्ष ग्रन्थों के आधार पर बने हैं। उन नियमों की अवहेलना करने वाला, वह चाहे कितना ऊंचा क्यों न हो, समाज से बहिष्कृत किया जाता है। हिन्दू 'ला' का मूलाधार–वेद वेदानुसारी आर्षग्रन्थानुसारी, निबन्ध–ग्रन्थादि है। इन ग्रन्थों में श्रृद्धा और विश्वास रखने वाला हिन्दू हो सकताहै, वास्तविकता तो यही है, पर हिन्दू कोड बिल द्वारा ये नियम तोड़े जा रहे हैं, जो कभी भी बर्दाश्त नहीं किये जा सकते····।'

कहना न होगा कि इतना व्यापक विरोध हुआ कि सरकार भी हिल उठी– और उसे सम्पूर्ण हिन्दू कोड को यथावत् पास करने का संकल्प स्थगित करना पड़ा– बाद में खण्ड–खण्ड करके अलग–अलग विधेयकों के रूप में बहुमत के तथोक्त आधार पर, इन्हें, स्वीकृत कराने की योजना सरकार ने बनायी। स्वामी जी के जीवन का यह एक महान् कार्य है जिसे इतिहास कभी नहीं भूला सकता।

पाठकों को तत्कालीन वातावरण से कुछ अवगत कराने की दृष्टि से कुछ विचारकों के नाम व मत सूत्र रूप में यहाँ उद्घृत करना अप्रासंगित न होगा –

१. 'हिन्दू कोड अनावश्यक और अवांछनीय'

–डा. द्वारकानाथ मिश्र, विचारपति कलकत्ता, प्रधान न्यायालय एवं सदस्य 'हिन्दू कमेटी।'

२. 'धार्मिक हिन्दुओं के कारण उसे कार्यान्वित करना अत्यन्त कठिन होगा' –सर तेज बहादुर सप्रू।

३. 'हिन्दू कोड से हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब संस्कृति आदि सर्वथा छिन्न–भिन्न हो जायेंगे' –महारानी नैटौर।

४. 'कोड से हिन्दू संस्कृति का आधार ही छिन्न–भिन्न हो जायेगा।'

–डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी, अध्यक्ष, अ.भा. हिन्दू महासभा

५. 'हिन्दू कोर्ड व्यर्थ, निरर्थक एवं हानिकर'।

–सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार श्रीमती अनुरूपा देवी।

६. 'कोड का लादा जाना अनुचित'

–श्री चन्द्रशेखर अय्यर, जज, मद्रास हाई कोर्ट।

७. 'हिन्दू कोड अनुचित'

–बिहार प्रान्तीय वकील सम्मेलन में प्रख्यात वकील श्री हेमचन्द्र मिश्र।

८. 'हिन्दू कोड से स्थायी परिवर्तन असम्भव'

– प्रोफेसर धरपूरे।

९. 'हिन्दू कोड से असन्तोष बढ़ेगा'

– 'हिन्दू लॉ' की प्रस्तावना, में मिस्टर मेव।

१०. 'कोड अनुचित, अनावश्यक, हिन्दुओं के नियमों के विरुद्ध'

–डॉ. सुरेन्द्र नाथ, दास अध्यक्ष, कलकत्ता संस्कृत कालेज।

११. 'पूर्व उत्तराधिकार व्याख्या ही उचित'

– श्री सीतलवाड, बम्बई।

१२. 'जनमना अधिकार एवं उत्तर जीवी व्यवस्था को हटाने का विरोधी हूं।'

– श्री कन्हैया लाल मणिक लाल मुन्शी,
हैदराबाद स्थित भारत के एजेन्ट जनरल।

१३. 'मित्ताक्षरा–संयुक्त व्यवस्था भंग न की जाये'

– युक्त प्रान्तीय अग्रवाल महासभा।

१४. 'शास्त्रीय जन्मना उत्तराधिकार व्यवस्था अपरिवर्तनीय'।

– श्रीनिवास आयंगर, अवकाश प्राप्त जज मद्रास हाईकोर्ट।

१५. 'जन्मजात अधिकार हटाना खेदजनक'।

– महामान्य श्री श्रीनिवास शास्त्री।

१६. 'शासक कानून के आधीन है, उसका स्रोत नहीं'।

– डा. कैलाशनाथ काटजू, गवर्नर पं. बंगाल।

१७. 'कोड के बिना हमें मुकदमें तय करने में कोई अड़चन नहीं पड़ी, कोड अनावश्यक है'

– बंगाल के ३१ रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट तथा सबार्डिनेट जज।

१८. 'हिन्दू कोड ओछे हृदय से किया गया इतना बड़ा मौलिक परिवर्तन है, जिसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता'।

– श्री नीलकण्ठ दास, कांग्रेसी नेता (MLA)कटक उड़ीसा।

१९. 'अयोग्य सुधारकों का अधार्मिक कृत्य–हिन्दूकोड'

– श्री श्रीशचन्द्र नन्दी महाराज कासिम बाजार, ३–११–१९४४।

२०. 'कोड बनाना ही है तो हिदू शब्द हटा दें'।

– श्री महाराज बर्दमान नरेश।

२१. 'हिन्दू कोड स्त्रियों के लिए खतरा'।

– श्रीमती रानी ललिता कुमारी विजयानगरम्।

२२. 'हिन्दू कोड हिन्दू समाज के आधारभूत सिद्धान्तों पर प्रहार'।

– महामना पं. मदनमोहन मालवीय (१९४४)

२३. 'धार्मिक नियमों में परिवर्तन, साक्षात् बलवे को निमन्त्रण'।

– स्व. बालकृष्ण शिवराम मुंजे (३–९–४४)

२४. 'कोड हिन्दू धर्म शास्त्रों का अन्त करने के लिए है'।

– स्व. भाई परमानन्द जी (१९४४ में लिखित)

२५. 'कोड अत्यन्त विवादग्रस्त सम्प्रति, इसे स्थगित रखें'।

– सर श्री बजेन्द्रलाल भारतीय, संघ न्यायालय के एडवोकेट जनरल।

२६. 'समाज अभी परिवर्तन के लिये तैयार नहीं'।

– संघ न्यायालय के विचारपति सर श्री वरदाचार्य।

२७. 'कोड थोड़े से प्रगतिशीलों की सन्तुष्टि के लिए'।

– देशरत्न श्री राजेन्द्र प्रसाद, अध्यक्ष, भारतीय विधान परिषद।

२८. 'कोड हिन्दुओं के बड़े वर्ग के लिये, घोर अन्यायपूर्ण, एवं लोकतन्त्र की हत्या'।

– डा. राधामुकुट मुखर्जी, प्रो. लखनऊ यूनीवर्सिटी।

२९. 'कोड अपने उद्देश्य में असफल'।

– रूपेन्द्र कुमार मित्र, विनय कुमार मुखर्जी चारु चन्द्र विश्वास, अमरेन्द्रनाथ सेन, कलकत्ता हाई कोर्ट के जज।

३०. 'कोड जैनियों के लिये घोर आपत्तिजनक'।

– श्री मक्खन लाल जी शास्त्री, श्री धर्मवीर वादीभ केसरी, वि. वा. न्यायालंकार, मोरेना।

३१. 'कोड हिन्दुओं के लिये हानिकारक'।

– श्री रामदत्त M.A., L.L.B. एडवोकेट, मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा, उ.प्र.।

३२. 'कोड से समाज का हित सम्भव नहीं'।

– श्री नरोत्तम सिंह बिन्द्रा, एडवोकेट, लाहौर हाईकोर्ट।

३३. 'कोड विरोधनीय है तथा अवांछनीय भी'।

– श्री गुरुदयाल सिंह भल्ला एडवोकेट, अमृतसर।

३४. 'कोड हिन्दू समाज का किसी प्रकार कल्याण नहीं कर सकता'।

– श्री कपूर सिंह I.C.S. डिप्टी कमिश्नर, गुडगांव (१९४४)

३५. 'पैतृक सम्पत्ति में कन्या का अधिकार अनुचित'।

– डा. भगवाद दास, काशी।

३६. 'हिन्दू संस्कृति के लिये सर्वाधिक घातक'।

– राव बहादुर श्री माघवराव किये १९४५ में आर्यन पाथ बम्बई में प्रकाशित।

३७. 'असेम्बली में इनका विचार ठीक नहीं'।

– श्री श्रीप्रकाश पाकिस्तान में भारतीय राजदूत।

३८. 'हिन्दू कोड हिन्दुओं के लिये विषधर संखिया है'।

– श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, जगदगुरु शंकराचार्य ज्योतिर्मठ बद्रिकाश्रम।

३९. 'कोड मैकाले के मानसपुत्रों की करतूत'।

– ज. शंकराचार्य श्रृंगेरीमठ।

४०. 'कोड पाश्चात्य शासन का अभिशाप'।

– शाक्ताचार्य श्री रामानुज सरस्वती यतीन्द्र देव

४१. 'हिन्दू कोड राजनेताओं की अनधिकार चेष्टा'।

– श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी झूँसी, प्रयाग

४२. 'कोड पाश्चात्यों का अन्धानुकरण'।

– शाक्ताचार्य श्री रामानुजाचार्य श्री राघवाचार्य जी

४३. 'कोड हिन्दू-धर्म, सभ्यता, संस्कृति एवं आचार-विचारों के सर्वथा विपरीत है'।

– श्री अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ जगदगुरु शंकराचार्य द्वारका-शारदा पीठ, द्वारका

४४. 'सरकार को धर्मशास्त्रों में परिवर्तन का अधिकार नहीं'।

– श्री निर्मला देवी, बंगाल

४५. 'कोड महिलाओं के लिये भी हानिकार'।

– स्व. श्रीमती गोदावरी बाई, भडकमरक M.A. प्रधानाध्यापिका सेन्ट्रल हिन्दू बालिका विद्यालय, काशी

४६. 'इस कोड से आर्य महिलाओं कोई लाभ नहीं'।

– श्री विद्यादेवी प्रधानाध्यापिता अ. भा. आर्य महिला विद्यापीठ काशी।

४७. 'हिन्दू कोड में निरंकुशताओं का अपूर्व संगम'।

– पण्डितराज श्री राजेश्वर शास्त्री, काशी।

४८. 'हिन्दू कोड महानाश का सूत्रपात'।

– श्री ठाकुर प्रसाद दुबे, M.A., L.L.B. सिविल जज, फर्रुखाबाद

४९. 'कोर्ड धर्म पर कुठाराघात'।

– श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज।

५०. 'प्रस्तावित हिन्दू कोड अमान्य'।

– श्री शेखरेन्द्र सरस्वती, जगदगुरु शंकराचार्य, कांची काम कोटि पीठाधीश्वर, कुम्भकोणम्।

५१. 'ऐसे बिल धर्माचार्यो के मत से ही बन सकते है'।

– श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, सम्पादक

५२. 'कोड हिन्दू धर्म की जड़ उखाड़ने का प्रयास है'।

– श्री मन्त्रेश्वर शर्मा, भूतपूर्व सम्पादक डेलीगजट, कराची।

५३. 'धारासभा को कोड बनाने का अधिकार नहीं'।

– मास्टर गुरुवचन सिंह

५४. 'धर्म में बलात् हस्तक्षेप महिलाओं को असह्य'।

– राजकुमारी, प्रभावती राजे अध्यक्षा अ. भा. महिला सम्मेलन।

५५. 'कोड देश के लिए घातक'।

– हिन्दू महासभा के प्रमुख नेता डा. गोकुल चन्द, नारंग

५६. 'कोड सुधार के नाम पर धोखा'।

– म.म. गिरिधर शर्म चतुर्वेदी, प्रिंसिपल महाराणा संस्कृत कालेज जयपुर।

५७. 'कोड की मार अणुबम की मार से भयंकर'।

– शास्त्रार्थ महारथी, पं. माधवाचार्य शास्त्री, दिल्ली।

५८. 'कोड का व्यापक विरोध है, इसे रद्द करो'।

– श्री बाल सुब्रह्मणम् एडवोकेट मद्रास हाईकोर्ट।

५९. 'हिन्दुओं के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप'।

– वृन्दावन के वेदान्ताचार्य श्री चक्रपाणि जी।

६०. 'तर्कयुक्त प्रमाणों से रहित हिन्दू कोड से लोकमत की अवहेलना'।

– श्री बी. बनर्जी सुप्रसिद्ध एडवोकेट, दिल्ली।

६१. 'अगले निर्वाचन तक कोड बिल स्थगित हो'।

– डा. पट्टाभिसीतारामैय्या, अध्यक्ष अ.भा. कांग्रेस दिल्ली, कोड विरोध सम्मेलन में।

६२. 'पाश्चात्य ढंग के बने समाज-सुधार से भारत भारत न रहेगा'।

– सेठ गोविन्द दास जी

६३. 'सुधारवादी कोड समर्थन कर अपने रास्ते के साथ दूसरे शास्त्राविश्वासियों को भी जीने दे'।

– श्री सर्वते, सदस्य केन्द्रीय धारा सभा।

६४. 'बिल की धारायें लागू करने पर सम्पूर्ण हिन्दू समाज विद्रोह कर बैठेगा'।

– श्री ठाकुर दास भार्गव, सदस्य केन्द्रीय धारासभा।

६५. 'कोड घृणिततम, व्यर्थ, वाहियात'।

– श्री रामनारायण सिंह, सदस्य धारासभा।

६६. 'मनमानी करने से जनता कांग्रेस के विरुद्ध'।

– श्री लक्ष्मीकान्त मैत्र, सदस्य धारासभा।

अनेक प्रकार के व्यापक विरोध होने पर भी जब २८ नवम्बर १९४९ को पं. नेहरू ने कोड पास करना सरकार के प्रति विश्वास का प्रश्न करार दे दिया तो स्वामी जी ने प्रधानमन्त्री पं. जवाहर लाल नेहरू को पत्र लिखकर हित की बात कहीं, परन्तु इसका भी कोई लाभ न देखकर इसके लिए संघर्ष करने का निर्णय लिया और अपने मिशन की रक्षार्थ अहिंसात्मक धर्मयुद्ध के औचित्य पर विचार किया, जिसका विवरण अन्यत्र द्रष्टव्य है।

***

पुस्तक प्राप्ति के लिए सम्पर्क करें

श्री करपात्र धाम

पानी घाट चौराहा, परिक्रमा मार्ग, वृन्दावन, +91 9557010001, 9414141941

कलासन प्रकाशन
मॉडर्न मार्केट, बीकानेर

ISBN : 978-93-92655-87-6